

य प्रजापति की अनुकम्पा से आज हम इगोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य  
द्वितीय खण्ड अपने उपनिषत् प्रेमियों के समक्ष उपस्थित करने में समर्थ हो  
सके हैं। प्रथम खण्ड में ३ मन्त्रों का भाष्य प्रकाशित हुआ है, अब इस दूसरे  
खण्ड में उपनिषत् के शेष १२ मन्त्रों का भाष्य सम्पन्न हुआ है। आरम्भ के तीन  
मन्त्र पुरुषात्मा का निरूपण करते हैं, अब आगे के १५ मन्त्र प्राकृतात्मा का  
प्रतिपादन करते हैं। इस विषय विभाग को सत्य में रखकर ही हमन तीन मन्त्रों को स्वतन्त्र  
खण्ड में, अब १५ मन्त्रों को स्वतन्त्र खण्ड में प्रकाशित करना आवश्यक समझा है। मन्त्र  
त्रयात्मक पुरुषात्माधिकरण भी ६५० पृष्ठों में, अब पञ्चदशमन्त्रात्मक प्राकृतात्माधिकरण  
भी ६५० पृष्ठों में ही संपन्न हुआ है। इस प्रकार समूय यह ईगभाष्य ६०० पृष्ठों में  
पूर्ण हुआ है। इन दोनों खण्डों के प्रकाशन का अर्थ "बर्म्बर्देवदिकविज्ञानप्रकाशनफण्ड"  
को ही है।

उक्त फण्ड में माननीय श्रीमोटीमहोपाध्याय महोदय, एवं माननीय राजासाहबधीमुकुन्द  
भायजी निधीमहोदय के सत्य प्रयास से सन् ३८ में लगभग २ सहस्र रु० व्ययित हुए थे। उक्त  
द्रव्य से यम्बई से प्रकाशन सम्बन्धी सामग्री (ट्रेडिग मशीनें-टायप-कटर मशीन आदि) खरीदी

गया था। साथ ही मैं कमेटी से लिखित रूप में यह प्रतिज्ञा करी गई थी कि “५ सित्त ६० की भागत के हिन्दी-बैज्ञानिक ग्रन्थ स्थानीय श्रीवासपात्र ६० प्रेस से प्रकाशित कर दिये जायेंगे। तदनुसार एक बर के भीतर भीतर हमने लगभग २॥ सित्त के व्यय के दो खण्ड प्रकाशित कर दिए हैं। लिखित प्रतिज्ञानुसार व्यय के सिवाय के साथ प्रकाशित खर्चों की १०० प्रतिशत कमेटी की सेवा में भेज दी गई हैं। बाकी बचे हुए व्यय से भी हम शीघ्र ही मुक्त होने का प्रयास कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में कमेटी से, विवेकतः श्रीमतीलेडीसक्सीबार्ड, एन राजासाहब श्रीमुकुन्दमासजी से यह निवेदन करना चाहते हैं कि कमेटी में जो द्रव्य हमें प्रदान किया था उसका उपयोग पूर्वकमानुसार प्रकाशन सम्बन्धी सामान में ही होगा है। ऐसी स्थिति में प्रकाशन जैसा परिष्कृत होना चाहिए था, नहीं होसक्य है। कमेटी द्वारा प्राप्त सामान से किस प्रकार संकट-मस्त बन कर हम दो खण्ड कमेटी के सामने रखने में समर्थ होसके हैं इस का पूरा निवारण “हमारी यात्रा, और वैदिकसाहित्य” नाम के ग्रन्थ से कमेटी को निवेदित होगा। इन सब सक्ती के रहते हुए भी कमेटी को हम विश्वास दिलाते हैं कि अन्तिम वर्ष की सम्पत्ति तक जैसे भी कौना हम शेष व्यय से मुक्त होने का प्रयास करेंगे। हमें आशा है—लेडी साहिबा एन राजासाहब हमारी विषय परिदृष्टि को कदम में रखते हुए मन्त्रिय में भी इस साहित्य पर इसी प्रकार अनुमोदित बनाए रखेंगे।

इस के अनन्तर “उपनिषद्बिज्ञानमाध्यम्युमिक्ता” का प्रथम खण्ड प्रकाशित होगा। यह यूमिक्ता २० पृष्ठों में सम्पन्न हुई है। इसी लिए इसे भी दो खण्डों में ही प्रकाशित करने का निश्चय किया है। इस में निम्न लिखित विषयों का समावेश हुआ है—

- |                         |     |                     |
|-------------------------|-----|---------------------|
| १—प्रारम्भिक वक्तव्य—   | १०० | } ग्रामिकाप्रथमखण्ड |
| २—ग्रन्थपाठारम्भ—       | ६०  |                     |
| ३—उपनिषद् गन्ध का अर्थ— | १०० |                     |
| ४—क्या उपनिषद् वेद है ? | १२० |                     |

- ( ५ )—१—उपनिषदों में क्या है ?  
 ( ६ )—२—उपनिषद ज्ञान का अधिकारी कौन है ?  
 ( ७ )—३—उपनिषद हमें क्या सिखाती है ?  
 ( ८ )—४—औपनिषद ज्ञान के प्रवक्ता कौन थे ?  
 ( ९ )—५—ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद में परस्परमें  
 क्या सम्बन्ध है ?  
 ( १० )—६—श्रुतिछन्दमीमांसा, एव एकेचरवाद् पर  
 एक दृष्टि ।

भूमिकाद्वितीयखण्ड

( लगभग ५०० पृष्ठ )

प्रकाशित दोनों खण्डों के सम्बन्ध में हमें अपने प्रेमी पाठकों से यह निवेदन करते हुए  
 ज्ञान का अनुभव होता है कि प्रकाशन में अशुद्धियों को आवश्यकता से अधिक स्थान मिला  
 है । कारण इसका यही है कि अध्ययन के कार्य में संलग्न रहने कारण हमें समय बहुत ही  
 कम मिलता है । साथ ही में अर्थसम्बन्धिनी जटिल समस्या के कारण हम इस कार्य के लिए  
 सतन्त्र व्यक्ति रहने में भी असमर्थ हैं । इन्हीं सारी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए पाठक  
 उक्त अपराध के लिए हमें क्षमा प्रदान करेंगे यही निवेदन कर हम अपनी संक्षिप्त प्रस्तावना  
 समाप्त करते हैं ।

प्रियतामनेनात्मदेवतोति-शम्

पुस्तकगुणकृष्ण १३ शिवरात्रि

विद्वद्भूमिर्दिपेयः—

वि० सं० १९२०

मोतीलालशर्मा, भारद्वाज

( प्रत्यसमाप्ति )

जयपुर—राजधानी





# ईशोपनिषत्-हिन्दीविज्ञानभाष्य-द्वितीयखण्ड की विषयसूची



अथ

## प्राकृतात्माधिकरणे— अव्यक्तात्माधिकरणम्

१

( १ पृष्ठ से १५१ पृष्ठ पश्यन्त )



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—प्रकृतिवैभव	*	६—अद्वैत की मीमांसा	३
२—अधिकरणस्वरूप	*	७—समातीय-विमातीय-स्वगतमद	"
३—अव्यक्तात्मस्वरूपनिर्गुण	*	८—कथित अद्वैतवाद	४
४—मूलमन्त्र	१	९—अनीह्वरवादप्रधान जगन्मि-	५
५—मन्त्र का अन्वयार्थ	२	व्याख्यान	
६—विषय की द्विनिष्पत्ति	"	१०—विरह का मूल	"
७—द्वन्द्वभाव की व्यापकता	"	११—सात्यगृहक विरह की सत्यता	"
८—एकत्व-अनेकत्व	३	१२—अमृत मृत्युमय विरह	६

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१३—नाम-रूप की सत्यता	६	१७—मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय	१०
१४—जगन्निष्पत्त्यवयव की अशास्त्रीयता	७	१८—मन्त्रसम्बन्धी सोपाधिकमय	"
१५—जगत् की सत्यता के समर्थक	८	१९—आहिति एवं आधान सम्बन्ध	"
श्रोत्रप्रत्यय		२०—मन्त्रोपास यज्ञक्रम	११
१६—आत्म के स्वरूपवर्णन	१०	२१—विद्याकर्ममय अन्वय	"

इति-विषयोपक्रमः

## मन्त्रार्थसम्बन्धिनी-त्रयीवेदनिरुक्ति

(१२ पृष्ठ से १० पर्यन्त)



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—ज्ञानसाधक वेद	१२	१—क्रिया का स्वरूप	१३
२—ब्रह्मा से सर्वप्रथम वेद का प्रादुर्भाव	"	११—कल्पन एवं गति का तार	"
३—वेद के चार विभाग	"	मय ( हस-वस )	
४—अग्निवेद सोमवेद	"	१२—अग्निपितृवात्मक शरीर	१४
५—अग्निताम्र का अग्निताम्र	"	१३—प्राणाग्नि का विस्तार	"
६—दाहक-दाह्यभाव	"	१४—कर्मव्यपन्न अग्नि	"
७—तेज-स्नेहभाव	१३	१५—प्राण-भूत मेद से अग्नि के दो विध	"
८—अग्निमयी मूर्ति	"	१६—मिश्रकलनवर्मा अग्नि	१५
९—कर्मपुत्रत्व	"	१७—संयोजकवर्मा सोम	"
	"	१८—रयि-माद्य	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
११—अग्नीषोमात्मक जगत	१५	४२—प्राजापत्यवेद	२३
२०—सत्याग्नि, देवाग्नि, भूताग्नि	"	४३—वेद से आप्ति	२४
२१—अग्नित्रयी (त्रयीवेद)	"	४४—वेदि, वेद, यज्ञ, प्राजापति	"
२२—सोमवेद (अमरवेद)	"	४५—पुष्करपथ	"
२३—सायतन नियततम सोम	१६	४६—पुर की उत्पत्ति	२५
२४—आत्मवेदोपक्रम	"	४७—चतुर्मुखस्था	"
२५—उक्त्य-ब्रह्म-साम	"	४८—धीरसमुद्र	"
२६—आत्मवेद में त्रयीवेद	१७	४९—सरस्तीशक्	"
२७—प्रतिष्ठावेदोपक्रम	"	५०—नारदऋषि	"
२८—प्रतिष्ठात्रयी	"	५१—सरस्वान् समुद्र	"
२९—वसिष्ठरूपनिर्बचन	"	५२—प्राकृतिक अग्न्याधान	२६
३०—असतोवसि	१८	५३— " अग्निहोत्र	"
३१—सतोवसि	"	५४— " दशपूर्णमास	"
३२—प्रतिष्ठावेद में त्रयीवेद	१९	५५— " चातुर्मास्य	"
३३—ज्योतिर्वेदोपक्रम	"	५६— " पशुबन्ध	"
३४—पञ्चज्योति	"	५७— " ज्योतिष्टोम	"
३५—मूत्रज्योति	२०	५८— " अग्निघणन	"
३६—सप्तज्योति	"	५९—हृष्यज्जिन	"
३७—ज्योति, चेतना, आनन्द	२१	६०—आतानयज्ञ	२७
३८—सन्धिदानन्दसम वेद	"	६१—महापृथिवी	"
३९—अग्निवेदनिर्बच	२२	६२—प्राजापति के रमण	"
४०—अनन्तवेद	२३	६३—निष्पत्ति वेद	२८
४१—त्रयीनिर्मित मूलप्रपञ्च	"	६४—मूर्तिमात्र	२९



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
५१—व्याख्याताओं का मातरिवा	६१	७१—मूषाष्ट-अभ्यय	६१
५२—पारमेष्ठ्य मनोता	"	७६—सूत्र-सूत्रबाधु	"
५३—पद्मस	६२	७७—सक-समुर्बेद	"
५४—इन्द्रपत्नी	"	७८—मिह्री-हरभाग	"
५५—बाह्मयभूत	"	७९—दण्ड-धुवनियति	"
५६—वेदवाक्	"	८०—पानी-आपोमयप्रज्ञा	"
५७—आकाशात्मिक वाक्	"	८१—कीटक-विद्यनाभि	"
५८—पादकौशिक विवर्त	६३	८२—प्रत्यक्षक-प्रज्ञाण्ड	६६
५९—आत्मन्वी प्रजापति	"	८३—उत्तरारूप-प्रज्ञायङ्ग	"
६०—अनेजदेवत्	"	८४—मूषोक-मुष्ण	"
६१—अवयवगति	"	८५—मुषाँक-उदर	"
६२—अवयवीगति	"	८६—सुषाँक-मुष्ण	"
६३—उमपगति	"	८७—प्रतिनिर्माता, निरनिर्माता में सदा	"
६४—गतिस्थिति का दिग्दर्शन	६४	८८—अनेजदेवत् का एकप्रसम्भव	"
६५—कुम्भकार प्रजापति	"	८९—गतिस्थिति का सम्भव	६७
६६—प्रजापति का धरातल	"	९०—मनसो जवीय	६८
६७—घट का निमित्त कारण	"	९१—देवसृष्टि	६९
६८—" उपादानकारण	६९	९२—इन्द्रियदेवता	"
६९—" सहकारीकारण	"	९३—पूर्वमर्पित	"
७०—बौद्धघट	"	९४—देवताओं का परामर्श	"
७१—घटजस	"	९५—महत्तमभूत मायी महेश्वर	७०
७२—घटोत्पत्ति	"	९६—मन्त्र के तीन पाद	७१
७३—पिष्टपाक	"	९७—मन्त्र का चौथा चरण	"
७४—कुम्भकार-अक्षर	"		

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१०—रेत स्त्रव	७१	१२१—ब्राह्मसीक्षा	७६
११—योनितन्त्र	७२	१२२—पवन और शूकर	"
१००—रेतोपासना	"	१२३—अम्लज और शूकर पशु	"
१०१—सृष्टिनिर्बन्धक शिष्यायु	"	१२४—मसविशेषक अम्लज	"
१०२—सृष्टिनिर्बन्धक यन्त्रायु	"	१२५—मसविशेषक शूकरपशु	"
१०३—पिरडनिम्नता मत्तरिखा	"	१२६—सब किए पुरुष हैं	७७
१०४—पियडशब्द की व्याप्ति	"	१२७—मन्त्रप्रमाण	"
१०५—पृथिवी—सुशोक	"	१२८—श्रीसायखामिस्त अथ	"
१०६—मत्तरिरा का कर्म	७३	१२९—सब पुरुष किए हैं	"
१०७—अपस्तर	"	१३०—सायखाम्य और कर्मकाण्ड	"
१०८—मातरिरा और ब्राह्म	"	१३१—सायखाम्य में विज्ञानद्विक्रम अम्लज	"
१०९—अमज्योति	"	१३२—अमज्योति का निर्बन्धन	"
११—सज्योति	"	१३३—शुरू मन्त्रसम्बन्धिनी आत्मविषय	
१११—परज्योति	"	पिथी भावना का उपक्रम	७८
११२—रूपज्योति	७४	१३४—सायखाम्य ब्रह्मात्मा	"
११३—आदिक्राह	"	१३५—धीर ब्रह्मात्मा	"
११४—पञ्चवराह	"	१३६—पार्थिव ब्रह्मात्मा	७९
११५—रवेतवराह	"	१३७—उपनिषदों का आत्म	"
११६—मत्तवराह	"	१३८—त्रयीवेद का आत्मा	"
११७—पञ्चवराह	"	१३९—मागम शास्त्र का आत्म	"
११८—शूकरपशु	७५	१४०—वेजोपनिषद् की सम्मति	"
११९—पाण्डवी ज्ञानत	"	१४१—ज्ञान—कर्म—वैदर्भिक	"
१२०—ब्रह्ममूर्तिगृह्य	७६	१४२—आत्मविशेष का दिग्दर्शन	८०

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१४३-आत्मविकल्पपरिच्छेद	८१	१६६-सुरोपासना	१०
१४४-त्रिपात् पुरुष की विमूर्ति	८२	१६७-काण्डप्रदी	११
१४५-आत्मविक्षोभ की व्याप्ति	८३	१६८-उपनिषत्काल की उपासना	"
१४६-त्रिपात् अक्षरपुरुष	८४	१६९-उपासना का अर्थ	"
१४७-त्रिपात् अक्षरपुरुष	"	१७०-उपासना का अर्थ	"
१४८-एक ॥ आत्मा के तीन विवर्त	८५	१७१-मूर्त-मूर्तिप्रकाश	"
१४९-चेतनसृष्टि	८६	१७२-अक्षी की उपासना	"
१५०-अर्द्धचेतनसृष्टि	"	१७३-अक्ष की उपासना	"
१५१-अचेतनसृष्टि	"	१७४-उपासना का प्रथमस्तम्भ	१२
१५२-ब्रह्मात्मसृष्टि	८७	१७५-उपासना का द्वितीयस्तम्भ	"
१५३-देवात्मसृष्टि	"	१७६-गीतक बह-मुखसी आदि की उपासना	"
१५४-भूतात्मसृष्टि	"	१७७-भगवत्प्रतीमाओं की उपासना	"
१५५-प्रथमाधिकारी	८८	१७८-शासक के उपासना	"
१५६-मध्यमाधिकारी	"	१७९-त्रिमूर्ति का शासन	"
१५७-उत्तमाधिकारी	"	१८०-सदासीनभाव	"
१५८-सर्वभूतान्तरात्मोपासना	"	१८१-प्रकृतिभाव	"
१५९-क्षिरपयगर्भोपासना	"	१८२-विकृतिभाव	"
१६०-अक्षर्योपासना	"	१८३-श्रीरूप ब्रह्मात्म	१३
१६१-ओङ्कारोपासना	८९	१८४-क्षेत्र में बीजावृत्ति	१४
१६२-सद्गीयोपासना	"	१८५-विश्वयोगि	"
१६३-प्रणवोपासना	"	१८६-मिथ्यावेत्ता कवि	"
१६४-अक्षर्योपासना	९०	१८७-इन्द्रशब्द की व्याख्या	१५
१६५-अक्षरोपासना	"	१८८-वैदिक आराधन	"



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१८६-पितृपितृसत्त्व	६६	२११-सकोच-निकास	१००
१८७-रश्मिपिपिषीमात्रना		२१२-नि सीममात्र शत्रुत्वं कथं प्रवृत्तं	"
का उपक्रम	"	२१३-एति-प्रेति	"
१८८-आत्मा-प्राण-पशु	"	२१४-समिष्टाग्नि	११
१८९-परोरजामात्र	६७	२१५-सामिकी	"
१९०-आग्नेय-सौम्यप्राण	"	२१६-युगुषयी	१०१
१९१-स्युषमृत	"	२१७-अग्निराजयी	"
१९२-पुरुषप्रजाति	"	२१८-स्त्री का पुरुषत्व	१०२
१९३-कविपुत्र	"	२१९-पुरुष का स्त्रीत्व	"
१९४-विष्ट पुत्र	"	२२०-स्त्रीकामुक पुरुष	"
१९५-रश्मिमात्र	"	२२१-पुरुषकामुक स्त्री	"
१९६-स्त्रीरूप रश्मि	६८	२२२-मग्नप्रह	"
२००-पुरुषपिपिषीमात्रना		२२३-मकरगणिक और मग्न	"
का उपक्रम	"	२२४-मकरगणिक (कथम)	"
२०१-अचेतन अग्नि	"	२२५-पुरुष की प्रजननशक्ति	"
२०२-अचेतन सोम	"	२२६-सुवर्तत्व	१०३
२०३-अकिरीमष्टि	"	२२७-मीनगणिक और सुक	"
२०४-मैत्रुनीमष्टि	"	२२८-मीनगणिक [कथम]	"
२०५-पुरुष-स्त्री	"	२२९-शक्तिरूप	"
२०६-शरीररचनामेव	"	२३०-शक्तिरूप	"
२०७-वर्तुल शरीर	६९	२३१-शिशुशक्ति का सम्बन्ध	"
२०८-कोमल शरीर	"	२३२-शिशु और अन्तःपृष्ठ	"
२०९-सौम्य शुक	"	२३३-श्रीपुत्र और अन्तःपृष्ठ	"
२१०-आग्नेय श्रेष्ठ	"	२३४-प्रवृत्ति का वैयर्थ्य	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२१५—अग्निप्रधान पुरुषशरीर	१०४	२४२—पितृप्यितासत्	१०७
२१६—सोमप्रधान पुरुषात्मा	"	२४०—ऋक्मन्त्रार्पोपसंहार	"
२१७—सोमप्रधान शरीर	"	२४१—एक्यामरुत्	"
२१८—अग्निप्रधान स्त्री का आत्मा	"	२४२—योनि में झुकावृत्ति	"
२१९—स्त्री का सौम्य भूय	"	२४३—रेतोषा मातरिरवा	१०९
२२०—पुरुष का आग्नेय भूय	"	२४४—वायुवाहिनीनादिषु	"
२२१—पुंभूय—स्त्रीभूय	"	२४५—प्रजोत्पत्तिक्रम	"
२२२—त्रिसप्त देवता	१०५	२४६—अग्निदेवतसंस्था	"
२२३—प्रजननकर्म का त्रिविधत्व	"	२४७—मन्त्रार्थसङ्गति का उपक्रम	"
२४४—प्रथमाक्रमण	"	२४८—दक्षिणी विराट्	"
२४५—द्वितीयाक्रमण	"	२४९—मन्त्रार्थक्रम	११२
२४६—ऋक्मन्त्रसङ्गति	१०६	२५०—पुरुषशरीर स्वरूपम्	—
२४७—कविपुत्र का रहस्यार्थ	१०७	२५१—अनेकदेवत् प्राकृतात्मा	"
२४८—जायामग	"	२५२—शान्तात्मा	"

### मन्त्रार्थप्रकरण—समाप्त ।

### अव्यक्तात्माधिकरण में ब्रह्म—कर्मसंवन्धाधिकरण

( ११७ पृष्ठ से १५१ पृष्ठ्यन्त )

१—सम्बन्धप्रतिपादकमन्त्रपरिलेख	११७	४—ब्रह्म-कर्ममय अव्यय	११२
२—सम्बन्धनिरुक्ति का उपक्रम	११८	५—विद्यात्मा-ब्रह्म	"
३—प्रकृति के द्वारा विश्वनिर्माण	"	६—विद्य-कर्म	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
७—ब्रह्म-शुद्ध-विरच	११६	२६—आरम्भसम्बन्ध	१२८
८—अमृत-ब्रह्म-शुद्ध-विरच	"	२७—बौद्धाधिकसम्बन्ध	१२९
९—ईश के प्रतिपाद्य विषय	"	२८—सांतानिकसम्बन्ध	"
१०—अव्यक्तनिरूपकसम्बन्ध	"	२९—विकर्षसम्बन्ध	"
११—विकृतितत्त्वनिरूपकसम्बन्ध	१२०	३०—वैकल्पिकसम्बन्ध	१३०
१२—वैकारिकतत्त्वनिरूपकसम्बन्ध-प्रमाण	"	३१—ऐक्यिकसम्बन्ध	"
१३—कारणताचतुष्टयी	"	३२—बोधोपादिकसम्बन्ध	"
१४—चतुष्पाद व्याख्या	१२१	३३—परिणामी सम्बन्ध	"
१५—चतुष्पाद ब्रह्म	"	३४—रसानुवृत्तिकसम्बन्ध	"
१६—अष्टादश गणत्री	"	३५—सांयोजिकसम्बन्ध	"
१७—गद्यप्रक्रम की व्यापकता	"	३६—बोधोपादानिकसम्बन्ध	१३१
१८—गद्यप्रसरपरिच्छेद	१२२	३७—सांख्यनिकसम्बन्ध	"
१९—द्रष्टृविपुलनिरूपकव्याप्तिक	"	३८—आकस्मिकसम्बन्धीसम्बन्ध	"
२०—शोपनिषद्	"	३९—प्रमथात्म्यमत-प्रमथविषय	"
२१—अभिहरणश्रुती	"	यन्त्रात्मकसंयम-प्रमथपक्ष	
२२—ऊर्ध्वोक्त विषयानुसार विभाग		चरत्सम्बन्ध (१)	१३४
प्रश्न	१२३	४०—प्रमथात्म्यमत-प्रमथविषयमत	
२—विषयपरिच्छेद		प्रमथपक्ष-चरत्सम्बन्ध (२)	"
३३—सम्बन्ध विज्ञप्ति	१२६	४१—प्रमथात्म्यमत-प्रमथविषयमत	
४—दार्शनिक पद्धिबद्ध सम्बन्ध	"	प्रमथविषयमत-प्रमथपक्ष-चरत्सम्बन्ध (३)	"
५—इतिवृत्तसम्बन्ध	१२७	४२—प्रमथात्म्यमत-प्रमथविषयमत-प्रमथपक्ष-चरत्सम्बन्ध (४)	"
६—नैमित्तिकसम्बन्ध	"		
७—प्राकृतिकसम्बन्ध	"		
८—वेदिसम्बन्ध	१२८		

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
४६—प्रमत्तसम्बन्ध-प्रमत्तचित्तयनत्व		६५—"तदेजति०" मन्त्र का अर्थ	१३७
प्रमत्तपुरुषात्त्वसम्बन्ध (५) १३३		६६—कृतार्था मनुष्य	"
४७—प्रमत्तसम्बन्धानासम्बन्ध-	"	६७—अज्ञाना मनुष्य	"
प्रमत्तचित्तयनत्वचित्तयनत्व प्रमत्त-		६८—सत्य का सारतम्य	"
पुरुषात्त्वपुरुषात्त्वसम्बन्ध (६) "		६९—विषयानुगता बुद्धि	"
४८—सम्बन्ध में संशय	१३४	७०—अपुक्त मनुष्य	१६८
४९—सत्त्वसम्बन्ध ( ४ )	"	७१—सर्वज्ञानविमूढमनुष्य	"
५०—पद्मसत्त्वसम्बन्ध ( ४ )	"	७२—सम्बन्धभेददृष्टि	"
५१—अन्तर्मुखसत्त्वसम्बन्ध ( ५ )	"	७३—निष्ठ हृषी	१३८
५२—अन्तर्मुखसत्त्वसम्बन्ध ( ५ )	"	७४—भेदवाद का निराकरण	"
५३—(१) कार्य कारण में है	१३५	७५—विषयभारता	१६०
५४—(२) कारण कार्य में है	"	७६—मायादिकबीज	"
५५—(३) कार्य-कारण मिल हैं	"	७७—प्रायश्चित्तबीज	"
५६—(४) कारण ही कार्य है	"	७८—पुण्यबीज	"
५७—(५) कार्य कारण से अमिश्र है	"	७९—पुण्यभाग	"
किन्तु कारण कार्य से मिल है "		८०—युक्तयोगी	१६१
५८—(६) कारण में कार्य अल्प है	"	८१—युक्तानयोगी	"
५९—अथ कर्म में प्रतिष्ठित है ( १ ) १३६		८२—अथानात्ममनुष्य	"
६०—अथ कर्म में प्रतिष्ठित है ( २ )	"	८३—अथ-कर्मकयी उपासना	"
६१—अथ कर्म परस्पर मिल हैं ( ३ )	"	८४—सत्य आत्ममात्रा	"
६२—अथ ही कर्म है ( ४ )	"	८५—पुरुषात्त्व का अर्थ	"
६३—अथ कर्म से मिल है, किन्तु		८६—अन्तर्मुखसत्त्व	१६२
कर्म कर्म से अमिश्र है ( ५ )	"	८७—अन्तर्मुखीपद्मसम्बन्ध	१४३
६४—अथ में कर्म मास रहा है ( ६ )	"	८८—अन्तर्मुखीपद्मसम्बन्ध	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
७—ब्रह्म-शुक्र-विरच	११६	२६—प्रारम्भसम्बन्ध	१२८
८—अमृत-ब्रह्म-शुक्र-विरच	"	२७—भौतिकादिकसम्बन्ध	१२९
९—ईश क प्रतिपाद्य विषय	"	२८—सांत्तानिकसम्बन्ध	"
१—अव्यक्तनिरूपकमन्त्र	"	२९—वैदर्शनिकसम्बन्ध	"
११—विकृतिरहितनिरूपकमन्त्र	१२०	३०—वैकल्पिकसम्बन्ध	१३०
१२—वैकारिकवस्तुनिरूपकमन्त्र-प्रमाण	"	३१—ऐच्छिकसम्बन्ध	"
१३—कारणत्ववस्तुद्वयी	"	३२—भौतिकादिकसम्बन्ध	"
१४—वस्तुत्पाद आत्म्य	१२१	३३—परिष्कानी सम्बन्ध	"
१५—वस्तुत्पाद ब्रह्म	"	३४—रसानुवृत्तिसम्बन्ध	"
१६—अव्याहृत गन्धर्वी	"	३५—सांयौतिकसम्बन्ध	"
१७—गन्धप्रवृत्ति की व्यापकता	"	३६—भौतिकादिकसम्बन्ध	१३१
१८—गन्धप्रवृत्तिपरिच्छेद	१२२	३७—सांयौतिकसम्बन्ध	"
१९—द्रव्यरूपनिरूपणार्थिका	"	३८—आत्मिकसम्बन्ध	"
३०—गोपनिपत्र	"	३९—प्रमत्तसम्बन्ध-प्रमत्तविषय	"
३०—अधिकारखण्डद्वयी	"	यमात्मविषयपद-प्रमत्तवृत्त	"
३१—मन्त्रों का विभागानुसार विभाग	"	कारणसम्बन्ध (१)	१३४
प्रमाण	१२३	४०—प्रमत्तसम्बन्ध-प्रमत्तविषयपद	"
३२—विषयपरिच्छेद	"	प्रमत्तवृत्तकारण सम्बन्ध (२)	"
३३—सम्बन्ध विद्यासा	१२६	४१—प्रमत्तसम्बन्ध-प्रमत्तविषयपद	"
४—दार्शनिक दृष्टिकोण सम्बन्ध	"	प्रमत्तवृत्तकारण सम्बन्ध (३)	"
५—हेतुमयम्ब	१२७	४२—प्रमत्तसम्बन्ध-प्रमत्तविषयपद	"
६—मैथिलिकसम्बन्ध	"	प्रमत्तवृत्तकारण सम्बन्ध (४)	"
२०—प्राकृतिकसम्बन्ध	"	प्रमत्तवृत्तकारण सम्बन्ध (५)	"
२८—प्राकृतिकसम्बन्ध	१२८		

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
४६—प्रमथासम्भनत्व-प्रयववित्तमनत्व-		६५—"तदेमति०" मन्त्र का अर्थ १३७	
प्रमथापृथक्परावसम्भनत्व (५) १३६		६६—कृतात्मा मनुष्य	"
४७—प्रमथासम्भनत्वानासम्भनत्व	"	६७—अहम्भूत मनुष्य	"
प्रयववित्तमनत्ववित्तमनत्व प्रमथ		६८—सत्य का सारतम्य	"
पृथक्परावसम्भनत्वपृथक्परावसम्भनत्व (६) "		६९—विषयानुगतामुक्ति	"
४८—सम्बन्ध में संशय	१३८	७०—अशुद्ध मनुष्य	१३८
४९—स्वरूपसम्बन्ध ( ४ )	"	७१—सर्वज्ञानविमूढमनुष्य	"
५०—व्याप्तवृत्तिसम्बन्ध ( ४ )	"	७२—सम्बन्धभेदवृत्ति	"
५१—अन्वयमस्तिवृत्तिसम्बन्ध ( ५ )	"	७३—निष्ठ इषी	१३९
५२—अभिन्नसंघातकप्रयकारणभाव-	"	७४—वेदवाद का निराकारण	"
५३—(१) कार्य करण में है	१३५	७५—विषयभ्राता	१४०
५४—(२) कारण प्रय में है	"	७६—मायादिष्वधीन	"
५५—(३) कार्य-कारण मिल हैं	"	७७—प्रासादिकधीन	"
५६—(४) कारण ही प्रय है	"	७८—पुष्टधीन	"
५७—(५) प्रय कारण से अभिन्न है,		७९—पुष्टिमाण	"
किन्तु कारण कार्य से भिन्न है "		८०—पुष्टयोषी	१४१
५८—(६) कारण में प्रय सम्पन्न है	"	८१—पुष्टानयोषी	"
५९—अप्र काम में प्रतिष्ठित है ( १ ) १३९		८२—पथावसामनुप	"
६०—वस्तु अज्ञ में प्रतिष्ठित है ( २ )	"	८३—अज्ञ-कर्ममयी उपासना	"
६१—अज्ञ कर्म पाप्मर भिन्न हैं ( ३ )	"	८४—सत्य काममात्रना	"
६२—अज्ञ ही कर्म है ( ४ )	"	८५—कुम्भकार का चक्र	"
६३—अज्ञ कर्म से भिन्न है, किन्तु		८६—मन्त्रावसङ्गति	१४२
कर्म अज्ञ से अभिन्न है ( ५ )	"	८७—अनिर्वचनीयसम्बन्ध	१४३
६४—अज्ञ में काम भास रहा है ( ६ )	"	८८—भोतभोतमाकसम्बन्ध	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
८६—अन्तरात्तरीमासम्बन्ध	१४३	१०६—मन्त्रार्थोपसंहार	११
८७—आवाप्राप्येयमासम्बन्ध	"	१०७—७ मन्त्रार्थोत्क्रम	"
८८—मेदसम्बन्ध	१४४	१०८—सर्वत्रत्यागमावना	१४६
८९—अमेदसम्बन्ध	"	१०९—मोक्षकसिद्धाभुद्धि	११
९०—मेदामेदसम्बन्ध	"	११०—मोक्षयूक्तशोक	"
९१—मन्त्रार्थोपसंहार	१४५	१११—शोकनिवृत्त्युपाय	"
९२—आत्मज्ञान में कर्मका सम्बन्ध	"	११२—अद्वैतमायकीउपासना	११
९३—सूक्ष्मात्मवैशिष्ट्य	"	११३—"विमानता" शब्दरहस्य	१५०
९४—६ मन्त्रार्थोपक्रम	१४६	११४—सामान्यज्ञान	"
९५—मन्त्रका आख्याय	"	११५—तारिककज्ञान	"
९६—प्रत्यक्ष-पराङ्मुख	"	११६—कसौ वेदान्तिना सर्व	"
१००—युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरविषय-		११७—"इदमिच्छमेव"	"
विषयी	"	११८—उपलक्षण	"
१०१—ओति-आवरण	"	११९—मेदयुक्तिक आत्यन्तिक निराकरण	"
१०२—निन्दालुतिम्ब	१४७	१२०—प्राणिमासिद्धैत	१५१
१०३—विशुद्धता	"	१२१—व्याख्यातिक्रैत	"
१०४—रागद्वेष	"	१२२—पारमार्थिकअद्वैत	"
१०५—आनन्दप्राप्ति	१४८	१२३—मन्त्रार्थोपसंहार	"

### सम्बन्धाधिकारसमाप्त

इति—प्रत्यक्षात्पापिकरण समाप्तम्

## अथ प्राकृतात्माधिकरणो—

२—महदात्माधिकरणम्  
( १५३ पृष्ठ से २२१ पृष्ठ पर्यन्त )

विषय,	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—महत्स्वरूपनिदर्शन	१५४	२१—वेद और प्रजापति	१६६
२—महाक्षरगुप्ती	१५७	२२—प्रजा और प्रजापति	"
३—महाप्रजापति के आठ अवयव	"	२३—सुवेद और श्लोक	१६७
४—वत्सारिशतकप्रमाणविराट्	१५८	२४—वेद और सुवेद	"
५—सहस्राक्षर विराट्	"	२५—विश्वकर्मा	"
६—अनाधृष्ट क्षुब्ध	१५९	२६—विश्वकर्मा के अस्मिन्मित्र	"
७—प्रजापति के तीन अवयव	"	२७—रामप्रपञ्च	"
८—मूलमन्त्र	"	२८—दशपूर्णमासविज्ञान	"
९—मन्त्र का अक्षरार्थ	"	२९—प्रतिपत्-अनुचर	"
१०—मन्त्रार्थ और प्राचीनव्याख्याता	१६०	३०—मधुहृष्टि	१६८
११—प्रकरणसंगत मन्त्राव	१६१	३१—व्यापक पूर्णिमा	१६९
१२—शुक्रशब्द के प्रयोग	"	३२—माकस्यान	"
१३—	१६२	३३—त्रिगुणमूर्ति महान्	"
१४—माय्याभिमत शुक्रशब्द	१६३	३४—प्राद्यमयी अविति	"
१५—सायणाभिमत शुक्रशब्दाव	"	३५—पुण्याहकाल	१७०
१६—शुक्र की २७ स्थानों में व्याप्ति	१६४	३६—द्व रज	"
१७—शुक्रन्-और शुक्रः	१६५	३७—परोरवासत्य	"
१८—सम्प्रदायवाद से हानि	"	३८—परम-मध्यम-आद्यमध्याम	"
१९—उपादानकारणता	१६६	३९—आत्मा, पद, पुनःपद	१७१
२०—सृष्टि का आधार	"	४०—प्राजापत्यसत्या	"



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
६१—भुतिसम्बन्ध	१०२	६१—सवाङ्गुति	१७७
६२—परमप्रज्ञापति	१७३	६६—माप की व्याङ्गुति	१७
६३—प्रतिमाप्रज्ञापति	"	६७—मातरिन्वा भ्रूरोति	१७८
६४—आत्मणीवाक्	"	६८—मातरिरिवा क्षपाति	"
६५—जगत-पितरौ	१७४	६९—स पर्यगात्	"
६६—अस-अस्यदसम्बन्ध	"	७०—पप्याप सम्बन्ध	"
६७—समुत्पापसम्बन्ध	"	७१—पप्याप की अवैज्ञानिकता	"
६८—अवपवसम्बन्ध	"	७२—संस्कृतसाहित्य पर कवच	"
६९—हीनुरुपसम्बन्ध	१७५	७३—शास्त्रों की निष्ठापता	"
७०—मन्त्राभिस्फोटन	"	७४—एकदेश की समानता	"
७१—सम्बन्धसम्बन्ध	"	७५—शुक्र-बीम्बरेत का पार्यक्य	१७९
७२—उदरसुक्ति-सम्बन्ध	"	७६—बल का वैज्ञानिकस्वरूप	"
७३—अग्नि-अग्नि का सम्बन्ध	"	७७—रूपका	"
७४—पानी पानी का सम्बन्ध	"	७८—पराक्रम का	"
७५—अग्नि-पानी का सम्बन्ध	"	७९—प्रक्षीय	"
७६—पुष्टिकरसम्बन्ध	१७६	८०—क्षत्रीय	"
७७—निरपक्वसम्बन्ध	"	८१—निक्षीय	"
७८—वि फोटकसम्बन्ध	"	८२—बल-अवस्था	"
७९—सुष्टि-रसम्बन्ध	"	८३—देवमाग	१८०
८०—रूप-प्राणसम्बन्ध	"	८४—मन्त्रमाग	"
८१—परोक्षप्रियदेवता	"	८५—दैवीसम्पत्	"
८२—इश्वर की व्याप्ति	१७७	८६—आसुरीसम्पत्	"
८३—अपक्व ब्रह्म	"	८७—ब्रह्मचयनिकृति	"
८४—रेत की व्याप्ति	"	८८—शुक्र का अय	१८१

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
८८—रेत का अथ	१८१	११३—भीमाकस्यापथ शुक्र	१८४
८९—दीप्यारक्षा	"	११४—विरोधपरिहार	"
९०—उपादानद्रव्यत्व	"	११५—सब कुछ वही है	१८५
९१—आग्नेयरेत-शुक्र	"	११६—सब कुछ वसी में है	"
९२—सौम्यरेत-रेत	"	११७—अद्याय का विकसल	"
९३—घनरेत	१८२	११८—अद्यायत्व	१८६
९४—तरलरेत	"	११९—कर्माद्याय	"
९५—वित्तप्राप्त	"	१२०—मायामेवां वरन्ति ते	"
९६—भूख	"	१२१—शुक्रातिवर्धन	"
९७—प्रजननकर्मके अक्षरोवक दोष	"	१२२—'तत्'-विज्ञान	"
९८—विषुदोपनिवर्त्तकआह्नकर्म	"	१२३—कर्म में प्रवृत्ति	१८७
१००—सारश्चेत	"	१२४—अष्टात्मिका अविद्या	"
१०१—प्रवाहितरेत	"	१२५—अष्टात्मिका विद्या	"
१०२—शुक् और शुक्र	"	१२६—प्रत्यक्षबन्धन सम्बन्ध	"
१०३—शुक्रग्रह	१८३	१२७—विद्यदुर्ग	"
१०४—अद्याशुक्र	"	१२८—दुर्ग की इष्टे	"
१०५—अथ रेत	"	१२९—आत्मन्वी ईश्वर	१८८
१०६—शुक्र-रेत के पञ्चविकल्प	"	१३०—सिपिपिश प्रजापति	"
१०७—आत्मयोनि	१८४	१३१—तीन ज्योतिर्	"
१०८—प्रकृतियोनि	"	१३२—चित्यव्रस	"
१०९—विद्वत्तिपोनि	"	१३३—चितेतिपयव्रस	"
११०—सर्वम्	"	१३४—भीमपिति	"
१११—सृष्टिमूत्र	"	१३५—देवपिति	"
११२—सृष्टिबीज	"	१३६—भूतपिति	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१३७-ज्योतिषा ज्योति	१८८	१६१-६-माहमात्र	१६१
१३८-आत्मा-शरीर	"	१६२-७-माहमात्र	"
१३९-आत्मप्राप्त	१८९	१६३-सप्तदशराशि	"
१४०-दैवप्राप्त	"	१६४-साहस्यो	१६२
१४१-भूतप्राप्त	"	१६५-बीज-कारण-कारणभक्त	"
१४२-प्राप्त-पुर	"	१६६-निष्ठुर विरुद्ध	"
१४३-आत्मपरिष्कार	"	१६७-त्रिकल आत्म	"
१४४-कूट	"	१६८-त्रिकलपद	"
१४५-पुत्रप्राप्त	"	१६९-त्रिकलपुनःपद	"
१४६-स्वयं	"	१७०-नक्तन प्रभापति	"
१४७-राशि	"	१७१-भूतविशदभवापति	"
१४८-भरण-प्राप्त का रहस्यार्थ	"	१७२-भूतभवाप	१६४
१४९-भारकप्राप्त	"	१७३-भूतभवाप	"
१५०-भिक्षाप्राप्त	"	१७४-नास्त्यकृतः कृतेन	"
१५१-आध्यात्मिकसत्त्व ( प्राप्ति )	१९०	१७५-काम-कर्म-शुद्ध	"
१५२-आध्यात्मिकसत्त्व ( पुर )	"	१७६-मायना-वासनासत्त्व	१६५
१५३-आय निष्पन्न	"	१७७-आध्यात्मिकसत्त्व	"
१५४-निष्पन्नपद	"	१७८-यथाज्ञातबीज	"
१५५-यथाज्ञातप्राप्तशरीर	"	१७९-माहमात्र	"
१५६-नामरूपविमात्रक आकाश	"	१८०-आध्यात्मिकसत्त्व	"
१५७-इन्द्रियार्थ	१६१	१८१-काम-भूत	"
१५८-विद्या-प्राप्ति-कर्म	"	१८२-पुत्रप्राप्तकर्म	"
१५९-पुत्रप्राप्ति	"	१८३-कर्मप्राप्त	"
१६०-६ भूतप्राप्ति	"	१८४-प्राप्त-आध्यात्मिकसत्त्व	१६६

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१८५-नियतकर्मावस्थिकजीव	१८६	२०६-आपोमय महान्	२००
१८६-नित्यजीव	"	२१०-महद्गुण	"
१८७-सामयिकजीव	"	२११-पञ्चपर्वमिश्र	२०१
१८८-आत्माभिमानादेवता	"	२१२-अमृतविभाग	"
१८९-प्रकृतिका जोम	"	२१३-मत्स्यविभाग	"
१९०-अवतार की आवश्यकता	"	२१४-बहुमलैकमस्वरम्	२०२
१९१-अनासक्तयोगेर्देवर	१९७	२१५-प्रजापतिः	"
१९२-त्रिकलावाक्	"	२१६-पञ्चमल	२०३
१९३-अविद्यामयशुक्र	"	२१७-काम-कर्म-शुक्र	"
१९४-कामनाओंका समुद्र	१९८	२१८-शुक्र की वस्तुता अपाप्ति	"
१९५-प्राजापत्यवक्त्रा	"	२१९-मिश्रशुक्र	"
१९६-सत्य ज्ञानमन्त्र मन्त्र	१९९	२२०-पञ्चमलासृष्टि	२०४
१९७-अमन्त्रमहेवर	"	२२१-शुक्र का दहरोत्तरमात्र	"
१९८-ऊर्ध्वमुख अन्तः	"	२२२-वाक्मय स्वयम्भू (१)	१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००
१९९-हृदयस्थान और ऊर्ध्वमात्र	"	२२३-आपोमय परमेष्ठी (२)	
२००-विराटोपक्रमस्थान	"	२२४-अमृताग्निमय सृष्टि (३)	
२०१-विराटोपसंहारस्थान	"	२२५-सर्वाग्निमय सृष्टि (४)	
२०२-सोम का उदय	"	२२६-आपोमय अन्तरा (५)	
२०३-योगमाया	"	२२७-वाक्मयी वृष्टि (६)	
२०४-शुक्र की सामान्य अपाप्ति	"	२२८-अन्तरापोपक्रम	२०५
२०५-मन्त्र की शुक्त्य	२००	२२९-वाक्मय	२०६
२०६-सुमन्त्र का रेत्य	"	२३०-मन्त्र	"
२०७-महान् की महत्ता	"	२३१-स्नातु	"
२०८-मूचयगत्	"	२३२-अशुद्ध	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२३२—पापविद्वत्त्व	"	२३६—कवि	२०७
२३३—आकाशपद	२०७	२४०—मनीषी	"
२३५—अक्षरपद	"	२४१—परिमू	"
२३६—आत्मविद्वत्त्व	"	२४२—सपम्पू	"
२३७—सुदत्त	"	२४३—कवि कथं मन्त्रात्म्य	"
२३८—अपापविद्वत्त्व	"	२४४—यथार्थनिष्पद्य	२०८
		२४५—विगुणमीमांसा	२६
		२४६—पद्गुणकम्बहान्	२१०
		२४७—सुगन्धिरोमकम्बहान्	"
		२४८—मन्त्रार्थोपसंहार	२११

## इति प्राकृतात्मधिकरणे महदात्माधिकरणम्

३

अथ

## प्राकृतात्माधिकरणे विज्ञानात्माधिकरणम् ( २१५-२०४ पक्ष )

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—विज्ञानात्मासकपनिर्देश	२१५ २१६	३—सकसरजम्भ	२१७
२—पद्मस्यहमात्तरिषा	२१७	४—सुपर्ण	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—महासुपथ	२१७	२९—महिशमत	२२०
६—अयम्मुखासृष्टि	२१८	३०—वैदेहजनकमत	"
७—सूर्यमुखासृष्टि	"	३१—करवपमत	"
८—पृथ्वीमुखासृष्टि	"	३२—चन्नतरिमत	"
९—प्रपन्नासृष्टि	२१९	३३—चकरमत	"
१०—द्वितीयासृष्टि	"	३४—शार्कराक्षमहपिमत्त	"
११—तृतीयासृष्टि	२२०	३५—आरुष्मिमत	"
१२—मोक्षारविषा	"	३६—ज्ञानप्रधानसृष्टिक्रम	२२३
१३—उद्गोचविषा	"	३७—क्रियाप्रधानस्थितिक्रम	"
१४—प्रत्यवविषा	"	३८—अर्थप्रधानदृष्टिक्रम	"
१५—माहविष	"	३९—शिरोमुखासृष्टि	"
१६—वैष्णवविष	"	४०—बृहदम्मुखासृष्टि	"
१७—माहेश्वरविष	"	४१—पादमुखासृष्टि	"
१८—पुराणसम्बन्ध	"	४२—हिरण्यगर्भविषा	२२४
१९—ब्रह्मसृष्टिप्रस्ता	"	४३—सुत्या-विषा	"
२०—क्रियामूर्तिविष्णु	"	४४—पाङ्क्तो व यज्ञः	२२५
२१—अयमूर्तिविष	"	४५—अग्निविति	"
२२—विमूर्तिविष	"	४६—वायुविति	"
२३—प्राज्ञान्तकम्प	"	४७—आदित्यविति	"
२४—गमद्विष	"	४८—साध्यविति	"
२५—कुमारशिरभरह्यमत	"	४९—पिण्डद्विषा	"
२६—कण्डाम्न बालहीनमत	२२२	५०—स्वयमातण्याविति	२२६
२७—भद्रकायमत	"	५१—विश्वम्यासिचिति	"
२८—भद्रशौनकमत	"	५२—साध्यवेक्ता	२२७

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२२—पोद्दीपन	२१७	७०—भूमकेतु	२३३
२३—प्रज्ञापनिकेपुत्र	"	७८—भूकसहिता	"
२४—आत्मप्रेक्षिकासार	"	७९—महामारत में भूमकेतु	२३४
५६—अष्ट-अक्षर	२२८	८०—भूत-अभिपुत्र	२३५
५७—अष्टदेव	"	८१—शक्ति-भूमासमाना	"
२८—सर्वो-कृष्णिक	"	८२—अग्निगोत्र	"
५९—इक्ष्महिमा	"	८३—सूर्य के उग्रह	"
६०—परमवाम	२७२	८४—उपमर्होत्ती द्विपति	"
६१—अवमवाम	"	८५—वायुवाहिक सुविज्ञ	२३६
६२—विज्ञमवमवाम	"	८६—देवमेवनिवार	"
६३—अवमवमवामसूच्य	२३०	८७—कैठ एवं काशासुके निवार	"
६४—विद्याशक्तिमयसूच्य	"	८८—पूर्व-पश्चिमविज्ञान की तुलना	"
६५—अवमवमवामसूच्य	"	८९—सत्य का अन्तर	२३७
६६—प्रज्ञापनिका पुस्तक	"	९०—अर्थात् कर्मसूत्र	"
६७—संक्षिप्त	"	९१—सत्यसूत्र	"
६८—सर्वसूत्रोपधि	२३१	९२—अर्थसूत्र	"
६९—सर्वसूत्र	२३२	९३—देवानां विषय धाम	"
७०—अवमवाम	"	९४—संक्षर शब्द का अर्थ	"
७१—विषयसूत्र	"	९५—संक्षर की वेला	"
७२—सर्वोक्त	"	९६—पृथिवी परिग्रहण	२३८
७३—सर्वोक्तमिति	"	९७—अवमवाम संक्षर	"
७४—अग्रत	"	९८—अनुग्रह अग्रतः	"
७५—अग्रत	"	९९—मूल-अवमवाम	"
७६—अग्रत अग्रत	२३३	१००—अग्रतः	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१०१-आभिदैविकसंस्था	७३८	१२५-उत्तमज्योति	२४३
१०२-अष्टौ मुद्रयः	"	१२६-विष्टपत्नी	"
१०३-धम्मसङ्ख	"	१२७-असविष्टप	"
१०४-हामसङ्ख	"	१२८-विष्टुमिष्टप	"
१०५-वैराग्यसङ्ख	"	१२९-इन्द्र मिष्टप	"
१०६-देवकर्मसङ्ख	२३९	१३०-त्रिविष्टपस्त्वर्ग	"
१०७-अजर्मसङ्ख	"	१३१-नवाहय	"
१०८-अज्ञानसङ्ख	"	१३२-अहर्गण	"
१०९-आसक्तिसङ्ख	"	१३३-एदर्विरास्वर्ग	"
११०-अनैरकर्मसङ्ख	"	१३४-सप्तसरप्रतिमा	"
१११-माक्खा	"	१३५-प्रतिष्ठास्तोम	"
११२-ईदीसम्पत्	"	१३६-परमस्तोम	"
११३-अवाक्खा	"	१३७-सप्तदशस्तोम	"
११४-आसुपीसम्पत्	"	१३८-सप्तदशमगापति	"
११५-इन्द्रसम्पत्	"	१३९-यथात्मक विष्टु	७४४
११६-अहोरात्रे	२४०	१४०-विष्टु के तीन विक्रम	"
११७-सम्पत्परिच्छेद	"	१४१-अजस्यविष्टप	"
११८-विद्यामुद्रय	२४१	१४२-स्वाद्यय यज्ञ	"
११९-अविद्यामुद्रय	"	१४३-नाकस्वाम	"
१२०-अभिमितेशसङ्ख	"	१४४-सौम्यविष्टुत्	"
१२१-अर्द्धज्ञानजनितमोह	"	१४५-अमानवपुरुष	"
१२२-परपृष्टत्रीज	७४२	१४६-स्वर्ग्यमि	"
१२३-अपरपृष्ट ईश्वर	"	१४७-स्वस्त्याम	२४५
१२४-अप्यत्रै देवस्वण	२४३	१४८-सूयमहण	"



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१४६-विष्णुविदेवः	२४५	१७३-वसिष्ठाद्यम	२४८
१४७-विष्णुसूक्त	"	१७४-गुणसूक्त	"
१४८-विष्णुसूक्त	"	१७५-विष्णुसूक्त	"
१४९-विष्णुसूक्त	"	१७६-सौमीयसूक्त	"
१५०-विष्णुसूक्त	"	१७७-सावित्रीसूक्त	"
१५१-विष्णुसूक्त	२४६	१७८-समस्तसूक्त	"
१५२-विष्णुसूक्त	"	१७९-देवसूक्तमिदं	"
१५३-विष्णुसूक्त	"	१८०-गुणसूक्त	२४९
१५४-विष्णुसूक्त	"	१८१-मेघदूतसूक्त (सौमीयसूक्त)	"
१५५-विष्णुसूक्त	"	१८२-मेघदूतसूक्त (सौमीयसूक्त)	"
१५६-विष्णुसूक्त	"	१८३-समस्तसूक्त	"
१५७-विष्णुसूक्त	"	१८४-समस्तसूक्त	"
१५८-विष्णुसूक्त	"	१८५-समस्तसूक्त (सौमीयसूक्त)	"
१५९-विष्णुसूक्त	"	१८६-समस्तसूक्त	"
१६०-विष्णुसूक्त	"	१८७-समस्तसूक्त	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१६७-चतुर्धर्मप्रणालि	२५०	२२०-सूयकेन्द्र	१५६
१६८-मौलिकचरण	"	२२१-महापथ	"
१६९-ज्ञानप्रधान सम्प्रगुण	२५१	२२२-निर्मेपगति	"
२००-क्रियाप्रधान स्त्रोगुण	"	२२३-अरु पन्था	"
२०१-अर्थप्रधान तमोगुण	"	२२४-प्रधान-विज्ञान	"
२०२-अज्ञाप्रकृति	"	२२५-मास निर्बधन	२५७
२०३-सत्त्वादि महानात्मा	"	२२६-पूर्णिमा-अमावास्या	"
२०४-ज्ञानानन्दविक्रस	"	२२७-आदिदैविक अगत्	"
२०५-त्रिगुणवैभव	२५२	२२८-" अरु " अरुतल	२५८
२०६-लोकप्रदा सूप्य	"	२२९-स्तन इवासलम्बे	"
२०७-आत्मप्रदा विज्ञानात्मा	"	२३०-इन्द्रबोधि	"
२०८-बाहुप पुरुष	"	२३१-आप्यात्मिकी पूर्णिमा	"
२०९-आत्मविकर्षों के प्रभव, प्रतिष्ठा	"	२३२-आमदवस्था (पूर्णिमा)	"
योनि, आशयों का निदर्शन २५९ २६०		२३३-आमद प्राणाग्नि	"
२१०-आत्मप्रमथदि परिलेख न० १		२३४-आप्यात्मिकी अष्टमी	"
२११-इन्द्रियप्रमथदि परिलेख न० २		२३५-अवस्थात्रयी परिलेख	"
२१२-कर्मप्रमथदि परिलेख न० ३		२३६-आगष्टमी	"
२१३-शरीरप्रमथदि परिलेख न० ४		२३७-स्थानाकस्या ( अष्टमी )	२५९
२१४-शिक्षाधारण रहस्य	२६५	२३८-आप्यात्मिकी अमावास्या	"
२१५-विज्ञानप्रव	"	२३९-सुप्रतिक्रम ( अमावास्या )	"
२१६-अमृतपुरुष	"	२४०-स्वस्वविद्य	"
२१७-स्वस्तिक एव अमृतपुरुष	"	२४१-उत्पत्तिविज्ञान	"
२१८-मूर्च्छा	२६६	२४२-दक्षिणवस्तु	२६०
२१९-अपानप्राण	"	२४३-अनूक-प्रतीकद्वय	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२४४-मिथ्याभोपासना	२६०	२६८-मोहकसिद्धादुद्धि	२६६
२४५-इन्द्रपाली	"	२६९-वासनासत्कार	"
२४६-विज्ञानप्रवर्तन	"	२७०-वाग्निर्वर्त	"
२४७-सेवोनादी	२६१	२७१-मनोविवर्त	"
२४८-आह-आहम्	"	२७२-वासनाविवर्तन	"
२४९-माण्डसिकपुरुष	"	२७३-आसक्तिविवर्तन	"
२५०-दीपशिखा	"	२७४-सत्कारों की दृष्टता	२६७
२५१-असग-ससगम्बक	२६२	२७५-विरकात्मिकत्व में मूल	"
२५२-विदानन्द	"	२७६-उभयात्मक कर्मा	"
२५३-अशनाया ( सुसुप्ता )	"	२७७-शोक साधरम्	२६८
२५४-इन्द्रियवृत्ति	"	२७८-संकल्पविवर्तनात्मकम्	"
२५५-बराजिब सानि	"	२७९-स्मरणवृत्त्यादुद्धि	"
२५६-इन्द्रियवृत्तिविवर्तन	"	२८०-बुद्धिविवर्तन	२६९
२५७-विद्यमानन्द	२६३	२८१-सत्कारविवर्तन	"
२५८-अनन्दोरमेन्द्र	"	२८२-अगुणानन्दवृत्ति	२७०
२५९-आनन्दक अश्वमेध	"	२८३-अनन्दवृत्ति	"
२६०-आमानन्दवृत्ति	२६४	२८४-उपलब्ध	"
२६१-विज्ञानेन परिपरवर्तन	"	२८५-उपलब्ध	"
२६२-सुखदुःखविवर्तन	२६५	२८६-बोधवृत्ति	"
२६३-मनो विविधवृत्ति	"	२८७-सम्बोधभाव	२७१
२६४-अश्वमेध	"	२८८-स्मृतिविवर्तन	"
२६५-अविद्यात्मक	"	२८९-बुद्धिनाश	"
२६६-साधारण	"	२९०-संन्यास	"
२६७-अश्वमेध	२६६	२९१-मायासरकार	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२६२-विद्या-अविद्योपक्रम	२७१	२६४-मन्त्रप्रकरणसङ्गति	२७२
२६३-मन्त्रार्थोपक्रम	२७२	२६५-विषयसंगतिप्रकरणसमाप्त	"

## मन्त्रार्थप्रकरण

### प्रथममन्त्रार्थप्रकरण

( २७३ पृष्ठ से २७८ पृष्ठ पष्यत )



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१-प्रथममन्त्र ( १० मन्त्र )	२७३	१४-नेति-नेति सम्बन्ध	२७६
२-मूलाप	"	१५-अस्तीत्येष	"
३-विद्या-अविद्यादर्शन	"	१६-प्रथमार्थोपसंहार	"
४-वापते-कियते	"	१७-द्वितीयार्थोपक्रम	"
५-स्वप्नोति-परम्बोति	२७४	१८-विद्या अविद्यासे भिन्न	२७७
६-मन्त्राश्चन्द्र	"	१९-वीराः	"
७-कदापिताक्षेग्रह	"	२०-द्वितीयार्थोपसंहार	"
८-कर्ममपविहान	"	२१-संहिता का मन्त्र	"
९-अहं मृग्य इवाजनि	२७५	२२-तृतीयार्थोपक्रम	२७८
१०-अग्न्यह-विषय	"	२३-भान्तमन्त्रमित्युक्तम्	"
११-अग्न्यह-अविषय	"	२४-विषागर्भिनकर्म	"
१२-राप्तातीतमात्रा	"	२५-हामर्गमिन्द्रविषा	"
१३-नेति-नेति	"	२६-तृतीयार्थोपसंहार	"

### प्रथममन्त्रार्थसमाप्त

## द्वितीयमन्त्रार्थप्रकरण

( २७८ पृष्ठसे २८८ पृष्ठ पर्यन्त )

—४३३—

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—द्वितीयमन्त्र ( १ मन्त्र )	२७८	२१—सिखिसत्ताहन , ज्ञान )	२८४
२—कर्मप्रपञ्च	२७९	२२—मिथिटी साहन ( कर्म )	"
३—ज्ञानमूलककर्म	२८०	२३—सतपथश्रुति	"
४—विज्ञानमूलककर्म	"	२४—मित्र और वरुण	२८५
५—अज्ञानमूलककर्म	"	२५—अभिगन्ता आकाश	"
६—योगसंनिध	"	२६—कथा क्षत्रिय	"
७—योगानुयायी कर्मठ	"	२७—मैत्रवर्ण्यग्रह	"
८—साध्यानुयायी ज्ञानी	"	२८—क्षत्रियशून्यआकाश	"
९—द्विविधा निष्ठा	२८१	२९—आकाशशून्यक्षत्रिय	"
१०—कर्मठों की बुद्धि	"	३०—मनोवत्	२८६
११—यऽविद्यामुपासते	"	३१—प्राणवत्	"
१२—अज्ञानमात्र का दम्भ	२८२	३२—अज्ञानमात्रग्रह	"
१३—निष्ठाचार	"	३३—मैत्रवर्ण्य	"
१४—उभयपथ पठन	"	३४—रात्रिर्वीरुणी	"
१५—ज्ञानमार्ग का मूलोऽवकाश	"	३५—वाक्वत्	"
१६—अज्ञान तत्त्व शरणार्थ	२८३	३६—विहङ्गवत्	"
१७—वाक्शून्य पवित्रतामिमामिनि	"	३७—क्षत्रयोनिग्रह	२८७
१८—धर्मसङ्कल्प	२८४	३८—आकाश-क्षत्रिय-वरुण	"
१९—अज्ञानवत् ( ज्ञान )	"	३९—वर्णव्यवस्थासूत्र	"
२०—क्षत्रवत् ( ज्ञान )	"	४०—वाक्वत्पुरोषा	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
४१—पञ्चाय-यज्ञास	२८७	४४—दोनों की भानि	२८७
४२—सनातनी-आयसमाजी	"	४५—देश की दृष्टा	"
४३—विद्व-मण्डसी-राष्ट्रवादी	"	४६—य उ विद्यायां रता	२८८

## द्वितीयमन्त्रार्थसमाप्त

## तृतीयमन्त्रार्थप्रकरण

( २८८ पृष्ठसे ३०३ पृष्ठ पण्यन्त )

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—तृतीयमन्त्र ( ११ मन्त्र )	२८८	१४—प्राकृतिस्तिदत्त	न० ४ २९१
२—आननिष्ठा	"	१५—आनासक्तकर्मयोग्य	न० ५ "
३—कर्मनिष्ठा	"	१६—कर्मारम्भधैर्यत्व	न० ६ २९२
४—बुद्धियोगनिष्ठा	"	१७—जीवनयाशानिर्वाहकत्व	न० ७ "
५—कुल कर्म्यत्व	"	१८—अन्यजनपक्षाधिक्य	२९३
६—अभिगता श्रीहृष्ट	२९९	१९—प्राकृतिवपत्र	"
७—वत्स अत्रुन	"	२०—अभिदेवत-अप्यात्म-अभिभूत	"
८—अजन की भानि	"	२१—अग्नी सोमादुत्पिष्ट	२९४
९—आति का निराकरण	"	२२—सोमताव की व्याप्ति	"
१०—सर्वकर्मयोग्यसुखसम्पत्ति	"	२३—प्राणपत्र	"
११—मैत्रिम्यैराप्य	म० १ २९०	२४—वायोपत्र	"
१२—कर्मसंपादसर्वैष्य	म० २ "	२५—वागपत्र	"
१३—कर्मपरिणामाकारकत्व	न० ३ "	२६—असादपत्र	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२७—अथयज्ञ	२६४	४७—शरीरत्रयी	२६७
२८—विद्ययज्ञ	"	४८—भ्रूतस्य प्रथमना	२६८
२९—अनुमन्त्रि	"	४९—महिता सयोग	"
३०—प्रजापतिपञ्च	२६५	५०—उचिष्टाग्निहरे सर्वम्	"
३१—यज्ञेन यज्ञनयनम्	"	५१—स्यष्टि-समावृत्ति	"
३२—यज्ञ से प्रजोपति	"	५२—यज्ञकर्म की अक्षयनता	"
३३—प्रजापतिपञ्च	"	५३—संख्यासङ्कल	२६९
३४—आनुकर्यमृष्टि	२६६	५४—कर्मपदेवाधिकारस्ते	"
३५—प्राज्ञादनिर्गमन	"	५५—प्राज्ञा की अक्षयता	"
३६—दक्षपूजा	"	५६—देवावीर्षु - फसे मेर्षु	२७०
३७—दक्षमन्त्र	"	५७—कुबजपि न विध्यते	"
३८—दक्षमन्त्र	"	५८—मा त सगोडस्त्वकर्मविधि	"
३९—भूतसम्बन्धी दामयज्ञ	"	५९—मुद्रियोग पर आक्षेप	२७१
४०—असम्बन्धी संगमनयज्ञ	"	६०—आक्षेपसम्बन्ध	"
४१—आप्तसम्बन्धी पूजायज्ञ	"	६१—मुद्रिपविद्या	"
४२—पुरोडाश ( आहुतिपर्व )	"	६२—उपाध्यायार्चना	२७२
४३—३३ अक्षय, १ भूत	२६७	६३—उपाध्यायार्चना	"
४४—वायुद्विभं तावद्विभ	"	६४—उपाध्यायार्चना	"
४५—अक्षयार्चनायज्ञ	"	६५—समावृत्तयज्ञ मुद्रियोग	"
४६—'प्राज्ञा' अक्षयनिर्गमन	"	६६—प्रक्षेपार्चनायज्ञ	२७३

### तृतीयमन्त्रार्थसमाप्त

३३

प्राज्ञात्माधिकरणे विज्ञानात्माधिकरणम्

मयामय

अथ  
प्राकृतात्माधिकरणो  
प्रज्ञानात्माधिकरणम्

—४—

( ३०५ पृष्ठसे ३२६ पृष्ठपर्यन्त )

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—प्रज्ञानात्मस्वरूपनिर्देशन	३०५ ३०६	१७—गायत्र पुरुष का द्वितीयपर्व	३११
२—विषयोपक्रम	३०७	१८—" " तृतीयपर्व	"
३—अधिकरण सगति	"	१९—" " चतुर्थपर्व	"
४—घटिक्रमानुसार सत्त्वाभिभाग	३०८	२०—" " पञ्चमपर्व	३१२
५—अध्यात्मानुसार सत्त्वाभिभाग	"	२१—" " षष्ठपर्व	"
६—पितृप्राण	"	२२—" " सप्तमपर्व	"
७—पितृतिथि	"	२३—" " अष्टमपर्व	"
८—सोपिदति	"	२४—गायत्रपुरुषपरिच्छेद	"
९—दर्शयि	"	२५—सम्बन्धि-विनाशात्मक चन्द्रमा	३१३
१०—उत्पत्त्युक्ति	"	२६—गतित्रयी	"
११—अमावास्या नाम	३०९	२७—अश्विपिण्ड	"
१२—आरुमान रहस्य	"	२८—द्विस्वयमर्ग अक्षा	"
१३—गायत्रो वै पुरुष	३१०	२९—वाय्वरूप पामी	३१४
१४—ईश्वर - जीव	"	३०—यक्षवराह	"
१५—गायत्र ब्रह्म	"	३१—अग्निप्राण से चन्द्रोदयेति	"
१६—गायत्रपुरुष का प्रथमपर्व	३११	३२—असायहपुरुष	"



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
११—पुण्यसंगति	३१५	५७—मुखाधिष्ठाता चन्द्रमा	३२२
१४—सोमो राजा	,	५८—अन्तरंग प्रकृति	३२३
१५—मौनव्रता	३१६	५९—सृष्टिसाक्षि	"
१६—गणधर्षनगर	"	६०—पुरुषाम्नि	"
१७—अग्निपुत्र चन्द्रमा	"	६१—आत्माम्नि	"
१८—महाभारत	"	६२—सुतो भवति	"
१९—महाभारतसंगति	३१७	६३—अग्निप्रकाशय चन्द्रमा	"
२०—श्रुक्संहिता	३१८	६४—पुरुष-प्रकृति	३२४
६१—समृति विनाशोपक्रम	३१९	६५—रस—कष	"
६२—आविर्भाव तिरोभाव	"	६६—अग्नि—सोम	"
२३—उदय—अस्त	३२०	६७—सबभम्	"
२४—सप्तसिद्धिस्तम्भ	"	६८—सबभभावाः	"
६५—सत्तारस	"	६९—अन्तरमृति	"
६६—अय घटोऽस्ति	"	७०—अन्तरमृति	३२५
२७—सत्ता कय अशुभ	"	७१—पुष्करिणरसयम्	"
६८—सत्ता कय निम्न	"	७२—श्रुक्संहिता	"
४२—सत्ता कय निम्न	३२१	७३—अन्तरसंगति	३२६
५—अय कय उदयति	"	७४—अन्तरसंगति	३२७
५१—विपति सम्भव	"	७५—आधिदैविक चन्द्रमा	३२८
५२—सम्पत्तिवर्धनमे	"	७६—आधिदैविक चन्द्रमा	"
५३—सम्पत्ति—मृति	"	७७—विद्य कौर जगत	"
५४—उदयकषा	३२९	७८—संपत्ति-अन्तरसी-देसी	"
५५—उदय-अपन	"	७९—सोम स्नेहन	"
५६—विनाशकषा	,	८०—उदय-परिधि	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
८१—उक्त-अक	१२८	१०४—संभूतआत्मा	३१५
८२—संकोच-विकास	"	१०५—आत्मगति	"
८३—यज्ञिराश्रयी	"	१०६—प्रेतात्मा	३१६
८४—यगुजयी	३०६	१०७—अधुमुसपितर	"
८५—इशविषसोम	"	१०८—पिण्डदानकृष्णब्राह्म	"
८६—पञ्चवयवपञ्च	३१०	१०९—अज्ञासूय	"
८७—पञ्चमिषा	"	११०—रेत	"
८८—शिवतमो रसः	३३१	१११—विष्मिरसरस	"
८९—अवरात्रिमास	"	११२—अर्द्धमास की व्यष्टि	३३७
९०—कश्यपप्रजापति	३३२	११३—सहसि	३३८
९१—दक्षप्रजापति	"	११४—पितर	"
९२—दक्षवृत्त	"	११५—असमयमन	"
९३—दक्ष की ६० कन्याएं	"	११६—अभिषाष्टक	"
९४—दाक्षप्रणिप	"	११७—पुन-संभूति	३३९
९५—नियतसमय	"	११८—चान्द्रनाडी	"
९६—मोसम-श्रुत	३३३	११९—सौरयज्ञस्थिति	"
९७—आरोहाचरोहक्रम	"	१२०—त्रैगुण्यमास	३४०
९८—प्रस्थिबन्धन	"	१२१—मात्राविभाग	"
९९—प्रपञ्चविमोक्त	३३४	१२२—विदश-सोम्यांश	"
१००—कौपीतिकिञ्चुति	"	१२३—महापेता-धीः	३४१
१०१—विषद्वयसचन्द्रमा	३३५	१२४—विष्मन	"
१०२—शिक्षतल	"	१२५—रथोक्तसीयसमन	"
१०३—भार-प्रतिभार	"	१२६—सर्वेप्रियमन	३४२

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१२७—मनिन्द्रियम्	३७२	१२८—नियतविषय	३७२
१२८—प्रज्ञानम्	"	१२९—महिर्नि ऐन्द्रेय	"

विषयमिति—समाप्त

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—प्रथमप्रार्थ—३७३—३७४		३—तृतीयप्रार्थ—३७७—३७८	
२—द्वितीयप्रार्थ—३७५—३७६			

इति

प्राकृतात्माधिकरणे प्रज्ञानात्माधिकरण

समाप्तम्

—४—

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे

प्राणात्माधिकरणम्

—५—

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—प्राणात्माधिकरणे—३७७—३७८		५—प्रथमप्रार्थ	३८२
२—प्राणात्माधिकरणे	३८१	६—प्रथमप्रार्थ	"
३—प्राणात्माधिकरणे—गुणवद्वय	३८२	७—प्रथमप्रार्थ—रामाय	"
४—प्राणात्माधिकरणे	"	८—मुद्राधिकरण	३८३

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२—महेश्वर	३५३	३३—अद्वितीयग से देवोत्पत्ति	३५५
१०—अमृत्युपृष्ठ	"	३४—वागेवोपनिषत्	"
११—सहस्रवक्त्रा	"	३५—अतिष्ठायादेवता	३५६
१२—मूलभाग	"	३६—स्तोमविभाग	"
१३—मध्यभाग	"	३७—देवविभाग	"
१४—अन्तभाग	"	३८—सर्वमृतान्तरात्मा	"
१५—मोक्षा	"	३९—अमृत-मग्न देव-मृत	३५७
१६—मण्ड	"	४०—गुह्यसंस्कार	"
१७—साधीसुपथ	"	४१—स्नातसंस्कार	"
१८—मोक्षासुपथ	"	४२—धीतसंस्कार	"
१९—उपेश्वर	"	४३—समुक्-सखा	"
२०—महेश्वर	"	४४—ईश्वरजगत् परिलेख	३५८
२१—परमेश्वर	"	४५—श्रीवज्रगत्परिलेख	३५९
२२—योग्यन्तरागमन	३५९	४६—एव सर्वमृतान्तरात्मा	३६०
२३—अमृतमाया	"	४७—मोक्षात्मविर्ष	३६१
२४—अग्नि सखा देवताः	"	४८—सत्यधर्म	"
२५—अमृत-मृत्यु	"	४९—प्रकरणसंगति	३६१-३६४
२६—वित्याग्नि	"	५०—हिरण्यमण्यग्र	३६४-३६५
२७—वितेतिषयाग्नि	"	५१—पूषभेकपे	"
२८—पिण्डपूषर्षी	"	५२—असत्प्राख	"
२९—महिमापूषिनी	"	५३—अग्नि	"
३०—कृष्णानुन	"	५४—सप्तविप्राख	"
३१—मुक्तरस	३६५	५५—प्राणविमृति	३६६
३२—देवमाता अद्विती	"	५६—वागेवाग्निः	३६७

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२७—एकविंशत्या	३६७	७१—उपास्य-उपासक	३७०
२८—पूषा	"	७२—ह्यायामयीपूषा	३७१
२९—यमप्रजापत्य	३६८	७३—त्रिविधजीव	३७२
३०—अदन्तकपूषा	"	७४—प्राण-अ्यान-अ्यान	३७३
३१—रेवतीपूषा	"	७५—इरा	"
३२—पृथिवीपूषा	३६९	७६—अनिर	३७४
३३—सूर्यपूषा	"	७७—अनिस	"
३४—वायुपूषा	"	७८—हानाम्मुक्तिः	"
३५—एकविंशत्यास्य	"	७९—वायुरनिसममृतम्	"
३६—यमप्रजापत्य	"	८०—मूषविति	"
३७—सूर्यप्रजापत्य	"	८१—प्राणविति	"
३८—पूषन्	"	८२—देवविति	"
३९—पराशो वै पूषा	"	८३—अन्नापोपसंहार	३७५
४०—इन्द्रप्रजापत्य	३७०		

इति

प्राकृतात्माधिकरणे प्राणात्माधिकरण  
समाप्तम्

५

अथ

## प्राकृतात्माधिकरणो शरीरात्माधिकरणम्

६

( ३७६ पृष्ठ से ३८६ पृष्ठपर्यन्त )

—३३३—

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—शरीरात्मस्वरूपनिर्दर्शन	३७६-३७८	२—हृदय	३८१
२—मत्मान्त शरीर	३७९	३—नाभि	"
३—इह चेदवेदीत	३८०	४—ब्रह्मप्रणयि	"
४—८४ अङ्गुष्ठ	"	५—सप्तमितस्तिकाय	"
५—पुरुष परिमाण	"	६—आधिमौलिक पुरुष	"
६—प्रादेशमित प्राण	"	७—मत्मान्तविषय	३८२
७—मन्त्ररश्मि	३८३	८—कट-कृत	३८३
८—वयं	"	९—प्रकरखोपसंहार	३८४

इति

प्राकृत त्माधिकरणो शरीरात्माधिकरणं  
समाप्तम्

६

अथ

## प्राकृतात्माधिकरणो

उभयो सत्यात्मनोरग्निना-पेकात्म्यम्

( ३८४ पृष्ठ से ३८६ पृष्ठ पर्यन्त )

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—जीव-ब्रह्मसत्य	३८४	२—जीव-देवसत्य	३८५
३—ईश्वर-ब्रह्मसत्य	"	४—ईश्वर-देवसत्य	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
५—सत्यप्रतिष्ठा	१८१	८—जातवेदा	१८५
६—वपुः	"	९—अममेद	१८६
७—वय	"	११—वपुमाभिष्टाता अग्नि	"
८—वयोनाथ	"	१२—प्रकरणोपनिषद्	"

इति

वाजसनेयोपनिषत्-विज्ञानभाष्य सम्पूर्णात्



उपनिषत् निष्कर्ष

( १८७ पृष्ठ से १८२ पृष्ठ पर्यन्त )



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—मोग्राससमन	१८०	६—द्वितीय आदेश	१८२
२—वित्त वरि अविषयता	'	७—तृतीय आदेश	१८२
३—महाराज यमाति	'	८—चतुर्थ आदेश	१८१
४—इ आदेश आद्य	१८८	९—पञ्चम आदेश	"
५—अथन आदेश	१८८	१०—षष्ठ आदेश	१८२

ॐ शान्तिः ' शान्ति ' शान्ति !!!



“ मयाव्यक्षणा प्रकृति सूयते सचराचरम् ”

## प्राकृतात्माधिकरण

२

प्राक्-आप-वाक्-अक्ष-अक्षदमयः प्राकृतात्मा ‘विष्कात्मा’

४—१—१—अनेजदक्ष मनसो जवीय	}	अव्यक्तात्माधिकरण
५—२—२—तदेजति तन्नेजति		
६—३—३—यस्तु सखाधि भूतानि		
७—४—४—यस्मिन् सखाधि भूतानि		
८—५—१—स पर्यगच्छुक्रमकायम्	}	महतात्माधिकरण
९—६—१—अथ तम प्रमिशन्ति		
१—७—२—अन्यदेवाहुर्विद्यया	}	विज्ञानात्माधिकरण
११—८—३—विद्या चाविद्या च		
१२—९—१—अथ तम प्रमिशन्ति	}	महानात्माधिकरण
१३—१०—२—अन्यदेवाहुः सम्भवात्		
१४—११—३—सम्मूर्ति च विनाश च		
१५—१२—१—द्वितीयमेव पात्रेण		
१६—१३—२—पूयन्नेवर्षे	}	मायात्माधिकरण
१७—१४—३—वायु मिश्रयमुतम्		
१—अथेद मस्मात्स शरीरम्	}	शरीरात्माधिकरण
१८—१५—१—अथ नय सुपथा राये		

ॐ पूर्णमद पूर्णमिदम्







पूर्णमदः



पूर्वमिदम्

१-स्वयम्भूः



१-शान्तात्मा

अविदेष्टम्



अध्यात्मम्

ब्रह्मसत्याक्षर —

ब्रह्म-कर्ममयः प्राकृतात्मा स्वयम्भूः

अव्यक्तात्मा

१

स्वयम्भू



प्राणः



शान्तात्मा

( अव्यक्तात्माधिकरणे शान्तात्मा )

वेदावच्छिन्नो वेदमूर्तिर्विधाकर्ममयात्मा

विश्वेश्वरः

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्पत् ।

तद्भाषतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

( ईशोपनिषत् ४ मन्त्र )







## अव्यक्तस्वरूपनिदर्शन

सर्वादिश कर्ष्यपथश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्गन्धवान् ।  
 एव स देवो मगवान् धरेययो योनिस्त्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥ १ ॥  
 यश्च स्वमान पथति विश्वयोनिः पाप्म्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः ।  
 सर्वमेतद्विश्वपधितिष्ठत्येको गुणांश्च सत्त्वान् विनियोजयेद्यः ॥ २ ॥  
 तद्देव गुह्योऽपनिपत्सु गूढं तद् व्रक्षा वेदयत ब्रह्मयोनिम् ।  
 य पूर्व्यं देवा श्रूयपथश्च तद्विबुधे तन्मया समृता वै वसुधुः ॥ ३ ॥  
 गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।  
 स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिबर्त्ता प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥ ४ ॥  
 धनाद्यनन्त कसिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।  
 विश्वस्यैक परिप्रेषितार इत्वा देव श्रूयते सर्वपाणः ॥ ५ ॥  
 स तन्मयोऽब्रह्मयुत ईशसंख्यो ह्यः सवंगो भुवनत्रयास्य गाढा ।  
 य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥ ६ ॥  
 एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदय सन्निविष्टः ।  
 हृत्वा मनीषा मनसाऽभिरुह्यो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ७ ॥  
 छन्दांसि यज्ञा ऋतवो व्रतानि भूत मम्य यश्च वेदा भवन्ति ।  
 अस्मान्मायी सृजते विश्वमतत् तस्मिन्नान्यो मायया सन्निह्यः ॥ ८ ॥  
 यो यानि योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं स च विधेति सवम् ।  
 तमीशानं वरदं देवमीश्वरं निचाप्येमां शान्तिमस्त्यन्तमेति ॥ ९ ॥  
 विश्वतश्चक्षुस्त विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुस्त विश्वतस्यात् ।  
 स बाहुभ्यां धरति संपतत्रैर्बाणभूमिं जनयन् देव एका ॥ १० ॥

अव्यक्तादव्यक्त्य सर्वा प्रभवन्त्यहरागमे ।  
 राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैषाव्यक्तसंज्ञके ॥



॥ श्री ॥

अभ्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमप्यानि भारत ।

अभ्यक्तनिषनायेष तत्र का परिदेवना ॥ १ ॥ (गी० २।२८।)

अभ्यक्ताद् व्यक्तयः सभा प्रमथन्त्यहरागमे ।

राभ्यागमे प्रसीयन्ते सर्वबाभ्यक्तसङ्गके ॥ २ ॥ (गी ८।१८)

महर्ति भ्वाभवष्टम्ब विद्यमाणि पुनः पुनः ।

भूतप्रापयिमि कृत्स्नमवशं मकृतेर्वशात् ॥ ३ ॥ (गी० ९।८।)

मयाभ्यक्षेय मकृतिः सूर्यो सचराचरम्

हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्तते ॥ ४ ॥ (गी ९।१)



न्यार्य से सम्बन्ध रखने वाला बहिरङ्ग नियम समाप्त हो गया । अब मन्त्र-प्रकरण आरम्भ होता है । प्रथम प्रकरण का 'असुर्या' नाम से लोकाः,

इत्यादि मन्त्र आबरणतन्त्र का निरूपण करता है । आबरणतन्त्र विश्व है ।

इसी विश्वाकरण से आत्मप्रकाश रहता हुआ भी तिरोहित हो गया है । इस

आबरणतन्त्र के सम्बन्ध में प्रश्न उपनिषत् होता है कि—आबरणतन्त्र

का प्रवर्धक कौन है ? विशुद्ध अभ्यय पुरुष तो केवल आत्मकाम बनता हुआ आप्तकाम अतएव निष्काम है । ऐसी अवस्था में विशुद्ध अभ्यय से आबरणरूप विश्व की प्रवृत्ति हो—यह सम्भव नहीं है । इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए 'असुर्याः' इत्यादि मन्त्र के अभ्यवहितोत्तरकाव्य में ही निम्नलिखित मन्त्र हमारे सामने आता है ।

अनेजदेक मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वपर्षत् ।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठतास्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

“यह (कोई) एक (विशेष) तत्त्व सर्वथा) कम्प रहित है । (यह) मन से भी (अधिक) योग बामा है । पश्चिमे से ही (सब) व्याप्त उस तत्व को देवतासौग प्राप्त करने में



यही सीमित वसाध्मिष्ठ बनता हुआ, अतएव द्विनियतिभाव का प्रकटक बनता हुआ अभ्यय कहलाने लगता है जैसा कि पुरुषनिरुक्ति में स्पष्ट कर दिया गया है। (देखिए ई० उ प्र० २६५-२८५ पृ०) वसमाग सर्वथा क्षणिक है, क्षोम ही इस का स्वरूपधर्म है। इसी आत्यन्तिक क्षोम से अभ्ययपुरुष 'असत्' कहलाने लगता है। वसमाग सर्वथा क्षणिक है। शान्ति इस का स्वरूपधर्म है। इसी आत्यन्तिक शान्ति से यह 'सत्' नाम से व्यवहृत होने लगता है। नित्य अशान्तिगर्भित नित्य शान्त अव्युत्-सुखरूप सदसत् तत्त्व ही ओंकार (ईश्वर) है, यही अहंकार (ईश्वरानुबन्धीभाव) है, यही अहंस्कार (विश्व) है। यही रामानुज सम्प्रदाय का त्रिभिदाइत है। इस प्रकार तत्त्व दो हैं, परन्तु आश्चर्य है—कहलाते हैं दोनों 'एक'। ऐसा क्यों? इसका उत्तर अपने बल से पूछिए। बल में वपका है, सूत है, रुई है, कपास है, मिट्टी है, जल है, सेज है, वायु है, आकाश है, प्राण है, मन है, विज्ञान है, आनन्द है, अन्नन्त (परत्पर) है। बल में इतनी चीजें, फिर भी बल एक कहलावे, ऐसा क्यों? बल जो उत्तर इस 'क्यों' का है, वही उत्तर पूर्व के 'क्यों' का है।

अद्वैततत्त्व के वास्तविक मर्म को न समझने वाले कुछ एक दार्शनिकों का कहना है कि "यदि रसबद्ध बल को भी शान्त एवं अमृतसत् (एकपदार्थ) मान लिया जायगा तो अद्वैत का समूह विनाश होजायगा। अतः नाम रूप कर्मात्मक विश्व को सर्वथा मिथ्या ही समझना चाहिए। केवल रसतत्त्व मत्त्व है। और सारा प्रपञ्च वायिक है, मिथ्या है"। इस प्रकार—'अनृत द्वे तु मायिके' कहते हुए नामरूपामक विश्व को असत्य मानने वाले—  
 "असत्यमवतिष्ठ ते जगदादुरनीश्वरम्" (गी० १६ अ० ८ खो०) भगवान् के इस कथन के अनुसार अनीश्वरवादी कहियत अद्वैतवाद की रक्षा के ध्यान से इस बल की शान्तता पर प्रहार करना चाहते हैं। उनके प्रति हमारा यही कहना है कि योही वेर के लिए अम्युपगमवाद से हम अद्वैतरक्षा के लिए कर्ममय विश्व को आपके कथनानुसार मिथ्या मान लेते हैं। यह मानलेने पर भी बल स्वीकार करने से जो आपत्ति हमारे ऊपर आती है, उस आपत्ति से आप भी नहीं बच सकते। साक्षात्क पदार्थों में स्वगत, सजातीय, विजातीय भेद से तीन प्रकार के भेद





यही सीमित ब्रह्मचर्य की वनता हुआ, अतएव द्वितीयविभाग का प्रत्येक वनता हुआ अव्यय कहलाने लगता है। वैसा कि पुरुषनिरुक्ति में स्पष्ट कर दिया गया है। (देखिए ई० उ० प्र० २६५-२८५ पृ०) अतएव सर्वथा शक्ति है, जोम ही इस का स्वरूपधर्म है। इसी आत्यन्तिक जोम से अव्ययपुरुष 'असत्' कहलाने लगता है। रसमाग सर्वथा अव्यय है। शान्ति इस का स्वरूपधर्म है। इसी आत्यन्तिक शान्ति से यह 'सत्' नाम से व्यवहृत होने लगता है। नित्य अशान्तिगर्भित नित्य शान्त अव्यय-मृत्युरूप असत् तत्त्व ही ओङ्कार ( ईंकार ) है, वही अहङ्कार ( ईंकाराश्रमण जीवात्म्य ) है, वही अहङ्कार ( विष ) है। यही रामानुज सम्प्रदाय का निश्चिन्ता है। इस प्रकार तत्त्व दो हैं, परन्तु आश्चर्य है—कहलाते हैं दोनों 'पक्ष'। ऐसा क्यों ? इसका उत्तर अपने कक्ष से पूछिए। कक्ष में कपड़ा है, सूत है, रुई है, कपास है, मिट्टी है, लकड़ है, सेज है, बागु है, आकाश है, प्राण है, मन है, विज्ञान है, आनन्द है, अमन्त ( परात्पर ) है। कक्ष में इतनी चीजें, फिर भी क्या एक कहलावे, ऐसा क्यों ? वस जो उत्तर इस 'क्यों' का है, वही उत्तर पूर्व के 'क्यों' का है।

अद्वैततत्त्व के दार्शनिक धर्म को न समझने वाले कुछ एक दार्शनिकों का कहना है कि " यदि रसबद्ध ब्रह्म को भी शान्त एवं अमृतसत् ( एकपदार्थ ) मानलिया जायगा तो अद्वैत का समूल विनाश होजायगा। अतः नाम रूप कर्मात्मक विषय को सर्वथा मिथ्या ही समझना चाहिए। केवल रसतत्त्व अत्य है। और सारा प्रपञ्च मायिक है, मिथ्या है"। इस प्रकार—'अमृत द्वे तु मायिके' कहते हुए नामरूपरसमय विषय को असत्य मानने वाले— " असत्यमप्रतिष्ठ ते भगदादुरनीचरम् " (गी० १६ अ० ८ खो०) मयदान् के इस कथन के अनुसार अनीचरवादी कल्पित अद्वैतवाद की रक्षा के ध्याय से इस ब्रह्म की शान्तता पर प्रहार करना चाहते हैं। उनके प्रति हमारा यही कहना है कि योही देर के लिए अमृतपदमयद से हम अद्वैतरक्षा के लिए कर्ममय विषय को आपके कथनानुसार मिथ्या मान लेते हैं। यह मानलेने पर भी ब्रह्म स्वीकार करने से जो आपत्ति हमारे ऊपर आती है, उस आपत्ति से आप भी नहीं बच सकते। सांसारिक पदार्थों में स्वर्ग, सजातीय, विजातीय भेद से तीन प्रकार के भेद

हमा करते हैं। अथ और मनुष्य का मे- विजातीय भेद है। मनुष्य-मनुष्य का भेद सजातीय भेद है। एक ही मनुष्यशरीर में कान-नाक-मुख हाथ-पैर आदि शरीरावयवों का पारस्परिक मे- "संगत" भेद है। ब्रह्मत्त्व इन तीनों भेदों से पूषक् माना जाता है, जैसा कि- 'एकमेवा द्वितीय ब्रह्म' इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। विजातीय भेद को हटाने के लिए 'एकम्' कहा है सजातीय भेद को हटाने के लिए 'एव' कहा है एवं संगत भेद की व्याप्ति के लिए 'द्वितीयम्' कहना पड़ा है। इस पर हमारा यह कहना है कि हम उठे सजातीय विजातीयभेदशून्य तो मानते हैं, परन्तु आपके माने हुए भेदभेद के स्वरूपानुसार उसे संगतभेद शून्य नहीं माना जा सकता। कारण स्पष्ट है। 'निस्तु विज्ञानमानन्द ब्रह्म' "सत्यं वा नमनन्त ब्रह्म" के अनुसार उसमें सचा-चेतना-ज्ञानन्द यह तीन पर्व सत सिद्ध हैं। भाति (सचा), भाति (चेतना), प्रिय (ज्ञानन्द) यह तीन पर्व आपके ही माने हुए हैं। उस एक ब्रह्म का तीन तरह से मान हो रहा है। क्या भातिमूलक भेद अमे- का प्रतिबन्धक नहीं है? यदि हां तो इस विवक्षिति को हटाने का आप के पास क्या उपाय है? बही सचाधि। उक्त विवक्षिति का निराकरण करते हुए आप कहते हैं कि- 'यद्यपि ब्रह्मतत्त्व सचा-चेतना-ज्ञानन्द रूप से तीन तरह से भासित होता है परन्तु सचा तीनों की एक है। भातिभेद द्वैत का कारण नहीं है अथि सचाभेद द्वैत का कारण है। एसी अवस्था में सचाभेदमूलक संगत-भेद का प्रकृत में समावेश नहीं हो सकता'। क्या यह उत्तर (हम नाम रूप को मानते हुए) नहीं दे सकते? अरण्य दे सकते हैं। यल की भाति होती है सचा एक है। पूर्वोक्त ब्रह्मोद्धारण पर ध्यान दीजिए। मन माया बना है, प्राण प्राज्ञाग बना है आकाश वायु, वायु अग्नि जल ब्रह्म मिथी मिथी कणम कणस रूई सूत सूत कपड़ा एवं कपड़े से ब्रह्म बना है। प्रतिसृष्टाक्रम का आश्रय लेते हुए यदि आप प्रस्थितजन तोड़ते जायेंगे तो उक्त सय पदार्थ आप एक ही का में प्रत्यक्ष भेद लेंगे। इस सब अनेक भातियों के रहने पर भी- "बाबाक्रमसं विहरात् नारायण भुक्तिरुत्थय मारुत के अनुसार पूर्वपूर्व कारण सचा ॥ उच्छेदक रूप में प्रतीतेन होती है। इस एक मयाभास से अनेक भातियों के (प्रतीतियों के) रहन पर भी

यस एक कहलाता है। यही अवस्था यहाँ है। यस्तत्तत् अनन्यरूप से प्रतीत हो रहा है सा।  
 ही में उपाधिमेद से सचामात्र का भी पाश्चात्य प्रतीत हो रहा है, परन्तु उरमायत सत्कारस एव  
 है। अतः नामरूपप्रवर्तक वसपदार्थ को मानसने से अद्वैततरण में कोई बाधा उपस्थित नहीं  
 होती। ऐसी अवस्था में कल्पित अद्वैतवाद की रक्षा में प्रसन्न होकर नामरूपात्मक विश्व को  
 मिथ्या मानना सर्वथा मिथ्या है। “अनुते द्वे तु मायिके” “ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या” यह  
 प्रमाण किस शास्त्र के हैं यह पता न लगता। सम्पूर्ण वेदवाङ्मय में गीता में वेदान्तसूत्रों में  
 कहीं भी विश्व को मिथ्या नहीं बतलाया है। विश्वको मायिक अवरय बतलाया है परन्तु माया  
 क्या मिथ्या है-यह किस आधार पर मान लिया गया, यह समझ में न आया। यदि आप सारा  
 न मानें तो हमें यह कहलेमें दर्जिए कि भारतवर्ष का उत्पत्ति का समूह विनाश यदि किसी ने  
 किया है तो वह यही कल्पित जगन्मिथ्यावाद है। संसार मिथ्या है—आत्मा सत्य है, सांसा-  
 रिक क्रम बन्धन के कारण है” इन अनुचित एवं अशास्त्रीय भावनाओं ने कमजोर भारतवर्ष को  
 सदा अकर्मज बना डाला है। पाठकों को हम यह विश्वास दिलादेते हैं कि आप के शास्त्रों  
 में कहीं भी जगत् को मिथ्या नहीं बतलाया गया है, अपितु वह विश्व को ब्रह्म की विभूति  
 मान रहा है।

‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ के अनुसार विश्व का मूलप्रमथ ब्रह्म सत्ता-चेतना-आनन्दसत्त्व  
 बनता हुआ ‘सत्य’ है। इधर—‘ब्रह्मब्रह्म सत्यम्’ यह हृष्टी सत्यजस के वायभूत विश्व को  
 ‘ब्रह्म’ मान रही है। एक सत्यपूत महर्षि की हृष्टी जब सत्य मानी जाती है तो सत्यमूर्ति  
 ब्रह्म की हृष्टीरूप विश्व को कैसे मिथ्या माना जासकता है। कारण के गुण ही तो काय  
 के आरम्भक (स्वरूपसम्पादक) बनने हैं। जब कारण सत्य है तो फल कैसे मिथ्या होसकता  
 है। ‘यद्यं सबन्ध पमयो यत्नं मयं प्रवक्तव्यं (गीता १८ अ ८ श्लो) के अनुसार सत्यमूर्ति  
 अभ्यस से सारा विश्व बना है। अस्पष्ट ब्रह्म ही स्पष्टरूप में आपर विश्व कहलान लग गया  
 है। ऐसा विश्व मिथ्या होगा—यह कौन विश्वास करेगा। ममवागा जीवन्नाह आनभूत  
 मनावनः’ (गीता १५ अ ७ श्लो) ‘यकागेन मियन मयम’ ‘विपाद्व्य उदित पुरुषः पाना

व्योहाभवत् पुन' 'युरूप एव' सर्व यद्भूत यच्च माध्यम' एक वा इदं  
 विवभूत सर्वम् 'तथैक सन्त विधा बहुधा यद न्न इत्यादि भूतिस्मृतिर ज्ञेय स्पष्ट शब्दों  
 में ब्रह्मकायनाश को पुष्ट करती हुई विश्व को ब्रह्म की विभूति मान रही हैं तो ऐसी अवस्था  
 में विश्व को सिद्धा मानना क्या निरी करणना नहीं है। अपि च सृष्टि होती है प्रमापति से।  
 प्रमापति को सृष्टिकारणा से तपधर्या करनी पड़ती है। उस की विरकास की तपधर्या से विश्व  
 उत्पन्न हुआ है जैसा कि - प्रमापतिर्वा इदमग्र एक-भासीत् । सोऽकामयत् बहुभ्यसा  
 मप्रजापेय यमान गच्छेय स तपोऽतप्यन्' ( षे उ० १।१६।१ ) इत्यादि भूतियों से  
 भूय है। साधारण मनुष्य परिश्रम करके यदि किसी वस्तु का निर्माण करता है तो लोक में उस  
 का आदर होता है। ऐसी स्थिति में जगन्निष्ठा में तपधर्या से जिस विश्व का निर्माण  
 किया उसे एक हेला से सिध्दा बतसा देना सचमुच अपराध है, अपराध ही नहीं अक्षम्य  
 अपराध है। अपिच- ब्रह्म ब्रह्मणि' सोऽहसोऽसौ' इत्यादि रूप से उपनिषद्भूतिर ग्रंथ  
 पदार्थ को 'ब्रह्म मानती हैं। 'उभयं हैतद्वद् प्रमापतिराम-मर्त्यं ब्रह्मादृतम्' ( यत् १०।  
 कां १।४।१४।१५ ) इत्यादि ब्राह्मसंभूति उस ब्रह्म प्रमापति को अप्रुत-वस्तुमय मान रही है।  
 श्रौती उपनिषद् के आधा पर ब्रह्मनेवासी स्वार्थी उपनिषद् (गीता) वस्तुतः परमपुरुष सद्  
 सत्त्वाहमर्जुन इत्यादि रूपसे स्पष्ट शब्दों में ब्रह्म को उभयधर्मवर्चस्विन बतसा रही है। ऐसी  
 स्थिति में ब्रह्म के मृग्यप्रधान विरव को सिध्दा मानना साहस नहीं तो भीरु क्या है। जिस  
 नामरूपमय विरव को आप सिध्दा मान रहे हैं देखिये भूति उसी के लिए अज्ये कया विचार  
 प्रकट करती है—

अयं वाऽहं नाम रूप कम । तेषां नाम्नां च गिन्येत्तेषामुक्तयम् । अतो हि  
 मयाणि मायाव्युत्पिष्टानि । एतन्तेषां साय, एतदि सर्वनायमिः मयम्  
 एतन्तेषां ब्रह्म एतदि सर्वाणि नामानि विमर्शि । अथ कृपाणां  
 वस्तु — — — — । अथ कृमणावात्मा (गरीरम्) — — — — ।  
 नदनत अथ सन्नेकमयमात्मा । आत्मा—उ एकः मन्नेकमयम् । नदनतमूर्त

सत्येन क्लृप्तम् । प्राणो वाऽग्रसूत्रम् । “नामरूप सत्यम्” । ताम्बा  
पय प्रागाच्छुन्न” —

(शत १४ का० । ३ म १४ अ । ४ प्रा०) इति ।

निसप्रकार हमने स्पष्ट शब्दों में ‘नामरूपे सत्यम्’ इस रूपसे मध्य वेद में नाम रूपात्मक विरव की सत्यता बतलाई है, क्या विरव को मिथ्या सिद्ध करने वाला कोई वाक्य आप बतला सकेंगे ? नहीं तो क्यों आपके कल्पनिक मन का आदर किया जाय । ‘असत्यम् प्रणिष्ठ ने जगन्नाथुरनीश्वरम्’ के अनुसार क्यों नहीं आपके ‘अर्धेश्वरवादी’ माना जाय । रामानुज सम्प्रदाय के अनुसार क्यों नहीं आपके ‘पञ्चकृन्तनबौद्ध’ कहा जाय । समस्या बड़ी चटित है । आज जगन्मिथ्यात्ववाद पर प्रायः सभी विद्वानों का दृढ़ अभिनिवेश है । उनके इस मन्तव्य के विरोध में कुछ भी कहना आपत्ति को निम्नत्रय देना है । फिर भी सत्य सिद्धान्त सत्य ही रहेगा । ऊपर की पङ्क्तियों से केवल दोम प्रकट कर देना दूसरी बात है, एवं शास्त्रीय विचार से निर्णय पर पहुँचना दूसरी बात है । हम आज स्पष्ट शब्दों में व्याकर्त के सभी विद्वानों को यह बतला देना चाहते हैं कि जगन्मिथ्यात्ववाद अशास्त्रीय है । ‘असत्य जगन्मिथ्या’ वाक्य का शास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है । प्रत्यानव्रयी का कोई भी वाक्य जगत् को मिथ्या नहीं बतला रहा । विश्व के लिए ‘अनृत’ शब्द अक्षर्य आया है । परन्तु इस अनृत शब्द का अर्थ भी मिथ्या नहीं है, जैसा कि विचार उपस्थित होने पर प्रकट होगा । नीरक्षीयविवेकिनों के सम्मुख कुछ एक भवन उपस्थित कर दिये जाते हैं । यह वचन बिगुन ईश्वर की कृति है—ईश्वर ही अपने अशक्य से विश्व बना है । अतः तर्कशून्य मिथ्य तद्रूप ही है’ इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हैं । विद्वानों का यह कृतव्य होना चाहिए कि वे इन वक्तों का सम्मुख कर निरक्षय से भली भाँति वासी जगन्मिथ्यात्वविपरीत मिथ्या आन्ति का निराकरण कर देश को निष्क्रम कर्मयोग में प्रवृत्त करें ।

- १— सत्य ज्ञानमनन्तं मय्य यो वेद निहितं गुहायाम् ” ( ति० उ० १ ) ।
- २— स एवाधस्तात् स उपरिष्ठात्, स पश्चात्, स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः, स एवेत् सर्वम्—( मन्त्रवत् सर्वम् ) ” ( छां उ ७।२।११ ) ।
- ३— ‘ पुरुष एवेत् सर्वम्—यद्भूतं यच्च भव्यम् ” ( यजु मं ३ अ० १२ म० ) ।
- ४— एक वा इदं विषमूढं सर्वम् ”
- ५— ‘ प्रजापते न त्वेताम्यन्वो निष्ठा रूपाणि परिता वभूव ” ( यजु १०।२० ) ।
- ६— “ एक सवित्रा बहुधा यदात्यग्निं यम मातरश्चानमाहुः ” अ० १। ६४।४६ ) ।
- ७— ‘ मय्य क्व मय्य स ह्यस्य आसीत् यन्मे वाचापृथिवी निष्टनसु ’ ( त० २। २। २। ६ )
- ८— तन्म शुक्रं तद् मय्य तदंशवत्तमुच्यते तं मय्यस्योक्तं भित्ता सर्वे ” ( ऋ० २। ६। १ )
- ९— ‘ यो देवानां प्रमथोद्भवश्च निष्ठाधिपो रुद्रो मय्यग्निः ” ( रवता उप ३।४ ) ।
- १०— योऽयं मय्य प्रजापतिः ” ( शत ७। २। १७ ) ।
- ११— “ एष ह प्रजानां प्रजापतिरपि सवित्रः ” ( गे पू ५। १ ) ।
- १२— प्रजापतिं होवेदं सर्वमनु प्रजापते ” ( श ७। ५। २। १ ) ।
- १३— ‘ प्रजापतिर्लोकात्म्यतपत् । तेषां तत्त्वमनानां रसान् प्राप्नुवद्—अग्निं पूर्णमया वायुमन्तरिक्षात् आदिष्य विष ’ ( छां उ ७। १७। १ ) ।
- १४— प्रजापतिश्च विष्वक्मया ” ( श ७। ७। २। १ ) ।
- १५— ‘ इमे लोका प्रजापतिः ” ( श० ७। ५। १। ७ ) ।
- १६— वाचापृथिवी हि प्रजापतिः ” ( श ५। १। ५। ६ ) ।
- १७— ‘ सं वाङ्मयां वयमिति सम्पत्तयैर्वावाग्म्यौ मनयन् पय एक ” ( अ० १। १०। १३ ) ।
- १८— सर्वमु होवेदं प्रजापतिः ” ( श ५। १। १। ४ ) ।
- १९— विषादुष्यै उतैव पुरुष पात्रेऽस्येष्टायवत् पुनः ” ( यजु ३। १४ ) ।
- २०— “ प्रजापतिस्तवेदेवै सव्यं यदिह विष्वक् ” ( ——— )
- २१— ‘ य एको वासवाग्नीश्वर ईशनीमिः सवासोकाग्नीश्वर ईशनीमिः ” ( रवे उ ३। १ ) ।

२२- 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हर क्षरात्मानावीशते देव एक " (खे १।१०) ।

२३- "य एको यणो बहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान् निक्षिप्तार्थो दधाति " (खे० ४।१) ।

२४- 'अहं सत्यस्य प्रमथो मय सर्वं प्रवृत्तते " (गी० पृ० ८) ।

५- 'मदैवाशो जीवलोके जीवमृताः सनातन " (गी०) ।

२६- 'मय परस्परं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनजय " (गी ७।७) ।

२७- "विद्यम्याहमिदं हृत्स्नमेकाशेन स्थितो जगत् " (गी० १०।४२) ।

२८- "नामरूपे सत्यम् " (शं० १४ कां० १।१४) ।

२९- "देतश्चात्ममिदं सर्वं, तत् सत्यं, स आत्मा " (झां० उ० ५।८।७) ।

३०- "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोऽग्नि आग्ने रापः, अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओरधम, ओरधीम्योऽन्न, अन्नाद्रेत, रेतसां पुरुष । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय । + + + + अन्नादे प्रजा प्रजायन्ते याः काश्च पृथिवी भिता । सब वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं प्रक्षोषासते । अन्न हि भूतानां ज्येष्ठम् " (तै० उ० १।१- १) ।

३१- "यै किञ्च प्राणि स प्रजापति " (शत० ११।१।१) ।

३२- "मनोमयोऽयं पुरुषो मा सत्य " (बृ० आ० ५ अ० ६ का०) ।

३३- "अन्नमय हि सोम्य मन " (झां० उ० ६।७।१) ।

३४- "पोष्टयकस्य सोम्य पुरुष " (झां० उ० ६।७।१) ।

३५- "तप वै प्रजापति + + + । माम वै प्रजापति " (तै० श्र २।२।७।१) ।

३६- "प्रजापति प्रजा अस्मज्जत । स ऊर्ध्वम्य एष प्राणेष्वो देवानसृजत, येऽन्नाश्रमाखा- स्तेभ्यो यथा प्रजा + + + तस्य ह प्रजायतेऽर्धमेव अर्धमासीर्द्धमप्युतम् " (शत० १०।१।२।१-२) ।

३७- 'स आत्मेनैव देवानसृजत, तस्मै स ससृजानाय दिव्यकाश । अयं योऽयमवकाशः तेनाप्युत्पन्नसृजत । तस्मै ससृजानाय तम इवास " शत० ११।१।६।७-८) ।

३८- "एवो ह देव प्रदिशोऽनु सर्वा एवो ह जात स उ म्ये अन्त । स एव जात स जनिष्मकाय प्रसृजन्नास्तिष्ठति सर्वानामुत ॥ (खे० उ० १।१६) ।



उक्त सत्यमीर्माणा से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि रस वस्तरूप विद्या मन्त्र दोनों आत्मा के स्वरूपभर्म हैं । अभिमतचामात्र के कारण दोनों एकतरफ हैं । विद्याभाग त्रिपत्तिमूर्ति होने से सद्यः कल्प रहित है । इसी विद्याभाग को सद्य में रखकर श्रुतिने 'अनेमत्' कहा है । कर्मभाग गतिरूप होने से 'एजत्' है । इन दोनों विरुद्धभावों से हीत का भ्रम न होनाय अतः एकरूप्यब्यहाराय उसी सत्तातरफ की ओर लक्ष्य रख कर श्रुति ने 'एकम्' कहा है । अने-कत्-और एजत् दोनों उस एक के उद्गर में समाधि हैं । मन्त्रस्य 'एकम्' दोनों का सम्मन्वय सूत्र है । इसी 'हस्त्य' को लक्ष्य में रखकर "अनेनत्—एकम्—एनसो जयीय।" यह कर्म रखा गया है । इस प्रकार स्पष्ट ही इस मन्त्र का विद्याकर्मव्यव्ययप्रतिपादकत्व सिद्ध होजाता है । यदि इस मन्त्र में 'तस्मिन्मयो मातरिणा द्यावि' यह वाक्य न होता तो अन्वयमेव प्रथम प्रकारकाय् यह द्वितीय प्रकारका भी विशेषोपहित (वेदोपहित) शुद्ध अन्वय का ही निरूपक मन्त्र सिध्य जाता । परन्तु उक्त चतुर्थ वरख ही उस के वेदयुक्त लोगविक्र मान की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है ।

उस त्रिपत्तिगतिमय विरुद्धता तरफ में मातरिणा नाम का तरफ विशेष अप् का आधान करता है । आधान का अर्थ है आहिति । एक आकाशमन्त्र पर दूसरी वस्तु का रक्ता आना ही आहिति किंवा आधान है । वैदिक परिभाषानुसार जिस आकाशमन्त्र पर वस्तु का आधान होता है जिस पर वस्तु आहित होती है वह अणा (मोक्ष) बनता हुआ 'अणाद्' नाम से व्यपकृत होता है एक आहित होनेवाला अर्थात् 'आहुति' कहलाता है । आहिति शब्द ही परोक्षभाषा में आहुति है यही अन्वय है । उद्गर व्यहारा है वहां आहित अन्वय अन्वय है । दोनों का समन्वित-रूप ही यह कहलाता है । उदाहरणार्थ सूर्य अन्वय है उस पर आहित अतएव आहिति नाम से प्रसिद्ध अन्वय (सोम) आहुति है । यही प्राकृतिक (आधिदैविक) श्रिययह है । इसी अन्वयानुसंगक यह का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

स वै यः सोऽनाग्निरेव सः । तस्मिन् पतकिञ्चाभ्यादपति—आहितय  
एवाय नाः । आहितयो वै ता आहुतय इत्याचक्षते परोक्षम् । आदित्यो

मा यथा, तस्य चन्द्रमा (सोम) एवाहितयः, चन्द्रमस आदित्ये आदपति”

( शत० १०।६।३।१-२ )

प्रकृत मन्त्रभाग यही यज्ञक्रम बतला रहा है । प्राचीन माप्य के अनुसार अण् का अर्थ है कर्म, मातरिखा का अर्थ है सूत्रायु । सूत्रायु उस अनेजवेनत् नाम के परमात्मतत्त्व में कर्म का आधान करता है । वैज्ञानिकदृष्टि से अण् आहुति द्रव्य है, मातरिखा भी एक सतम्ब तत्त्व है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा । इस अवाहुति से वह अम्ययपुरुष यज्ञ पुरुषरूप में परिणत होजाता है । पुरुष जबतक यज्ञ का आश्रय नहीं होता, तबतक प्रजोत्पत्ति नहीं होसकती । कारण ‘सह यज्ञा’ मजा छद्मा ’ (गी १।१०) के अनुसार प्रजा सृष्टि का मूल उपक्रम यज्ञ प्रजापति ही है ।

अण् की आहुति होती है इससे यज्ञस्वरूप निष्पन्न होता है । ऊपर हमारा शुद्ध अम्यय पुरुष मोक्षमोक्षसदृश अन्नआदामक यज्ञ से स्रवणा यहिभूत है । क्योंकि यज्ञ का पहिला मूल आपोमय परमेष्ठी है । अणुसे ही यज्ञ होता है । यज्ञमूर्ति परमेष्ठी का अण् नाम का पुरजन् प्राणमय वेदपुरजन् से उत्पन्न होता है । स्वयम्भू का प्राण ही ‘ब्रह्मनिबसित’ वेद है । ‘सोऽपोऽसृजत वाच एव सौकात’ के अनुसार इसी वेदणक् से पानी उत्पन्न होता है । ऐसी अवस्था में वेद हो तब अण् तत्त्व का विकास हो अण् हो तब मातरिखा द्वारा उस अम्ययजस पर अण् का आधान हो । अतः मानना पड़ता है कि मन्त्रगत अम्यय ब्रह्म वेदमय ही है । वेदमूर्ति अम्यय पर ही अवाहुति समस्त है । वेदमय अम्ययजस ही, दूसरे शब्दों में अम्ययानिष्ठ ब्रह्म ही इस मन्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । अम्यय स्वयं विषाकर्ममय है । अतएव इस के आत्मस्वर के पञ्चीकृत प्राणभाग से प्रकट होनेवाला वेद भी अवश्य ही विषाकर्ममय है । वेद में जो विषा-कर्म का भाग है, वह अम्यय के विषा-कर्म का ही अनुग्रह है । वेद क्या पदार्थ है ? वह अपौरुषेय है, अपवा पौरुषेय ? आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में यज्ञा मतभेद है । इन सब विषयों का विवेचन माप्यभूमिका में किया जानुका है । अतः प्रकृत में मन्त्रार्थ से सम्बन्ध रखने वाले वेदपदार्थ का ही स्वरूप पाठकों के सामने रक्खा जाता है ।

**इति-विषयोपक्रम**



## मन्त्रार्थसम्बन्धिनी-त्रयीवेदनिरुक्ति



दार्यद्वय का साधक तत्त्व वेद है। 'अथ यजुः' "अथ पदः" इत्यादि रूप से जिसके द्वारा पदार्थ की उपसंख्य होती है वह उपसंख्य ही वेद है जैसा कि पूर्व की वेदनिककृति में विस्तार से बताया जा चुका है। वेद का जन्म किंचिद्व्यभिर्मात्र आत्मस्वर से होता है। आत्मस्वर की (मर्त्य) मक्षा विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम यह पांच कहाए हैं। सृष्टिनिर्माण करना मक्षा का कर्म है।

परन्तु जब तक यह अद्वैतत्व प्राणमय वेदस्वर को अपनी प्रतिष्ठा नहीं बना लेता, तब तक यह सृष्टिनिर्माण में सर्वथा असमर्थ रहता है। सृष्टिनिर्माता है मक्षा, परन्तु साधन (उपदान) है वेद। अतएव मन की इच्छा से मक्षा से सर्वप्रथम वेद का ही प्रादुर्भाव होता है। उस प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर मक्षा विश्व निर्माण करता है जैसा कि पूर्व की वेदनिककृति में विस्तार से बताया जा चुका है।

वेदग्रन्थों के अर्थों को यह सुनिश्चित है कि वेदतत्त्व अक्षुब्ध, यशुः, साय अथर्व मेद से चार भागों में विभक्त है। यजुर्वा विभक्त वेदतत्त्व विद्यालयवि से अग्नि-सोम मेद से दो ग्रन्थों में विभक्त है। अग्निवेद पश्चिमा वेद है, सोमवेद दक्षिण वेद है। वह तत्त्व जो दाहक होता हुआ केन्द्र से निकलकर विविध अवस्थाओं में परिणत होता हुआ, उत्तरोत्तर निरुक्षित होता रहता है वही अमगानी होने से 'अग्नि' कहलाता है। अग्ने जलना, अग्ने बहना इसका सामान्यिक कर्म है। परोक्षभाषानुसार यह अक्षितत्त्व ही 'अग्नि' नाम से व्यक्त होता है—(देखिए उक्त ६ कां०। प्र०।१ अ।१ अ।११ क०)। वह तत्त्व जो दाहक होता हुआ अग्नि (परिधि) से केन्द्र की ओर जाता हुआ अग्नि की ओर जाते हुए दाहक अग्नि में आहत होकर अग्नि

० अग्निः कश्चात् अग्रवर्तिर्भवति अथ यजुः प्रदीपते, अक्षुब्धमस्ति अमगमनाः — अ  
क्लोपयति न लोहवति

[ ना मि १ अ १ १० १-४-१- ]।

को लक्षरूप से सुरक्षित रखता है। यही सुत (आहुत) होने से 'भूयते' इस निर्वचन के अनुसार सोम नाम से प्रसिद्ध है। सोम स्नेहतत्त्व है, अग्नि तेजतत्त्व है। स्नेहतत्त्व की प्रतिष्ठा स्थितितत्त्व है, तेजतत्त्व की प्रतिष्ठा गतितत्त्व है। स्थिति-गति ही आगे जाकर स्नेह-तेज रूप में परिणत होजाती है। प्रत्येक पदार्थ स्थिति-गति-स्नेह-तेज इन चारों की समधिमात्र है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। ससार में व्याप कितनी भी मूर्तिएं देख रहे हैं, वे सब अग्निमयी हैं। अग्नि ही मूर्ति का निर्याण करता है। दूसरे शब्दों में अग्नि ही वस्तु का स्वरूप है। वस्तु (पदार्थ) 'गुणकूटोद्भवम्' इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार कर्म का पुद्गल है। यह कर्म कर्म एव क्रिया मेद में दो भागों में विभक्त है। एक एक क्रिया क्रिया कहलाती है, ऐसी अनेक क्रियाओं की समष्टि 'कर्म' नाम से व्यवहृत होती है। अनेक क्रियाओं के सघात से एक कर्म (काम) पूरा होता है। उदाहरणार्थ भोजन निर्माण एक कर्म है। इस कर्म की सिद्धि के लिए इधन अग्नि-पानी-आद्य-नमक-कूटकार आदि अनन्त क्रियाएं करनी पड़ती हैं। 'रसोई तैयार होगई' यह एक कर्म संपन्न होगया। इस कर्मसंपत्ति के लिये तदवयवमूल अन्तर्गत कितने ही कर्म करने पड़े। इस महाकर्म सिद्धि के लिए क्रियमाण अन्तर्गत कर्म क्रिया नामसे एव अन्तर्गत कर्मों से निष्पन्न कम कर्म नाम से व्यवहृत किया जाता है। एक ही कर्म की दो अवस्थाएं होजाती हैं। इसी क्रियासत्तानरहस्य को सक्षय में रख कर अभियुक्त कहते हैं—

शुणभूतरवयसै समूहः जगज्जगन्नाम् ।

बुद्ध्या प्रकल्पितामेव क्रियेति व्यपदिश्यते ॥ वाक्यपदी)

कर्म की क्रिया अवस्था क्षोभयुक्ता है, कर्मकस्या शाश्वतवत् है। इस-वस्तु क्रिया है। स्थिति कर्म है। स्वस्थान पर स्थिर रहते हुए बचना बिलना है इसे ही कम्पन कहते हैं। सदेव का परिणाम करते हुए आगे बढ़ना बसना है, यही गति है। इस प्रकार क्रियाभाव कम्पन और गति दो भावोंमें परिणत रहता है। इसी अभिप्राय से इस का 'हल वच' शब्द से अभिनय किया जाता है। कहना यह है कि वस्तुमात्र में एक स्थिरभाव है, एक चलभाव है।

निराकार उस पदार्थ में से उसके परमाणु निकाला करते हैं इसी ( परमाणुविनिर्मा ) अस्तित्व का नाम किया है । वस्तुपिण्ड कर्म है । शरीर पर दृष्टि शक्ति । शरीर अग्निपिण्ड है । आप शरीर को बहाते धुते हैं, गरम पात हैं । यह अग्नि के प्रत्यक्ष दशन हैं । इस अग्निमूर्ति शरीर से प्राणान्तरिक निगन्तर निस्सृत होता रहता है । इन्द्रियजन्य परिधम, रोमकूप आदि से प्राणान्तरिक निगन्तर होता है । इसी कर्मी को पूरा करने के लिये साय प्राण अन्नादिति ( मोहन ) की आवश्यकता होती है । शरीरपिण्ड अग्निमय है जो वस्तु स्पर्श हो रही है वह भी अग्नि है । इस प्रकार पिण्डरूप कम निस्सृतसत्त्वक क्रिया दोनों का अग्निमयत्व सिद्ध होजाता है । वस्तुपिण्ड कर्म है यह भी अग्नि है । वस्तुपिण्ड में होने वाला व्यापार किया है यह भी अग्नि ही है । इस प्रकार संसार में जिनमें भी कर्म हैं उन सब का अग्निमयत्व मान लेना पड़ता है । अग्नि की इसी कमव्यापकता को सत्य में रखकर 'विद्युत्तानि ( सत्त्वानि ) कर्माण्ययमग्नि' ( शत ब्रा २ का १५ अ १ ब्रा १२ क ० ) यह कहा जाता है । हम अमुक वस्तु देख रहे हैं इस वाक्य का 'देखना' कम से ही तो सम्भव रहना है । परिवर्तनरूपान्तरिया एक पुद्गलावस्थापन कम ( वस्तुपिण्ड ) ही तो दृष्टि के विषय बनने हैं । दृष्टि विषयक सारे कर्म अग्निरूप हैं दूसरे शब्दों में इन कर्मों का प्रत्यक्ष किया स्वरूप सम्पादक अग्नि ही है । इसी रहस्य को सत्य में रखकर निमज्जु ( निघट्टु ) शब्द कहता है—

“यच्च किञ्चिद्वाटिषिपयकमधिकर्मैव तन्” ( य० नि० ६० कां ७।॥१५ )

सर्वकर्मप्रवर्तक सर्वकर्ममूर्ति इस अग्नि की प्राणान्तरिक मूल मेद से हो व्यक्त्याप है । प्राणान्तरिक अमृताग्नि है यही वस्तु है । मृताग्नि मर्षाग्नि है यही मूल है । वस्तुपिण्ड मौलिकअग्नि है, पिण्ड गन्त निराकार प्राणान्तरिक देवता है । प्राणान्तरिक किया है मृताग्नि कम है । इस प्रकार संसार के सारे मूल एवं संपूर्ण वस्तुता “सत्त्वानि वाऽप्य मृतानि सर्वान् देवान् गर्मी विमर्षि यो ऽग्नि विमर्षि” ( शत ब्रा २ का १५ अ० ११ ब्रा १२ क ० ) के अनुसार अग्नि मय ही है । इस अमृताग्नि की सत्ता सोमादिति पर निर्भर है । जब तक सोमादिति होती रहती है तभी तक अग्नि स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है । मृत्युमिम्य प्राणान्तरिक ही मूर्तिरूप में परिणत हुआ है । परन्तु विद्यास कीजिय जब तक उस में सोम की आहुति नहीं होगी, तब तक वह

मूर्ति कमी प्रतिष्ठित न रहेगी । कारण—अग्नि तेजोमय होता हुआ विश्वसूत्रधर्मा है । यह ठहरना जानता ही नहीं । उसमें निरन्तर गति होती रहनी है । यह मूर्ति का निर्माण नहीं करता, अग्नि तु उस के स्वरूप को विश्वकलित करता है । परन्तु स्नेहगुणक सोम इसमें आहुत होकर इस की विश्वसूत्रशक्ति का स्तम्भन कर देता है । इस सोमसम्बन्ध से अग्नि को बाष्प होकर मूर्तिरूप में परिणत रहना पड़ता है । यह सोम अग्नि में आहुत होकर अग्निमय बनकर ॥ मूर्ति सत्ता का कारण बनता है इसी आधार पर अग्नि को मूर्ति का आविष्टाता मानलिया जाता है । परन्तु वस्तुतः यह मूर्तिमात्र सोम की रूपा पर ॥ निर्भर है । जिस प्रकार अग्नि 'प्राग्व' कहा जाता है, एवमेव सोमसत्त्व 'रयि' नाम से व्यवहृत होता है । रयि (सोम) ही मूर्ति बनता है, इसी आधार पर—'तस्मान्मूर्तिरेव रयि' (प्रश्नोपनिषत् १ प्र० ५ क०) यह कहा जाता है । सोमसत्त्व आहुति द्रव्य है, अत एव भोक्ता अग्नि की अपेक्षा इसका स्थान (दत्ता) नीचा माना जाता है । यह सब कुछ होते हुए भी सोम अग्नि का अमिन्न मित्र है, अन्तर्गत सखा है । अपने छोटे दर्जे के इसी सोम सखा के कारण प्रवर्धित होकर यह अग्नि ही वेदत्रयी का प्रथम वक्ता है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

अग्निनागार तपुचः कामयन्ते, अग्निर्नागार तपु सापानि यन्ति ।

अग्निर्नागार तपय सोम आह तवाहमग्निं सस्ये न्योकाः ॥

(ऋक्सं० १।४९।१५)

उक्त अग्नि-सोम के निरूपण से प्रकृत में हमें यही क्लेशना है कि सम्पूर्ण मौक्तिक विश्व में अग्नि-सोम का साम्राज्य है, जैसा कि 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इत्यादि से स्पष्ट है । स्वयम्भू-परमेष्ठी आदि विश्व के पात्र यह हैं । पाँचों में स्वयम्भू सरस्वातिमय, सूर्य देवाग्निमय, पृथ्वी भूताग्निमयी है । परमेष्ठी और चन्द्रमा सोममय हैं, जैसा कि शुक्लनिरुक्ति में विस्तार से बतसाया जा चुका है । इस दृष्टि से भी विश्व का अग्निसोममय सिद्ध होजाता है । इनमें अग्नि-वेद वेदमयी है, सोमवेद जोषा अथर्ववेद है । अग्नि की अग्नि-वायु-आदिस्य यह तीन अवस्थाएँ हैं, अतएव अग्निवेद अथर्व-वायु-साम वेद से तीन भागों में विभक्त होजाता है ।

सोमत्वं दिक् सोम (निरायतन सोम) माप्स्य सोम (सायतन सोम) भेद से दो भागों में विभक्त है। अतएव सोमवेद—पोराङ्गिरा अथर्षाङ्गिरा भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है। दोनों की समष्टि अथर्ववेद है। अथर्ववेद की प्रतिष्ठा अग्निमूर्ति ब्रह्मा है, दूसरे शब्दों में अथर्ववेद पिता पर प्रतिष्ठित है, एवं सोमवेद ब्रह्मा के ज्येष्ठपुत्र अथर्व पर प्रतिष्ठित है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। सोमवेद को पोषी घेर के सिधे क्षोत्र दीजिये, अग्नि वेद पर दृष्टि बाझिए।

यह अग्निवेद आत्मा प्रतिष्ठा इयोनि भेद से तीन भागों में विभक्त है। आत्मवेद यजुर्वेद है प्रतिष्ठावेत्त ऋग्वेद है एवं ओतिर्वेद सामवेद है। यह तीनों ही वेद पूर्णप्रतिपादित मन—प्राण—अक्ष के त्रिवृत्करण से अवीभाव से युक्त हैं। तीनों में से सर्वप्रथम सर्वप्रधान आत्मरूप यजुर्वेद को ही लीजिए।

## १—आत्मवेद ( यजुर्वेद — ऋग्यजु साममय )

‘स वा एष आत्मा वाक्यपः प्राणमयो मनोमयः’ के अनुसार आत्मा मन—प्राण—अक्षमय है। इसी का नाम विद्यागर्भित अम्बयात्मा ( रुमात्मा ) है। आत्मा की इन तीनों कलाओं से अमर रूप—कर्म—नाम इन तीन मर्त्य कलाओं का उदय होता है। मन रूपमात्र का उदय है। मन ही नियमरूपाकाराकारित बनता है, दूसरे शब्दों में धारे रूप मन से ही उठते हैं अतएव हम मन को रूपों का उदय (ममब्रह्मान) मानने के लिए तय्यार हैं। मन ही रूपों को धारण करता है नियमकर मन पर ही प्रतिष्ठित रहता है अतएव इसे सब रूपों का प्रभू (विभर्ति रूपाधि) कहा जासकता है। अक्ष—मनुष्य—अ—पट आदि सब के रूप परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं। परन्तु इन भिन्नों में मन अमिष रूप से व्याप्त है, सब रूपों में समान है सम ह, अतः मनको ही रूपों का साम (प्रवसानमूषि) कहा जासकता है। इस प्रकार ‘यतो वक्षिष्ठन्ति सवाणि रूपाणि विभर्ति यत् सवाणि रूपाणि, तमे यत् पर्येषु धूनेषु’ इस निबन्धन प्रक्रिया के अनुसार हम आत्मा की मनोरूपा को रूपों का उदय—प्रभू—साम उदय आत्मा मानने के लिए तय्यार हैं। इसी प्रकार आत्मा की प्राणकला कर्मों की उदय

ब्रह्म-साम है वाक्कक्षा नामों का उत्पन्न-ब्रह्म-साम है । नाम-रूप-कर्म भेद से वह एक आत्मस्वरूप तीन मार्गों में विभक्त हो रहा है । तीनों मिलकर एक आत्मा है । इस आत्मा की मनो-कक्षा में उत्पन्नभाव प्रधान है, ब्रह्म-साम भाव गौण हैं प्राणकक्षा में ब्रह्मभाव की प्रधानता है, उत्पन्न-साम गौण हैं, एवं वाक्कक्षा में साम की प्रधानता है उत्पन्न ब्रह्म गौण हैं । इस गौणमुख्य भाव के कारण तद्वाद्ययय से हम मन को उत्पन्न कह सकते हैं प्राण को ब्रह्म कह सकते हैं, एवं वाक् को साम कह सकते हैं । यह उत्पन्न ऋजू है, ब्रह्म यजु है, साम साम है । इस प्रकार उत्पन्न-ब्रह्म-साम भेद से आत्मरूप यजुर्वेद में तीनों वेदों का समन्वय हो जाता है ।



## १-प्रतिष्ठावेद (ऋग्वेद — ऋग्यजु साममय )

इसका है प्रतिष्ठावेद । इसीका नाम ऋग्वेद है । यह प्रतिष्ठातरव आत्मवृत्ति, असतोद्यति, सतोद्यति भेद से तीन मार्गों में विभक्त है । मन-प्राण-वाक् की अप्याकृतावस्था का नाम-सत्ता है, यही आत्मा है । प्रत्येक वस्तु पर इस आत्मकक्षय सत्ताब्रह्म का अनुग्रह है । प्रत्येक वस्तु अतिमात्रात्मक है । सत्य स्वरूप से विद्यमान है पूरणी है हम हैं इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ का पदार्थत्व सुरक्षित रहने वाला जो अतिमात्र है-स्वसत्ता है इसी का नाम 'आत्मवृत्ति' (आत्म प्रतिष्ठ-आत्मसत्ता) है । हम (प्रत्येक पदार्थ) मन को धारण करते हैं, प्राण को एवं वाक् को धारण करते हैं । इसी वृत्ति से हम हैं । 'अहमस्मि' (मैं हूँ) यही तो आत्मवृत्ति किञ्च-स्ववृत्ति है ।

जो वस्तु सत्तावृत्ति होती है वह अन्य सत्ता के अनुग्रह से सत्तावृत्ति बन जाती है । उदाहरणार्थ-यह पक्षी न था, वह अस्तवृत्ति था नास्ति रूप था अभाव के गर्भ में किसीन था । कुम्भकार मिट्टी में कुलाक्ष द्वारा अपने मनप्राणवाङ्मय आत्मा के आधार पर हस्तप्रयोग से वह बालक है । कुम्भकार के बीजवृत्ति में प्रतिष्ठित, अतएव तदाकारकवृत्ति (धराकारा अपरित) मन प्राण वाक् की सहायता से दण्ड-बक-वीरगदि साधनों द्वारा वह अस्तवृत्ति पट



मृत्तिका में स्थित रक्षा को प्रकृति कर सत्तायुक्त बन जाता है । बट में जो सत्ता है वह मिट्टी से ब्याई हुई है । अतएव यह मृत्तिका से सत् बन रहा है । इसी सत्ता की अपेक्षा से 'यत् सत्तम इष्टा' यह व्यञ्जहार होता है । अपूर्वसत्ताधारण को ही 'अन्य' कहा जाता है । सत्तम वस्तु अपनी प्रकृति (उत्पादक) में ही प्रतिष्ठित रहती है । अतएव इस प्रकृतिस्थिता को 'असतो पृति' कहा जाता है, जैसा कि—'वाचारम्यस्य विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादि से स्पष्ट है । जिसरूप से हम आत्मवृत्ति रूप हैं, एक शरीर असतो वृत्ति रूप है । जीवात्मसत्तारूप आत्मवृत्ति से अतएव शरीर सत्तायुक्त बन रहा है । यही दूसरी प्रतिष्ठा है ।

तीसरी सतोवृत्ति है । जल भी सत् है, बट भी सत् है । सत् बट में सत् जल भर हुआ है, यही सतोवृत्ति है । हम मृगपक्ष पर प्रतिष्ठित हैं पुस्तक मेज पर रखी है । अस्तिपुस्तक पदार्थ स्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित रहते हुए अन्य प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित हो रहे हैं । मन्त्राग्राह्य अक्षर प्राण की प्रतिष्ठा है । अन्नाद अन्न की प्रतिष्ठा है । शरीर कक्ष की प्रतिष्ठा है । इन्द्रिय प्रतिष्ठा घर है, घर की प्रतिष्ठा भूमि है, भूमि की प्रतिष्ठा पानी है पानी की प्रतिष्ठा अग्नि है अग्नि की प्रतिष्ठा वायु है वायु की प्रतिष्ठा आकाश है, आकाश की प्रतिष्ठा सौम्यप्राण है, प्राण की प्रतिष्ठा मन है, मन की प्रतिष्ठा विज्ञान है आत्मसत्ता की प्रतिष्ठा है । इस प्रकार यह प्रतिष्ठा सत्तायुक्त के सत्त्वानु को अग्रे में प्रतिष्ठित रखती है अतएव हम इसे 'सतोवृत्ति' कहने के लिये तत्पार हैं । इसी को परप्रतिष्ठा भी कहा जासकता है । यही तीसरी प्रतिष्ठा है ।

पुरुषप्रतिष्ठा आत्मवृत्ति है, प्रकृतिप्रतिष्ठा असतोवृत्ति है एवं विज्ञानप्रतिष्ठा सतोवृत्ति है । पुरुष ही प्रकृति है, प्रकृति ही अस्तित्वस्था में आकर विज्ञान कहलाने लगती है । अतएव उक्त तीनों प्रतिष्ठों का अन्तर्गतत्व—'आत्मविज्ञान' (आत्मप्रतिष्ठा) पर ही पर्यवसान सिद्ध हो जाता है । तीनों प्रतिष्ठा प्रतिष्ठा हैं । प्रतिष्ठातरण 'मन्त्र' है । अन्तरण प्राण है, वैसाकि पूर्व के आत्मवेद में ब्रह्मका आनुष्ठा है । यह यही प्राण है जो सत्पुरुषपुरुषात्मक ब्रह्मप्रजापति के

तप से प्रकट होता है । “ब्रह्म न सर्वस्य प्रथमजम्” “ब्रह्म मे सर्वस्य प्रतिष्ठा” के अनुसार ब्रह्माक्षर से समुद्भूत यह प्राणप्रतिष्ठा साक्षात् वेद है । जैसे अप्रकृतिक अक्षर विष्णु से उत्पन्न होनेवाले माय लोक कहलाते हैं, एवमेव प्राणप्रकृतिक ब्रह्माक्षर से प्रसृत प्रतिष्ठामात्र वेद नाम से प्रसिद्ध है । पूर्वप्रतिपादित इन तीनों वृत्तियों में आत्मवृत्ति अग्रवेद है । क्योंकि आगे की सारी प्रतिष्ठाएँ आत्मप्रतिष्ठा पर ही प्रतिष्ठित रहनी हैं । असतोवृत्ति-सतोवृत्ति दोनों का आचार आत्मप्रतिष्ठा है । यज्ञ-अथवा साम अक्षर पर प्रतिष्ठित रहते हैं । अतएव सर्वप्रतिष्ठारूप इस आत्मप्रतिष्ठा को हम अक्षर ही अग्रवेद कह सकते हैं । प्रस्ताव अग्रवेद है अक्षर ही उपक्रम है । आत्मप्रतिष्ठा ही इतर प्रतिष्ठान्तों का प्रस्ताव (उपक्रम) स्थान है । असतोवृत्ति यजुर्वेद है । क्रय में कारख सत्ता का योग हो जाना ही असतोवृत्ति है । कारखसत्ता क्रय में आहुत हो जाती है । दोनों का यजन होता है । अतः ‘यजनान्’ से इस असतोवृत्ति को हम अक्षर ही यजुर्वेद कहने के लिये तय्यार हैं । एव शेष सतोवृत्ति सामवेद है । साम का ‘अध्या साम मेने’ यह लक्षण है । आत्मवृत्ति अक्षर है । अन्य को चारण करने वाली आत्मसत्ता ही सतोवृत्ति है । आत्मवृत्ति ही आगे आकर सतोवृत्ति बन जाती है । सतोवृत्ति अग्ररूपा आत्मवृत्ति से समवाचस्पन्ना है, अतः इसे सामवेद कहा जासकता है । इस प्रकार अग्रवेदरूप प्रतिष्ठवेद में प्रतिष्ठान्तरी के चारण अक्षर-यज्ञ-सामादिक वेदत्रयी का उपभोग सिद्ध होजाता है ।



### ३-ज्योतिर्वेद (सामवेद-ऋग्यजुःसाममय)

तीसरा है ज्योतिर्वेद । ‘सर्वं तेजः सामरूपं शश्वत’ के अनुसार ज्योति ही सामवेद है । ज्ञानज्योति, मूलज्योति, ससज्योति येद से ज्योतिस्त्व तीन भागों में विभक्त है । आत्मज्योति ज्ञानज्योति है । सूर्य-चन्द्र-विद्युत्-नक्षत्र-अग्नि-येद से पञ्चधा विभक्त ज्योति भूतज्योति है । ज्ञानज्योति ही मूलज्योति की प्रतिष्ठा है । ज्ञान ही मूल की आचार भूमि है । ज्ञानज्योति से ही मूलज्योति प्रकाशित रहती है, अतएव इस ज्ञानज्योति को ‘ज्योतिषां ज्योतिः’

पृथिवी में स्थित सत्ता को ग्रहण कर सत्तापुरुष बन जाता है । घट में जो सत्ता है वह मिट्टी से आई हुई है ; अतएव घट सत्तासत्ता से सत् बन रहा है । इसी सत्ता की अपेक्षा से 'घट उत्पन्न हुआ' यह व्यवहार होता है । अपूर्वसत्ताधारण को ही 'जन्म' कहा जाता है । उत्पन्न वस्तु अपनी प्रकृति (उत्पत्ति) में ही प्रसिद्धित रहती है । अतएव इस प्रकृतिसत्ता को 'सत्तोपनि' कहा जाता है, जैसा कि—'वायारम्भार्थं विकारो नामधेयं पृथिवेत्येव सत्त्वम्' इसारि से स्पष्ट है । अतएव से हम आत्मवृत्ति रूप हैं, एक शरीर अततो वृत्ति रूप है । जीवमत्तवृत्ति रूप आत्मवृत्ति से अतएव शरीर सत्तापुरुष बन रहा है । यही दूसरी प्रतिष्ठा है ।

तीसरी सत्तोपनि है । जब भी सत् है, घट भी सत् है । सत् घट में सत् वस्तु भर हुआ है, यही सत्तोपनि है । हम भूगुण पर प्रसिद्धित हैं पुस्तक मेज पर रखी है । अस्तिपुरुष पदार्थ स्वप्रतिष्ठा में प्रसिद्धित रहते हुए अन्य प्रतिष्ठा पर प्रसिद्धित हो रहे हैं । मन्त्राचार्य अल्प-प्राण की प्रतिष्ठा है । अन्नाद अन्न की प्रतिष्ठा है । शरीर वस्त्र की प्रतिष्ठा है । इमां प्रतिष्ठा भर है, घर की प्रतिष्ठा भूमिण्ड है, भूमिण्ड की प्रतिष्ठा पानी है, पानी की प्रतिष्ठा अग्नि है अग्नि कि प्रतिष्ठा वायु है वायु कि प्रतिष्ठा आकाश है, आकाश की प्रतिष्ठा सौम्यप्राण है, प्राण की प्रतिष्ठा मन है, मन की प्रतिष्ठा विज्ञान है आत्मन् सब की प्रतिष्ठा है । इस प्रकार यह प्रतिष्ठा ठगठग के सद्भावों को करने में प्रसिद्धित रखती है, अतएव हम इसे 'सत्तोपनि' कहने के लिये तत्पार हैं । इसी को परप्रतिष्ठा भी कहा जासकता है । यही तीसरी प्रतिष्ठा है ।

पुरुषप्रतिष्ठा आत्मवृत्ति है, प्रकृतिप्रतिष्ठा अततोपनि है, एक विह्वतिप्रतिष्ठा सत्तोपनि है । पुरुष ही प्रकृति है, प्रकृति ही अततोपनि में आकर विह्वति कहलाने लगती है । पतत' एक तीनों प्रतिष्ठों को का अन्ततोगत—'आत्मविह्वति' (आत्मप्रतिष्ठा) पर ही पर्यवसान सिद्ध हो जाता है । तीनों प्रतिष्ठा प्रतिष्ठा हैं । प्रतिष्ठितवत् 'ब्रह्म' है । ब्रह्मवत्त्व प्राण है, वैसाकि पूर्व के आत्मवेद में बताया जा चुका है । यह वही प्राण है जो सत्पुरुषपुरुषप्रत्यक्ष ब्रह्मप्रापति के

इन्हीं तीनों ज्योतिषों के कारण ज्योतिर्मय देवताओं को भिसत्य कहा जाता है । उक्त तीनों ज्योतिष विरञ्ज में परस्पर में निम्न सम्बद्ध हैं । ज्ञानज्योतिर्मय आत्मा (विज्ञानात्मा) सुषुप्ति-काल में जब पुरीतति माकी में बसा जाता है तो वह भूत-एव सत्यज्योतिषों का प्रसङ्ग करने में असमर्थ होजाता है । सूर्य-चन्द्र-अग्नि-वाक्-आत्मभेद से पञ्चज्योतिर्मय यह ज्ञानज्योतिषन जीवात्मा भूतज्योति के सहारे ही अप्यात्मसत्त्वा में प्रतिष्ठित रहता है । आदिज्योति से ही यह सत्त्व कलों में प्रवृत्त होने के लिए समर्थ होता है । तदभाष में चन्द्रमा, चन्द्रमाष में अग्नि, अग्नि के अभाष में वाक्, सर्वाभाष में आत्मा है । परन्तु बिना सूर्यादि ज्योतिषों के यह अधिक समय तक नहीं ठहर सकता, जैसा कि असुर्या नाम से ओकाः' इसाणि मन्त्रभाष्य में विस्तर से बतलाया जाचुका है । शरीरप्राणों के केन्द्रभूत हृदय में जो विज्ञानज्योति है वही आत्मा है । भूतज्योतिर्धन सूर्य द्वारा अप्यात्म में प्रविष्ट होने बाधा यह आत्मा स्वप्नमवस्था ज्योतिर्मय सूर्यादि के बिना कैसे प्रतिष्ठित रह सकता है । इसी प्रकार नामरूप के बिना भी शुद्ध ज्ञानात्म का विकास असम्भव है । नामरूप को छोड़ देनेपर ज्ञानात्मा निर्विकल्पकभाव में परिणत होता हुआ भातिवगत् से बाहर निकल जाता है । ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि उपपुक्त तीनों ज्योतिष परस्पर में ओतप्रोत रहकर ही उपलब्ध होती हैं । इन तीनों में मूलप्रभव ज्ञानज्योति प्रस्तावस्थानीय होने से आग्नेय है । विरयावसानभूमिरूपा सत्य ज्योति सामवेद है । दोनों का यजन (सम्बन्ध) कराने वाली मध्यपस्थिता भूतज्योति यजुर्वेद है । इसप्रकार ज्योतिषतन्त्र सामवेद में ज्योतिषी स वेदत्रयी का योग सिद्ध होजाता है ।

आत्मा, प्रतिष्ठा, ज्योति इन तीनों में प्रतिष्ठा सचातत्व है, ज्योति चेतना है, आत्मा आनन्दधन है । सचातव्यभाव सत् है, चेतनात्रय चित् है आनन्दावयवभाव आनन्द है । विरचातीन विरुद्ध अव्यय के सचा-चेतना-आनन्द के आधय से प्रतिष्ठित रहने बाधा विरञ्ज-मर्षि प्रजापति भी सन्धिदानन्दधन है, तर्दशभूत जीवात्मा भी सन्धिदानन्द है, ईश्वरशशभूत विश्व भी 'सन्धिदानन्दम्' है । सन्धिदानन्दधन ईश्वर-जीव-विरञ्ज इन तीनों के सचा-चेतना आनन्द यह तीन वेद हैं । सुतरां वेदत्रयी का भी सन्धिदानन्दरव सिद्ध होजाता है । यही ब्रह्म

(अपोतिषो की मी अपोति) कहा जाता है। मृतज्योति पांच हैं, इसी बहुत्व की अपेक्षा से 'ज्योतिषो' कहा गया है। इसी मृतज्योति का निरूपण करती हुई उपमिपश्रुति कहती है—

न तत्र सूर्यो मां नि न चन्द्रनारकं न च विद्युर्नो मान्ति कुणोऽयमग्निः ।  
तपेव मान्नमनुमाति सर्वं तस्य मासा सचमिद् विमाति ॥

वाक्य यथायं है। जबतक हम में ज्ञान है, तभी तक सूर्य-चन्द्रादि हमारे लिए प्रकाशित हैं। यदि ज्ञान विस्तृत है तो सारे विश्व में हमारे लिये सम्बन्ध है। इसी आधार पर प्राचीन मन्त्रों में 'आप मरा तो जग पश्य (प्रपश्य)' यह किंवदन्ती प्रचलित है। इस ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित मृतज्योतिषों का मूलाधार सूर्यज्योति है। इसका बहुवचनस्वरूप पर अनुग्रह होता है। तीसरी सप्तज्योति नामरूपात्मिका है। नामरूपात्मिका अक्षरवादि में जो भाग विशेष नाम से प्रसिद्ध है वही अमृत है। यही तत्त्व विज्ञानमार्ग में 'वाच' नाम से प्रसिद्ध है। यह अमृतमात्र अक्षर-वचन सहित पदार्थों में समान है अक्षरों रूप से प्राप्त है। यही अक्षरों (अमृतत्व) नामरूप की रूपा से विद्योत बन कर 'अयं वाच' 'अयं पदः' इत्यादि रूप से पूषक् पूषक् प्रतीत होने लग गया है। यदि नामरूप का परिस्वाग करदिमा जाता है तो वह अमृततत्त्व की वाचिक विशेषमात्र से पूषक् होता हुआ अमृतीति का विनय बन जाता है। नामरूप के बिना वह सर्वथा विरोधित है। नामरूप से परिनिष्ठ होकर ही वह प्रकाशित होता है। अतएव अमृत को वाचक्यादित करने वाले, किन्तु उसे भाविकरूप से प्रकाश में लाने वाले नामरूप को हम अवश्य ही 'ज्योति' कहने के लिए तत्पार हैं। विनयोक्तृत्व में अक्षरों द्वारा सत्यनिश्चय के अनुसार नामरूपात्मिका ज्योति सप्तज्योति है। वैसा कि निम्न श्रुति से स्पष्ट होता है—

“अक्षरं च अमृतं सत्येन ह्यमृतम् । नात्र रूपे सत्यम् । ताभ्यामयं प्राणरूपम् ।”

(शत० १४ ब०) इति ।

धातु-प्रतिष्ठा-ज्योति तीनों मिलाकर एक वेद है। तीनों का समुचित रूप ही हम उपसम्भ  
 शेष है। प्रत्येक वस्तु की हमें अस्तिरूप से उपलब्धि होती है। अस्ति सत्ताजन्य है, यही  
 प्रतिष्ठावेद है। वस्तु है—यह हम जानते हैं। यह ज्ञानज्योति ही चेतना है। चेतना ही ज्योति  
 वेद है। जो वस्तु है, जिस का हमें ज्ञान होता है, ज्ञानसत्ता का प्रतिष्ठाभूत यही तीसरा वस्तु  
 रूप 'रस' है। यही प्रिय है, यही आनन्द है, यही आत्मा है, यही आत्मवेद है। अस्ति-  
 प्रति-प्रिय की समष्टि ही वस्तुलब्धि है। यही अग्नीवेद है। सत्ता का प्रत्येक पदार्थ वेद है,  
 अनन्त व्यक्ति हैं अनन्त वेद हैं। समष्टिरूप से एक ही वेद है। उपलब्धिरूप यह  
 'सच्चिदानन्दात्मकवेद' नामरूपकर्मात्मक भौतिक पदार्थ के आधार से ही प्रतीति का कारण  
 बनता है। यदि अस्तिमत् पदार्थ में से नामरूपआत्मक भूतभाग को हटा दिया जाता है तो स्वस्वरूप  
 से निराकार रहता हुआ वेद तिरोहित हो जाता है। उपलब्धिरूप वेद को आप जब भी देखेंगे,  
 भूत के आधार पर ही देखेंगे। अग्नीवेद के आधार पर प्रतिष्ठित रहें वासा नामरूपकर्मप्रपञ्च  
 सर्वत्र असत् रहता हुआ भी उस वेद अस्ति से अस्तिवत् प्रतीत होने लगता है। सत्ता में  
 आप जो कुछ 'अस्ति' 'अस्ति' कर के देख रहे हैं, विश्वास कीजिए वह सब अग्नीप्रतिष्ठित वेद  
 ही है। यही अस्ति व्यपृत है, जो व्यपृत है यही है। साथ ही में नामरूपकर्मात्मक भूतभाग भी  
 यही है। क्योंकि मन्त्रप्राणवाक्य अस्तिभाग ही तो नामरूपकर्म का प्रपञ्च है। इसी वेदविज्ञान  
 को रूप में रखकर अग्नि कहती है—

‘स अग्न्या वाच विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत् । एतद् वा अस्ति ।  
 एतद्धि-व्यपृतम् । यद्व्यपृतं तद्व्यपृष्टम् । एतद् तत्-यन्मन्यम् ।  
 अग्न्या वाच विद्यायां सर्वाणि भूतानि- प्रतिष्ठितानि ।  
 ( शत० १० । ६ । १ । २ । ) इति ।

चेतन का प्राप्तापन्न कहा जाता है। इसप्राप्तापत्ति से उद्भूत वेद वास्तव में प्राप्तापन्न  
 है। पुरुष ( मनुष्य ) प्राप्तापत्ति से उत्पन्न केवलसोमादि जैसे पुरुष को बाह्य ओर से देखित कर

है यही सर्वत्र म्याप्त है, यही सब कुछ है, इसी में सब कुछ है । यह है मौक्तिकवेद । इन तीनों में आनन्दारमकवेद ही (यजुर्वेद ही) पहिला पुरुञ्जन है । यही सृष्टि का मूलप्रमण है । यह अनेकत्र है मनसो अर्वाप है, एकम् है । आगे का सारा प्रपञ्च इसी अम्यक्त वेद से उत्पन्न होता है उत्पन्न होकर इसी प्रतिष्ठित पर रहता है, अन्त में इसी में विहीन होजाता है—

अव्यक्तादीनि मृतानि व्यक्तमव्यानि यारत ।

अव्यक्तनिषनाम्येष तत्र का परिदेवना ॥

## अग्निवेदविवर्त

### अग्निवेदस्त्रयीवेद — ( मूलवेद )

१—आत्मवेद	—आत्म—	—आनन्द—	→ यजुर्वेद
—प्रतिष्ठावेद	—सत्ता—	—सत्—	→ ऋग्वेद
१—ज्योतिर्वेद	—चेतना—	—चित्—	→ सामवेद

अधिमयो मूलवेदः

१	उक्तम्—१—	उक्तवेद—	→ ऋग्वेद
	महा—२—	महावेद—	→ यजुर्वेद
	माम—३—	सामवेद—	→ सामवेद

आत्मवेदः—वेदत्रयात्मकः

↓ यजुर्वेद १ यजुरग्नि

प्रतिष्ठावेद—वेदत्रयात्मकः

↓ ऋग्वेद २ ऋगग्नि

ज्योतिर्वेद—वेदत्रयात्मकः

↓ सामवेद ३ सामाग्नि

आत्म-प्रतिष्ठा-उद्योति तीनों मिसकर एक वेद है। तीनों का समुचित रूप ही हमें उपलब्ध होना है। प्रत्येक वस्तु की हमें अस्तित्व से उपलब्ध होनी है। अस्ति सत्तामय है यही प्रतिष्ठावेद है। वस्तु है—यह हम जानते हैं। यह ज्ञानयोति ही चेतना है। चेतना ही उद्योति है। जो वस्तु है, जिस का हमें ज्ञान होता है, ज्ञानसत्ता का प्रतिष्ठाभूत वही तीसरा वस्तु-तत्त्व 'रस' है। यही प्रिय है, यही आनन्द है, यही आत्मा है, यही आत्मवेद है। अस्ति-मानि-प्रिय की समष्टि ही वस्तुपञ्चिक है। यही त्रयीवेद है। ससार का प्रत्येक पदार्थ वेद है, 'अनन्त व्यक्ति' है अनन्त वेद है। समष्टिरूप से एक ही वेद है। उपलब्धिरूप यह 'सच्चिदानन्दात्मकवेद' नामरूपकर्ममयक मौलिक पदार्थ के आधार से ही प्रतीति का कारण बनता है। यदि अस्तिमय पदार्थ में से नामरूपात्मक भूतभाग को हटा दिया जाता है तो स्वस्वरूप से निराकार रहता हुआ वेद तिरोहित हो जाता है। उपलब्धिरूप वेद को आप जब भी देखेंगे, भूत के आधार पर ही देखेंगे। त्रयीवेद के आधार पर प्रतिष्ठित रहने का नामरूपकर्मप्रपञ्च सर्वथा असद रहता हुआ भी उस वेद अस्ति से अस्तित्व प्रतीति होने लगता है। ससार में आप जो कुछ 'अस्ति' 'अस्ति' कर के देख रहे हैं, विश्वास कीजिए वह सब त्रयीमय वेद ही है। वही अस्ति समुत्त है, जो अमृत है वही है। साथ ही में नामरूपकर्ममयक मयभाग भी वही है। क्योंकि ममप्राणायाम्य अस्तिभाग ही तो नामरूपकर्म का प्रमथ है। इसी वेदविज्ञान को कल्प में रखकर मुक्ति कहती है—

“स अय्यां वाच विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत् । एतद् वा अस्ति ।  
एतद्भि-भूतम् । यद्भूतम् तद्भूतम् । एतद् भूत-यन्मर्त्यम् ।  
अय्यां वाच विद्यायां सर्वाणि भूतानि- प्रसिष्टानि ।”

( अत० १० । ५ । १ । २ । ) इति ।

वेदतरंग को प्राजापत्य कहा जाता है। ब्रह्मप्राजापति से उत्पन्न वेद वास्तव में प्राजापत्य है। पुरुष ( मनुष्य ) प्राजापति से उत्पन्न केशलोमादि जैसे पुरुष को चारों ओर से वेष्टित कर



लेते हैं, एवमेव प्रजापति से उत्पन्न प्राणापत्यवेद प्रजापति को केन्द्र बनाकर इस के चारों ओर घूमता हो जाता है । सम्पूर्ण विश्व इस प्राजापत्यवेद से आप्यायित रहता है । इसी प्राजापत्य-वेद का दिग्वर्तन करती हुई सृति कहती है—

१-“प्रजापतिरिदं ब्रह्म वेदानां संचरते रसम् ।

तेनाहं विश्वमाप्यासे सर्वान् कामान् ब्रुहं महत् ॥ (ऐं आ ——— )”

२-“महाव्रतं कर्म वा निष्क्रेवत्य शक्तं वा सद्यमे,

तेन सर्वफलमाप्नुयाम, सर्वाणि कामान् सम्पादयेयम् ।”

३-“प्राजापसो वै वेदः” (तै० ब्रा० ३।१।७) ।

४-“प्रजापतेर्षा एतानि श्वश्रूणि यद् वेदः” (तै० ब्रा० ३।१।६) ।

उक्त ब्रह्मप्रजापति अपनी वेदसिद्धि के कारण वेदि, वेद, यज्ञ, प्रजापति, वेद से षट्संस्पर्श बन जाता है । उदाहरण के लिए पार्ष्विप्रजापति की संस्थाओं का विचार करें । पृथिवीस्वरूपसंस्पर्शक सप्तपुरुषपुरुषात्मक अग्नि प्रजापति है, जैसा कि विश्वनिरुक्ति में बताया जा चुका है । भूविण्ड निर्माण की इच्छा रखने वाले इस अग्निप्रजापति की सब से पहिले ‘पुष्करपर्णी’ पर उड़ि जाती है । पुष्करपर्णी इस की पहिली प्रतिष्ठा बनती है । पार्ष्विप्रजापति (ब्रह्मा) पुष्करपर्णी पर प्रतिष्ठित होकर ही पार्ष्विबसुवि निर्माण में समर्थ होता है अतएव पार्ष्वि ब्रह्मा को ‘पद्मभूः कमलोद्भवः’ आदि नामों से व्यङ्ग्य किया जाता है । इसी का बार पर पद्मपुष्पादि में भूविण्ड को षट्संस्पर्शक माना गया है । पानी में वृन्तद्वयात्मक सूक्ष्मातिसूक्ष्म हरितवर्ण की जो ‘काई’ है, जो कि काई आगे जाकर शैवाल रूप में परिणत होती है वही ‘पुष्करपर्णी’ है । पुष्करपर्णी पद्म शब्दार्थ है—पानी का पत्र । अरम्भ में

- ब्रह्मा की प्रतिष्ठान्त पद्म का क्या स्वभाव है ? पापमुक्तामोह के आदि अवर्चक क्यों है ? इत्यादि विषयों के व्याप्यात्मक आधिदैविक आधिभौतिक तत्त्वों को जानने के लिए सचरन विद्वान् ग्रन्थ देखना चाहिए ।

पानी के ऊपर पानी से ही इसका निर्माण होता है । पानी प्रतिष्ठाद्यम् है, श्रुत है । आप इसमें जो भी दाढ़ेंगे बिछीन होनायगा । सब से पहिली प्रतिष्ठा यही पुष्करपर्ण है । श्रुत पानी का पहिला स्वरूप पुष्करपर्ण है । सशरीर-सहृदय भान को ही विज्ञानभाषा में सब कहा जाता है । व्यक्तक पानी में हृदयभाव न था । परन्तु पुष्करपर्णरूप दो हस्तवाली काई में पियूषभाव का उदय होवाने से हृदयभाव प्रकट होनाता है । प्रजापतिश्चरति गर्भे' के अनुसार प्रजापति हृदय में प्रतिष्ठित होकर ही सृष्टिनिर्माण में समर्थ होता है । इस प्रजापति की पहिली प्रतिष्ठामूर्ति यही पुष्करपर्ण है । पुरमात्र में हृदय है, हृदय प्रजापति की प्रतिष्ठा है । उक्त पर्यं पुरमात्र का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ ही 'पुरकरत्वात्' पुष्करपर्ण नाम से व्यवहृत होता है । इसमें प्रतिष्ठित प्रजापति ( हृदयशक्ति-केन्द्रक ) ही पार्ष्वसृष्टि का कारण बनता है । अभी सूक्ष्मात्र का उदय नहीं हुआ है । पुष्करपर्ण में अभी पानी ही प्रधान है । पानी ही बनताभाव में आकर सकेन्द्र बन गया है । इसी आधार पर—'आपो वै पुष्करपर्णम्' ( शत० ६।४।२।२ ) यह कहा जाता है । आपोमय पुष्करपर्ण की प्रतिष्ठा आपोमय पारमेष्ठन विष्णु है । विष्णुकी नाभि में पुष्करपर्ण प्रतिष्ठित है पुष्करपर्ण पर ब्रह्मा प्रतिष्ठित है, ब्रह्मा पर सब कुछ प्रतिष्ठित है । सब की प्रतिष्ठा होने से जहाँ ब्रह्मा की प्रतिष्ठा कहा जाता है, वहाँ इसकी भी प्रतिष्ठा होने से आपोमय विष्णु की प्रतिष्ठा की भी प्रतिष्ठा कहा जाय है । विष्णु की नाभि से पुष्करपर्ण निकला है । उसी पर प्राण-आप-वाक्-प्रभावादिक रूप चतुर्मुख ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं । यह आपोमय पानी सूक्ष्म पानी नहीं है, अपि तु धम्म नाम का वायुमय पानी है । इसी में सप्तरसात्मक बुध का उदय होता है, अतएव इसे क्षीरसमुद्र कहा जाता है । प्रतिसत्वरक्रम में वायु शेष रहजाय है वायु गतिशील है, सर्पणशील है । इसी शेष पर विष्णु प्रतिष्ठित है । यह वायुमय पानी जिस अपि ( प्राण ) से उत्पन्न होता है वह 'नारद' नाम से प्रसिद्ध है । वयवाक् जैसे अनुसुप्त है, स्वरवाक् जैसे झुझी है एवमेव ध्वनिवाक् सारस्वती नाम से प्रसिद्ध है । जैसे पार्ष्वसमुद्र 'वयवान्' कहा जाता है, स्वायम्भुक्समुद्र नमस्वान् कहा जाता है, एवमेव पारमेष्ठन वैष्णव समुद्र 'सरस्वान्' नाम से प्रसिद्ध है । इसी में अग्निप्रव

चित्र सरस्वतीवाक् प्रतिष्ठित है। स्वर-वर्णों नेों इसी ध्वनिवाक् पर प्रतिष्ठित हैं। यही वाक्-  
की सृष्टि की मूलप्रवर्तिका है। यह आपोमयी ध्वनिवाक् स्वप्नमय उसी नारदश्रुति ( प्राण )  
पर प्रतिष्ठित है। इसी महासृष्टि विज्ञान को प्रसादमाया में प्रकट करत हुए पुराण में कहा है—

“दीरममुं ये शेष गय्या पर विष्णुभगवान् सा रहे ह। उन की नाभि  
में से कमल निकल रहा है। कमल पर शत्रुर्मुख ब्रह्मा विराजमान हैं।  
यह चारों वेदों से सृष्टिनिधाय कर रहे हैं। विष्णुभगवान् के मन्त्रक की  
ओर नारद श्रुति हुए हैं उनके हाथ में बीणा है --- --- ”

प्रकृत में उक्त निदर्शन से हमें यही कहना है कि सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति ( अग्नि )  
के व्यापार से सर्वप्रथम पुष्करपर्ण उत्पन्न हुआ, यही प्रजापति की, जिसे सारे पार्ष्व विश्व  
की पहिली प्रतिष्ठा बना। इसी उत्पत्ति को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

यत् पयपयन् सरिरस्य मय्ये—उर्वीमपयश्लगत प्रतिष्ठाम।

नत् पुष्करव्यापननादि जात पण्डि पूषिष्वायनन इरामि ॥

( तै० भा० १।२।१ ) इति ।

यही पुष्करपर्ण आगे जाकर रुद्रबाहु की रुद्रता पानी की दिनम्बता के परस्पर के संसृष्टि  
सम्बन्ध से उत्तरोत्तर अनन्त में परिरुत होता हुआ भूषिण्डरूप में परिणत हो जाता है।  
प्रजापति के वेद से पानी पना हुआ पानी से पुष्करपर्ण उत्पन्न हुआ, यही जनाश्रया में  
आकर भूषिण्ड बन गया। इस भूषिण्ड के केन्द्र में प्रजापति प्रतिष्ठित हो गये। यही पूषिणी  
वेदमूर्ति प्रजापति के सम्बन्ध से वेदि नाम से प्रसिद्ध हुई। इस वेदि पर अग्निरूप यही त्रयी-  
वत् प्रतिष्ठित हुआ। पार्ष्व अग्नि मात्तात् वेद है। अग्निरूप यह वेद सप्तमूर्ति है। इस सत्या-  
त्मवेदरूप उक्त प्रजापति के अर्कस्वरूप प्राकृतिकबलाओं के द्वारा ( इसी वेदि पर ) पक्ष होता है।  
सोमश्रुति होने से यही अग्निवेद २१ स्तोम पर्यन्त भित्त हो जाता है। पार्ष्व शिवनाभि  
अम्न्याधान है शिवस्तेमावच्छिन्न यज्ञसत्ता अग्निहोत्र है पञ्चदशस्तोमवच्छिन्न यज्ञसत्ता

शर्गपूर्णमास है सप्तदशस्तोमावधिक्रिय यज्ञसत्त्वा चातुर्मास्य एव पशुवध है, एव यही उयो तिष्ठोम है। एकविंशस्तोमावधिक्रिय यज्ञसत्त्वा अग्निपञ्च किंवा चवनयज्ञ है। इस प्रकार रतोम-वेद से पार्थिव यज्ञसत्त्वा उक्त विभागों में परिणत हो जाती है। इसी अग्नीयोमात्मक यज्ञ में वह प्राजापत्य वेद एकविंशस्तोमपर्यन्त व्याप्त हो जाता है। त्रिवृत्तोम तक अग्निमय ऋग्वेद है, पञ्चदशस्तोम तक वायुमय यजुर्वेद है एकविंश तक आदित्यमय सामवेद है। यही मूलवेद का कितान है। इसी कितान सम्बन्ध में उक्त पार्थिव यज्ञसत्त्वा वितानयज्ञ आतानयज्ञ आदि नामों से प्रसिद्ध है।

अग्निवायुरविश्वः शुभ्रं त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।

बुद्धो यज्ञसिद्धयर्थं ऋग्-यजुः-सामस्तच्छब्दम् ॥ (मनु १।२३)

इत्यादि मानवसिद्धान्त इसी पार्थिव यज्ञमात्रिक प्रामाण्यवेद का स्पष्टीकरण करता है। इस वेदतत्त्व की प्रतिष्ठा पितृदृष्टिधी, एव अमृता पृथिवी है। याज्ञिक परिभाषा के अनुसार विष्णुअग्निमय भूपिण्ड 'कुप्याग्नि' कहलाता है, एव चित्तेनिषेयाग्निमी महापृथिवी पुष्करपर्ण नाम से प्रसिद्ध है। (देखिए खण्ड० ६।४।१।२)। पिण्डपृथिवी में छन्दोवेद प्रतिष्ठित है, तत् सम्बन्धी पार्थिवयज्ञ- 'आतानयज्ञ' नाम से प्रसिद्ध है। भूपिण्ड वेदि है महापृथिवी महावेदि है। प्रजापति केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता है, यह अनुपद में ही वतवाया जाशुक्य है। इदमस्मिन् इ-द-म-रूप अन्तर्यामी नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र का नाम ही प्रजापति है। अग्नि-सोमाक्षर वेद हैं। यह अग्नि सोम उस इष्टप्रजापति से अग्नि हैं। इन्द्र ही ब्रह्मर्षित होकर अग्नि बनता है, विष्णु ही ब्रह्मर्षित होकर सोम कहलाने लगता है। अतएव अन्तर्यामी इष्ट प्रजापति के अवयवभूत विश्वरूपसम्पादक अग्नीयोमात्मक वेद को हम अक्षर्य ही प्रजापति के 'शमश्रु' कहने के लिए तत्पार हैं। इदमस्मिन् का नाम ही सत्य है। इस सत्य अन्तर्यामी का विवर्धभूत वेद भी अक्षर्यमेव सत्य है। प्रजापति सत्य, इसका वेद सत्य, वेदमय विश्व सत्य- 'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्'। यही सत्यवेद यज्ञशर महावेदि के आधार पर २१ तक व्याप्त होता है। इस प्रकार यह सत्यप्रजापति सत्य (वेद) के द्वारा पानी

चित्र सरस्वतीवाक् प्रतिष्ठित है। स्वर-वर्ण दोनों इसी ध्वनिवाक् पर प्रतिष्ठित हैं। यही वाक्-  
की मृष्टि की मूलप्रवर्तिका है। यह आपोमयी ध्वनिवाक् स्वप्नमय उसी नारदश्रुति (प्राण)  
पर प्रतिष्ठित है। इसी महासृष्टि विज्ञान को प्रसादभाषा में प्रकट करने हुए पुराण ने कहा है—

“क्षीरसमुद्र में शेष शय्या पर विष्णुमगवान् सो रहे हैं। उन की नाभि  
में मे कमल निकल रहा है। कमल पर शत्रुमुख ब्रह्मा विराजमान हैं।  
यह जागें वेगों से सृष्टिनिपात्य कर रहे हैं। विष्णुमगवान् के मस्तक की  
ओर नाग्न खड़े हुए हैं उनके हाथ में बीणा है— —”

प्रकृत में उक्त निशान से हमें यही अनुमान है कि मातृपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति (अग्नि)  
य व्यापार से सर्वप्रथम पुष्करणी उत्पन्न हुआ, वही प्रजापति की विद्या मारे पार्थिव मिथ  
की पवित्री प्रतिष्ठा बना। इसी रहस्य को सत्य में रंग कर कृति कहती है—

यन् पयसायन सरिरस्य मध्ये-उर्वीमपरपञ्चगतः प्रतिष्ठाप ।

नन् पुष्करव्यापननादि जात पर्ण पृथिव्यापनन इरायि ॥

(गी० मा० १।२।१) इति ।

श्री पुष्करपाय धागे जाकर ब्रह्मवायु की लक्षणा पानी की निम्नता के परस्पर के संसृष्टि  
मात्र में उत्तरोत्तर पनमात्र में परिणत होता हुआ मृण्डरूप में परिणत हो जाता है।  
प्रजापति के वेग में पानी पन हुआ पानी में पुष्करपाय उत्पन्न हुआ, वही पनावरण में  
वाचर नृगण कन्या। इस मृण्ड क केन्द्र में प्रजापति प्रतिष्ठित हो गया। यही पृथिवी  
पुष्करणी प्रजापति के मातृत्व में अग्नि नाम में प्रसिद्ध हुई। इस वेदि पर अग्निरूप बड़ी बड़ी  
प प्रतिष्ठित हुआ। पार्थिव अग्नि मातृत्व में है। अग्निमय वह वेद समर्पित है। इस सत्य  
मातृत्व उक्त प्रजापति के अकल्प्य प्राण-शक्तियों के द्वारा (इसी वेदि पर) पन होता है।  
मोक्षार्थ होने में वही अग्नि २१ स्तोम पक्व विन हो जाता है। पार्थिव विराट्  
मातृत्व है विष्णुमगवान् स्वप्नमय अग्निहोम है पञ्चशक्तीमयान् पञ्चशक्त्या

परमेश्वरमात्रमय विश्व का शासन कर रहा है, उसका वही नियतिसूत्र, विज्ञानदण्ड वेद पदाप है। इस वेदसीमा के बाहर कुछ भी नहीं है। जिसका वेद नहीं वह भी—न स वेद, न स वेद। जो सम कुछ ज्ञानता हुआ भी वेदतरंग नहीं जानता, वह भी—न स वेद, न स वेद। इसी वेद से वेदों और यज्ञरूप विश्व का निष्पन्न हुआ है। विश्वनिर्माण के लिए इसे सर्व प्रथम पानी ॥ उत्पन्न करना पड़ता है। स्वयम्भुव ब्रह्मनिश्चित वेदप्रजापति के काम—तप—कर्म से सुवेद नाम से प्रसिद्ध अथर्वा नाम का अपूर्व उत्पन्न होता है। इसी मिथुनमात्र से प्रथिव्यं सृष्टि करने में समर्थ होता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा।

उक्त मूलवेद का अर्ध भाग सन्धोवेद है, इससे मूर्ति का (पिण्ड का) निष्पन्न होता है। साममात्र भित्तानवेद है इससे मूर्तिमात्र की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। एव यजु भाग रसवेद है, यही गतिमात्र का अभिधायक है। इन तीनों वेदों की मूलप्रतिष्ठा आधुनिक ब्रह्म वेद (अथर्ववेद) है। इन्हीं चारों मौखिक वेदोंका निरूपण करते हुए महर्षि तिसिरि कहते हैं—

अग्नेयो जातां सर्वगो मूर्तिमाहुः सवागतिर्याजुपी हव्यं शरवतः ।

सर्व तेजः सामवप्य ह शरवतः सर्वं तेन ब्रह्मणा हव्यं सृष्टम् ॥

( तै० भा १।१२।१।१-२ ) ।

अग्निमिः पूर्वाह्णो दिवि देव ईयते यजुर्वेदं तिष्ठति मय्ये ब्रह्म ।

सामवेदेनास्त्रमये महीयते वेदैरग्न्यस्त्रिभिरेति सूर्यः ॥

( तै० १।१२।१।१ ) ।

मन्त्रप्राणवाक् के विभूद्भाव के कारण उक्त तीनों वेद अग्ने-यजु-साम वेदोंसे तीन तीन भागों में विभक्त हैं। इन सबका विशद निरूपण उपनिषद्भाष्यभूमिका में किया जाचुका है, अतः यहाँ में इनके साममात्र का दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

उत्पन्न करता हुआ पृथिवीरूप वेदि को उत्पन्न कर यज्ञोपस्थि से युक्त होता हुआ—वेदि—वेद यज्ञ—प्रजापति वेद से जन्तुफल बनजाता है। इसी वेद रहस्य को प्रकट करते हुए निम्नलिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं।

१—“एष प्रजापतिर्यद् इदमथ, एतद् ब्रह्म, एतत् वर्षम् ।

तदेतत् श्वत्सरं ह द-यमिति । तद्वै तदेतरेव तदास सप्तमेव” (श० १७।८।७)

२—‘ते देवा सर्वं सप्तमषदन् । तथत् तव सप्तं ययी सा विद्या ।

ते देवा अग्रवन्—यज्ञं वै कृत्वा सप्त तनवापयै” (श० २।५।१।)

३—“स्वया (वेदेन) वेदिं विविदुः पृथिवीं स्वया यज्ञो जायते विश्वदानिः ।

अच्छिद्य यज्ञमन्त्रेपि विद्वान् स्वया होता सक्तोऽर्द्धमासान् ॥” (तै० ब्रा० ३।७।७)

४—“अयं वेदः पृथिवीमन्त्रिन्न् गुहासतीं गहने गह्वरपु ।

स विन्दतु यजमानाय लोकमच्छिद्यं यज्ञं मूरिकर्मा करोतु ॥’

(तै० ब्रा० ३।७।६।)

५—“वेदेन वै देवा असुराणां विष वेद्यमविन्दत ।

तद् वेत्स्य वेदस्वम्, भूमिरेव वेदिः । सा वा इय सर्वेषु वेदिः ”

इत्यादि— — — — — ।

सचा—एष वेदि’ इस वाक्य के सचरण से सर्वमूलप्रपञ्च अभिप्रेत है। इसकी प्राप्ति उमी प्रतीतिषा के उतर में हुई है। तभी तो पूर्वोक्त—अथवा याच विद्यायां सचापि मृदान्य-पश्यन् यह वचन परिग्राह्य होया है। यह प्रजापति वेदि—वेद—यज्ञ—इन तीन ब्रह्मणो मे जन्तुफल बनता हुआ इस मदाशुक्ल ने वेद में पृथक्—यौ रूप तीनों भुक्तों का शास्ता बनता हुआ अन्तर्धामी नाम से प्रसिद्ध होया है। यह अन्तर्धामी जिस नियति मूलम

परम्परमात्मय विश्व का शासन कर रहा है, उसका बही नियतिसूत्र, विज्ञानदण्ड वेद पदार्थ है। इस वेदसीमा के बाहर कुछ भी नहीं है। जिसका वेद नहीं वह भी—न स वेद, न स वेद। जो सब कुछ जानता हुआ भी वेदतरंग नहीं जानता, वह भी—न स वेद, न स वेद। इसी वेद से यदि और यद्वरूप विश्व का निर्माण हुआ है। विश्वनिर्माण के लिए इसे सर्व प्रथम पानी ही उत्पन्न करना पड़ता है। स्वायम्भुव ब्रह्मनिबसित वेदप्रजापति के काम—तप—कर्म से सुवेद नाम से प्रसिद्ध अथवा नाम का अपूर्ण उत्पन्न होता है। इसी मिथुनमास से प्रवीचद छट्टि करने में समर्थ होता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होनापना।

उक्त मूलवेद का ऋक् भाग कुन्दोवेद है, इससे मूर्ति का (पिण्ड का) निर्माण होता है। सामभाग त्रितानवेद है इससे महिमाभास की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। एव यजु भाग रसेवद है, यही गतिमात्र का अभिधत्ता है। इन तीनों वेदों की मूलप्रतिष्ठा आहुतिरूप ब्रह्म वेद (अपक्वेद) है। इन्हीं चारों मौक्तिक वेदोंका निरूपण करते हुए महर्षि तितिरि कहते हैं—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः सर्वागतिर्याजुषी इवै शरवत ।

सर्व तेजः सामरूप्य इ शरवत सर्व वेदं ब्रह्मणा ईष छष्टम् ॥

( तै० आ ३।१२।१।१-२ ) ।

ऋग्भ्यः पूर्वाह्णे विवि देव ईयते यजुर्वेदे तिष्ठति मय्ये ब्रह्मः ।

सामवेदेनास्तमये गहीयते वेदैरथून्यस्त्रिमिरिति सूर्यः ॥

( तै० ३।१२।१।१ ) ।

मन्त्राण्यवाक् के त्रिवृत्मात्र के पत्ररूप उक्त तीनों वेद ऋग्—यजु—साम वेदसे तीन तीन मायों में विभक्त हैं। इन सबका विशद निरूपण उपनिषद्भाष्यभूमिका में किया जा चुका है, अतः प्रकृत में इनके नाममात्र का दिग्दर्शन करा दिया जाता है।



- |                                  |       |          |   |   |   |          |           |
|----------------------------------|-------|----------|---|---|---|----------|-----------|
| १-सुन्दोवेद - मूर्ति             | ----- | उक्त्यम् | → | → | → | अग्निवेद | } मूलवद १ |
| २-रसवेद - मध्यस्थो वायुमयोऽग्निः | ----- | ब्रह्म   | → | → | → | यजुर्वेद |           |
| ३-वितानवेद - महिममण्डलम्         | ----- | साम      | → | → | → | सामवेद   |           |

## १-सुन्दोवेद - (अग्निकृ)

- |                       |   |
|-----------------------|---|
| १-विष्कम्भ - अग्निवेद | } तदित्य अग्न्यग्ने सुन्दोवेदे वेदप्रयोगमोग |
| २-परिणाहः - सामवेद    |   |
| ३-उक्त्यम् - यजुर्वेद |   |

## २-वितानवेद - साम)

- |                          |       |          |   |
|--------------------------|-------|----------|---|
| १-पूर्वपूर्वमण्डलम्      | ----- | अग्निवेद | } तदित्य सामग्न्ये वितानवेदे वेदप्रयोगमोग |
| २-उत्तर - उत्तरमण्डलम्   | ----- | सामवेद   |   |
| ३-अनु (अनुष्टिप्ता) रेखा | ----- | यजुर्वेद |   |

## ३-रसवेद - (यजु)

- |                                    |       |          |  |
|------------------------------------|-------|----------|--|
| १-उत्तरोत्तरं इक्षीमन्तो विष्कम्भा | ----- | अग्निवेद | } तदित्य यजुग्न्ये रसवेदे वेदप्रयोगमोग |
| २-उत्तरोत्तर इक्षिमन्ति मण्डलानि   | ----- | सामवेद   |  |
| ३-तपोरन्तराद्ये प्रतिष्ठितानि वाक् | ----- | यजुर्वेद |  |
- प्राच्यममसि

## इति - त्रयीवेदानिरुक्ति

• इह विषयका तदित्य विवेचन कथयार्थं मातृक पत्र के ध्यानतः-अङ्क में वेद का स्वरूप विचार नाम के लेख में विवक्षित हुआ है।

# मन्त्रार्थसम्बन्धिनी-अथर्ववेदनिरुक्ति



दशमी का निरूपण समाप्त हुआ। अब क्रमप्राप्त चौथे अर्थवेद का स्वरूप बतसाना जाता है। पूर्व के छंदश्रुती प्रकरण से यह मान लेना पड़ता है कि केवल वेदतत्त्व (वेदश्रुतीरूप केवल अग्नि) सृष्टि करने में असमर्थ है। सृष्टि अग्नि-सोम के सम्बन्ध पर निर्भर है। कारण सृष्टि संसृष्टिभाव से सम्बन्ध रखती है। एव संसृष्टि परस्पर में बिनातीय योपा वृषामात्म पर निर्भर

है। योपा रयि नाम से, वृषा प्राण नाम से प्रसिद्ध है। इधर अक्सामरूप वपोनाथ से संश्लिष्ट वयरूप यजुर्वेद प्राणामक बनता हुआ केवल 'वृषा' रूप है, अग्निमय है। आग्नेय-प्राणप्रधान (अक्षामिरूप अपिप्राणप्रधान) यह वृषावेद सर्वथा अस्ति है। ऐसी अवस्था में इस अस्तं वेदप्रजापति से तब तक सृष्टि नहीं होसकती, जब तक कि 'योपा' नामक संसृष्ट अमृतत्व (रयि) उत्पन्न नहीं होजाता। अतएव सृष्टिकामुक श्रुतिमय उस अक्षप्रजापति को सब से पहिले पानी ही उत्पन्न करना पड़ता है। सृष्टिकामना से प्राण ध्रुव्य होजाता है। अनेक कामना फलसिद्धि पयन्त प्राणशोम का कारण बनी रहती है यह सर्वानुमृत विषय है। वही ध्रुव्य प्राणामि संवर्ष के कारण अमृतरूप में परिणत होजाता है। इस का यह अर्थ नहीं है कि अनुत्पत्ति के अनन्तर प्राणामि रहा ही नहीं। यह कार्यकारणमय ऊर्णावन्तु (मकड़ी का जाला) के समान है। मकड़ी अपने एक प्रवेश से जास बनाती है। वही (व्यधिकरूप से) जास बनाती है, परन्तु उस का स्वरूप ओं का त्यों बना रहता है, जैसा कि स्वरूप जासोत्पत्ति से पहिले था। इसी को "अमिन्नसत्ताक कार्यकारणमात्र" कहा जाता है। यही अवस्था था है। वेदप्राण का जो माग ध्रुव्य हो जाता है, वह पानी बन जाता है, शेष माग ओं का त्यों सत्स्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इस प्रकार अशनाया के प्रभाव से शोम द्वारा सर्वप्रथम पानी उत्पन्न होता है। एक ही प्रजापति प्राण-आप भेद से दो मागों में विभक्त हो जाता है। माघमाग टपा है, पुरुष है, पति है। अप्रमाग योपा है, श्री है, पत्नी है। इसी दम्पती

- १-छन्दोवेद-मूर्ति ----- उक्तम् → → → अग्नये  
 २-रसवेद-मध्यस्थो वायुमयोऽग्नि-मस → → → यजुर्वेदः  
 ३-वितानवेद-महिममण्डलम् ----- साम → → → सामवेद

मूलवदः ?

## १-छन्दोवेद - (ऋक्)

१-विष्कम्भ - अग्नयेद

२-परिणाह - सामवेद

३-इदम् - यजुर्वेद

तद्विषय अग्नये छन्दोवेदे वेदप्रयोगयोग

## २-वितानवेद - साम)

१-पूवपूवमण्डलम् ----- अग्नये

२-उत्तर-उत्तरमण्डलम् ----- सामवेद

३-अल (अकुपिषा) रेखा ----- यजुर्वेद

तद्विषय सामवेदे वितानवेदे वेदप्रयोगयोग

## ३-रसवेद - (यजु)

१-उत्तरोत्तर इक्षीमवन्तो विष्कम्भ - अग्नये

२-उत्तरोत्तर इक्षिमन्ति मयइक्षानि-सामवेद

३-तपोऽस्तपते प्रतिष्ठानि वाक्-यजुर्वेद

प्राप्तमनांसि

तद्विषय यजुर्वेदे रसवेदे वेदप्रयोगयोग

## इति-अथर्ववेदानिरुक्ति

- एव विवरण तद्विषय विवेचन करणारा यावत्क पत्र के अन्तर्गत-अथर्व वेद का स्वरूप विचार मात्र के क्षेत्र में प्रियतम हुआ है।

पुरुष' आदित्यस्य परमा' इत्यादि नामों से व्यञ्जित किया जाता है, यही मौलिकतत्त्व है।  
 अक्षु साम इस दशपुरुष की प्रतिष्ठा है। इसी अथर्ववेद का निरूपण करती हुई शान्तिस्तुति  
 होती है—

यदेतन्मण्डलं तपति—तन्मण्डलं, ता अक्षुः, स अक्षुः भोक्तः ।

अथ यदेतद्विर्दिप्यते, तन्मण्डलं । तानि सामानि, स साम्ना लोकाः ।

अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषाः, सोऽग्निः, तानि यजूषि । स यजुषां लोकाः ।

सैषा अथ्येन विद्या तपति" (यजु १०।५।२।१-२) ।

अक्षुसाम वयोनाथ है, यजु वय है। वस्तुपिण्ड का विष्कम्भ (ध्यास) अक्षु  
 है। वस्तु के चारों ओर का घेरा (परिखाह) साम है। ध्यास को त्रिगुणित करने से वस्तु का  
 घेरा बन जाता है। दूसरे शब्दों में वस्तुपिण्ड का घेरा वस्तुपिण्ड के ध्यास से त्रिगुण होता है,  
 इसी आधार पर साम का 'त्रिबं मास' (तीन अक्षु का एक साम—तीन ध्यासों का एक  
 परिखाह) यह लक्ष्य किया जाता है। इस ध्यास और परिखाह से वेदित वस्तुतत्त्व यजु है।  
 जिस प्रकार उग्र में अन्न प्रतिष्ठित रहना है, एवमेव यजु (वस्तुतत्त्व) अक्षुसाम रूप ध्यास और  
 परिखाह में अन्तर्भूत रहता है। इस अभिधान को सद्य में रखकर ही यजु को वय (अन्न)  
 नाम से व्यञ्जित कर दिया जाता है। वय शब्द अन्न शब्द का ही पर्याय नहीं है, बल्कि प्र-  
 णियों में वय का अर्थ अन्न दिया है। अन्नधर्म की समता के कारण ही यजु को वय कहा  
 जाता है। अथर्व जिस प्रकार पञ्चर (पीत्रा) में रहने वाला पञ्च पञ्चर से निवृत्त कर  
 आकाश में ऊपर उबर संभरण करता रहता है, एवमेव अक्षुसामरूप पञ्चर में प्रतिष्ठित रहने  
 वाला अग्निर्गर्भ यजु अन्तर्भाव से समग्रविमानधर्म में संभरण किया करता है, इस पक्षिरूप  
 साधर्म्य से भी इसे वय (पक्षी) कहा गया है। इस वय को वधन में रखने वाले सीमित रखने  
 वाले आप्तनरूप अक्षु साम हैं, अतएव इन्हें 'वयोनाथ' (वय का वधन करने वाला) कहा  
 जाता है। वयोनाथ और वय की समष्टि 'यजुन' नाम से व्यञ्जित होती है। प्रत्येक वस्तु यजुन

क. मिथुनभाज से प्रजा उत्पन्न होती है। प्रजापति की इस इच्छा का— "एकस्की न रमते, नद्वितीयैश्चक्षुः—पतिश्च पत्नी च" इत्यादि रूप से अभिनय किया जाता है। इसी सृष्टि विज्ञान को सत्य में रखकर मगवान् मनु कहते हैं—

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसनात्मकम् ।

तद्विद्युः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीत्यत् ॥१॥ (मनु १।११।)

तदाविद्यन्ति मृतानि महान्ति सह कर्मभिः ।

मनश्चावयवैः धूमैः सर्वमुत्कृष्टव्ययम् ॥२॥ (मनु १।१२।)

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौमसात् ।

सृष्ट्याभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः समवस्यव्ययाद्व्ययम् ॥३॥ (मनु १।१३।)

सर्वेषां तु सनामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।

वेद्यग्नेभ्य एषादौ पृथक् सत्त्वाश्च निर्मये ॥४॥ (मनु १।१४।)

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिद्धस्तुर्विधाः प्रजाः ।

अथ एव ससर्गादौ ताम्र बीजमवाधमत् ॥५॥ (मनु १।१५।)

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्देन पुरुषाऽमवत् ।

अर्देन नारी तस्यां स विराममध्वजत् प्रभुः ॥ ६ ॥ (मनु १।१६।)

उक्त मानव विज्ञान के अनुसार योषाम्ना के म्बुन से सर्वप्रथम विराट् पुरुष उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में वह स्वयं ही इस मिथुनभाज से विद्युत् रूप बन जाता है। इस विद्युत् का सकृप आगे आकर स्पष्ट होगा, पहिले व्यूत्पन्न का विचार करिए।

मूलवेद के ऋक्—साम—यजु एवं तीन विस्तृत बताए हैं। इन तीनों को क्रमशः महपुरुष—महाभवन—पुरुष इन नामों से व्यवहार किया जाता है। उदाहरण के लिए सूर्यसिद्ध (मूर्ति—गेरा) महपुरुष है, सौरप्रकाशमण्डल (रश्मिमण्डल) महाभवन है। सूर्यकेन्द्र में रहने वाला स्थिति—परिधि गतिरूप प्राकृष्टि पुरुष है। इसी को 'हिरण्यगर्भमजापति' 'हिरण्यमयपुरुष' 'बाह्यप-

पुरुष' 'वादित्यस्य परमा' इत्यादि नामों से व्यञ्जित किया जाता है, यही मौलिकतत्त्व है।  
 ऋक्साम इस वस्तुपुरुष की प्रतिष्ठा है। इसी प्रयोजिका का निरूपण करती हुई वाचिभूति  
 कहती है—

यदेतन्मयदत्तं तपति—तन्मयुक्थम, ता भूचा, स भूचा लोकः ।

अथ यदेतदचिदीप्यते, तन्महाव्रतम् । तानि सामानि, स साम्ना लोकः ।

अथ य एतस्मिन्मयदत्ते पुरुषः, सोऽमि, तानि यजूंषि । स यजुषां लोकः ।

सैषा मध्येन विद्या तपति" (रुत १०।४।२।१-२) ।

ऋक्साम क्योनाथ है, यजु अथ है। वस्तुपिण्ड का विष्कम्भ (भ्यास) ऋक्  
 है। वस्तु के चारों ओर का घेरा (परिण्याह) साम है। भ्यास को त्रिगुणित करने से वस्तु का  
 घेरा बन जाता है। दूसरे शब्दों में वस्तुपिण्ड का घेरा वस्तुपिण्ड के भ्यास से त्रिगुना होता है,  
 इसी आधार पर साम का 'त्रिचं माय' (तीन ऋक् का एक साम—तीन भ्यासों का एक  
 परिण्याह) यह कहलु किया जाता है। इस भ्यास और परिण्याह से वेदित वस्तुत्तरण यजु है।  
 जिस प्रकार उदर में अन्न प्रतिष्ठित रहना है, एवमेव यजु (वस्तुत्तरण) ऋक्साम का भ्यास और  
 परिण्याह में अन्तर्मुक्त रहता है। इस मुक्तिमात्र को अथर्व में रखकर ही यजु को वय (अन्न)  
 नाम से व्यञ्जित कर दिया जाता है। वय शब्द अन्न शब्द का ही पर्याय नहीं है, जिसा कि प्रा-  
 चीनों में वय का अर्थ अन्न किया है। अन्नभोग की समता के कारण ही यजु को वय कहा  
 जाता है। अग्नि व जिस प्रकार पक्षर (पीजरा) में रहने वाला पक्षी पक्षर से निवृत्त कर  
 आकाश में इधर उधर संभरण करता रहता है, एवमेव ऋक्सामरूप पक्षर में प्रतिष्ठित रहने  
 वाला अग्निमुक्ति यजु विमानमात्र से कामहिमापयवत्त्व में निवृत्त किया करता है, इस पक्षिरूप  
 साधर्म्य से भी इसे वय (पक्षी) कहागया है। इस वय को बधन में रखने वाले सीमित रखने  
 वाले आस्तनरूप ऋक् साम हैं, अतएव इन्हें 'क्योनाथ' (वय का बधन करने वाला) कहा  
 गया है। क्योनाथ और वय की समग्र 'यजुन' नाम से व्यञ्जित होती है। प्रत्येक वस्तु यजुन

है। वयुन में वय-वयोनाथ ने निवास है वय यजु है, वयोनाथ अक्षुत्साम है, अक्षुत्साम यजु में योगप्रोत रहते हैं। इसी रहस्य को सत्य में स्फुरत धुनि कहती है-

“ते यदा स्तुनते यन्मनुशसति, अथास्मिन्नेतवपद्रुकेत जुहोति। तदेनमेव रसोऽप्येति। न च महाव्रतमिदं स्तुतं शते, इति पश्यन्ति। नो महदुक्तमिति। अग्निमेव पश्यन्ति। आत्मा इति। तदेनमेतेऽवम रसो मृत्वापीतं श्रुत्वाच साम च। तदुमे श्रुत्सामे यजुरपीता” (उत्त० १०।१।१।६।) इति।

इस से यह सिद्ध हो जाता है कि केवल व्यायतनरूप अक्षुत्साम सृष्टि करने में असमर्थ है। अक्षुत्सामरूप व्यास परिणाम से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। व्यास मय्यरेखा है, परिणाम चरों ओर की रेखा है। यही रेखात्मक किंवा रेखात्मक एक पुर (सीमाना) है। इस पुर में प्रतिष्ठित यजुरमि ‘पुरि शते’ के अनुसार पुरूप है, यही मष्टिकथा है। मयुसक्त अक्षुत्साम सहकरणी मात्र है। अक्षुत्सामरूप बाद से कथित यजुपुरूप ‘द्वित्रय’ है। यत्-ओर न हो वस्तु की समष्टि यजु है, जैसा कि आगे आकर स्पष्ट हो जायगा। यत् माग वायु (प्राण) है, न माग वाक् (आकाश) है। इस वयुरूप प्राणवायु के व्यापार से अक्षुत्साम मय्यरेखा माग ही घुम्न हो कर अक्षुत्साम में परिणत होता है, जैसा कि ‘सोऽपोऽसृजत वाय एव सोऽसृजत’ (उत्त १०।१।१।७।) इत्यदि कृतियों से स्पष्ट है। वायुमि घुम्न होकर पानी बन जाता है इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि यदि ओन से अपवा वेगप्रकार से शायिष्ठायाभि घुम्न हो जाता है तो उसी समय पछीने निकल पड़ते हैं।

शरीर में अनुत्पत्ति तीन प्रकार से होती है। परिग्रह करने से पानी उत्पन्न हो जाता है। शोक से पानी उत्पन्न होता है, एव प्रेम से पानी उत्पन्न होता है। परिग्रहजनित पानी ‘मिदं’ कहलाता है, शोक से शोकाक्षु मेमाक्षु माग से प्रसिद्ध है। इन तीनों पानियों के अतिरिक्त एक चौथा स्वाभाविक पानी निरंतर रोमरूपों से निकलता करता है। मूत्र-मुखसासा-बर्फ-जिह्व

धरि में जो अद्विता है वह यहाँ स्थायीतक पानी है। इस प्रकार अण्वात्मसत्त्वा में अणुमयि की तरफ आये हैं। 'अपेराप' इस सिद्धान्त के अनुसार यह चारों पानी अग्नि से ही उत्पन्न होते हैं। पान्ति इन चारों के स्वरूप में यज्ञ अन्तर है। कायरूप अणु के अन्तर से मानना पड़ता है कि इन के फारणाग्नि में भी अन्तर ही अन्तर होगा। प्रसंगोक्त यह अन्तर जान लेना भी अनुचित न होगा।

अग्निवत् सत्य और यज्ञ वेद से दो मार्गों में विभक्त है। सत्याग्नि मौक्तिक अग्नि है, यज्ञाग्नि वैश्विक अग्नि है। विद्युदावस्था सत्याग्नि है, मिथ्यावस्था यज्ञाग्नि है। सत्याग्नि अमृतप्रधान है, यज्ञाग्नि मृत्युप्रधान है। याज्ञिक परिभाषा के अनुसार सत्याग्नि चित्तेनिषेधाग्नि है, यज्ञाग्नि चित्स्याग्नि है। 'यद्वा इ वै भारतना मर्त्यमासीर्ध्वमपृणय' यह प्रसिद्ध है। मौक्तिक अग्नि यज्ञ (Physics) है, मिथ्याग्नि यज्ञ (Chemistry) है। यज्ञ ही यज्ञ की प्रतिष्ठा है—'यज्ञ इ वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'। सुप्रसिद्ध यज्ञाग्नि (वेदाग्नि) ही सत्याग्नि है। 'यज्ञं कृत्वा सत्यं जनयामहे' के अनुसार इस वेदाग्नि के आधार पर ही यज्ञाग्नि का विधान होता है। इस वेदाग्नि की धर्मों आकर तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। स्वयम्भू इस की प्रथम विनासभूमि है, सृज्य इसी विनासभूमि है भूषिण्ड तीसरी विनासभूमि है। एक ही सत्याग्नि तीन स्थानों में प्रतिष्ठित होकर निम्न निम्न नाम रूपों में परिणत हो रहा है। इन्हीं तीन विद्वत्तों के कारण सत्य भाव विमल्य' कहलाता है। स्वयम्भू में प्रतिष्ठित वेदाग्नि ब्रह्माक्षर के सम्बन्ध से ब्रह्माग्नि कहलाता है, सृज्य में प्रतिष्ठित यही सत्याग्नि सौर प्राणरूप देवताओं के सम्बन्ध से 'देवाग्नि' नाम से एक भूषिण्ड में प्रतिष्ठित यही सत्याग्नि भूत सम्बन्ध से 'भूताग्नि' कहलाता है। प्रथम वेदाग्नि स्वयम्भू प्राणमय है, अतएव ब्रह्माग्नि को 'मायाग्नि' कहा जाता है। यही मूल प्रकृति है, अतएव इसे 'प्राकृताग्नि' भी कहा जाता है। सृज्य बाह्यमय है, अतएव देवाग्नि को 'देवाग्नि' कहा जाता है। येषमय की प्रकृति इसी से होती है, अतएव इसे याज्ञिक परिभाषानुसार 'वेदाग्नि' भी कहा जाता है। भूषिण्ड अन्नादमय है, अतएव भूताग्नि को 'अन्नाग्नि' कहा जाता है। भूषिण्ड में ही पञ्चपशुप्राणों का निवास होता है, अतएव सत्सम्बन्ध से इसे



‘पायुकाग्नि’ भी कहा जाता है। स्वायम्भुव अग्नि मन्त्रनिबन्धित वेद है, सौर अग्नि गणप्री-  
मन्त्रिक वेद है पार्ष्णि अग्नि सत्यवेद किंवा यज्ञगान्त्रिकवेद है। इस प्रकार एक ही वेदाग्नि  
किंवा सखाग्नि तीन मानों में विभक्त हो रहा है। दूसरा है यज्ञाग्नि। इस का विकास अम्नादाग्नि  
नाम के पार्ष्णि सखाग्नि से होता है। पार्ष्णि सखाग्नि तत्पर मिलत होकर अग्नि-वायु-आदित्य  
इन तीन अवस्थाओं में परिणत हो जाता है। अम्नादाग्नि अग्न प्रधान है अम्नादवायु व्यान-  
प्रधान है, अम्नाद आदित्य प्राणप्रधान है। मध्यस्थ उपानाग्नि के आधार पर अग्न-प्राणाग्नि वर  
वर्ण्य होता है। यह चरण तीनों का यजन है यही यज्ञ है। इस से वैश्वानर नाम के यज्ञाग्नि  
का प्रादुर्भाव होता है। अम्नादाग्नि को हमने पार्ष्णि बतलाया है। इस की मूल और पक्ष वेद  
से दो अवस्थाएँ हैं। मूल अम्नादाग्नि भूषिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ प्रजापति नाम से  
प्रसिद्ध है। इस अग्निरस का उच्च गणन होता है। यही अग्निरस किंवा सखाग्नि पृथिवी के  
२१ स्तोम करु स्पष्ट होकर घन-तरल-विरस इन तीन अवस्थाओं में परिणत होकर हुआ  
अग्नि-वायु-आदित्य कहलाने लगता है। इन पृथ्वी में स्तोत्रेस्तोत्र किंवा तीन विभ हैं।  
इन तीनों के नर (नायक) यही अग्नि-वायु-आदित्य हैं। उक्त यज्ञाग्नि इन तीनों विभनमें  
के वर्ण्य से उत्पन्न होता है अतः इसे ‘वैश्वानर’ कहना व्याप्राप्त है। इस प्रकार एक ही  
अग्नि की अपुन-पुनः वेद से दो अवस्थाएँ, अपुताग्नि की तीन अवस्थाओं की अपेक्षा से चार  
अवस्थाएँ हो जाती हैं जैसा कि—“चतुर्धा विहितो ह वा अग्नेऽधिरास” (रुत० १।१)  
१।१।) इसाग्नि से शाब्द है।

१-सखाग्नि (अपुताग्नि) - आत्मा

२-यज्ञाग्नि (अपुताग्नि - विद्युत्

}	आत्मन्त्री-प्रजापति

१-अग्नि - प्राण - प्राण - प्राण - स्वायम्भुव - मन्त्रनिबन्धितवेद

२-देवाग्नि - आग्नि - वैश्वानर - सौर - गणप्रीमात्रिकवेद

३-भूताग्नि - अम्नादाग्नि - पायुकाग्नि - पार्ष्णि - यज्ञगान्त्रिकवेद

४-वैश्वानराग्नि - यज्ञाग्नि - यज्ञाग्नि - विद्याग्नि - विज्ञानवेद

१  
सखाग्नि  
यज्ञाग्नि

इन चारों अग्नियों के कार्य सर्वथा निर्यात हैं। विधेरय और प्रतिष्ठा यह दो काम साम-  
 म्मुख ब्रह्माग्नि के हैं। अरपरमायुओं को एक स्थान पर बद्ध रखना विधेरय है, पदार्थ को सं-  
 स्थित रखना विधेरय है। यह काम प्राणरूप ब्रह्माग्नि का है, अतएव प्राण को विधेरय कहा  
 जाता है। प्रत्येक वस्तु में एक प्रकार का टट्टराव होता है। पाषाणादि में यह टट्टराव अधिक  
 है। लव्हादि (हर्ष-हवा आदि) में टट्टराव कम है। विपुल में और भी कम है। पदार्थों में तार-  
 तम्य से रहने वाला यह टट्टराव ही प्रतिष्ठितत्व है। 'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' के अनुसार  
 प्रतिष्ठाधर्म ब्रह्माग्नि का ही है। प्रतिष्ठ और विधेरय ब्रह्माग्नि के साक्षात् दर्शन हैं। दूसरा है  
 देवाग्नि। रूप और विकास यह दो धर्म सौर देवाग्नि के हैं। पुण्यकृतिकर आगे जाकर विक-  
 सित होती है, स्थिर जाती है, स्वस्थ मनुष्य का चेहरा स्थिर रहता है। वस्तुमान का यह  
 प्रसादमान ही विकास है, इसका प्रत्येक इन्द्रप्रधान सौर अग्नि ही है। सारी प्रजा, सूर्योदय से  
 निकसित होजाती है। रात्रि के तम से सञ्चलित पदार्थ सौर प्रकाश से स्थिर पकते हैं। सौर  
 इन्द्रमय अग्नि ही 'रूप रूप मधवा बोमयीति' के अनुसार सप्तरूप किं वा अनन्त रूपों (रंगों)  
 का अधिष्ठता है। अतएव सूर्य को 'पृथिव्य' कहा जाता है। रूप और विकास देवाग्नि के  
 साक्षात् धर्म हैं। तीसरा है पार्विष भूताग्नि। वायु और विसर्पण इसके सामाजिक धर्म हैं।  
 इस प्रकार के सोमों में एक सोम 'हव्य' नाम से प्रसिद्ध है। इस हव्य सोम की धन-तरस-  
 विरस-गुण्य मेद से चार अवस्थाएँ हैं। यही चारों अवस्थाएँ विज्ञानमाया में कर्मण्य शुच-धम-  
 परुष-धर्म इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इनमें धुक्सोम आश्वासोम कहा जाता है। पाषाणादि  
 इन पदार्थों की स्वरूपनिष्पत्ति इसी अरमासोम से होती है। तरसोम तरसता का प्रत्येक  
 है। पानी-वृत्त-आदि में इसी की प्रयोजनता है। वायु-प्राण-आदि में वायु, सोम की प्रधा-  
 नता है। आत्मा में गुणसोम प्रतिष्ठित रहता है। अरमासोमप्रधान अग्निादाग्नि पदार्थों का परि-  
 पाक करता है, तत्सोममय बड़ी अग्नि पदार्थों को विस्फोट देता है। कर्पूर अग्नि की पाक-  
 रस्था है, पिक्ता हुआ कर्पूर अग्नि की विस्फोटावस्था है। अग्नि ही सघात करता है, अग्नि ही  
 विस्फोट करता है, ऐसा कि 'अपां संपातो विसर्पण च सोम-संयोगात् (वे० ६०) से स्पष्ट

है। यह दोनों धर्म अस्मादाग्नि के हैं। जोधा है मित्र, अस्थापन यज्ञाग्नि ग्राम का वैरवानराग्नि। ताप और दाह यह दो इसके सामागिक धर्म हैं। गायी माशुम होना—वस्तु को अन्त रातना दोनों काम वैधानर के हैं। हम शरीर को अहां से छूते हैं गरम पाते हैं। यह वैधानर के साक्षात् दर्शन हैं। पूर्वोक्त तीन सस्माग्नियों में न ताप है, न दाह है। मीथिक अग्नि में ताप—दाह का निवारण अस्माग है। ताप और दाह वर्णलाभीन है। सवय से ही ताप उत्पन्न होता है, संवर्ष से ही दाह होता है। सस्माग्नि निरुत्कर है। उसमें संवर्ष कथमपि सम्भव नहीं है। सवय होता है पार्ष्णि यज्ञाग्नियों में। इसी से ताप दाहसंवर्ष वैधानर उत्पन्न होता है। इस प्रकार इन धर्मों से युक्त चारों अग्नि विद्य का अकप संपादन कर रहे हैं।

## अग्नि-प्रजापति

१-विचारणम्	} अग्नाग्नि स्थापयन्मुच.	}	} अग्निं प्रजापतेरात्मनो यत्सर्वमसीद्वैतसूतयः
२-प्रतिष्ठा			
१-निक्षयः	} देवाग्निः—सीरा	} सस्माग्निः (अनृत्यः)	
२-रूपम्			
१-पाकः	} भूताग्निः—पार्ष्णि	}	
२-विहपनम्			
१-तापः	} यज्ञाग्निः—वैधानरः	} यज्ञाग्निः (अनृत्यः)	
२-दाहः			

। इन चारों अक्षिपों से चार प्रशार का भिन्न भिन्न पानी उत्पन्न होता है । कारण पानी उ  
त्पन्न करना अक्षि का क्षामाधिकर्षण है । सायम्भुव ब्रह्माक्षि से पारमेष्ठ्य अम्म नाम का पानी  
उत्पन्न होता है । यही पवित्रतम पानी मागीरणी का स्वरूपसमर्पक बनता है । सौर देवाक्षि से  
सरीषि नाम का पानी (दिव्य पानी) उत्पन्न होता है । यही दिव्यपानी यमुना जल का स्वरूप  
समर्पक बनता है । पार्थिव भूमाक्षि से मर नाम का पानी उत्पन्न होता है, एवं आन्तरिक्ष चान्द्र  
प्राणमय वैश्वानर से श्रद्धा नाम का पानी उत्पन्न होता है । इन्हीं चारों का स्वरूप क्लृप्तते हुए  
मूर्ध्नि ऐतरेय पढ़ते हैं—

आत्मा वा इदमेक एवाद्य आसीत्ता यत् किञ्चन मिपत् । स ईक्षित शोकान्मु  
क्ष्मा इति स इमोऽशोकान्समत— अम्भो मरीचिपरमाप अदोऽम्मः परेष  
दिव यौः मविष्टा । अन्तरित्वं मरीचय ।। पृथिवी परः । या अघस्ताद्या अपः  
( श्रद्धा वा आपः )” (ऐ० उ० १ अं० १-२- ) इति ।

य० है आधुनिक जगत् की । पति । “यदेवेह तदमुष—यदमुष तदन्विह” के अनु-  
सार उक्त चारों अक्षि हमारे शरीर में भी प्रवर्धित हैं । एवं यहाँ भी इन चारों से चारों पानी उ  
त्पन्न होते हैं । किसी कार्य सिद्धि के लिए मनुष्य जब परिश्रम करने लगता है तो इस से साय-  
म्भुव प्राणाक्षि शुष्क हो पड़ता है । प्रतिष्ठाप्राप्त सिद्धि होने लगता है । अतएव परिश्रम के अ-  
नन्तर पक्वत मातुम होने लगती है । प्राणाक्षि के विभरणशक्ति, और प्रतिष्ठाशक्ति के हास ही  
का नाम पक्वत है । इस परिश्रम से सबसे पहिले ललाट पर पसीने आते हैं । ऐसा कि अनुपद  
में ही स्वेदवेदोत्पत्ति में ललाट का नाम आता है । अत्यधिक परिश्रम से सारे शरीर में पसीने आने  
लगते हैं । प्राणाक्षि के तप से पसीने निकलते हैं, यही कार्यसिद्धि की प्रथमभूमिका है । इसी  
आधार पर लोक में “अमुकने अमुक कार्य के लिए पसीना बहाया है” —अनी ! पसीने  
की कपाई है’ ऐसी किंवदन्तिएं प्रचलित हैं । शिरोशुद्ध सायम्भुवी है । अतएव तत्प्रतिष्ठ  
ब्रह्माक्षि के चोम से तृतीयतम ललाट में ही पसीने आते हैं ।

यदि मनुष्य प्रेमविमोह हो जाता है तो अमृत निश्चय पकते हैं । इन्हीं को 'प्रेमाश्रु' कहा जाता है । प्रेमाश्रु से अथात्म में एक प्रकार का शान्ति का उदय होता है । यह सोगमि की कृपा है । सोगमि बुद्धि का अनुपाहक है । बुद्धि को मन साथ रखते हैं । बौद्धसौर अग्रे के पर्यन्त से मन पर अध्यात होता है । मन निश्चय पकता है । यही मनोवेग अश्रुरूप में परिणत होकर भावों से बहर निश्चय पकता है । प्रेम कैसा-विश्व, पवित्र सावित्र । मनप्रधान प्रेम जहाँ दुःख का कारण है वहाँ बुद्धिप्रधान प्रेम आनन्द का कारण है । लौकिक विश्वप्रेम दुःख का प्रकर्षक बनता हुआ शोक में ही अन्तर्भूत है । तीमरा है पार्थिव भूताग्नि, किं वा पाशुनाग्नि । यही पशुगति कह है । यह अवशक्ति के अवस्थाता हैं, भूतगति हैं । उक्ताना इनका कामादि कर्म है, अनपदि-‘सांसीरोदीन् तदुक्तस्य कृत्-वम्’ के अनुसार रोमकर्म के अवस्थाता यह पार्थिव भूताग्नि कह नाम से प्रसिद्ध हैं । अवस्था में (सांसारिक विश्वों में) अवस्थित आनन्द रखने से मोह का उत्पन्न होता है । यह मोह विज्ञानशक्ति (सोर्वाग्नि) को निश्चय बनता हुआ मन को स्रवण बनता हुआ मवालीप सन्ध्य से अवशक्ति प्रकृत पार्थिव भूताग्नि का अनुपपन्न बनता हुआ पार्थिवभूमि को लुप्त कर जाता है । इस क्षोभ से जो रौद्र पानी उत्पन्न होता है यही शाकाश्रु नाम से प्रसिद्ध है । यदि यह पानी शरीर में ही रह जाता है तो वैशिल (पाण्डव) पञ्चपक्ष अदि रोग उत्पन्न होता है । दुःख के अवस्थितिक वेप से यही कह संसार के का ल बनजाते हैं । जिसे रोग अता हो उसे बीमार के रौतेना चाहिये । स्व अनुपात करने चाहिए । इससे शरीर हलका हो जाता है । जो मनुष्य इन आश्रुओं को पी जाते हैं-वे अक्षय रोग बन जाते हैं । बीषा वैशालयग्नि है । भूतादि की उत्पत्ति इसी अग्नि से होती है ।

उक्त अग्निवर्षा से पाठकों को यह चिन्तित होगया होगा कि पानी अग्नि से उत्पन्न होता है । शीघ्र के अनन्तर वर्षा का आगमन प्रकृतिसिद्ध है । अग्नि में ताप है, पानी में ताप नहीं, यह उदा है । वस्तुतः अग्नि ही तो पानी बना है अतएव पानी को ठंडा अग्नि (टंडी आग) कहा जाता है । प्रकृत्यन्तर से विचार करिए । परिग्रह-मेघ-शोक मेघ से आवागमनस्थ में तीन ही प्रकार के पानी प्रचानरूप से उत्पन्न होते हैं । जलादुर्बेद परिग्रहमय है । इसका

प्रमथ स्थायम्बुज अग्नि है । शरीरमें मूकधार से ममि पयत्त पृथिवीलोक है, यही वसिष्ठगुहा है ।  
हृत्प पयत्त अन्नरिक्तलोक है, यही उदरगुहा है । हृदय से बण्ड पयत्त सुप्तलोक है, यही  
चरोगुहा है, यही सूयदोक है । मरुतक बोधा पारमेष्ठ्यलोक है, यही शिरोगुहा है, यही  
स्वयम्भू भगवन् प्रतिष्ठित हैं । इसी ब्रह्मप्रजापति की रक्षा से वैशाखस्थान 'ब्रह्मरन्ध्र' नाम  
से प्रसिद्ध है । परिधन से इनके बाक् माग पर आघात होता है पानी उदग्ग होजाता है । इसी  
का नाम पसीना है । इसी को हर्मन 'अम्म' कहा है ।

सूय देवाग्निपय अतलाया गया है । इसी को शुक्राग्नि भी कहते हैं । ब्रह्मप्रकाश में चन्द्रमा  
पन्थी 'ब्रह्म' नाम से सूय शुक्रब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है । प्रेमानन्द में एव शोक में दोनों में अग्नि  
शुम्भ होता है । इस से मन विमल जाता है । यद्यपि मनो स सभी इन्द्रियों से निकलता है, पर-  
न्तु इसका प्रधान निर्निर्मल स्थान यक्षु ही है । अतएव यक्षुल किन्दुको मानस ( लोकभाषा में  
'मासप्य' नाम से प्रसिद्ध ) कहा जाता है । अतएव दोनों पानी मन के द्वारा यक्षु से ही बाहर  
निकलते हैं । मन चान्द्र है । चन्द्रमा सोम रसमय है अमूर्ति है । यदि पवित्र सौर अग्नि का  
इस पर आघात होता है तो चान्द्रमन टूट जाता है । इस टूटि में प्रेमका उद्रेक है । अतएव इसे  
'प्रम स' कहा जाता है । इस रसका प्रसन्नख कुछ पाँच भागों में विभक्त है । वे पाँचों रसना-  
कल्याण श्रद्धा—वा पश्य—स्नेह—ह्लाद—रति इन नामों से प्रसिद्ध हैं । इसका मनोस यदि गुरु-  
पिता—माता—प्रेमजाता मित्रान्—तपस्वी—आदि पूर्वों की ओर जाता है तो इस परानुयोगिक—  
अथ प्रतियोगिक प्रेम को 'श्रद्धा' कहा जाता है । यदि इसका मन पुत्र—सेवक—आदि दूष्टों  
की ओर जाता है तो यह अपरानुयोगिक परप्रतियोगिक प्रेम वात्सल्य कहलता है । इन दोनों  
में एक का आसन उष्ण है, एक का शीला है । श्रद्धा में प्रेम करने वाला अन्तरात्मा में है,  
जिन के साथ प्रेम किया जाता है, वे उष्णका में हैं । वात्सल्य में प्रेम करने वाला उष्णका  
में है, जिन के क साथ प्रेम किया जाता है, वे अन्तरात्मा में हैं । दो अविश्विनीय का पारस्पर-  
रिक प्रेम 'स्नेह' नाम से प्रसिद्ध है । यह प्रेम 'समानाधिकारिक समानानुयोगिक' है ।  
यहाँ दोनों समान हैं । श्रद्धा—वात्सल्य—स्नेह तीनों प्रयोगों में प्रेम करने वाले भी वेतन हैं, एव

यदि मनुष्य प्रेमविमोह हो जाता है तो आत्मा निकल पड़ते हैं । इन्हीं को 'प्रेमासु' कहा जाता है । प्रेमासु से आत्मा में एक प्रकार का शक्ति का उत्पन्न होता है । यह सोपानि की, कृपा है । सोपानि बुद्धि का अनुमाहक है । बुद्धि और मन साथ रहते हैं । बीजसोर आत्मनः पर्यन्त से मन पर आघात होता है । मन विपन्न पड़ता है । यही मनोवेग अशुक्ल में स्थित होकर आत्मा से बहर निकल पड़ता है । प्रेम कैसा—विश्व, पवित्र, सात्विक । मनप्रधान प्रेम जहाँ हुआ का करता है, वहाँ बुद्धिप्रधान प्रेम आनन्द का बाण है । लौकिक विरम्येय हुआ का प्रकर्षक बनता हुआ शोक में ही अन्तर्भूत है । तीमरा है पारिवर्त भूनामि, किं वा पादुनामि । यही पशुगति रुद्र है । यह अवशक्ति के अचछाता हैं भूनामि हैं । इच्छाता इनका कामनिवर्तकर्म है, अनर्थ—'सोऽरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्र-यम्' के अनुसार रौद्रनक्षत्र के अविच्छाता यह पारिवर्त भूनामि रुद्र नाम से प्रसिद्ध हैं । अचछाता में (सामानिक विरम्येय में) अचछात आनन्द रखने से मोह का उत्पन्न होता है । यह मोह विज्ञानशक्ति (सोपानि) को निर्विकल बनता हुआ मन को सज्ज बनाता हुआ सदासीय सम्पत्ति से अवशक्ति प्रकृत पारिवर्त भूनामि का अनुमाहक बनता हुआ पारिवर्तमि को लुप्त कर डालता है । इस क्षोभ से ओ रोद्र पानी उत्पन्न होता है यही शोकासु नाम से प्रसिद्ध है । यदि यह पानी शरीर में ही रह जाता है तो वैशिल (पागल पन) राजपक्ष्य अरि रोग उत्पन्न हो जाते हैं । हुआ के आत्मनिक वेग से यही रुद्र सहाय के साथ बन जाते हैं । जिसे रोग आता हो उसे बीमर के रोनेना चाहिये । रुद्र अशुक्ल करने चाहिये । इससे शरीर इच्छा हो जाता है । ओ मनुष्य इन आत्माओं को पी जाते हैं—वे अक्षय रक्षक बन जाते हैं । बीमर वैशालपानि है । मूत्रादि तत्र उत्पत्ति इसी अग्नि से होती है ।

उक्त अग्निवर्षा से पाठकों को यह चिन्तित होगया होगा कि पानी अग्नि से उत्पन्न होता है । पृथ्वी के अन्तर बर्या का आगमन प्रकृतिसिद्ध है । अग्नि में ताप है पानी में ताप नहीं, यह रंका है । मनुष्य अग्नि ही तो पानी बना है अतएव पानी को ठंडा अग्नि (ठंडी, आग) कहा जाता है । प्रकाशपर से विचार करिए । परिमम-वेम-शोक मेद से आपातसंस्था में तीन ही प्रकार के पानी प्रचलनरूप से उत्पन्न होते हैं, सहाय-वेद परिमममम्य है, इसका

है जैसा कि पूर की परात्परनिरुक्ति में अन्तर्भाषा जाचकर है । इन पाँचों बस्तों की उत्पत्ति में आत्मैच्छा ही प्रधान कारण है । 'उसे एसी इच्छा ही क्यों हुई ? यह अनतिप्रश्न है । हम योजन क्यों करते हैं ? इसका उत्तर है—हमें योजन की इच्छा होती है इसलिए । पर य— योजन की इच्छा क्यों हुई ? इस प्रश्न का उत्तर देते में हम असमर्थ हैं । अधिक से अधिक 'ईश्वरेच्छा' कहकर पीछा छुड़ा लिया जाता है । जब हम हमारी इच्छा का ही उत्तर नहीं दे सकते तो ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध में क्या कहा जासकता है । ईश्वरतत्त्व अनुमान सिद्ध है । क्रिया से (बहिर्धर्माणः से) प्राण का अनुमान होता है, क्योंकि बिना प्राण (अन्तर्धर्मापार—यत्न— कृति) के वायुप्राण नहीं होसकता । प्राणप्राणपार बिना इच्छा के समर्थ नहीं है । संपूर्ण विश्व क्रियामय है । इसका संचालन प्राण से हो रहा है । प्राण का उद्गम स्थान इच्छा है । साप ही में यह सब निर्माण हमारी इच्छा से कोई सम्बन्ध नहीं रखता । अतएव मानना पड़ता है कि सृष्टिनिर्माण में जो कुछ वैचित्र्य उत्पन्न होता है, वह सब प्रजापति की इच्छा पर निर्भर है । वह जैसा जैसा चाहता है, वैसा वैसा ही बना चाहता है । तभी तो ईशावास्यमिदं सद्यः' इस वाक्य को वषावत् चरितार्थ होने का अवसर मिलता है । पूर्वोक्त जायादि पाँचों बस्तों का आचारमूल आप उसी की इच्छा से उत्पन्न हुआ । वेद प्रजापति, किंवा वैद्यवृद्धि का पोषणी प्रजापति कर्मणा द्वारा अपने वेद के वाक् भाग से सर्व प्रथम पानी उत्पन्न करता है । पानी उत्पन्न कर 'प्रत्या विधिया सहाय प्राविशत्' (शत० ६।१।१।१) के अनुसार उत्पन्न आपो- मण्डल के गर्म में प्रविष्ट होजाता है । इससे मण्डल (महाण्ड) का उदय होजाता है—'तत आरुहं समवचत्' इस प्रकार अप्रविष्ट प्रजापति आगे की सृष्टि कर्मणा से प्रेरित होकर सृष्ट्युपयोगिनी 'मैं इन पानियों से ससार को अपने ऊपर धारण करूँ' यह कर्मणा करता है । उसी क्षण सत्यकाम सत्यसेकल्प प्रजापति की उक्त इच्छा से उस पानी में एक प्रकार का घृतिवत् (प्रतिष्ठा वत्) उत्पन्न होजाता है । यही प्रतिष्ठावत् गोपवादि घृतियों में 'पारा- वत्' नाम से व्यक्त हुआ है । वास्तव में सातों लोकों को पानीने ही धारण कर रक्खा है । लोक सबकी प्रतिष्ठा है, लोक की प्रतिष्ठा आप है । आप पुरज्वल ही तो लोकसृष्टि का अभिष्टाता है—'सर्वमप्यु प्रतिष्ठितम्' ।



ब्रह्म के साथ प्रेम किया जाता है वे भी चेतन हैं । परन्तु पुस्तक—मन्त्रादि अन्य स्थावर संपत्ति के साथ जो हमारा प्रेम है उसमें केवल 'आप' का विकास है । अङ्गवस्तु के साथ प्रेम करना ही काम है । उक्त चारों प्रेमों का यदि एक ही स्थान में समावेश हो जाता है तो—'रति' नाम के अपूर्वभाव का उदय होता है । रतिप्रेम के अधिकारी विश्व में केवल दो ही हैं । श्री और ईश्वर इन दो के साथ ही रतिप्रेम घटित होता है । श्री को हम घर की अविद्याश्री समझते हैं । गुरुदेवी को हम झन्डा की छवि से देखते हैं । साथ ही में पुत्रादिभक्त श्रीर हमारा वस्तुस्थान बन जाता है । श्री एक सन्मित्र की भाँति उचित परामर्श देने वाली अविनाशिका है । सर्वथा अङ्ग श्री के वेश्याश्रय, नासिका, मोह, कपोल वशमूषा—नृपराजनि आदि के साथ मनुष्य का जो प्रेमाकर्षण है, वह कामरूप है । यही रति है । जब तक यह रति श्री के साथ है, तब तक संसार है बन्धन है । यही रति यदि ईश्वर के साथ हो जाती है, जो कि रति भक्तप्रदाय में 'भक्त्या भक्ति' नाम से प्रसिद्ध है तो मुक्ति है । बन्धन मुक्ति का वही रहस्य है । अनादिकाल के आद्यतन से जो पानी निवृत्तता है, वही शोकाश्रु है । प्रकृतिमयब्रह्म में इसी इन्द्रप्रियम् पानी से रमण ( धर्मी ) का निर्माण होता है । आदीकाल के आसुओं से बनी है । इसी लिए—'बहिर् पि रमण न देयम्' यह आदेश है । बहिर् में यदि यन्मान रजत दक्षिणा दे देगा तो एक वर्ष के भीतर भीतर वह महाप्रणय कर आसगा । इसी लिए रजगदक्षिणा का निषेध किया गया है । इस प्रकार अनेक छवियों से पानियों की उत्पत्ति का विचार किया जा सकता है ।

यह तो हुई प्रासङ्गिक चर्चा । अब बसिए प्रकृत विषय की ओर । अग्नी केवल वेद मूर्ति सायम्भुव प्राणमय यजुर्गमि का साक्षान्प है । अग्नि अशु पन्था है । इसका प्रदेश नियत है । इस पट्ट के बाह्य भाग से जो तप्त उत्पन्न हुआ वह अशु न रहा अपितु व्यर्थ होगा । पानी की बुद आप जहाँ भी जाँचेंगे, वह निष्कट प्रदेश में न रहकर चारों ओर फैल जायगी । इसी अर्थात् किंचिद्व्याप्तिवर्त्म से यह उत्पन्न तप्त आप' नाम से व्यक्त हुआ है । वेदप्रणी के बाह्यभाग से उत्पन्न इस आप' किंचिद्व्याप्तिवर्त्म से जाया—पारा—आप—जीवन—मृत्यु वेद से पाँच प्रकार के वस्तु उत्पन्न होते हैं । इन सबकी आनासमुत्पत्ति महाभाषा नाम का वस्तु

पुरुषे इ वा अयमाद्रितो गर्भो मयति यद्वेत्तः । तदेतत् सर्वम्भो—

ज्जेभ्यस्तेजः समूतयात्मन्येवात्मानं विमर्ति” ( ऐ. भा. १।५।१। )

जायास्तेष्वपि के अन्तर ‘वैद्वान् पानियों से उत्पन्न विश्व में एवं प्रजा में अक्षरूप से प्रपन्न होमात्क’ यह इच्छा होती है । इच्छा के अन्त्यहितोत्तरकर्म में ही पानी में प्राणिबल उत्पन्न होमात्क है । पानी की वायु-वायु-सोम यह तीन अक्षरूप है । पैरवा इस अक्षरूपी का सामाजिक धर्म है । संसार के इतर पदार्थों को आप जिस निष्पन्न प्रदेश में रख देंगे, वे उस स्थान से आगे नहीं बढ़सकेंगे । परन्तु पानी-हवा-सोम में यह अक्ष नहीं है । एक किन्दुमात्र पानी भी जहाँ गिरेगा वहाँ से आगे फैल जायगा प्रजापति किस रूप से विश्व में व्याप्त हो रहे हैं? इसका उत्तर यही पानी है । अक्षरूप से प्रजापति सब पर व्याप्त हैं अक्ष से ही सब का संवरण कर रक्का है । अतएव ‘सर्वमाप्नोत तस्माद्वायः’ “वदहसोव तस्माद् वाः” ( यजु. ५।१।१।७ ) इत्यादि के अनुसार इस तत्त्व को— वायु-वायु-हवादि नामों से व्यक्त किया जाता है । अक्षरूप की ईरा ( रस ) स्थिर नहीं है, बहती हुई है, अतएव व्याप्तिकर्ता है । इतरस का प्रसरण ही व्याप्ति में प्रधान कारण है । अतएव पानी को ‘सगित्-ईरा यस्य’ के अनुसार ‘सरित्’ कहा जाता है । सरित् ही ससित नाम से प्रसिद्ध है । यद्यपि यह ठीक है कि यही पानी लोकलूप में परिवर्तित होकर हुतमात्र को जोषयेगा है, उस समय यह सरित् नहीं रहता । परन्तु लोकलुपि के पहिले तो यह सरित् ही रहता है । अक्ष की इसी पूर्वावस्था को अक्ष में रखकर—‘आपो वा इदमग्रे ससितमेवास’ ( यजु. ११।१।५।१ ) यह कहा जाता है । ‘कस्यै देवाय इविषा विषेय’ ( मनु. सं. १३।४ ) के अनुसार वेदमूर्ति अक्षरूप, अतएव अनिष्टक नाम से प्रसिद्ध प्रजापति ‘क’ नाम से व्यक्त होता है । यह क ( अनिष्टक ) प्रजापति पानी उत्पन्न कर सर्वत्र व्याप्त होता हुआ, दूसरे स्थानों में पानी के कारण सर्वप्रजापति किया निरुक्त कर्ता हुआ ‘असम्’ संपत्ति से युक्त हो जाता है । क-प्रजापति की कर्मला को ‘असम्’ बनाने वाला यही पानी है । अतएव “क ( अनिष्टकमया पति ) सत्त ( सर्वमावयुक्त ) करोति” इस म्युत्पत्ति से पानी को ‘असम्’ कहा जाता

वाक्य के उत्पन्न करने के अनन्तर— 'मैं इन पानियों से सब कुछ उत्पन्न करूँ' इस  
 इच्छा का उत्पन्न होता है। इस इच्छा से पानी में प्रजनन शक्ति आजाती है। सबभूत सप्तर  
 एक सप्तर में रहने वाले पदार्थमात्र की उत्पत्ति पानी से ही होती है। शुक्ररश्मि उत्पत्ति का  
 कारण है। शुक्र पानी का ही रूपांतर है। फेन मूल सिद्धता-शर्करा अथ हिरण्य सब पानी  
 से बने हैं। पानी ओषधि बना है, औषधि शुक्र बना है। इस प्रकार प्रजासृष्टि का मूलोपादान  
 भी पानी ही है, वैसा कि—छान्दोग्य की 'इति तु दध्वम्यामामृतमवाप पुरुषवत्सो भव  
 म्मि' इत्यादि पञ्चाग्निविद्या में स्पष्ट है। यह दूसरा एक ही विषय एक विश्वप्रजा की उत्पत्ति का  
 कारण है अतएव 'जागेने अस्यां' इस विषयन से इस वचन को 'जायावत्स' कहा जाता है।  
 विशुद्ध जायावत्स तत्काल सृष्टि करने में असमर्थ है, जब तक कि यह अग्निरूप पुरुषवत्स को  
 अपने में प्रतिष्ठित न कर ले। जायावत्स शुक्रमय अग्नि प्राणिविद्या की प्रेरणा से उस अग्निये को  
 अपने गम में प्रतिष्ठित कर लेता है। ऐसा अग्निरूप जाया पानी ही प्रजननधर्मी है। ली रूप  
 जाया है लीय है। सोममय जायावत्स ही ली का उपादान कारण है। अग्नि पुरुष है। यही  
 इस जायावत्स से वेदित गम्यमान शोचिन है, ली का (मर्मस्थान) शोचित साक्षात् अग्निरूप है।  
 यह जायावत्स से निवृत्त वक्षित है। अतः पुरुष के शुक्र को सोमिये। शुक्र सोमरूप जाया है।  
 शुक्र में रहने वाली गर्मी पुरुष है। जीवत् पुरुष भी जाया है। औषधपानिक अतस्तु सर्वप्रथम  
 पुरुषशरीरस्य शुक्रमवच्छिन्न इती जाया में गम्यवारण करता है। यही प्राणी का प्रथमगन्तव्य-  
 स्थान है। पुरुष के समस्त शरीर का शुक्र पुरुषत्वकार को अपना आश्रय बनाकर ही शोचित  
 में आश्रित होता है। शरीर के जिस प्रदेश का शुक्र आश्रित नहीं होता उत्पन्न प्रजा में उसी  
 अङ्ग की कमी रह जाती है। शुक्र द्वा। अन्ता के गम्यारण में प्राणी का प्रतिष्ठित होता इस का  
 दूसरा जन्म है। १० मास के अनन्तर पृथिव्यावरण के प्रत्येकाल से गम का मूलस्थ हो जाना  
 इस का तीसरा जन्म है। शीतलकण्ड सराओं से निर्मूलताया बन जाया होया जन्म है।  
 चतुर्थ का इन्द्र सद्यः के अनुसार इस चतुर्थ जन्म में प्राणी सर्वत्र भाग को प्राप्त होता है।  
 गती रहस्य को सद्यः में रहकर मूर्ध्नि महीदास पड़ते हैं —

पांचकं श्रुतवचनं है। इसी श्रुतवचन को 'परिश्रित' भी कहा जाता है। आपो वै परिश्रितः' (शत २।४।१।२ के अनुसार प्रत्येक पिण्ड इस श्रुतवचन से व्याकृत रहते हैं। श्रुत के उदर में मूर्ति प्रतिष्ठित रहती है। प्रत्येक पिण्ड को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रखना श्रुतवचन का मुख्य कर्म है। कष्टपिण्ड सत्य है। वह श्रुत से घिरा रहता है। स्वयं पिण्ड के भी प्रत्येक परमाणु श्रुतरूप हैं। इस प्रकार अन्तर्लोकस्थ श्रुत पर ही सब का पर्यवसान हो जाता है। 'श्रुत नात्यनि किञ्चन' यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है।

इस प्रकार प्रजापति की इच्छा से वाक्यमय स्वायम्भुव पानी में जाया-धारा आप भीवन श्रुत यह पांच वचन उत्पन्न हो जाते हैं। इन पांचों वचनों से ही पाक्यप्रजापति का पाक्य यज्ञ स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। गोपयन्नाह्मण के आरम्भ में ही इन वचनों का विवेचन हुआ है।

- |   |                          |
|---|--------------------------|
| १—"अग्निर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च" → → → इति 'धारा' | } सर्वमप्यु प्रतिष्ठितम् |
| २—"अग्निर्वा इदं सर्वं जाययिष्यामि यदिदं किञ्च" → → → इति 'जाया'    |                          |
| ३—"अग्निर्वा इदं सर्वं आपस्यामि यदिदं किञ्च" → → → इति 'आप'         |                          |
| ४—"ऊर्क-वा अपां रस । ऊर्कं जीवन्म्" → → → इति 'जीवनम्'              |                          |
| ५—"श्रुतं भूमिरियं किञ्च" --- --- --- → → → इति 'श्रुतवचनम्'        |                          |

- |   |  |
|---|--|
| १—"सर्वमप्यु प्रतिष्ठितम्"—इति—धारावचनम्  | } "आपो वै सर्वे देवा । आप्यमानो वै जायते एताभ्यो देवताभ्यः" इति निगमो मयति । |
| २—"सर्वमप्यु प्रजापते"—इति—जायावचनम्      |  |
| ३—"सर्वमापोमय जगत्"—इति—आपोवचनम्          |  |
| ४—"आपोमय प्राण"—इति—जीवनवचनम्             |  |
| ५—"श्रुतं नात्येति किञ्चन"—इति—श्रुतवचनम् |  |

सबसे पहिले क्या था ? उत्तर है वेदमय माण्डूक्य अक्षर नाम म असिद्ध सप्तपुरुष पुरुषात्मकस्वयम्भू सत्य प्रजापति'। 'एकाकी न रमते तद्वितीयेत्यहम् पतिवचनं पत्नीव'

है। उपर कमल नाम का एक पुष्प भी है। कमलसत्र ॥ पुष्करपर्ण है, जैसा कि त्रयीवेद निरुक्ति में बताया जा चुका है। यह भी आपोमय है। यही बन्धन अनिरुद्ध प्रजापति की पहिली प्रतिष्ठा है। अग्रे इसे या 'कं—ग्राम करोति' से कमल कहना अन्वय बन जाता है। सोरुसृष्टि का अधिष्ठाता पानी ही है। सोरु-तु भुवने जने के अनुसार सोरु का ही नाम मुक्त है। पानी ही सोरु है, अतएव पानी को मुद्रन नाम से भी व्यञ्जन किया जाता है। बतलाना यही है कि पानी में आसिद्धसृष्टि तीसरा 'आपोबन्ध' उत्पन्न होता है।

आपोबन्ध के अनन्तर—'मृदु पानियों से जीवन का संचार कर—रदायों में जीवनीय गति डालू' इस इच्छा से पानी में बीया जीवनबन्ध उत्पन्न होता है। वस्तु की स्वरूप में जो स्थिति है यही उस वस्तु का जीवन है। स्थितिबिभृति का नाम ही मृत्यु है। छरी हुई वस्तु में जो गतिप्रवाह है वही जीवन का सूचक है। प्रतिष्ठकल के उच्छिन्न हो जाने से जिस समय गतिबन्ध उत्पन्न हो जाता है, उसी क्षण मृत्यु का साम्राज्य होता है। इस मृत्युमान को रोकने का यही आप्यप्राकरूप वायु है। यह कल्प्याणकर है, आपोमय प्राण ही कल्प्याण (जीवन) का अधिष्ठाता कमल हुआ आपोमय होने से 'साम्प्रसदागिब' नाम से प्रसिद्ध है। यही शिव जीवनसत्ता की प्रतिष्ठा है। यही जीवनीय रस है। इसी के शिव 'पाव गिवनमो रमन्तस्य माजयते इ म' (यजु सं ११।३१) यह कहा जाता है। हम प्राण को जीवनसत्ता का वाहक समझते हैं। परन्तु वास्तव में अन्तर का जीवनीयरस ही जीवन का हृत् है। जब तक प्राण में वह रस रहता है, तभी तक जीवन है। यद्यप्य १५ दिन तक अन्न के बिना जीवन रह सकता है, परन्तु पानी के बिना जीवन भारण करना अशक्य है। नर व पशुमाने में वायु नहीं होती प्राण निकलने से मृत्यु होती है। इस प्राण का रस यही आप्यरस है। 'मायाप्राण पवनमिन्द्र पुरे जाग्रति' (प्र उ ४।१) के अनुसार यह अन्ध्रमिन्द्र प्राणाग्नि सत्ता जाग्रत रहता है। इस प्रकार प्राण में जीवनीय शक्ति शक्तने कहा आपोबन्ध ही 'जीवनबन्ध' नाम से प्रसिद्ध है।

उत्पन्न होते जाते हैं, त्यों त्यों प्रजापति की—‘एकोऽहं बहुस्याम्’ यह कामना पूरी होती जाती है। यही इसका मूनाभाव है, मूनाही भ्रान्त है। प्रसङ्गद्वय विग्रहमूना प्रजापति के भ्रान्त के साक्षात् दर्शन हैं। इसी सारे रहस्य को सत्य में रखकर सामग्र्युक्ति कहती है—

“अथ ह वा इदमत्र आसीत्, सत्यं तु—एकमेव । तदेकत—महद्वै यत्—तदेकमेवपरि, इत्याह मदेव मन्मात्रं द्वितीयं देव निर्मित—इति । तदस्य आत्मत्वं, अस्मत्पत्वं, समत्पत्वं । तस्य आन्तस्य तत्पत्वं सत्पत्वं तत्पत्वं तत्पत्वं तेनेहो यन्नाप्रमनायत—तेनामन्दत्वं । तद्वर्णीत्—महद्वै यत् सुवेदमविद्यामह इति । तद्वर्णीत्—महद्वै यत् सुवेदमविद्यामह इति, तस्मात् सुवेदोऽभवत् । त वा एव सुवेदं सत्त्वं स्वेदं इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देशा भवन्ति प्रसङ्गद्विधाः । + + + + + । स मूयोऽसाम्यत्, मूयोऽतम्यत्, मूय आत्मानं समत्पत्वं । तस्य आन्तस्य तत्पत्वं सत्पत्वं सत्पत्वं सर्वेभ्यो रोमातेभ्य वृषक् स्वेदधारा प्रास्त्यन्वत् । तामिरन्वत् । तद्वर्णीत्—आमिर्वा अहमिदं सर्वं पारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आमिर्वा अहमिदं सर्वं मनयिष्यामि यदिदं किञ्च आमिर्वा अहमिदं सर्वं—प्राप्यामि यदिदं किञ्च, इति । तद्वर्णीत्—आमिर्वा० तस्मात् धारा अमवस्त आचक्षते धारात्, यन्मासु विद्यते । तद्वर्णीत्—आमिर्वा० तस्मात् धारा अमवस्त आचक्षते धारात्, यन्मासु विद्यते, यत् पुत्र पुत्राभ्यन्तरकमेकतत्तार तस्मात् अस्ति पुत्रतत् पुत्रस्य पुत्र-त्वम् । तद्वर्णीत् आमिर्वा० तस्मात् आपो अमवस्तदपामन्त्वम् । आनोति ह वै सूर्यन् कामान् पान् क्षमते” इति । ( गोपब्राह्मण पूर्वभाग १ प्र० । १-२-आ० )

## इति-अथर्ववेदानिरुक्तिः

मन्त्रार्थसम्बन्धी-वेदप्रकरण समाप्त ।



के अनुसार सृष्टिक्रमता से उसने तप और भ्रम किया । इससे उसके प्राण में जोम उत्पन्न हुआ । जोम से दूसरे निष्पा नाम के बच्चे की सहायता से दूसरीबन्ध उत्पन्न होगई । उस दूसरी बन्ध का क्या नाम है ? उत्तर है 'सुवेद' । यदि कोई मनुष्य परिभ्रम करता है तो सर्व प्रथम उसके बच्चाट पर स्वेद [पसीमें] उत्पन्न होते हैं । अन्तर्गमिक परिभ्रम से सारे रोमनों से पसीमें बूने लगते हैं, जैसा कि पूर्व में कथनाया जाचुका है । इसी अभिप्राय से सृष्टि कहती है—

‘स मूयोऽभ्राम्बत्—मूयोऽतप्यत् । मूय आत्मानं संतप्यन्—

सर्वेभ्यो रामगर्भेभ्यः पूवक् स्वेदधाराः मान्यन्दत्”—( गे० भा० पू० १।१ ) ।

सम्पूर्णजापति से उत्पन्न इसी सुवेद का नाम 'अथर्ववेद' है । अर्थात्तः ही अथर्व है । प्रथिवेद अग्निमय होने से उत्पन्न है । यह अप्वेद किंवा सोमवेद शान्त है । अग्निवेद ही अग्नि-रूप से पानी बनकर शान्त बन जाता है । यही इसका सुष्ठुमान है अतएव इसे 'सुवेद' (शान्तवेद) नाम से व्यवहृत करना अवश्य बन जाता है । इसी सुवेद को परोक्षद्विप देखा अपनी स्वामान्त्रिक परोक्षभाषा में 'स्वेदवेद' नाम से व्यवहृत करते हैं । स्वेद को पसीना कहा जाता है । यदि आप सीधी भाषा में अथर्ववेद का स्वरूप पूछना चाहत हैं तो इसका उत्तर है—आपके बच्चाट पर आए हुए पसीमें । अन्तर्गमजापति के स्वेद ही का नाम 'अथर्ववेद' है । त्रयीव्रत प्रथमत्र या यह दूसरा है । त्रयीव्रत अग्निमूर्ति है, यह आपोमूर्ति किंवा सोममूर्ति है । त्रयीव्रत बुधा है, यह योधा है । यह प्राण है, यह रपि है । यह है विरचनिमग्न—इप्पती । इसके मिथुन भ्रम से सर्वप्रथम विराट् पुरुष उत्पन्न होगा, मिथुन से आगे की सृष्टि होगई । अन्तरूप योधात्मक, वेदत्रयीरूप बुधात्मक दोनों ही सृष्टि के प्रथम हैं एवं प्रथम को 'ब्रह्म' कहा जाता है । ऐसी अवस्था में हम उक्त दोनों तर्कोंको 'ब्रह्म' कह सकते हैं । एक वेदब्रह्म है एक सुवदब्रह्म है । त्रयीवेद ब्रह्म नाम का ब्रह्म है, अथर्ववेद सुवद नाम से प्रसिद्ध है । जैसा कि—‘ब्रह्म च वा इदमग्रे सुवद्वद्वा ब्रह्माय’ (चर्म्मिराजा १।१।१) इत्यादि से स्पष्ट है । यह है जोमे अथर्ववेद का संक्षिप्त सिद्धार्थ । सुवद्वद्वा में आगे जाकर पूर्वोक्त जाया बाण्डि का उत्पन्न होते हैं । यही वह अग्निमूर्ति एवं मैथुनीसृष्टि के अनुसार है । ज्यों ज्यों नदीन नदीन पदार्थ

उत्पन्न होते जाते हैं, त्यों त्यों प्रजापति की—‘यकोऽहं बहुस्याम्’ यह कामना पूरी होती जाती है। यही इसका भूमाभाव है, भूमाही आनन्द है। प्रत्यक्ष विद्यमान प्रजापति के आनन्द के साक्षात् दर्शन हैं। इसी सारे रहस्य को सद्यमें रखकर सामधुति कहती है—

‘अहं ह वा इदमग्र आसीत्, सत्यं तु—एकमेव । तदेकत्—महद् यच्च—तदेकमेवाग्रिम, हन्ताहं मदेव मग्नाग्र द्वितीयं देव निर्मम—इति । तदम्यग्राम्यत्, अम्यत्तपत्, सम्यत्तपत् । तस्य आन्तस्य तत्तस्य सत्तत्तस्य सत्ताटे स्नेहो यदादर्भमवापत्—तेनानन्दत् । तदग्रवीत्—महद् यच्च सुवेदमविदामह इति । तद्यदग्रवीत्—महद् यच्च सुवेदमविदामह इति, तस्मात् सुवेदोऽमवत् । ॥ वा एत सुवेद सन्त स्वेद इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षप्रिया । + + + + + । स भूयोऽग्राम्यत्, भूयोऽत्पत् भूय आत्मान सम्यत्तपत् । तस्य आन्तस्य तत्तस्य सत्तत्तस्य सर्वेभ्यो रोमर्तेभ्य पूषक् स्वेदधारा’ प्रास्फुटत् । तामिरनन्दत् । तदग्रवीत्—आभिषा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिषा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च आभिषा अहमिदं सर्वं—आप्स्यामि यदिदं किञ्च, इति । तद्यदग्रवीदामिष्य० तस्मात् धारा अमवस्त क्षाण्णां धारात्, यन्मासु विप्ले । तद्यदग्रवीत्—आभिष्य० तस्मात्तथा अमवस्तजापनां जापत्, यन्मासु पुरुषो जापते, यच्च पुत्र पुत्राभिरकमेकशतस्यार तस्यात् श्रुति पुत्रतत् पुत्रस्य पुत्रत्वम् । तद्यदग्रवीत् आभिष्य० तस्मादापो अमवस्तदगमवत् । आजोति ह वै सर्थन् अमवत् यान् कर्मपते” इति । ( गोपब्राह्मण पूर्वभाग १ प्र० । १-२-ग० )

## इति-अथर्ववेदनिरुक्तिः

मन्त्रार्थसम्बन्धी-वेदप्रकरणा समाप्त ।





के अनुसार सुष्टिकामना से उसमें तप और भ्रम किया । इससे उसके प्राण में झोम उत्पन्न हुआ । झोम से दूसरे विष्णु नाम के बच्चे की सहायता से दूसरीवस्तु उत्पन्न होगई । उस दूसरी वस्तु का क्या नाम है ? उत्तर है 'सुवेद' । यदि कोई मनुष्य परिभ्रम करता है तो सर्व प्रथम उसके कंधाट पर स्वेद [पसीने] उत्पन्न होते हैं । अल्पविक परिभ्रम से सारे रोमनों से पसीने बूने लगते हैं, जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है । इसी अभिप्राय से कृति कहती है—

‘स भूपोऽभ्राम्यद्-भूयोऽवप्यत । भूय आत्मानं सतप्तम्य-  
सर्वेभ्यो रामगर्भेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्राप्यन्त’—( गी० अ० पू० १।१ ) ।

सकम्पप्रजापति से उत्पन्न इसी सुवेद का नाम ‘अथर्ववेद’ है । अर्थात् ॥ अथर्व ॥ अथर्व है । अथर्ववेद अग्निमय होने से उग्र है । यह अर्धवेद किंवा-सोमवेद शान्त है । अग्निवेद ही आग्नि-रूप से पनीय बनकर शान्त बन जाता है । यही इसका सुष्ठुमात्र है अर्थात् इसे ‘सुवेद’ (शान्तवेद) नाम से व्यवहृत करना अवश्य बन जाता है । इसी सुवेद को परोक्षमय देखकर अपनी स्वामाग्निक परोक्षमात्रा में ‘स्विदेवेद’ नाम से व्यवहृत करते हैं । स्वेद को पसीना कहा जाता है । यदि आप सीधी भाया में अथर्ववेद का स्वरूप पूछना चाहत हैं तो इसका उत्तर है—आपके कंधाट पर आए हुए पसीने । ऋषप्रजापति के स्वेद ही का नाम ‘अथर्ववेद’ है । अथर्वमय प्रथमक वा यह दूसरा है । अथर्वमय अग्निमूर्ति है, यह आपोमूर्ति किंवा सोममूर्ति है । अथर्वमय दया है, यह क्रोध है । यह प्राण है, यह रश्मि है । यह है निरवशिमय-दम्पती । इसके नियुक्त मात्र से सर्वप्रथम विरान्द्र पुरुष उत्पन्न होगा किन्तु से आगे की सुष्टि होगी । अन्तरूप खोपस्थान वेदत्रयीरूप हुआतत्त्व होमों की सुष्टि के प्रथम हैं एवं प्रथम को ‘ब्रह्म’ कहा जाता है । ऐसी अवस्था में हम उक्त दोनों तत्वोंको ‘ब्रह्म’ कह सकते हैं । एक वेदब्रह्म है एक सुवेदब्रह्म है । अथर्ववेद ब्रह्म नाम का ब्रह्म है, अथर्ववेद सुब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है । जैसा कि—‘ब्रह्म च वा इदमग्रे सुब्रह्म नाम्नाय’ (तृतीयका १।१।१) इत्यादि से स्पष्ट है । यह है चौथे अथर्ववेद का संक्षिप्त विवरण । सुब्रह्म में आगे आकर पूर्णतः आया पाठवि कह उत्पन्न होते हैं । यही वह यज्ञिकी एवं वैयुकीसृष्टि को अनुग्राहक हैं । ज्यों ज्यों नदीन नदीन पदार्थ

की प्रधानता है। पञ्चीकृत प्राण में मी चारस्वरूपसमर्पक अन्नाद् भाग ( पार्थिव भाग ) है, परन्तु व्यत्ययमात्रा में। इसी प्राजापाय पानी से गग्नेय पानी की स्वरूप निष्पत्ति हुई है, अतः पार्थिव पानियों की अपेक्षा गग्नेय पानी अस्तिमधुर है यह साधारण सोम है, अमृत है, बीजनीय रस है, दोष ( कीटाणु ) नाशक है। इसी शान्त मधुर अमृत रसभाग से शुगुतत्त्व का विकास होता है। मर्जनशील तत्त्व ही शुगु है। इस शुगु की धन-तरल-विरल भेद से तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। बनावस्था आप नाम से, तरलावस्था वायु नाम से, एवं विरलावस्था सोम नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे शब्दों में बनावस्थापन शुगु आप, तरलावस्थापन मधु वायु, विरलावस्थापन शुगु सोम नाम से व्यक्कृत होता है। आप तत्त्व का मधुररस ही सृष्टि का उपादान बनता है। अतएव इसे 'रित' [ उपादानद्रव्य-शुक्र ] कहा जाता है। कभी रेत वेदामि से सतत बन कर शुगु रूप में परिणत होता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

‘ता अपाः स्रष्टाऽर्न्वत्त, तामु स्वा छायापरयत् । तमस्येक्षमाणस्य स्वयं रेतोऽस्मन्वत् । तदप्सु प्रवतिष्ठत् । तास्तैर्बाभ्यश्चाभ्यत्, अभ्यतपत्, सम तपत् । ताः श्रान्तास्तप्ताः संतप्ताः सार्द्धमेव रेतसा द्वैधमभवत् । तासां मन्या अन्यतरा अतिस्रवणा अपेया अन्वाद्ध्य । ता अशान्ता रेत समुद्रं हृत्वाऽनिष्ठन् । अयेतराः पेयाः स्वाद्ध्यः शान्तास्तैर्बाभ्यश्चाभ्यत्, अभ्य तपत्, समतपत् । ताम्यः श्रान्ताभ्यस्तप्ताभ्यः संतप्ताभ्यो यदेत आसीत्, तदभ्यवत् । तदभ्यवत् तस्माद् शुगुः समभवत्, तदभ्यगोर्भुगुत्वम् । शुगुरिषं च सर्वेषु लोकेषु भाति य एष वेद’—( गो० पू० १।३- ) इति ।  
‘वापुरापरचन्द्रया इमेते भृगवः’ [गो० पू० २।८] ।

उक्त शुगुतत्त्व में पारमेष्ठ्य आप्य प्राण [वरुण] की प्रधानता रहती है। आपोमय रेत ॥ शुगु-रूप में परिणत होता है, अतएव ‘त वरुणो म्यशुक्लीव, तस्माद् स भृगुवारुणि’ ( दे० भा० १।१४) इत्यादि के अनुसार इसे वारुणि ( वरुणपुत्र ) नामा जाता है। सप्तोमशक्ति से यही अर्चि [प्रकाश] रूप में परिणत होता है। दीपशिक्षा अभिज्ञा है, दीपप्रभा शुगु [जलत इत्या

## मन्त्रार्थ प्रकरणा



दिक्रमुक्त ब्रह्म के-इच्छा तप-भ्रम से सुखसत्त्व में सर्वप्रथम जाया भारा, भाप, जीवन, प्रभु, यह पाँच बल उत्पन्न होते हैं, वैसा कि पूर्वप्रकरण में बताया जा चुका है। प्रपीकन प्रजापति का पहिला कर्ष्य सुख या, पञ्चभूतेषु इन्द्र काय है। इच्छा-तप-भ्रम का विग्रह नहीं है। तीनों व्यापार निरन्तर होते रहते हैं। फलतः नए नए पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं। इच्छातपस्त्रि सृष्टि-अनुक्तों से

आगे आकर मृगुत्त्व उत्पन्न होता है। उत्पन्न होने वाले आपोमय ब्रह्म में चार और मधुर यह दो रस उत्पन्न होते हैं। मधुररस आप का स्वरूपधर्म है एवं चाररस (लवणरस) अम्लित धर्म है। पानी में दोनों कैसे हैं? इस प्रश्नसमाधि के लिए पसीने पर छिड़ जायिए। पसीना सुघेद कि या सुस्म है। पसीने में ठण्ड दोनों रस हैं, परन्तु हमारे पसीने में लवण रस की प्रधानता है। कारण हमारा शरीर पार्थिवमात्र प्रधान है एवं पृथिवी के मूल उपादानों में 'द्रुत' नाम से प्रसिद्ध चारभाग की प्रधानता है। अतएव पार्थिव समुद्र चारप्रधान ही होता है। मधुररस अम्लरस मात्र है, अतएव प्रायः हमारा पसीना किसी वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि अम्लधिक मात्रा से पसीना चूने लगता है तो उस में मधुररस अधिकमात्रा से संघटित होजाता है। वह किसी वृषास्नान में गिर कर सुखि का करण बन जाता है। योयारूप हमारे पसीनों के साथ जब मधुररस वृषाभि का सम्बन्ध होता है तो इस योया वृषा के विधुनमात्र में पसीनों में स्वस्वकीयता उत्पन्न होजाते हैं, जिनका कि दूरीकरण मन्त्र व्यवसाय माण्डोसकोप (English) से प्रसङ्ग किया जासकता है। राजाक्षर पवनपुत्र के इन्ही सन्धि पसीनों से (मत्स्यर्ग में) सुप्रसिद्ध मकरध्वज का जन्म हुआ था। इस प्रकार जीवप्रजापति के स्वर में दोनों रस उपलब्ध होते हैं। अतएव तत्त्वप्रमाण ईश्वरप्रजापति में भी दोनों की सत्ता माननी पड़ती है। अन्तर केवल इतना है कि वहाँ (ईश्वर में) मधुररस की प्रधानता है, चाररस अम्लरसमात्रा में है। कारण स्पष्ट है। हमारे में पञ्चीकृत अमात्र (पृथिवी) की प्रधानता थी, उस में पञ्चीकृत मात्रा

वायु प्राण्य-अपान-भ्यान-समान-उदान भेद से पञ्चधा विभक्त होकर रक्तदि संचार का कारण बनता है वही चौथा प्राणवायु है। साधारण मनुष्य जिसे वायु कहते हैं, जिसका त्वनिमिश्रण से हम प्रत्यक्ष करते हैं, जिसके आघात का अनुभव होता है, जिससे मेघ-जल-वृष्टादि विधूयमान होते हैं वह वायु उक्त चारों मार्ग वायुओं से सर्वाया पूष्णक तत्त्व है। इस सर्वानुभूत वायु को 'वात'(वात आनाम मेपजम्) नाम से व्यवहृत किया जाता है। मार्गवायुचतुष्टयी प्राणरूपा है, यह वातवायु मौलिक है। मार्गवायु के साथ साथ ही एक अतिरिक्त वायु का विकास भी होता है। अतिरिक्त से उक्त वायु का विकास होता है। उक्त से ४६ प्रकार के मरुवायु का विकास होता है—[मरुतो रुद्रपुत्रास], मरुवायु का विकार मारुवा है, यही वातवायु है। इसी को 'समीरण' कहा जाता है। इसी का हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं। वात वायु से सबधा विभक्त मौलिक मार्ग वायुओं में से प्राणवायु प्रजापति के पूर्वभाग में (पूर्वादिक् में) उक्त्यरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यहाँ प्राणवायु का ज्ञानाणा है। यहाँ से निकल कर प्राणवायु सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होता है। अतएव पूर्वदिक्स्थ सूर्य के लिए 'प्राणः प्रजानामुदयस्येय सूर्यः' [प्र० उ० १।८।] यह कहा जाता है। वातरिक्ता वायु दक्षिणदिशा में उक्त्यरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यहाँ से निकलकर यह सर्वत्र व्याप्त हुआ पिबडभूति का स्वरूप संचार बनता है। पश्चिमदिशा में पक्मान वायु उक्त्यरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इसी पक्मान के लिए—'पक्मानो हरित आभिषेध' (उत० २।२।५।५।) यह कहा जाता है। एवं चौथा सक्तिय उक्तदिशा में उक्त्यरूप से प्रतिष्ठित रहता है।

उक्त चारों वायुओं में से पक्मान नाम का वायु सौर ब्रह्माण्ड में आकर रुद्रसर्प से पक्मान-पावक शुचि यह तीन रूप धारण कर लेता है। बोरमूर्ति रुद्र के सम्बन्ध से यह तीनों वायु बोररूप में परिणत होते हुए बोरमि नाम से प्रसिद्ध होजाते हैं। एकदशमूर्ति पशुपति (यथादेव) की सोम आदि अष्ट मूर्तिर शिब हैं प्रक्मानादि तीनों रुद्रमूर्ति हैं बोरतन्त्र है। पक्मान भूषिण्ड से सक्रान्त रहता है, पावक अमरिष में व्याप्त रहता है, एवं शुक्र नाम से प्रति र सूर्यनयस्वरूप पुषोक्त्य शुचि है। प्राणवायु हमें पूर्व से मिलता है, वातरिक्ता दक्षिण से,

सोम] है, इसी आधार पर अग्निपिष्टयुग्म, सवभूष, अङ्गारेवर्णन सवभूष' ( --- )  
 इत्यादि कहा जाता है। सोमशक्ति से ही यह पदार्थों का सञ्चयन[संचयन-एकीकरण]करता हुआ  
 मन्त्रिण्य बनता है अतएव 'विष्णु-गन्धर्व' इस निर्बचन से इसे भूयुग्म' कहा जाता है ।  
 यद्यपि ही परेष्ठमाया में युग्म नामसे प्रसिद्ध है । संक्षेप इसका ज्ञानाधिकार्य है । तरुण  
 वायुपक्ष युग्म को हमने वायु कहा था है । इस वायु की [मार्गवायु की] माण-पञ्चमान-  
 मानरिणा सविना यह चार अवस्थाएँ हैं । चारों के मित मित कर्म हैं । आसप्रकाशरूप  
 प्राणवायु 'पञ्चमान' है । यह पञ्चमानवायु (Oxygen) और अम्म नाम का प्रथम आर  
 (Hydrogen) दोनों संसृष्ट होकर धूल पानी के उपादान बनते हैं, दूसरे शब्दों में पञ्चमान  
 और अम्मके रासायनिक संयोगसे पीनेवा पानी उत्पन्न होता है । यही पानी त्रिपदाय-मृत्त  
 होने से 'मर' [मरु-मी] नाम से प्रसिद्ध है । दूसरा है मानरिणा वायु । संज्ञेयमाया के  
 अनुसार माता पिता का नाम है पिता महिमायुद्ध का नाम है । पिता को पृथिवीशब्द से,  
 महिमा को पु शब्द से व्यञ्जित किया जाता है । सभी पिण्ड पृथिवी हैं सभी महिमाएँ यही हैं ।  
 सुप्रसिद्ध पृथिवी की तरह सूर्य-परमेष्ठी-सर्वभू आदि सभी मित पृथिवी हैं । जिस पर आप  
 प्रतिष्ठित हैं उसी का नाम पृथिवी नहीं है अपितु वेदिक नाम पृथिवी है आचारभूमि का नाम  
 पृथिवी है । वेदमूर्ति प्रजापति की प्रतिष्ठा का नाम पृथिवी है । इस परिभाषा के अनुसार  
 स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी-यह पाँचों मित पृथिवी हैं, पाँचों ही पृथिवी होने  
 से 'माता' है इस माता के चारों ओर व्याप्त रहने वाला माणव वायु ही 'मानरिणा' है,  
 जैसा कि हमने जाकर रहने होना । सभी केवल यही समग्र होना पचाप होना कि पिण्ड  
 के चारों ओर व्याप्त रहने वाला पिण्डरूपसमर्पक एवं रक्त माणव वायु ही 'मानरिणा'  
 है । जो माणव वायु सांसारिक फलों को कायका'खमाण के लिए प्रेरित करता है, वह प्रेर  
 पिता वायु ही तीसरा 'सविनावायु' है । बिना सविना वायु की प्रेरणा के कोई भी प्राण कोई  
 भी वात गच्छुम्भु नहीं बन सकती । इसी आधार पर-'सविना वै देवानां मसविना' यह  
 कहा जाता है । एवं जिस वायु से बिच के पदार्थ गतिशील बने हुए हैं, अत्यन्तमस्तथा में जो

वायु प्राण-अपान-व्यान-समान-उदान मेद से पञ्चवा विभक्त होकर गन्धादि संचार का कारण बनता है वही चौथा प्राणवायु है। साधारण मनुष्य जिसे वायु कहते हैं, जिसका त्वग्निमिश्रण से हम प्रसन्न करते हैं, जिसके व्यापार का अनुभव होता है, जिससे मेघ-जल-वृष्टादि विभूयमान होते हैं वह वायु उक्त चारों मार्गण वायुओं से सर्वथा भूयक् तत्त्व है। इस सर्वानुभूत वायु को 'वात'(वात आवात मेघमय) नाम से व्यवहृत किया जाता है। मार्गणवायुचतुष्टयी प्राणरूपा है, यह वातवायु मौखिक है। भगवत्वायु के साथ साथ ही एक अग्निवायु का विकास और होता है। अग्नि से रुद्र वायु का विकास होता है। रुद्र से ३२ प्रकार के मरुद्वायु का विकास होता है-[मरुतो रुद्रपुत्रास], मरुद् वायु का विकास मरुत् है वही वातवायु है। इसी को 'समीरण' कहा जाता है। इसी का हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं। वात वायु से सर्वथा विभक्त मौखिक मार्गण वायुओं में से प्राणवायु प्रजापति के पूर्वभाग में (पूर्वदिक् में) उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यहाँ प्राणवायु का ग्रहणाना है। यहाँ से निकल कर प्राणवायु सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होता है। अतएव पूर्वदिक्स्थ सूर्य के लिए 'माख' ममानामुदयत्येव सूर्य' [प्र० उ० १।८।] यह कहा जाता है। वातरिचा वायु दक्षिणदिशा में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यहाँ से निकलकर यह सक्त्र व्याप्त हुआ विबहसृष्टि का स्वरूप संपादक बनता है। पश्चिमदिशा में पवमान वायु उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इसी पवमान के लिए— पवमानो हरित आयिजेरा' (रत० २।२।५।५।) यह कहा जाता है। एवं चौथा सक्त्र उत्तरदिशा में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है।

उक्त चारों वायुओं में से पवमान नामका वायु सीर ब्रह्माण्ड में आकर रुद्रसर्गसे पवमान-पाषाण-शुचि यह तीन रूप धारण कर लेता है। धोरमूर्ति रुद्र के सम्बन्ध से यह तीनों वायु धोररूप में परिणत होते हुए धोरमि मायसे प्रसिद्ध होजाते हैं। एकमदरामूर्ति पशुपति (महादेव) की सोम आदि आठ मूर्तिपर शिष हैं। पवमानादि तीनों रुद्रमूर्ति हैं, धोरतन्त्र है। पवमान भूषिण्ड से सक्रान्त रहता है। पाषाण अन्तरिक्ष में व्याप्त रहता है, एवं शुक्ल नामसे प्रसिद्ध सूर्यमण्डसरूप पुष्कोत्थ शुचि है। प्राणवायु हमें पूर्व से मिलता है वातरिचा दक्षिण से,

पश्चिम से, एव समिता उत्तर में मिलता है। चारों वायु मार्ग हैं चारों का उत्पत्ति स्थान [ सूर्य से ऊपर ] आपोमय परमेष्ठिमण्डल है। वहां से सौम्यपञ्च में आकर उक्त विराओं में क्रमशः उदय रूप से प्रतिष्ठित होकर उक्त वायु रोहती त्रैलोक्य के स्वरूपसंगदक बनते हैं।

प्राण-व्यवसादित्वाचें वायु सोम व्यप तीनों युग हैं। इस युग से आगे आकर अन्धा प्राण का विकास होता है। पानी का जो माग युगरूप में परिणत होने से शेष रह जाता है वही 'अप-अर्वाक्-परिशिष्यते' के अनुसार अवर्षा कहलाता है। यही परिशिष्ट अपव-माग आगे आकर अग्नि रूप में परिणत होता है। तात्पर्य यह है कि पानी में हमने मधुर क्षार क्षार में से दो रस कटाए हैं। इन में मधुररस युगरूप में परिणत होता है शेष क्षारमाग अवर्षा कहलाता है। आप पानी को जमीन पर हाथ दीखिये उसका सोमप्रधान मधुर रस तो सूर्यप्रसिद्ध मधुप्रिय (सोमप्रिय) इन्द्रप्राण द्वारा आकर्षित होकर पुच्छोक में बसा आया इसी को पानी का सूखना कहते हैं। पानी के वाष्परूप में परिणत होकर उदयानों से जमीन पर एक सुकेर सा अम्बा रह जाता है यह साक्षात् क्षार है। मृत् में क्षार विरूप मात्रा में रहता है, अनएव-इसमें क्षारमाग अधिक मात्रा में शेष रहता है। मधुररस मधुर रूप पुच्छोक के सजातीय आकषण से पुच्छोक में बसा जाता है क्षारमाग क्षारप्रधान पृथिवी के आकर्षण से वहीं रह जाता है। इसी परिशिष्ट क्षार का नाम 'अवर्षा' है यही अवर्षा अग्नि का जनक है। दूसरे स्थलों में वरुण पानी का मधुप्रमाण युग का जनक है, क्षारमाग अवर्षा की प्रतिष्ठा है। मधुररस एव क्षाररस युग-बीर अपव नहीं है अपितु इन रसोंमें रहने-धका प्राण युग बीर अवर्षा है। प्रायः प्राणी के स्वेद में दोनों रस हैं। इन में मधुररस-वर्षिण्य मागव प्राण तो पुच्छोक में जाता रहता है एवं क्षारसावर्षिण्य अपवप्राण यही इसी के साथ रहजाता है। मनुष्य के बालों में रहने के मकान में जहाँ जहाँ यह मनुष्य जाता है उन उन स्थानों में अवर्षाप्राण अनुशयरूप से व्याप्त रहता है। इसी अवर्षासुप्त के आधार पर दाम्निज लोग हस्मप्रयोग करने में समर्थ होने हैं। प्राणियों में आनप्राणी (पुच्छा) इस अवर्षा

प्राण का परिज्ञाता है। जिस रास्ते से चोर भागता है, उस रास्ते में उसका अवर्णप्राण अनु-  
 शयरूप से प्रतिष्ठित होता जाता है। कुत्ता अपनी प्रायेन्द्रिय से अवर्णप्राण को पहचानती  
 है। चोर का पता लगा लेता है। अवर्णप्राण का अंगिरा से सम्बन्ध है। अग्नेय अग्नि रुधिर  
 में व्याप्त रहता है। इस रक्त सम्बन्ध से एक ही अवर्णसूत्र सदानभार में प्रतिष्ठित होता हुआ  
 जलन-अरणाश्री का सङ्कामक बनता है। अवर्णसूत्र द्वारा एक की अविच्छिन्नता सारे मनुष्यों  
 में व्याप्त हो जाती है। यह निराकारसूत्र यद्यपि चर्मबन्धुओं से नहीं दिखलाई पड़ता, पान्त  
 इसके कर्णों में इसकी सच्चा स्वीकार करनी पड़ती है। आपका कोई सम्बन्धी आपसे पान्तौ  
 कोस पर रहता है। यदि उस पर कोई विगति आती है तो तत्काल आपका हृदय व्याकुल हो  
 पड़ता है। यह उसी अवर्णसूत्रसम्बन्ध की महिमा है। विदेशस्थ बन्धु यदि आपके पाद  
 धरता है तो आपके हिकका (हिककी) बहने लगती है। उसके नाम सेते ही हिककी बह  
 जाती है, यह अनुभूत विषय है। छोटे बच्चों का मन अवस्था सूत्र सोम की प्रधानता से कोमल रहता  
 है। एवमेव सौम्य स्त्री का भी अवस्थाप्राण निर्बल रहता रहता है, अतएव बच्चों एवं स्त्रियों पर  
 हस्तप्रयोग अधिक एवं शीघ्र सफल हो जाता है। ( देखिए शत० १४। ६। ७। १। )।  
 अवर्ण अग्नि की विश्वसन्मूर्ति है अतएव अग्नि की अवस्था 'अग्निरा' नाम से भी व्यक्त किया  
 जाता है। एक चोर युग है दूसरी चोर अग्नि है मध्य में अवस्था है। मध्यस्थित अवर्ण  
 का प्रशानरूप से अग्निरा के साथ गौडरूप से युग के साथ सम्बन्ध है। अतएव तन्मध्यस्थित-  
 म्याय से दोनों को अवर्ण मान लिया जाता है। युग-अग्निरात्मक यह अवर्ण सुप्रसन्न है। यह  
 उस वेदमूर्ति का सबसे पहिली सम्मान है अथवा पुत्र है। शरीर की प्रतीक्षा न युग है  
 न अग्नि है अपि तु समष्टिरूप अवस्था है। इसी अग्निप्राण से धुनि बहती है —

प्रश्ना देवानां मयम् मयम् विभक्त्य कृता भुवनस्य गोप्ता ।

स प्रसविष्यां सविद्यामनिष्ठावर्णाय उपपुत्राय वा (मुण्डक० १।१।१॥)

+ इस विषय का विवर विवेचन अद्वैतानन्दपर्यटन आशीर्वादान्ध में देलना चाहिए।



अथर्वी रूप है, चार है । इससे अक्षि का विकास होता है, अक्षि से अग्नि का विकास होता है । ऊपर युग्म स्नेह तत्त्व है मधुररस है । अथर्व की प्रतिष्ठा यही अग्निवेद है । अतः युग्म को हम सोमवेद की प्रतिष्ठा कह सकते हैं । परन्तु आग्नेयी अथर्वायमी त्रयीवेद की प्रतिष्ठा बनती है । दूसरे शब्दों में त्रयीवेद अस्त्यत्रययुक्त अग्नि, वायु, आदिस मेग्मिन् अक्षि पर ही प्रतिष्ठित है । अग्निवेद की प्रतिष्ठा अग्निद्वय अक्षि ही बन सकता है ।

ऊपर कहाया गया है कि मध्यस्थि अथर्वी दोनों में अन्तर्भूत है । अतएव परमार्थतः युग्म अक्षि पर दो तत्त्व बच जाते हैं । एक मधुप्रधान है तो दूसरा चार प्रधान है । सीधी भाषा में एक (युग्म) मीठा पानी है तो दूसरा (अक्षि), खारपानी है । जिस भूप्रदेश में युग्म की प्रधानता रहती है वहाँ कृषि का पानी मीठा होता है 'एव अहाँ अक्षि की प्रधानता रहती है वहाँ खारपानी मिश्रता है । दोनों ही आपोमूर्ति होनेसे 'अमृत' हैं, युग्म भी अमृत है अक्षि भी अमृत है । आपोमय (अमृताक्षिरोमय) पानेही अमृत है — 'अमृतमव मरमेष्टी' । कबि पार मेष्ठय मण्डल में युग्म और अक्षि दोनों आपोमय होते हुए अमृत ही हैं, परन्तु अमृत आकाश (तीरन्नाय) में जाकर अक्षि अक्षरूप में परिवर्तित हो जाता है । युग्म [ आप-वायु-सोम ] सदा अमृत प्रधान ही रहता है । अमृत अक्षि सदा का प्रमथ कता हुआ सत्यमूर्ति है । युग्म अमृत है । अथर्व प्रजापति के तप से उत्पन्न होने वाले यही अमृत सत्त्व (युग्म-अक्षि) आहो-रात्र के परिवर्तनरूप सत्त्वरात्मक सूर्य के जनक हैं । यही दोनों 'वर्षा' नाम से प्रसिद्ध रोहसी समुद्र के, एवं वातावृषिीरूप रोहसीमौल्य के जनक हैं । इसी अमृतसत्त्वज्ञान को ब्रह्म में रक्षकर भुक्ति कहाँती है—

अमृतं च सत्यं चामीद्धात्पसोऽन्यतापतः ।

ततो रात्र्यभापत ततः समुद्रो वर्षा ॥ १ ॥

समुद्राद्गन्वादि सन्वत्परो घमापतः ।

अहोरात्रादि विद्वद्भिः स्य पिप्लो पगी ॥ २ ॥

सूर्याभन्त्रमसौ भाता यथापूर्वमकल्पयत् ।

दिश च पृथिवीं चान्तरिक्षमयो स्यः ॥ ३ ॥

[ अक् सं० १० म० । १२० सूक्त । इति ।

अपनी को हमने जगत् का ज्येष्ठ पुत्र कहा है । यही अपनी अग्नि यम-आदित्य रूप में परिणत होकर भू भुव-स्य इन तीन लोकों का प्रवर्तक बनता है । यही 'रोन्सीधाम' है । यह 'अय-अर्वाह' रूप अपनी से उत्पन्न हुआ है अतएव रोदसी को 'अयमधाम' 'अन-रार्थ्य' आदि नामों से व्यक्त किया जाता है । अपनी से उत्पन्न होने वाला अग्नि-यम-आदि त्यक्त्य प्रवीवेद दूसरा वेद है । यही वेद सौरसत्या का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ 'गायत्री मात्रिक' नाम से प्रसिद्ध होता है । अयोनिता को साथ लेकर आपोमय समुद्र में प्रविष्ट होने वाला पुरुष प्रजापति सर्वप्रथम इस अग्निप्रवीवेद को उत्पन्न करता है । जिस की अपेक्षा स्य यन्मुब्रमनिबसित वेद प्रथमज एव हमारी सौरसिखेकी की अपेक्षा यह वेद सर्वप्रथमज है । ब्रह्मनिबसित वेद पुरुषाभिनामृत पुरुषस्वरूपसमर्पक बनता हुआ अपौरुषेय वा, परन्तु यह गद्य० वेद इस वेदमूर्ति पुरुष प्रजापति से उत्पन्न होने के कारण पौरुषेय है । हिरण्यमग्नइत्यस्य प्रवी-कन जिस सूर्य को आप देख रहे हैं, हमारे ब्रह्माण्ड में सब से पहिले इन्ही हिरण्यमग्नमगवान् का प्रादुर्भाव होता है । इसी सौरवेदत्रयी की उत्पत्ति का क्रम बतलाती हुई वाजिधृति कहती है—

“तस्यां ( अपौरुषेयवेद ) प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽवप्यत । सोऽपोऽव्यु-  
जत शश एव ( वेत्रवाच एव ) भोक्ताव वागेव साऽसृज्यत । सोऽका-  
मयत आम्भोऽदृम्योऽधिपजायेयेति, सोऽनया ( अपुरूपविषया )  
जप्या विधया सहायः प्राविशत् तत आर्यं समवचत । तद्व्यपृ-  
शत्-अस्तिवति । अस्तु-भूयोऽधु-इत्यव तदब्रवीत् । ततो ब्रह्मव-  
मयममसृज्यत जप्यवे विद्या-[ गायत्रिमात्रिको वेदः ]”

[ शत० ६।१।१।१० ] ।

त्रयीविद्या ही प्रजापति का पहिला अस्त्यैय है। अनन्तर क्रमशः पोपायद यगोयद, रेतोऽयद मे से तीन अयद अंग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार एक ब्रह्म बार अण्डों में परिणत होकर सबम् बन जाता है। चारों अण्डों की समष्टि ही एक रोन्सी ब्रह्माण्ड है। इसी का नाम सौरमण्डल किंवा सौरभिन्नोकी-(सौरमण्डल) है।

साम्यमुत्र वैद्यरूप्य [महिमायण्डल] ज्योम (परमाकाश) नाम से पारमेष्ठ्य वैद्यरूप्य समुद्र नाम से व्यक्त होता है, एवं सौर वैद्यरूप्य ब्रह्माण्ड नामसे प्रसिद्ध है। यह ब्रह्माण्ड उस आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में बुद्बुदरूप से प्रतिष्ठित है। एवं पारमेष्ठ्य समुद्र स्वयम्भु के वैद्यरूप्य में (परमाकाश में) बुद्बुदरूप से प्रतिष्ठित है। जिसे ज्योम का अभिधत्ता ब्रह्मनि-अस्तिवेदावच्छिन्न स्वयम्भु है, समुद्र का अभिधत्ता सुब्रह्मावच्छिन्न परमेष्ठी है, एवमेव इस ब्रह्माण्ड के अभिधत्ता गायत्रीमात्रिकवेदावच्छिन्न मगान् सूर्यनारायण हैं। यह ब्रह्माण्ड के प्रथम अभिधत्ता हैं। इन्हीं का निरूपण करती हुई मुक्ति कहती है।

हिरदयगमः समवर्चनाग्रे भूतस्य जातः पतिरेकः आसीत् ।

स तावत् पृथिवीं धामुतेषां कस्मै देवाय इविषा विषेय ॥

पद्य • सं० १२।४)

सबप्रथम वेदमयस्वयम्भु ब्रह्म का आविर्भाव होता है। अनन्तर उसके बाह्यभाग में आपोमय मृगब्रह्म का आविर्भाव होता है। मृगब्रह्म मृग एवं अगिरामय है। आप-वायु-मोन धृगु हैं अपिषमादिष अगिरा है। ध्रुओं की समष्टि आप है। इनमें से आपोमय अगिरा स गायत्रीमात्रिक वेद उत्पन्न होता है। अगिरा स उत्पन्न यह वेदतत्त्व सूर्यरूप में परिणत होकर उसी धृगुअगिरामय अण्डसमुद्र में प्रतिष्ठित हो रहा है। वेदमय सय स्वयम्भु का पहिला अवतार पानी है। इस आप का पहिला अवतार गायत्रीमात्रिक नाम

• इस विषय का विस्तृत विवेचन हिरदयगर्भविद्यामूलक गुरब्रह्मयोगनिष्पत्ति विज्ञानमार्ग में देखना चाहिये।

का सत्यवेद है” यह पूर्व के सन्दर्भ से मचीमति सिद्ध होजाता है । साथ ही में यह भी सिद्ध होजाता है कि “आपोमय परमेष्ठी अतः है । अतः में ही सारा सत्यमिष्य प्रतिष्ठित है । अतः परमेश्वरी का कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता” । इसी विज्ञान को सत्य में रखकर निम्न लिखित द्युतिवचन हमारे सामने आते हैं—

१—“तद्यत् तत् सत्यमाप एव तत् । आपो हि वै सत्यम् । अप एव तस्य  
[ द्यमानिष्यसितवेदसत्यस्य ] अग्रमकुर्वन् । तस्माद्यदभापो यन्ति  
अयेद सर्व जायते यदिदं किं” ( शत ७ कां । १ । १ । ६ । क. ) ।

२—“अतमव परमेष्ठि अतं नात्येति किंचन ।  
अतं समुद्र आदित अतं भूमिरिय अतिता ॥ ”

३—“आपो भृग्वङ्कितोरुपमापो भृग्वङ्कितोरुपमाप ।  
अन्वरेते अयोवदा अग्निरस अतिताः ॥ ”

४—आप एवेदमग्र आमुः । ता आपः सत्यं [ आपमिष्यादिक्रमसत्यं ] अतः  
व्यत । सत्यं ब्रह्म, द्यमानिष्यसितवेदसत्यस्य, अनापति, अनापतिर्विद्वान् ते देवा सत्यमिष्यु-  
पासते । तदेतत् अतमं सत्यमिति । स इत्येकमन्तरं वीत्येकमन्तरं, अमिष्यक-  
मन्तरम् । अयमोक्तमेतद्वरे सत्यं अयमोऽनृतम् । तदेतदनृतं सत्येन परिपृष्टीतं  
सत्यमयमेव भवति । तद्यत् तत् सत्यमसौ स आदित्याः” ।

[ शत० १४ कां० । ८ । ६ १-२ ]

ब्रह्म—वेद—अग्नी—अग्नि—सर्व अग्निभार्यक हैं । सुब्रह्म—सुषेद—अपर्य—सोम यह सब  
अग्निभार्यक हैं । मन्त्रोग्राह एतत्—अनेकत् तत्त्व वही ब्रह्मनिष्यसित वेद है । पूर्वप्रतिपादित  
अतुर्विध मार्गव शयुषों में से अत्यन्तम मातरिषा ही मन्त्रग्राह मातरिषा है । इसी मातरिषा से  
आप भी उस अनेकदेवहूप ब्रह्म में आद्विती होती है । इसी से सारे विश्व का स्वरूप सम्पन्न  
होना है । ‘आप’ तत्त्व का स्वरूप निर्वाचन होनुका । समग्र है आप ‘आप’ के स्वरूप विस्तार

से भवता गये होंगे । अतः इस प्रकार से जो बोझी देर के लिये यही झोझ दीजिये, एक मल पर रधि बाधिये ।

पूर्व प्रतिपादित मन्त्रार्थ सम्बन्धी वेदप्रकरण से विद्व पाठकों को यह भलीभाँति निश्चित होगया होगा कि ब्रह्मनिष्ठसित सायम्भुव त्रयीवेद का यजु माग ही सृष्टि का मौलिक तत्त्व है । ऋक्साम सहस्रगुण मात्र हैं । यजु पुरुष है, ऋक्साम नपुंसक हैं, केवल सुन्दोक्त है । ऋक्सामानिष्ठसित यजुर्वेदविद्या—कर्ममय अम्भ्यपुरुष की विकासभूमि है, अतएव इसे 'पुरुष' शब्द से व्यञ्जन किया जाता है । यह यजुपुरुष द्विप्रकाश की समष्टि है । वस्तुतः इस का नाम 'यजु' बन है । 'मूलाकारो सरस्वत्यां पिशाण्यां यजने क्षियाम्' इस कोश के अनुसार 'जू' शब्द आकाश का वाचक है, एवं यत् यजु वायु का वाचक है । यह वायु चतुर्धा विभक्त पञ्चम मातरिणा आदि मार्गवायु, एवं वातवायु आदि से सर्वथा भिन्न वस्तु है । यहाँ का वायु शब्द अपि नाम से प्रसिद्ध असत् प्राण का वाचक है । यह यत् रूप प्राणवायु विद्युद् गतिरूप है, यही अम्भ्य के कमलग का विकास है, जू रूप आकाश विद्युद् विद्युत्तत्त्व है यही अम्भ्य के विद्यामाग का विकास है । 'यथाकाशगतो निग्य वायुः सर्वप्रगो महान्' ( गी --- ) के अनुसार विद्युत्तत्त्व आकाश एवं गतिरूप वस्तु निग्य अग्निनामृत हैं । विद्या, म्यिनि, आकाश वाक, जू, यह सब शब्द अविभक्त हैं । कर्म, गति वायु प्राण्य, यत्, यह सब शब्द अविभक्त हैं । यत्-बीर जू इन दोनों त्रयों की समष्टि 'यजु' बन है । यही 'यजु' शब्द परोक्षविष देवताओं की परोक्षमाया में 'यजुर्वेद' नाम से प्रसिद्ध है । इसी यजुर्वेद का निश्चय करती हुई बानिभुति कहती है—

'अथ वाच यजुर्वेदोऽयं पवते । एष हि यजुर्वेदं सर्वं मनयति । एतं यन्तमिदं मनु मजायते तस्माद् वापुरेव यजुः । अयमेवाकाशो जूः, यदिदमन्तरि क्षम । एतं आकाशमनु मवने । तदेतद्यजुश्चापुरेव, अन्तरिक्षेव, यत्, जूश्च । तस्माद्यजुः । +xx+ । तदेतद्यजुश्चरुसाययाः प्रतिष्ठितस्य शुक्रं सावे बहनः' ( शत १० कां । १ । २ । १२ । ) इति ।

यत् और न दोनो ही अमृत-मृत्यु मेद से दो दो मार्गों में विभक्त हैं। अमृत न अमृता काश है, अमृत यत् अमृत प्राण है। मर्त्य न मर्त्याकाश है, मर्त्य यत् मर्त्यप्राण है। मर्त्य की प्रसिद्धा अमृत है। अमृताकाश इन्द्र नाम से प्रसिद्ध है, अमृतप्राण प्राण नाम से प्रसिद्ध है। मर्त्याकाश वाक् नाम से, मर्त्यप्राण वायु नाम से प्रसिद्ध है दोनों अविनाशूत हैं। अमृता काशरूप इन्द्र, और प्राण से देवसृष्टि होती है, मर्त्याकाशरूप वाक् ( जिसे इन्द्रपत्नी भी कहा जाता है ), एव मर्त्यवायु से मृतसृष्टि होती है। देव और मृत दोनो सृष्टियों के उपादान अभिन्न हैं अतः देव-मृत का अविनाभाव सिद्ध होजाता है। गौड प्रधानता की अपेक्षा से 'इय देवता' 'इय भूतम्' यह मेद व्यवहार प्रचलित है। वस्तुतः न देवता भूत के बिना रहता एव न मृत देवता के बिना प्रणिष्ठित रहता। इस प्रकार अपनी मर्त्यकला से भूतसृष्टि का, अमृत कला से देवसृष्टि का अविच्छिन्नता बनता हुआ अक्षरानाश्विभूत यन्त्ररूप ही सब कुछ बन रहा है—'युक्ता एवेदं सर्वम्'।

उपनिषदों का सम्बन्ध करने वाले व्याख्याताओंमें सम्प्रगत 'मानसिन्धा' वायु को सूत्र वायु' सम्बन्ध है। कहना नहीं होगा कि वैज्ञानिक पदार्थों के पृथक्करण को न समझने के कारण कैसी कैसी भयङ्कर भूलें होजाती हैं। सूत्रवायु तो इमाग यत् नाम का 'मागवायु' है। इसी को सूत्रात्मा कहा जाता है। 'वायु र्हे गौतम नत् सूत्रम्' श्रुत ११ वं द। ७। ५। १) से ज्ञापयन्त वेदमूर्ति सूत्रवायु ही अभिहित है। सूत्रात्मा ज्ञापयन्त का मनोना है, ( देखिए ई० वि० भ० १८८ पृ० )। अक्षा-विष्णु-इन्द्ररूप उदयाकरों की समष्टि अन्तर्यामी है, अन्तर्यामी की समष्टि, किं वा सोमगर्भित अग्नि सूत्रात्मा है। अग्नि सत्त्विक है। यही सूत्रसत्त्व है। उपर मातरिरथा मार्गवायुरूप बनता हुआ परमेष्ठी का मनोना है।

युक्ते किरण का उपादान होने से ज्ञान है। इसमें दो कलाएँ हैं अतएव यह 'द्विप्रकाश' का सहकारी इसी से उत्पन्न होने वाला सुवेद सुप्रकाश है। यद्यु अक्षिरा के अक्षरणा में से यह सुप्रकाश घाप वायु सोम अग्नि यम आदिय एव ६ भागों में विभक्त है। अतएव इम

‘वायव्रज’ को हम ‘वहव्रज’ नाम से व्यञ्जित कर सकते हैं। द्वित्रय के सम्बन्ध से सब कुछ उत्पन्न हुआ है। द्वित्रय का (अर्थ) वायुमय (इन्द्रपत्नी) उसी प्राणरूप वायु के व्यापार से पानी बना है। यही पानी अम्म है, वाष्पमयक है। अम्मएव पाश्चात्तमौक्तिक सृष्टिक्रम में इसे ‘वायु’ कहा जाता है। ‘अधेराप’ यह सिद्धान्त सर्वविदित है। एव—‘वहएव वा एवएवाग्नेव। गेवोपनिषत्’ [श्रुत १० अं । ५ । १ । १।] के अनुसार पर्यायवाची वाक् (इन्द्रपत्नी) वाक्वाद् ब्रह्मादि है। यही तो प्राणव्यापार से घुल्य होकर अम्मरूप वाष्पमयक पानी के रूप में परिणत हुआ है। ऐसा कि—‘वागेव सासृज्यत’ इत्यादि रूप से पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया है। इस वायुमय परमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में इसी के अङ्गिगमाग से देवाग्नि नाम से प्रसिद्ध गायत्रीमन्त्रिक अग्नि उत्पन्न होता है। यही पौरुषेय वेदाग्नि है, यही सूर्य है, ‘वागीमयाय त्रिगुणात्मने नमः’। सौर रश्मिर् ‘मरीचि’ नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके वर्णरूप से मर पानी उत्पन्न होता है। सृष्टिकृत मरीचि अग्नि ही मर पानी है। सौराग्नि से उत्पन्न यही पानी आगे जाकर क्रमशः वायु—फेन—घृत—सिक्का—शर्करा—अरमा—अय—द्विरय रूप में परिणत होता हुआ भूपिण्ड का वातपुंसम-पंक बनता है। इसप्रकार वह एक ही गू—[अवाकाश—अर्थवाक्] वाक् (वाक्वाद्) वायु, अग्नि, पानी मिट्टी इन पाँच रूपों में परिणत हो जाता है। पाँचों मूल वाक्मय है। तभी तो—‘अथो वागेवेदं सबन्ध’ (ऐ० अ० १ । १ । ५) वागीमा विन्वाभुवनान्पयिता’ (तै० अ० २ । ८ । ५) यह कहना बरितार्य होता है। प्रजापति (पौंडरी) तक वेद का व्याप्य है। शब्दतन्मात्ररूप अम्मएव शब्दनाम से व्यञ्जित वेदवाक् उस आत्मप्रजापतिरूप ब्रह्मा के निवास हैं यही वेद वाक् व्यक्ता है यही विद्य का मूल है। इसी वेदमूला, अम्मएव वेदमयी सृष्टि का निरूपण करते हुए अग्नि कहते हैं—

‘तस्माद्वा एतस्मादत्यन वाकायाः सम्भूताः । वाकायादवायुः,  
वायोरग्निः । अधेरापाः । अद्भ्याः पृथिवी’ [तै० उ० २ । १ ।]

# षाट्कोशिकमिदसर्वम्

प्रजापतिरात्मन्

१-१-अक्षर	प्राणमय	षोडशीप्रजापति	← 'आत्मा'
२-१-यत्-गभिषो	भू-स्वयम्भुः	→	आकाश (आकाश)
३-२-आपोमयं	सुमह-परमेष्ठी	→	वायु (वायु)
४-३-अपीयन	सूर्यः	→	अग्नि [तेज]
५-४-मुक्षिता	आपः-चन्द्रमा	→	आपः [जल]
६-५-पृथ्वी	पृथिवी	→	पृथिवी [पृथिवी]

शरीरम्

'अनेमदेकम्', इत्यादि मन्त्र यजुर्मन्त्र का निकपण करता हुआ इसी आत्मन् प्रजापति का विरसेपण करता है। यजुर्मन्त्र का अनेकत्वा भाग सोपाधिक विद्याभाग है, एवम् भाग सोपाधिक कर्मभाग है। ब्रह्मचर्यरूप विद्याकर्ममय अध्ययन ही यजु है। इस यजुर्मन्त्र की व्याप्ति कहाँ तक है? उत्तर है 'मायावत्'। जहाँ तक मायीमहेश्वर व्याप्त है, वहाँ तक वेदतत्त्व व्याप्त है। तभी तो उसे 'विदिमूर्ति' शब्दसे व्यक्त किया जाता है। जहाँ तक मायी अध्ययन व्याप्त है, वहाँ तक तत्त्वप्रकृतिमूल अक्षरमक्षर व्याप्त हैं। सुतराँ आत्मक्षर के प्राणरूप विद्याक्षर से सप्त पञ्चकृत प्राणपञ्चजन के विषयमूल वेदपुराण की सत्ता वहाँ तक सिद्ध हो जाती है। इस मायावत् को सामने रखिए, मन्त्र का अर्थ कीजिए, स्थितिगतिकृपा सारी बलविविध स्पष्ट होजायगी।

सत्ता में गतिरूप अवयवगति, अवयवीगति, उभयगति भेद से तीन भागों में विभक्त है। रपधक की गति उभयगति है। रप का पहिया (अवयवी) भी चकराता है, एवं पहिये के अवयव भी चकराते हैं। कुक्षार के चक्र [पाक्] की गति अवयवगति है। चक्र जरा भी नहीं चरता, अवयव जरा भी नहीं ठहरते। पूर्वोक्त परित्यागपूर्वक उत्तरदेश का संयोग करना ही



गति है। चक्र अपने निष्ठा कीलक से अणुमात्र भी नहीं चकराता। वह एक स्थान पर ही रहता हुआ घूम रहा है। वह क्या घूम रहा है, उस के अवयव घूम रहे हैं। एवं अतकभूत चक्र की गति अवयवीगति है। हम टेन में बैठे हुये चल रहे हैं। हमारे अवयव नहीं चल रहे अर्थात् हम (अवयवी) चल रहे हैं। इन तीनों गतियोंमें से प्रकृतमन्त्र केवल अवयवगति का निरूपण करता है। मायाशक्ति के वेदमन्त्र ईश्वर सर्वथा स्थिर है। कृष्णत् सत्यम् है। एवं ईश्वरशरीर में प्रतिष्ठित पञ्चाक्षर पदार्थ पदार्थों के परमाणु परमाणु गतिशील हैं। व्यापकदृष्टि से ससार सर्वथा स्थिर है अवसकृप से सदा है। व्यष्टिदृष्टि से सब अस्थिर हैं। यदि व्यक्तिमात्र को छोड़कर आप जिस को अपनी दृष्टि में लावेंगे तो वह आपको सदा स्थिर दिखसकता है, व्यक्तिमात्र को सामने रखने से यही गतिशील मिलेगा। अवयवी स्थिर है, अवयव चल हैं, यही तात्पर्य है।

आप्त महर्षियों की दूरदर्शिता का जब हम विचार करने लगते हैं तो हमें आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। निरूढतम जिस अध्यात्मविद्या के स्वरूप को क्याचत पञ्चिचानना बड़ी कठिन समस्या है, अधियोंने व्याख्यातिक ( लौकिक ) दृष्टान्तों द्वारा उसे इतना सरल बना रखा है कि उसे समझने में एक बालबुद्धि भी सहज में ही समर्थ होजाय। कुम्भकार ( कुम्हार ) कोरुमाया में 'प्रजापति' नाम से प्रसिद्ध है। ब्र-उदयरात्रिदृष्ट्यव पात्रों का निर्माण करने वाले, कर्ष से शूद्र मनुष्य का अधियोंने 'प्रजापति' नाम रखा, जो कि प्रजापति शब्द त्रिमुक्त विवादा वाता ( ईश्वर ) का वाचक है। साधारण दृष्टि से विचार करने पर कुम्भकार की इस प्रजापति सत्ता में कोई विशेष महत्त्व नहीं मान्य होता। परन्तु जब इस सत्ता का सूक्ष्मेष्ट दिवा जाता है तो प्रतीत हो जाता है कि कुम्भकार वास्तव में प्रजापति का अवतार है। वैसी स्थिति सृष्टिनिर्माता ईश्वर प्रजापति की है ठीक वैसी ही स्थिति इस प्रजापति (शब्द) की है। पृथिव्यात्मिका में कुम्भकार मिट्टी दण्ड चक्र, सूक्ष्म, भूषिण्ड, पानी यह सात उपकरण अवस्थित हैं। इस कारणसमष्टि से अत्यन्त उत्पन्न होता है। इन में भूषिण्ड कुम्भकार एवं चक्र [चक्र] का आधार है। कुम्भकार भी जमीन पर बैठता है एवं चक्र भी कील के आधार पर भूषिण्डपर रहता है। कुम्भकार निमित्तकारण है, अट बनाने वाला है। सूत्र-दण्ड

असमवायिकारण है, मिट्टी उपादान कारण है, पानी सहकारीकारण है। कुम्हार मिट्टी में पानी बाँधकर उसको पिन्दिमान बनाकर पियूष बना लेता है। अनन्तर चक्र के समीप स्थित स्थान पर बैठकर चक्रपर घृतपिण्ड रख देता है। अनन्तर कीलक से चक्र चक्र को दण्ड से बड़े वेग से घुमाता है। घूमते हुए चक्र पर रखते हुए घृतपिण्ड में हस्तकीलक से अपने बौद्धघट [खयत्कीघट] का आकर देता जाता है। थोड़ी देर में घट उत्पन्न होजाता है। निर्माण होने के अनन्तर सूत्र [बोरी-अथवा चीवर-विपका] से घट को चक्र से छुटक कर भूपृष्ठपर सूत्रों के लिए रख देता है। सूत्र जाने पर अग्नि द्वारा उसे पकाता है। अग्नि सम्बन्ध से घट का विनाश हो जाता है। अग्नि सब से पहिले घट के घृतपरमाणुओं को विशकलित कर बाँधता है। इस अग्निविशकलन से परमाणुओं की सन्धि में प्रतिष्ठित पानी धूम बनकर उत्सृज्य हो जाता है। इसी विशकलन प्रक्रिया का नाम म्यापदशनानुसार 'घटव्यस' है। पानीको विकलित कर संधिस्थानों में स्वयं अग्नि अन्तर्वास सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होजाता है। इस अग्निसंज्ञान से रक्तपरमाणु दशन के शब्दों में ध्यातघट पुनः संहित होता हुआ परिणत बन जाता है। इस प्रकार इस पिठरपाक के अनन्तर घट सञ्चालना संपन्न हो जाता है। घट का स्वरूप [आकार] सभी को विदित है। ऊपर की ओर गोलाकार मुख होता है, मध्य में त्रिपुल्लोदर होता है, पैदा उठ्य हुआ होता है, यह तो है इस [कुम्भकार] प्रजापति की सृष्टि अब बसिए उस [ईश्वर] प्रजापति की ओर।

अक्षरतत्त्व कुम्भकार [निमित्त कारण] है। पञ्चकीलात्मक अव्ययवस्तु भूपृष्ठ [आश्रयन] है। पूर्वोक्त सूत्रवास ही सूत्र है। पञ्चवेद चक्र है। इसी बद का घर कार्यमाग पिट्टी [उपादान] है। प्रजापति की धुक्कीति दण्ड है, इसी को 'अक्षदण्ड' कहाजाता है। सुप्रसिद्ध आपोत्रस पानी [सहकारी कारण] है। विश्वनामि में [केन्द्र में] यह पञ्चचक्र ब्रह्म है। इस की स्थिति ठीक कुम्हार के चक्र जैसी है। चक्र सूत्र ही धूम रहा है, परन्तु समुदाय [अवयव] सर्वथा स्थिर है। इस चक्र पर प्रजापति दूरवेदरूप घृतपिण्ड रखता है। यह दूरवेद यही इन्द्रा

सुप्रसिद्ध गणनीयमात्रिकवेद है। यही वेद आगे जाकर षट्स्वरूप में परिवर्तित होकर है। मू-मुत्र  
स्वः तीनों श्लोकों की समाधि एक घट है। यही निम्नमूर्ति घट चपम पत्र में 'उम्मा' नाम से  
प्रसिद्ध है। मूश्लोक इस का शुभ (पेश) है, मुत्रश्लोक उदर है, मुसोक्ते-सन्निधौ सूप मुख है।  
एक संस्कार पश्चात् इस घट में अग्नि गवसा रहता है। अनन्तर उस का चपन होता है। त्रैलोक्य-  
व्यक्त्युत्पत्ति (अ) के परमाणु परमाणु में अग्निनिधि हो जाती है। यही निधि संवित्पत्तियों  
से पांच भागों में विभक्त हो जाती है। निधि से घट सर्वात्मना सम हो जाता है। इसी प्राजा-  
पत्य घट का विगृह्यण बताया हुआ अग्निहोमकृति कहती है—

१-‘इमे वं भोक्ता उता’ [श० ७.५.२।१७]

२-‘प्राजापत्यमेतत् क्रम यदुता’ [श० ६। १। १७]

[शत० १।७।१।१७। ७।७।२।२। १।२।२।२७।]

प्राजापति से निर्मित सारी पारिवर्षिक प्रजा षट्स्वरूप में परिवर्तित होकर ही प्रतिष्ठित हो रही  
है। इस प्रकार कुम्भकारसृष्टि एवं प्राजापत्यसृष्टि दोनों समानवर्गी हैं। इसी तृप्तिरहित्य के  
प्रिष्ट्य के लिए ध्रुवियों ने कुम्भकार की ‘प्राजापति’ सत्ता रखी है। सत्य मार्कण्डेयों कुम्भ  
कार के चक्र से प्रजापति का स्वरूप पश्चिमान्ते हुए कुम्भकार को अपना गुह्य माना था।  
सबभूत जो स्वरूप इस प्राजापति के चक्र है, वही स्वरूप इस पञ्चमय का है। वह स्पष्ट है तो  
‘सर्वव’ पाणिपार्थक्य के अनुसार यह भी वर्णित है। वह प्रकृत्य ह्यम समुदाय रूपसे  
विपर है तो वह भी अत्रपञ्चमया एतत् भवता ह्यम समुदायप्रकृत्य भवेत्तत् है। मानो हमारा  
यह (कुम्भकार) प्राजापति उस (ईश्वर) प्राजापति के साथ एकाग्र कर रहा है। इसी आधार पर  
यही की ‘पदानां निर्मातृविभूतविधातृश्च क्रमः’ यह सूक्ति प्रकृतित है।

जैसे न चरने वाला आक, भीर चरने वाले अत्रपत्य एक ही स्थान पर हैं, इसी प्रकार  
न चरने वाला नू भीर चरने वाला यत् दोनों का एक ही मित्र पर समन्वय है। निधि गति  
दो मित्रद्वयों का अविच्छिन्न चक्र जैसे एक है, एवमेव यत् आर नू के दो होने पर भी पञ्च

महा एक है। वह एक ही तरह से की अपेक्षा से सर्वथा अनेक है, पर की अपेक्षा से कही एक है। कही एक है, कही अनेक है। वह मन से भी अतीत (विश्व दौड़ने वाला) है। आध्यात्मिक जगत् में तेज बनने वाला है। आध्यात्मिक जगत् में मनु से भी शीघ्रगामी मन है। इन दोनों में यही गति आई हुई है। जिस पदार्थ के आगमन से मनु और मन जब शीघ्र गमी बन जाते हैं तो उस पदार्थ के गतिवेग का क्या कहना है। वह तो स्वयं गतिरूप ही है। इस स्वयं गति की गतिमान् मनु और गतिमान् मन कैसे समझ कर सकते हैं। मन में इन्द्र विद्युत् है, विद्युद्भिन्ना गतिशील है। मन में प्रतिष्ठा ब्रह्म [स्थिति भाग] की व्यक्तता ही मन की द्रव्य गति में मुख्य का है। उक्त वह शुद्ध गतिरूप होता हुआ सधुसधु मनसो नवीयः' है। बात यथार्थ में यह है कि अनेकदेवद की समष्टि से आध्यात्मिक एवं आध्यात्मिक प्रपञ्च का निर्माण होता है। फलतः आध्यात्मिक एवं आध्यात्मिक पदार्थों में [प्रत्येक में] स्थिति—गति दोनों भागों की सदा सिद्ध हो जाती है। आप जितने भी गतिमान् पदार्थ देख रहे हैं, निश्चाय कीजिए (गतितात्पर्य से) उनमें कोई बहुत स्थिति अन्तर है, जितने भी स्थितिमान् पदार्थ हैं उन सबमें (स्थिति के तात्पर्य से) गति अन्तर है। विद्युद्गति—और विद्युद्भिन्ना रूप पदार्थ न आध्यात्मिक जगत् में है न आध्यात्मिक जगत् में। कारण इनका उद्गातन स्थितिगति की समष्टि है। कहीं स्थिति तरंग प्रधान है तो कहीं गतिरूप। पदार्थ हैं प्रत्येक में दोनों। यदि स्थिति में से गति को सर्वथा निवृत्त दिया जाता है तो वह स्थिति गतिरूप में परिणत हो जाती है। उल्टे यदि गति में से स्थिति सर्वथा निवृत्त जाती है तो वह गति स्थिति रूप में परिणत हो जाती है। उदाहरण के लिए २ मनुष्य अपने घर से ठीक नियत समय पर एक साथ बगीचे के लिए रवाना होते हैं। इनमें कुछ आगमी तो जल्दी पहुँच जाते हैं, कुछ देर में पहुँचते हैं। इसका क्या कारण? उत्तर यही होगा कि जो शीघ्र चला वह शीघ्र पहुँच गया, जो मन्दगति से चला वह देर से पहुँचा। इसका अर्थ यह हुआ कि जिसने जल्दी जल्दी पैर उठाए वह जल्दी पहुँचा, एवं जिसने धीरे धीरे पैर उठाए वह देर से पहुँचा। निष्कर्ष यह हुआ कि जिसने अपने पैरों में स्थिति कम रखी एवं गति अधिक रखी वह जल्दी पहुँचा,

जिसमें गति कम रखी एवं स्थिति अधिक रखी वह घेरसे पहुंचा। इस स्थिति—गति के तार तन्म से गति में व्यंतर होगया। मान लीजिए एक व्यक्ति जहां घेरे में पहुंचा वहां इसा व्याप घटे में, तीसरा १५ मिनिट में, तीसरा पांच ही मिनिट में पहुंच गया। लीजिये चौथा आठवीं दो मिनिट में ही पहुंच गया। आश्चर्य—पांचवां तो एक ही मिनिट में जा पहुंचा। एक मिनिट में पहुंचने वाला ऐसे वेग से चला कि उसने कब पैर रक्खा, कब उठया यह अनुमान लगना ही कठिन होगया। वह ठहरता सा न दिखाई देकर चलतासा ही दिखाई दिया। फलत यह सिद्ध होगया कि अपने घर से एक मिनिट में पहुंचने वाले व्यक्ति की गति (चाल) में स्थिति (ठहराव) बहुत कम थी, तभी तो वह एक मिनिट में पहुंच गया। कल्पना कर लीजिये, जिस अज्ञास्थिति में नियत स्थान पर पहुंचने में एक मिनिट जायगा, यदि वह अज्ञास्थिति भी उस की गति में से निकल ही जाय तो क्या होगा। एसी स्थिति में उसे एक मिनिट भी न लगेगा अपि तु एक क्षण में ही वह वहां पहुंच जायगा। एक क्षण में नहीं पहुंचेगा, अपि तु जिस क्षण में वह घर रहेगा उसी क्षण में वहीच में मिलेगा। इस प्रकार स्थिति के सर्वथा निवृत्त जाने से उसकी गति स्थितिरूप में परिलक्षित होजायगी। क्या ऐसा होना सम्भव है ? नहीं। स्थितिगति दोनों की समष्टि से उत्पन्न होनेवाले मनुष्य में (मनुष्योत्पन्नित पदार्थमात्र में) शुद्धगति नहीं रह सकती। उस में अवश्य ही स्थिति रहती है। ऐसा तब तो केवल वह प्रजापति ही हो सकता है। मनु में योही बहुत स्थिति है, परन्तु उस किशुलगति में स्थिति के व्यापनितक अवयव से वह भी उत्पन्न नहीं है, तभी वह एक ही क्षण में वहां—वहां—ऊपर—नीचे—सर्वत्र उपलब्ध हो जाता है। प्रजापति के स्थितिरूप अवयव व्यापक इसी गतिरूप के क्षण में रखकर—‘मनसो जयीम’ कहा गया है।

एक पुस्तक मेज पर रखी हुई है। पुस्तक स्थिति (ठहराव)—भाव से व्यापकृत है। परन्तु निश्चय कहता है कि व्याप इसे चलाती हुई समग्रिए। स्थिररूप से प्रतीयमान पुस्तक एक ही क्षण में चारों ओर जा रही है। यह गतिसमष्टि ही एक दूसरी गति से अवच्छिन्न होती हुई स्थितिभाव में परिणत हो रही है। व्याप पूर्व में बैठे हैं। पुस्तक आपसे परिचय रखी हुई है।

यदि आप-पुस्तक को अपनी ओर खींचें तो पुस्तक की पश्चिमागति निकल जायगी । दूसरे शब्दों में जबतक पश्चिमदिशागति को आप पुस्तक में से निकाल न देंगे, तब तक पुस्तक पूर्व की ओर न आसकेगी । इस प्रकार स्थित पुस्तक में से गति के विकास देने से पुस्तक की स्थिति गतिरूप में पाण्डित होजायगी । निदर्शन मात्र है । संसार में जितने भी स्थिर पदार्थ हैं, वे निरन्तर चारों ओर चल रहे हैं । यदि चारों ओर की गति विकास की दावगी तो पदार्थ की स्थिरता स्वयं उल्टा होजायगी । वह पदार्थ गतिर्म में विहीन हो जायगा । इस निदर्शन से बतसाना यह कि विशुद्धस्थिति एवं विशुद्धगति उस मूलतत्त्व का ही स्वरूप है । यद्यपि सत्ता-दृष्टि से उसे भी विशुद्धगति, स्थितिरूप नहीं माना जासकता । कारण दोनों तत्त्व अस्मिता भूत हैं । तथापि विश्व और उस के पार्यव्य समर्थों के लिए बौद्धजगत् में उस की विशुद्धता की भावना की जासकती है । इसी बौद्धतत्त्व को सत्य बना कर अग्नि—‘मनसो जयीय’ यह कहा है । इस से बतसाना केवल यही है कि सम्पूर्ण विश्व में उसके वैसा तो बही है ।

पूर्ववचनानुसार बही ओपेर्मिणी देवसृष्टि का प्रकर्षक है । देवता प्राणधन है । प्राण स्वयं गतिरूप अवस्थ है । परन्तु इस का विकास सूर्य में होता है । देवता भी इतर पदार्थों की तरह एक पदार्थ है । वस्तु गतिरूप प्राण की प्रधानता रहने पर भी इन में स्थिति का आत्मन्तिक अभाव ज़ाही माना जासकता । जब प्रजापति के पश्चात् उत्पन्न होने से प्राणधन देवताओं में आधिकार से स्थिति विद्यमान है तो प्राण की प्रधानता से दौकते हुए भी वस्तु उस पूर्वप्रतिष्ठ ( पूर्वमर्त्य ) प्रजापति को केमे प्राप्त कर सकते हैं । अध्यात्मपथ में इन्द्रिय देवता है । मुख्य-प्राण का विकास ही इन्द्रिय है । आत्मा इन्द्रिय में प्रतिष्ठित है । इन्द्रिय आत्मप्रकाश इन्द्रियदत्तताओं में जाता है । इन्द्रियों के द्वार बहिर्मुख हैं । ऐसी अवस्था में प्राणोद्गमर्ति प्रधानमन से संचालित इतन्त्र सांसारिक विषयों की ओर अनुबाधन करने वाले इन्द्रियदत्तता उस पूर्वमर्त्य आत्मतत्त्व को प्राप्त करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं । वह पूर्व है, यह पर है । इसी रहस्य को सत्य में रसकर उपनिषत् कांक्षती है—

जिसमें गति कम रखी। एक स्थिति अधिक रखी वह वेरसे पहुँचा। इस स्थिति—गति के तार तम्य से गति में अन्तर होगया। मान लीजिए एक व्यक्ति जहाँ घनेमर में पहुँचा वहाँ दूसरा व्यास बंटे में, तीसरा १३ मिनिट में, तीसरा पाँच ही मिनिट में पहुँच गया। लीजिये चौथा व्यासमी दो मिनिट में ही पहुँच गया। आश्चर्य—पाँचवाँ तो एक ही मिनिट में आ पहुँच। एक मिनिट में पहुँचने वाला ऐसे बेग से चला कि उसने कब पैर रक्खा, कब ठहराया यह अनुमान लगना ही कठिन होगया। वह ठहराया सा न दिखाई देकर चलतासा ही दिखलाई दिया। फलत यह सिद्ध होगया कि अपने घर से एक मिनिट में पहुँचने वाले व्यक्ति की गति (चाल) में स्थिति (ठहराव) बहुत कम थी, तभी तो वह एक मिनिट में पहुँच गया। कल्पना कर लीजिये, जिस अल्पस्थिति में निरुक्त स्थान पर पहुँचने में एक मिनिट आया, यदि वह अल्पस्थिति में उस की गति में से निकलने की जाय तो क्या होगा। ऐसी स्थिति में उसे एक मिनिट भी न होगया यदि वह एक क्षण में ही वह वहाँ पहुँच आया। एक क्षण में नहीं पहुँचेगा यदि वह जिस क्षण में वह घर रहेगा उसी क्षण में कभीने में मिलेगा। इस प्रकार स्थिति के सर्वथा निकल जाने से उसकी गति स्थितिरूप में परिणत होजायगी। क्या ऐसा होना समझ है? नहीं। स्थितिगति दोनों की समष्टि से उत्पन्न होनेवाले मनुष्य में (मनुष्योत्पत्ति पदार्थमय में) शुद्धगति नहीं रह सकती। उस में अन्तर ही स्थिति रहती है। ऐसा तत्त्व तो केवल वह प्रजापति ही हो सकता है। मन में योही बहुत स्थिति है, परन्तु उस विशुद्धगति में स्थिति के अस्त्यस्तिक अभाव से वह भी ठहराव नहीं है, तभी वह एक ही क्षण में यहाँ—वहाँ—ऊपर—नीचे—सर्वत्र उपस्थित हो जाता है। प्रजापति के स्थितिरूप अस्तएव व्यापक इसी गतिरूप के कारण में रहकर—‘मनसो जयीष’ कहा गया है।

एक पुस्तक मेज पर रखी हुई है। पुस्तक स्थिति (ठहराव)—भाव से व्यक्तत है। परन्तु निश्चय कहता है कि व्याप इसे चलाती हुई समझिए। विवरण से प्रतीयमान पुस्तक एक ही क्षण में चारों ओर आ रही है। वह गतिसमष्टि ही एक दूसरी गति से व्यपन्न होती हुई स्थितिभाव में परिणत हो रही है। व्याप पूर्व में बंटे हैं। पुस्तक व्यापसे परिचय रखी हुई है।

यदि आप-पुस्तक को अपनी ओर खींचें तो पुस्तक की पश्चिमगति निकल जायगी । दूसरे शब्दों में जबतक पश्चिमदिशगति को आप पुस्तक में से निकाल न देंगे, तब तक पुस्तक पूर्व की ओर न आसकेगी । इस प्रकार स्थित पुस्तकमें से गति के निकाल देने से पुस्तक की स्थिति गतिरूप में पाण्डित होजायगी । निदर्शन मात्र है । संसार में जितने भी स्थिर पदार्थ हैं, वे निरन्तर चारों ओर चक्कर रहे हैं । यदि चारों ओर की गति निकाल दी जायगी तो पदार्थ की स्थिरता सर्वथा उत्पन्न होजायगी । वह पदार्थ गतिरूप में मिलीन हो जायगा । इस निदर्शन से बतलाना यह कि विशुद्धस्थिति एवं विशुद्धगति उस भूतब्रह्म का ही स्वरूप है । यद्यपि सत्ता दृष्टि से उसे भी विशुद्धगति, स्थितिरूप नहीं माना जासकता । कारण दोनों तत्त्व अविनाश्य हैं । तथापि विश्व और उस के पारंपर्य समझने के लिए बौद्धब्रह्म में उस की विशुद्धता की मानना की जासकती है । इसी बौद्धब्रह्म को सत्य बना कर अग्नि—‘अनसो जनीय’ यह कहा है । इस से बतलाना केवल यही है कि सम्पूर्ण विश्व में उसके विसा तो बड़ी है ।

पूर्वकथनानुसार बड़ी ज्योतिर्मयी देवसृष्टि का प्रकर्षक है । देवता प्राणधन है । प्राण स्वयं गतिरूप अवस्थ है, परन्तु इस का निकलस सूर्य में होता है । देवता भी स्वर पदार्थों की तरह एक पदार्थ है । अतः गतिरूप प्राण की प्रचालना रहने पर भी इन में स्थिति का आत्यन्तिक अन्तर्भाव नहीं माना जासकता । जब प्रजापति के पश्चात् उत्पन्न होने से प्राणधन देवताओं में वायुिकरूप से स्थिति विद्यमान है तो प्राण की प्रचालना से दौकते हुए भी देवता उस पूर्वप्रतिष्ठ ( पूर्वमर्त्य ) प्रजापति को केने प्राप्त कर सकते हैं । अन्त्यात्मपक्ष में इन्द्र देवता हैं । मुख्य-प्राण का निकलस ही इन्द्र है । आत्मा हृदय में प्रतिष्ठित है । हृदय आत्मप्रकाश इन्द्रियद्वाराओं में व्याप्त है । इन्द्रियों के द्वार बहिर्मुख हैं । ऐसी अवस्था में प्राणोन्मूर्ति प्रजापति से संपादित इतस्तत् सांसारिक विषयों की ओर अनुधातन करने वाले इन्द्रियदेवता उस पूर्वमर्त्य आत्मतत्त्व को प्राप्त करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं । वह पूर्व है, यह पर है । इसी रहस्य को सत्य में रखकर उपनिषद् कहती है—



पराधि स्वानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्यात् पराङ् परयति नान्तरात्मन् ।  
 कश्चिदीरः मत्पगास्थानमैतदाष्टषचसुरभूतस्वमिच्छन् ॥

(कठ० उ० २।१।१)

इसी अभिप्राय से—‘नैनरेषा आप्नुवन् पूर्वमर्पन्’ यह कहा गया है। वह इन्द्रियातीत है, इन्द्रियगम्य है, यही तात्पर्य है।

अरमा हृदय में है, देखा उससे पर है। तो क्या देखा [ इन्द्रियों ] और देखाओं के विषय में ( भौतिकपदार्थों में ) आत्मा नहीं है ? इसी प्रश्न के समाधान को सत्य में रखती हुई मूर्ति आगे जाकर कहती है—‘तदावतोऽम्भानवेति तिष्ठत्’। देखा उसे पकड़ कैसे सकते हैं, जब कि वह स्वस्थान में बैठ बैठा ही दीर्घ रातों रातों देखाओं के आगे से आगे प्रतिष्ठित रहता है। अनेअत् इत्यादि वह तिष्ठत् है, एवम् इत्यादि देखाओं का व्यतिक्रमण करने वाला है, जैसा कि पूर्व में स्थिति-गति का तात्पर्य बताने हुए कहा जा चुका है। वह सर्वथा व्यपक है। उस के आशय में सब कुछ प्रतिष्ठित है, परन्तु वह किसी में प्रतिष्ठित नहीं है। ‘न त्वहं नेपुते मयि’। उस का तात्पर्य यह है कि आवेग आधार के बिना नहीं रह सकता, किन्तु आधार स्वस्वरूप से प्रणिहित रहसकता है। उसे आवेग की अपेक्षा नहीं होती।

अरमा के सारे प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि “महामायावच्छिन्न ईश्वरस्वरूप यजुर्वेद भी ईश्वरवत् महामायावच्छिन्न होता हुआ व्यापक है।” यह मूलवेद महेश्वर का निश्चित है। इसी अभिप्राय से मूर्ति कहती है—

‘एव मा अरेऽस्य महतो भूतस्य [ महेश्वरस्य ] निश्चितमेतदाहवेदा  
 यजुर्वेदः सामवेदः + + + अर्त्ययतानि सदाणि निश्चितानि’

[श० १४।१।४।१०] : नि ।

महतोभूत बड़ी आपी महेश्वर है। नमूर्ति वेद स को स्थान स्थित नहीं है। वह एक स्वरूपवत् कहा हुआ महावत् [अव्ययवत्] है। उस का एक भाग सदा स्थिर है एक

आत्मनिक बर है। यही यजुर्वेद नाम का द्विषसप्रजापति है। इसी का निरूपण करते हुए मन्त्र के तीन पाद हमारे सामने आते हैं। विद्यनिर्माण आप की आहुति से होगा। यह इस प्रजापति का चौथा पाद है। तीन पाद विद्यके आधार किन्तु विद्यातीत हैं। इस निम्न सिद्ध-विपाद्विभूति विज्ञान को उच्च में रखकर मन्त्रद्वय अपि मे तीन पादों से तो विशुद्ध ब्रह्म का निरूपण किया है, एव एक [चौथे] पाद से विद्य का निरूपण किया है। यही तो मन्त्र का मन्त्रत्व है यही वेदवाची का उत्कर्ष है।

“अनेनैकं मनसो जवीषो, नैनेवा आप्नुवन् पूर्वमर्पत् ।

तदावतोऽन्यानस्पति मिषत् ..... ॥”

उक्त विपान्मन्त्र सृष्टि के मूलाधार का निरूपण करता है। सृष्टि ससृष्टिमात्रपर निर्भर है। ससृष्टि ही यह है, एक में दूसरे का आहुत होना ही यह है, अग्नि में सोम का आधान करना ही यह है। इसी विद्यात्मक यज्ञपाद का निरूपण करता हुआ निम्न लिखित चतुर्थपाद हमारे सामने आता है—

“तस्मिन्नपो मातरिषा दधाति”

द्विषस नामक यजुर्वेद के मूलाग से तप-धम-दारा यज्ञस्य नाम का अन्तः [सुब्रह्म] उत्पन्न हुआ यह कहा जा चुका है। प्रकरणसंगति के लिए केवल यही समझलेना पर्याप्त होगा कि पार्य की उत्पत्ति में [चाहे वह चेतन हो, या अचेतन] योनि, रेत, रेतोपा इन तीनों भावों की अपेक्षा रहती है। रेत उत्पत्ति का कारण है उपादान कारण है। परन्तु विशुद्ध रेत सृष्टि करने में असमर्थ है। अन्य प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर ही यह प्रजनयिता बनता है। बीच ही हुए बनता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु मूल में प्रतिष्ठित हुए बिना वह प्रजनन क्रम में असमर्थ है। इस प्रकार ओ ब्रह्म वस्तु का उपाधान बनता है—यह तो रेत है, एव

नित्य प्रसिद्ध में प्रसिद्ध होकर यह अपनी प्रथमशक्ति को विकसित करने में समर्थ होता है, यह प्रतिष्ठापति योनि है। बीजरूप रेत भी है, योनिरूप भूगम भी है। परन्तु फिर भी काम नहीं चलता। बीज को मृगम में बाधनेवाला तीसरा पदार्थ [क्या—बीजरूपमकरने वाला] भी होना चाहिए। यही तीसरा तत्त्व रेत का योनि में आधान करता हुआ—‘रेतोषा’ नाम से प्रसिद्ध है। वैद्यक में अग्नि योनि है, सोम रेत है, आहुति देने वाला अर्धरूप रेतोषा है। रेत का आधापन योनि में रेत का आधान करता है, तदनन्तर ही प्रजासृष्टि किंवा पदार्थोत्पत्ति होती है। सृष्टि, कामुक विमल प्रजापति सृष्टिनिर्माण करना चाहता है। सृष्टिप्रणिपत्य में रेत—रेतोषा—योनि तीन भाग अपवृत्त हैं। इधर प्रजापति के पास सिधाय अपने आप के (प्रजापतिरूप पञ्चम के) दूसरी कस्तु का अभाव है। इस अभाव की पूर्ति के लिए (कामना की कृपा से) उसे अपने आपको ब्रह्म—सुब्रह्म इन दो रूपों में परिणत होना पड़ता है। एक भाग से वह ब्रह्म बनता है, एक भाग से सुब्रह्म बनता है। ब्रह्म यमु है, सुब्रह्म आप है। पञ्च अग्नि है, यही योनि है। आप सोम है, यही रेत है। सुप्रसिद्ध मार्ग मातरिका नामक वायु रेतोषा है। आहुतिरूप आपो-ब्रह्म में आप—वायु—सोम—अग्नि—यम आदित्य यह ६ भाग बतलाए गए हैं। इन में अग्नि नाम का, यम वायु—‘यमा ने ब्रह्मसानन्त्यष्टे’ (शत ७।१।१।२) के अनुसार [इन्द्रप्रणिपत्य] सृष्टि का प्रवर्तक नहीं, अपि तु निवर्तक है, निष्प्रेरक है। सृष्टि सिधाय से होती है। सिधाय यही मार्गवायु है। इसकी प्रायः—पञ्चम—मातरिका—समिता इन चारों अवस्थाओं का पूर्व में निरूपण किया जा चुका है। इन चारों में विद्यमानरूपसमर्पक मातरिका वायु ही आपरूप रेत का आधान करता है। पूर्व प्रतिज्ञानुसार मातरिका के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक होगया है।

माता पृथिवी का नाम है, पृथिवी शब्द पिण्डमात्र का उपलक्षण है, जैसे कि पूर्व में बताया जा चुका है। प्रत्येक पिण्ड अग्निमय है। यह अग्नि विषय चित्तेनिधेय मेद से दो भागों में विभक्त है। विषयअग्नि से वस्तुपिण्ड बनता है, चित्तेनिधेय से बहिर्गण्ड का स्वरूप सम्पन्न होता है। इन दोनों में विलपिण्ड को संकेतमात्रानुसार ‘पृथिवी’ कहा जाता है, एवं चित्तेनिधेयगण्ड को दिव्यप्राण के सगावेश से ‘सुम्भोक’ कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्येक

वस्तु में पिण्डपृथिवी महिमायी इन दो भागों की सत्ता सिद्ध हो जाती है । समिता, प्राण, पञ्चमान इन तीनों मार्गवायुतत्त्वों का महिमामण्डल से सम्बन्ध है । महिमामण्डल में तीनों प्राण-वायु व्याप्त होकर पिण्ड पर अनुमह करते हैं । इधर महिमा का विकास त्रिपिण्ड के आनीन है । बिना पिण्ड के महिमा नहीं, एव बिना मातरिवा के पिण्ड नहीं । माता [पृथिवीरूप पिण्ड] के चारों ओर व्याप्त रहने वाला स्थिर वायु ही मातरिवा है । पिण्ड निर्माण करना, निर्मित पिण्ड को लक्ष्मण में सुरक्षित रखना यह दोनों कार्य मातरिवा के हैं । आपोमय समुद्र में आम्रिय वायु के प्रवेश से पानी का माग घन हो जाता है । घनावस्थापन यही पानी 'अपांशर' [पानी की धरा-मसार्ह] नाम से प्रसिद्ध है । यह घन परमाणु भूपिण्ड के उपादान बनते हुए पार्थिवपरमाणु नाम से व्यवहन होते हैं । इन्हीं के लिए—'अद्रव्यः पृथिवी' यह कहा जाता है । यह अद्रव्यपरमाणु, किंवा पार्थिव परमाणु उस आपोमय समुद्र में अतद्रूप से इतस्ततः व्याप्त रहते हैं । उस परिस्थिति में यही मातरिवावायु (जो कि ईश्वर प्रजापति का अवयव रूप होने से साक्षात् प्रजापति है) कहलाता है वह समुद्र में फैले हुए उन पार्थिव परमाणुओं का संकलन कर—उन पर व्याप्त होना हुआ उन्हें पिण्डरूप में परिणत कर देता है । एककालाव-च्छेदेन नियतकाल सत्र परमाणुओं को संकलित करना इसका पहिला काम है, संकलित कर पिण्डावस्थापन उस पदार्थ के चारों ओर वेष्टित होना इसका दूसरा काम है । यदि मातरिवा वायु एक ही समय में चारों ओर से परमाणुओं का संकलन न करे तो दूसरी ओर से परमाणु इतस्ततः निकल जाय । ऐसी अवस्था में पिण्डस्वरूपनिर्माण असंभव होजाय । चूंकि यह मातरिवा वायु एक ही काल में पृथ्वपरमाणुओं का चारों ओर से संवरण कर उस संकलित माया पद पिण्ड के चारों ओर स्थिररूप से व्याप्त होजाता है, अतएव इसे 'वराह' कहा जाता है । "हृणुते—( सहृणुते ) इति वराः, अहोनि—इति-वराः, वरमासौ वराभेति वराहः" वराह शब्द का यही निर्वचन है । इस महाविधि में स्वप्न-परमेष्ठी-सूर्य-आग्नेय-पृथिवी यह पांच महापिण्ड माने जाते हैं । परिभाषा के अनुसार ज्ञानज्योतिर्मय सब पिण्ड स्वप्न नाम से, अज्योतिर्मय सब पिण्ड परमेष्ठी नाम से, स्वज्योतिर्मय सब पिण्ड सूर्य नाम से परज्योतिर्मय सब पिण्ड

चन्द्रमा नाम से, एक रूपज्योतिर्मय सब पिण्ड पृथिवी नाम से प्रसिद्ध हैं । सप्तसोऽक्षमक विच मे अस्तस्य पिण्ड हैं । मध्यपिण्ड ही अस्तस्य हैं । इन सब पिण्डों की जाति उक्त प्रकार से पांच ही हैं । अतः यद्यथापि पिण्डों का स्वरूप परमेष्ठी आदि पांच महापिण्डों में अन्तर्भाव समझना चाहिये । पाँचों पिण्डों का स्वरूप इसी मातरिका नाम के बराबरानु से संज्ञा हुआ है । यदि प्रजापति ब्राह्मण का कहना है तो आपोमय समुद्र में परमाणुरूप से व्याप्त पाँचों की भूमि सदा के लिए पानी में डूबे रहते । इसी बराह की कृपा से भूमि का उद्धार होता है । अतएव पृथिवी को बराह की पत्नी माना जाता है । स्वप्न आदि पाँचों भूमियों का स्वरूप भिन्न भिन्न है, अतएव तत्स्वरूप सम्यक्, तत्संदिग्ध बराह ही पञ्चमा भिन्न होता हुआ पाँच स्वरूप धारण करकेता है । ये पाँचों बराह क्रमशः आदिबराह, यज्ञबराह, भैरवबराह, ब्रह्मबराह, एमूपबराह इन नामों से प्रसिद्ध हैं । विरह का आदिपर्व स्वप्न है, अतएव तत्सम्बन्धी बराह 'आदिबराह' नाम से प्रसिद्ध है । 'तस्मिन्मयो मातरिकापानि' इस मन्त्र-मया का मातरिका पारमेष्ठ 'यज्ञबराह' है । यह का प्रत्यक्ष विष्णु अक्षर है । इस की भिन्नभूमि यही परमेष्ठी है । अतः विष्णुमय परमेष्ठी को हम अक्षर ही यज्ञमूर्ति कहने के लिए तत्पर हैं । यदि च-आदि में सोमाहुति होना ही यज्ञ है । अग्नि अंगिरा है, सोम अश्व है । दोनों परमेष्ठी के मनोता हैं । स्वप्न का प्रसाधिकार अर्थात् ही वाक्मात्र से आपोमय ( यज्ञ-क्षिप्तेन ) यज्ञ बनता है, जैसा कि 'सैषा अग्निविद्या यज्ञः' इत्यादि से स्पष्ट है । इन्हीं सब कारणों से हम परमेष्ठी को यज्ञमात्रक मानने के लिए तत्पर हैं ।

प्रजाकामुक प्रजापति सर्वप्रथम आपोमय पारमेष्ठपञ्च को ही उत्पन्न करता है । पञ्चारा प्रथम का निर्माण करता है । इस आपोमय यज्ञात्म को विषयक में परिणत करनेका मात-रिका 'यज्ञबराह' नाम से प्रसिद्ध है । परमेष्ठी के अन्तर स्वरूप से प्रेरित, परन्तु सोम्य हृति से ज्योतिर्मय बना हुआ विच का केन्द्रमूल रवेत सूर्य है । इस का अक्षरक वायु 'रवेत-बराह' नाम से प्रसिद्ध है । प्रकृतिपञ्च में अग्नि होता है, वायु अथर्व्य है, आदित्य अङ्गाता

है, एक चन्द्रमा प्रकाश है। इसी प्रकाशक चन्द्रमा का स्वरूपसमर्पक मातरिका 'अक्षरा' है। भूमिपद का स्वरूपसमर्पक वराह 'पृथुपराह' नाम से व्यक्त होता है। 'पृथु' शब्दमें 'प्रा-पृ-सु' यह तीन भिन्न है। ईश भूमिपद की ओर इशारा है, प्रा-आसमन्तात् मायका बोधक है, सु-म्यसि का सूचक है। 'वह इस के चारों ओर बस रहा है' पृथु का 'यही' अर्थ है। इसी पार्विक वराह का स्वरूप बतलाती हुई कुति कहती है—

१ 'ता ( प्रादेशमात्री (पृथिवी) पृथु इति वराह उल्लेखान ।

सोऽथ : पतिः प्रजापतिः । ( यत् ११।१२।११ )

'स वै वराहो रूप कृत्वा उपन्यमर्जत । ( ११।१२।११ )

मातरिका पाशों का सामान्य नाम है, आदिपराह, यक्षपराहदि नियोजनाम हैं। वराह वायु रूप है। वायु अन्तरिक्ष की कृत् है। जैसे पृथिवी में दधिरस ( वनरस ) का साम्राज्य है, दुष्कोक में मधुरस का साम्राज्य है, परमेष्ठी में अमृत ( सोम ) का साम्राज्य है, एकमेव अन्तरिक्षात् वायु में वृत्तस ( तारा रस ) की प्रधानता है— 'वृत्तमन्तरिक्षस्य' ( यत् ---- ) । पृथिवी वायुप्राणप्रधान वृत्त सभी प्राणियों में रहता है, परन्तु इस की अतिमिश्र 'शुकर' नाम के पशु में ही रहती है। शुकर पशु उस वायुरूप आधिदैविक वराह की साक्षात् प्रतिमा है। जिस प्रकार क्षत्रिय प्रजापति का अवतार कूर्म ( वज्रमा ) है, एकमेव वराहप्रजापति का अवतार शुकर पशु है। अतएव इतर पशुओं की अपेक्षा शुकर में सभी ( वृत्त ) अतिमात्रा में उपलब्ध होती है। सब से अधिक वृत्त इसमें रहता है। इसी रहस्य को ज्ञाप्य में रखकर कुति कहती है—

"अथो ( पारिवाथी ) इ वै देवा वृत्तकुम्भ मयेगयाञ्जुः, ततो—

वराहः सम्बभूव । तस्माद् वराहो मेकुरा, घृतादि सम्भूतः"

( यत् ११।१३।१२ )

पार्विक अग्नि कह है। यह कोन [मय्यु] मूर्ति है, इसी में वृत्तकृति होने से शुक्लपशु उत्पन्न होता है। राजसूययज्ञ में दीक्षित राजा वराहीवपानत् [शुकरवर्म के ब्रह्म] पहिनाता

है । 'पशूनां वा एष मनुष्यैर्हराहः' [ तै० ब्रा० १।७।१।४ ]— 'वराहः क्रोधाः' [ ग्रे० श्र० पू० २।२। ] के अनुसार शूकर साक्षात् क्रोध की मूर्ति है । दो शेरों के बीच में से शूकर निर्भीक निकल जाता है, परन्तु दो शूकरों के बीच में से शेर नहीं आसक्तता । उस ब्राह्मण के स्वरूप ज्ञान के लिए श्रुतियों ने निदान किया के आधार पर उन की व्याप्ति शूकर जैसी बना जाती है । वह बराह वायु भूयुष्ठ से सञ्जन रहता है । यही वृत्ति तत्प्रतिवृत्तिभूत इस शूकर पशु की है । शूकर जब आवेश में आकर चलता है तो अपने शृंग से जमीन को कुदे दता हुआ भगाटे के साथ सू-सू-करता हुआ आगे बढ़ता है, यही वायु का व्यापार है । दोनों की समान वृत्ति है । पाठक यह सुनकर आश्चर्य करेंगे कि राजपूताने में होमवासी सुप्रसिद्ध चरिहरीणा के दूसरे दिन होने वाली ब्राह्मणिकता में जो मनुष्य ब्राह्मण बनता है वह चरिह की तरह सीरा घूमता हुआ नहीं चलता, अपि तु जमीन पर खीटता हुआ सरपट चलता है । क्यों कि जिस की स्थिति में यह खीटा होती है, वह बराह वायुका प्रभावपति इसी तरह चलते हैं । आपोमय मण्डल असुराणां की व्यापारभूमि है । परमाणुका धृति की किसी समय इन असुरों के अधिकार में थी परन्तु आगे जाकर इस ब्राह्मण प्रभावपति की कृपा से भूमिबद्ध अप्सुमुद्र से निकल कर सप्तसारावर्द्धिक सौरदेवताओं के अधिकार में आगम्य है । ब्राह्मण प्रभावपति असुरों के द्वेषी हैं देवताओं के उपकारक हैं । अतएव असुरावृत्तिभूत यवन दिव्याद्यो-पकारक बराहप्रभावपति की प्रतिवृत्तिभूत शूकरपशु को द्वेषवृत्ति से देखते हैं । भूमिबद्ध पर जो मन्त्रमाग रहता है उसे अपनी पावनशक्ति से नष्ट करते रहना बराहवायु का स्वाभाविक धर्म है । इसी बराहवायु के लिए 'पशवे' कहा जाता है । अतएव तत्प्रतिवृत्तिभूत शूकरपशु मन्त्रमाग का [विष्ठादि का] निराकरण किया करता है । पार्थिव भौतिक भाग से अन्त्यत्रादि की सृष्टि होती है । यही ब्राह्मण प्रवर्धित है । अतएव शूकरपशु और अन्त्यत्र [मन्त्र-मन्त्र] की एक वृत्ति है, मन्त्रविशेषन दोनों का समान धर्म है । शूकरपशु का पावन विशेषतः शरीर के घटों में होता है । इस प्रकरण से यहां हमें यही कहना है कि विद्यनिर्मल का प्रधान कारण रेत का व्यापार करने वाला पिण्डसृष्टि का प्रवर्धक मार्गविशेष वायु ही—'वातरिन्वा' है । 'मनेन्द्रदेह' योनि है, 'अप' रेत है । 'वातरिन्वा' रेतोपा है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होमागम्य ।

पूर्व में हमें यदुरूप ब्रह्माग्नि को पुरुष कहा था एवं सुकृतरूप आण को स्त्री कहा था । आज इससे ठीक विपरीत कहते हैं । अग्निरूप उस स्त्री है, आपोमय सुकृत पुरुष है । वह अग्निपुरुष ही बन रहा है, यह सुकृताग्नी पुरुष बन रही है । इस वैपरीत्य का प्रत्यक्ष अनुभव मनुष्य समाज में किया जा सकता है । आण जिन्हें मनुष्य कहते हैं, वे सब स्त्रियाँ हैं, एवं जिन्हें अग्नी कहते हैं, वे सब पुरुष हैं । इसी रहस्य का प्रतिपादन करते हुए महर्षि दीर्घतमा कहते हैं—

स्त्रियं सतीम्तां च मे पुंस आहु पश्यत्सुरासाम वि चेतदन्वः ।

कविर्यः पुंस स ईमाचिकेत यस्ता विजानात् स पितृप्पितासत् ॥

अनु सः १ अथर्वण, अस्याग्नीयसुक्त १६४, १५ म० ।

सर्वश्री सायणाचार्यने उक्त मन्त्र के आध्यात्मिक और आधिदैविक पक्ष वेद से दो अर्थ किए हैं । आधिदैवतपक्ष में सौररश्मियों की प्रचलता मानी है । रश्मियों पर ही अर्थ बताया है । एवं आध्यात्मपक्ष में निरस्तसमासोपाधिक विशुद्ध आत्मा व साय अर्थ का सम्भव किया है । श्वर वेद के प्रसिद्ध व्याख्याता यास्कमुनिने मन्त्र को आत्मगति परक समझा है । इस मन्त्र से हम जिस अर्थ का दिग्दर्शन कराने वाले हैं उसका किसी भाष्य से सम्बन्ध नहीं है, वह अप सतन्त्र अर्थ है । सायणाचार्य ने जो अर्थ किए हैं उनके सम्बन्ध में भी हमारी यह निप्रतिपत्ति है कि वहाँ पदार्थों का विज्ञानदृष्टि से निरलेपक नहीं हुआ है । केवल शब्दावली पर विश्राम हुआ है । इस कथन से हम अपने चेष्टेगी पाठकों को यह सूचित करना चाहते हैं कि उपसम्ब वेदभाष्य कर्मकाण्ड की दृष्टि से मले हैं । उपयोगी हो, परन्तु विज्ञानदृष्टि से भाष्यार्थ अनुपयुक्त एवं अमर्यादित से प्रतीत होते हैं । उदाहरण के लिए अमरशब्द को लीजिए । अमरशब्द का शाब्दिक अर्थों में 'अमरमिति द्वयस्वरम्' यह निर्बचन हुआ है । भाष्यकारने 'अत उमकपस्वरं, मपिसकपस्वरम्' यह निबचन किया है । विचार कीजिए क्या यह निर्बचन ठीक है । अत-और नम-अक्षर हैं इस सबविदित विषय के लिए अभीष्टाया अग्नि- 'अमरमिति-



इषत्वरम्' कहा हो—यह बात नहीं जचती । अथर्व ही भुति किसी गूढ़ अथर्व के सूचित करती है । हमारी इष्टि से यहाँ दो अक्षरों से अग्नि एव सोम अभिप्रेत हैं । पञ्चाक्षरों में ब्रह्मा विष्णु—इन्द्र—यह तीन अक्षर सहचारी हैं अग्नी सोम यह दो अक्षर सहचारी हैं । अग्नि की विकासभूमि सूर्य है, सोम की विकासभूमि चन्द्रमा है । सूर्यचन्द्ररस के सम्मिश्रण से अन्न का निर्माण होता है । यह अन्न ओषधि—वनस्पति जेठ से दोमागों में विभक्त है । ओषधियों में सौर अग्नि गौत्र रहता है, चान्द्रसोम प्रधान रहता है, अतएव यह मनोवक्त्र कर्त्तक हैं , अतएव चन्द्रमा को ओषधियों का प्रति कहा जाना है , चन्द्रमा ही मन का अभिप्रेता है । एवमेव वनस्पतियों में चान्द्रसोम गौत्र सौर अग्नि प्रधान रहता है । अतएव वनस्पतिवृद्धिर्बलक मानी जाती है सूर्य ही बुद्धि का प्रवर्तक है । इसप्रकार ओषधि—वनस्पतिरूप उभयविध अन्न में तारतम्य से अग्नि—सोम दोनों अक्षरों की सत्ता सिद्ध होनती है । भुति का अर्थ इन्हीं दो अक्षरों की ओर है, न कि आवाकबुद्ध विहित अत्—बीर नम् अक्षरों की ओर । यही दृष्टा उपर्युक्त मन्त्रार्थ की है । यद्यपि विषय अप्राकृत है तथापि शैली के परिचय के लिए रेतोज प्रकरण के सम्मिश्रण से उक्त मन्त्र का वैज्ञानिक अथ पाठकों के सम्मुख उपदिष्ट किया जाता है ।

उक्त मन्त्रार्थ के सम्मिश्रण में आत्मविषयिणीभावना, रश्मिविषयिणीभावना शुद्ध विषयिणीभावना इन तीन भावनाओं की प्रधानता है । प्रकृत में शुद्धविषयिणी भावना का ही सम्मिश्रण है, अतः सूचीकृष्टाह न्याय से पक्षिते सत्त्वो से आत्म० रश्मि० भावना का ही सिद्धान्त कथ्य जाता है ।

## १—आत्मविषयिणीभावना

आत्मविषयिणीभावना के सम्मिश्रण में आपको ब्रह्मात्मा दैवतात्मा, मृतात्मा इन तीन आत्मविषयों को सामने रखना पड़ेगा । स्वायम्भुवधात्मा को ब्रह्मात्मा कहा जाता है, सौर

१—इस विषय का विवर विवेचन उत्तरपत्र विज्ञानभाष्य के प्रथम वर्ग में उल्लेख्य ब्राह्मणभाष्य में देखना चाहिये ।

आत्मा देवात्मा है एव पार्थिवआत्मा भूतात्मा है। उपनिषद् में सायम्मुष आत्मा की प्रधानता है, निगमशास्त्र [ऋक्-यजु साम नाम से प्रसिद्ध वेदग्रन्थों] में सौरआत्म्य की प्रधानता है, एव आगमशास्त्र में पार्थिव भूतात्मा का निरूपण है। मौक्तिक सौरपदार्थों का निरूपण करने वाला ऋग्वेद है, यौगिक सौरपदार्थों का निरूपण यजुर्वेद है, एव सौरपदार्थों का पार्थिवपदार्थों के साथ सम्बन्ध रहस्य बतलाने वाला वेदविभाग सामवेद है। यह त्रयीविद्या निगमशास्त्र है, इस की प्रतिष्ठा देवात्मा है। केनोपनिषद् में इन तीनों का विस्तार से निरूपण होने वाला है। अतः प्रकृत में इनके नाम मात्रों का उल्लेख कर दिया है। वहाँ ( केनोपनिषद् में ) 'ब्रह्म इ देवेभ्यो विभिन्नं' 'भूतेषु भूनेषु निविश धीराः यह कहा गया है। इनमें ब्रह्म' ब्रह्मात्मा है, 'देवेभ्यः' देवात्मा का सूचक है एव 'भूतेषु भूनेषु' भूतात्मा का सूचक है।

अभ्ययपुरुषात्मन्वनरपुरुषसाधनअक्षरपुरुष ब्रह्मात्मा है यही औपनिषदपुरुष कि वा औपनिषदात्मा है। अभ्ययप्राणरूप अग्नीप्राण के समन्वय से जिस अग्नीप्राण का उदय होता है, वह इतर प्राणों का (इन्द्रियप्राणों का आत्मा है इसी का नाम देवात्मा है। यही नैगमिक आत्मा है। जो जिसका उक्त-ब्रह्म-साम होता है, वही उसका आत्मा कहसकता है। यही आत्मा भूतात्मा है। इसी को आगमिकआत्मा कहा जाता है। इन तीनों में से प्रकृतमन्त्र औपनिषदात्मा (ब्रह्मात्मा) का ही निरूपण करता है।

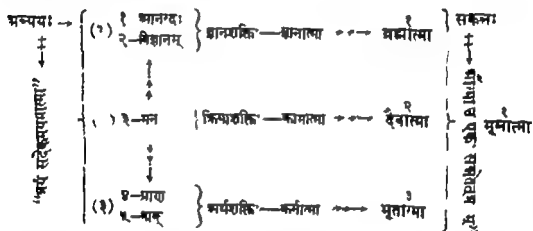
उक्त तीनों आत्मविषयों एकमात्र अभ्यय पुरुष की विभूति हैं। वही ब्रह्मात्मा है, वही देवात्मा है, वही भूतात्मा है- 'मत् परतरं नान्यत्'। अभ्ययपुरुष की आनन्द-विज्ञान-मत्-प्राण-वाक् यह पांच कक्षाएँ बतलाई गई हैं। इन पाँचों के आत्मैक-विज्ञान मत् प्राणवाक् यह तीन विभाग हैं। प्रथम विभाग ज्ञानप्रधान ज्ञानात्मा है, दूसरा विभाग काम (इच्छा) प्रधान कामात्मा है, तीसरा विभाग कर्मप्रधान 'कर्मविम' है। ज्ञानात्मा ज्ञानशक्तिप्रधान है, कामात्मा क्रियाशक्तिप्रधान है, कर्मात्मा अयशक्तिप्रधान है, इसी को अमात्मा भी कहा जाता है। व्याघ्रानाथ का नाम अर्थ है। अर्थ की ही यात्रा होती है। यह विभाग मौक्तिक विभाग है।

इसी अम्ययपुरुष से आगे जाकर अक्षर और आत्मक्षर का विकास होता है। महामाया के सम्बन्ध से इन्द्रियवस्त्ररूप अक्षराक्षर का विकास होता है, जैसा कि पुरुषनिर्दिष्ट में विस्तार से बताया जा चुका है। अध्यात्म का कसामृत कर्मात्मा प्राणबाह्मण कसामाया गया है। इस पर कामरुपात्म मन का भी अनुग्रह रहता है। अतएव अध्यात्मकर्मात्मा मन-प्राण-बाह्म मेरु से त्रिकल बन जाता है। कर्मात्मा का मोक्षान्न ज्ञानशक्तिजन होता हुआ ज्ञानात्मा है, प्राणमात्र क्रियाशक्तिजन होता हुआ कामात्मा है एवं बाह्माग्न अर्थशक्तिजन होता हुआ कर्मात्मा है। इस प्रकार अम्यय के केवल कर्मात्मा में भी मन-प्राण-बाह्म मेरु से उक्त तीन आत्माओं का भोग सिद्ध हो जाता है। दूसरा विभाग ज्ञानात्मा का है। आनन्द विज्ञान को ज्ञानात्मा कहा है। जिस प्रकार मध्यपतिन कामरूपमन का कर्मात्मरूप प्राणबाह्म पर अनुग्रह होता है, एवमेव आनन्द विज्ञानरूप ज्ञानात्मा के साथ भी मन का सम्बन्ध होगा है। ऐसी स्थिति में अम्यय का ज्ञानात्मा मात्राग आनन्द-विज्ञान-मन मेरु से त्रिकल बन जाता है। आनन्द शुद्ध ज्ञानमूर्ति बनता हुआ ज्ञानात्मा है, विज्ञान क्रियामय होता हुआ कर्मात्मा है, मन अर्थों की व्यापारमूर्ति बनता हुआ कर्मात्मा है। इस प्रकार अम्यय के केवल ज्ञानात्मा में भी आनन्द-विज्ञान-मन मेरु से उक्त तीनों आत्माओं का भोग सिद्ध हो जाता है। तीसरा है मध्यपतिन कामरूपमन नाम का कामात्मा। जिस प्रकार अम्यय के आनन्द विज्ञानरूप ज्ञान मात्राग के साथ एवं प्राणबाह्मरूपकर्मभोग के साथ मध्यस्थ मन का सम्बन्ध रहता है एवमेव मध्यस्थ मन पर भी ज्ञान-कर्मात्मा दोनों का अनुग्रह होता है। ज्ञानात्मा के सम्बन्ध से (आनन्द विज्ञान के सम्बन्ध से) मन में काम (कामना इच्छा) का उदय होता है। 'ज्ञानमन्या महेन्द्रिच्छा' यह सिद्धान्त सर्वसम्मत है। कर्मात्मा के (प्राणबाह्म के) सम्बन्ध से मन में आहरण का उदय होता है। मध्यस्थ मन काम व्यापार के सम्बन्ध से घुम्न हो पड़ता है, यह खोम ही किया है। इस प्रकार केवल मनमें ही काम-विशेष-व्यापार इन तीन दृष्टियों का उदय हो जाता है। जागृतगुणीत काममयमन ज्ञानात्मा है कर्मानुमदीत व्यापारमय मन कर्मात्मा है, विशेषगुणवा नहीं मन कामात्मा है। इस प्रकार काम विशेष-व्यापार के सम्बन्ध से केवल मध्यस्थ कामात्मारूप मन में भी उक्त तीनों आत्माओं का भोग सिद्ध

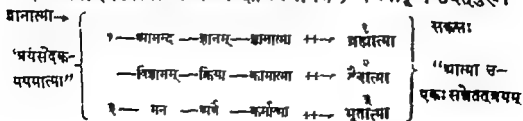
हो जाता है। स्वयं पञ्चकक्ष कश्चिन्मय त्रेधा विभक्त है। इस की प्रत्येक कक्षा पुन त्रेधा-त्रेधा विभक्त है। यही त्रिपाद्विमृति है। इस विमृति का सूक्ष्मतम आत्मा का त्रिपदमात्र है जिसका कि पुरुषात्माधिकरण के मनभावनाक के त्रिपदमात्र की व्यापकता” प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

## महामायावच्छिन्न - निष्कलो - मायी - अव्ययपुरुष - सर्वालम्बनम्

अध्यात्म-त्रिपात् (त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष)



१- ज्ञानात्मा (ब्रह्मात्मा आनन्दविज्ञानमनोमय) “त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष”



## ०-कायात्मा (देवात्मा-कामविद्येपावशामय) 'त्रिपादूर्ध्व उदेतपुरुषः'

काया-मा →	१-कामः — कामम् — कामात्मा ++ →	ब्रह्मात्मा	} सकमाः ‘मा-मा उ एक- समेतवचयम्’
‘अपे सदक मयम रमा’	२-विद्ये — विद्या — विद्यात्मा ++ →	देवात्मा	
	३-पावशम् — पावशः — पावशात्मा ++ →	भूमात्मा	



## ३- कर्मात्मा (भूतात्मा मनप्राणवाहमयः) ‘त्रिपादूर्ध्व उदेतपुरुषः’

कर्मात्मा →	१-मनः — मनम् — मानात्मा ++ →	ब्रह्मात्मा	} सकम ‘मात्मा उ एकः समेतवचयम्’
अपे सदक मयमरमा	२-प्राण — प्रिया — प्रियात्मा ++ →	देवात्मा	
	३-वाक् — वाक् — वृतात्मा ++ →	भूमात्मा	



कर्मात्मा अर्धव पुरुष कर्मात्मा अर्धव पर प्रतिष्ठित है, कर्मात्मा का आश्रयन इनात्मा है। इनात्मा सुखि का आश्रयन है, कर्मात्मा सुखिसाक्षी है, कर्मात्मा (प्रकृत्याप) सुखिकर्त्ता है। इस कर्मात्मा का आगे आकर अक्षर और आत्मक्षररूप अन्तरंग प्रकृति पर अनुग्रह होता है। कर्मात्मा की ज्ञानमयी धर्मोक्तता अक्षररूप से (अर्धवकूप से) प्रतिष्ठित पड़ी है, दूसरे रूपों में अर्धवपुरुष का प्रमाण होता हुआ ज्ञानात्मा है, ब्रह्मात्मा है। प्राणकत्ता का अक्षर पर अनुग्रह होता है इससे अक्षर कियामय बनता हुआ देवात्मा बनजाता है। वाक्कत्ता का अनुग्रह आत्मक्षर पर होता है इससे अर्धवच-मयतात्मा बनजाता है। अर्धवच-मयतात्मा अर्धवच-मय बनजाता है अक्षर देवात्मा भूमात्मा है। पुरुष की इसी विभूति है।

१-अभ्ययपुरुष (ज्ञानम्) - ज्ञानप्रधानो मनोमय - ज्ञानात्मा - - - - - ब्रह्मात्मा

२-अक्षरपुरुष (क्रिया) - क्रियाप्रधान प्रत्यक्षमय - कर्मात्मा - - - - - देवात्मा

३-आत्मक्षरपुरुष (अर्थ) - अर्थप्रधानो वाक्मय - कर्मात्मा - - - - - मूर्तात्मा

अभ्ययपुरुष पुरुष है प्रजापति है । अक्षर और क्षर इसकी प्रजा है । अक्षरप्रजा देवता है, क्षरप्रजा मृत है । देवतानि च मृतानि च' यह प्रसिद्ध है । देवितानि देवात्मा है, मृतानि मूर्तात्मा है, अथ अभ्यय ब्रह्मात्मा है । योगमाया सम्बन्ध से हैक्ष अक्षर, और मोतिकक्षर दोनों की पांच पांच कक्षाएँ होजाती हैं, बिनाकि कि बिना निरूपण पुरुषनिरूपित में होचुका है । इन तीन आत्मकों में अभ्यय प्रधान आत्मा है अक्षर एव क्षर बिना है , दोनों की समष्टि विपुरुष पुरुष है । अभ्यय पुरुष है अक्षर अक्षर है क्षर मृत है । इन्ही तीन कक्षाओं का निरूपण करती हुई यत्तु कृति कहती है—

पुरुष एवेदं सर्वं यत्तुमृत यच्च भाव्यम् ।

उतामृतत्वस्थेशानो यदभेनातिरोहति (पञ्च स० ३१।४) ।

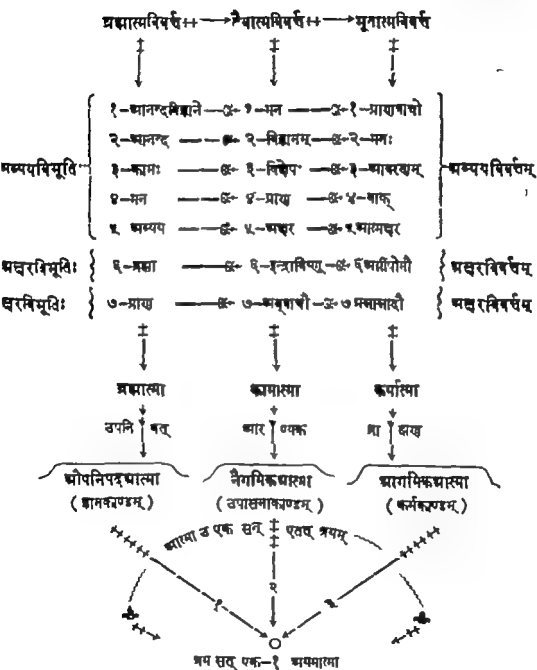
मन्त्र का पूर्वभाग अभ्यय पुरुष का निरूपण करता हुआ कहता है कि आत्मा का सारा प्रपञ्च पुरुष विभूति से व्याप्त है । पुरुष ही अक्षर बना है, क्षरीक्षर बना है । अमृत का आविष्टाता अक्षर है, एव जो अमृत से प्रसृष्ट होता है वह क्षर है । अक्षर पुरुष के लिए जहाँ 'न मेघति न क्षप्यति' कहा जाता है, वहाँ क्षर के लिए 'यदभेन-अतिरोहति' यह कहा गया है । अर्पण कर्माभेदों के कारण अक्षर और क्षर पुरुष भी पुरुषवत् विपादविभूति से युक्त होजाता है । अक्षर अभ्यय की ज्ञानकक्षा से अनुगृहीत होता हुआ ज्ञानात्मा, किंवा ब्रह्मात्मा है । इन्द्रा विष्णु (दोनों अक्षर) अभ्यय की क्रियाकक्षा से अनुगृहीत बनकर कामात्मा, किंवा देवात्मा है । अग्नीषोमाक्षर अभ्यय की अर्थकक्षा से अनुगृहीत होकर कर्मात्मा किंवा मूर्तात्मा है । इसी प्रकार प्राणक्षर अ० वा स अनुगृहीत होकर ज्ञानात्मा ( ब्रह्मात्मा ) है, आपवाक्षर क्रिया से अनुगृहीत कामात्मा [देवात्मा] है एव अमावाक्षर अर्थानुगृहीत कर्मात्मा [मूर्तात्मा] है । इस प्रकार अक्षर और क्षर में भी पूर्वोक्त तीनों आत्मविकृतों का योग होरहा है ।

## अक्षरपुरुषस्त्रिपात्

१	१-ब्रह्मा	] ब्रह्मम् — ब्रह्मात्मा ++ → ब्रह्मात्मा	} विषयार्थ उद्देश्यपुरुषः
२	२-इन्द्र	{ विष्णु — कर्मात्मा — देवा मा	
३	३-विष्णु		
४	४-अग्नि	{ अर्थ — कर्मात्मा — मृतात्मा	
५	५-सोमः		

## क्षरपुरुषस्त्रिपात्

१	१-ब्राह्म	} "विषयार्थ उद्देश्यपुरुषः"
२	२-विष्णु	
३	३-अग्नि	
४	४-सोमः	
५	५-ब्रह्मा	





अव्यय, अक्षर, अक्षरमेव से पुरुषत्रयरूप वह पुरुष विद्य में चेतन, अक्षरचेतन, अचेतन मेव से तीन विभागों में विभक्त हो रहा है। चेतनमृष्टि उसका पहिला विर्त है, इसका प्रधान अविद्यता अक्षरविशिष्ट अव्ययपुरुष [ज्ञानात्मा] है। अक्षरचेतनमृष्टि इसका दूसरा विर्त है, इसका अविद्यता अव्ययपक्षविशिष्ट अक्षरपुरुष [कामात्मा] है। एव अचेतनमृष्टि तीसरा विर्त है। इसका अविद्यता अव्ययपक्षविशिष्ट अक्षरपुरुष [कामात्मा] है। चेतनमृष्टि में अक्षरब्रह्मा, एव कप्पाव का सहयोग है, अक्षरचेतनमृष्टि में इन्द्राविष्णु अक्षर, एव आप-वायु का सहयोग है। एव अचेतन मृष्टि में अग्निसोमअक्षर, एव अमानादक्षर का सहयोग है। चेतनमृष्टि ब्रह्ममृष्टि, किंवा अक्षरमृष्टि है। अक्षरचेतनमृष्टि देवमृष्टि किंवा प्राणमृष्टि है। एव अचेतनमृष्टि भूतमृष्टि, किंवा अक्षरमृष्टि है। जैसा कि निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्ट हो जाता है।

- १-ज्ञानात्मा-अव्यय-ज्ञानेन-चेतनमृष्टि — ३- ब्रह्मात्ममृष्टि.  
 २-कामात्मा-अक्षर-कामेनाक्षरचेतनमृष्टि — ४- देवमृष्टि.  
 ३-कर्ममा-अक्षर-कर्मणा-अचेतनमृष्टि — ५- भूतात्ममृष्टि.

पौंडरीपुरुषस्त्रिपाद

- १-ज्ञानात्मा-अव्यय-ज्ञानेन चेतनमृष्टि — ३- ब्रह्मात्ममृष्टि.  
 २-कामात्मा-अव्यय-कामेन अक्षरचेतनमृष्टि — ४- देवमृष्टि.  
 ३-कर्ममा-अव्यय-कर्मणा अचेतनमृष्टि — ५- भूतात्ममृष्टि.

अक्षरपुरुषस्त्रिपाद

- १-ज्ञानात्मा — ब्रह्मा — ज्ञानेन चेतनमृष्टि. — ३- ब्रह्मात्ममृष्टि.  
 २-कामात्मनी-इन्द्राविष्णु-कामेनाक्षरचेतनमृष्टि — ४- देवमृष्टि.  
 ३-कर्ममात्मनी-अग्निशोनी — कर्मणा-अचेतनमृष्टि ५- भूतात्ममृष्टि.

अक्षरपुरुषस्त्रिपाद

- ४
- |  |                    |
|--|--------------------|
| १-ज्ञानात्म्य — प्राण — ज्ञानेन चेतनसृष्टि — छ- ब्रह्मात्मसृष्टि | } चरपुरुषस्त्रिपाद |
| २-कामात्म्यमौ-अव्ययौ-कामेनाद्यचेतनसृष्टि — छ- देवात्मसृष्टि      |                    |
| ३-कामात्म्यमौ-अभावाद्यौ-कमला-अचेतनसृष्टि — छ- भूतात्मसृष्टि      |                    |

इम तीन सृष्टियों का ज्ञानो जाकर सृष्टरूप में स्वयम्-सूर्य-पृथिवी इन तीन दिग्गों में विकसित होता है। स्वयम् चेतनसृष्टि का आसम्बन्ध है, अतएव प्रवक्तव्यारम्भ में हमने ब्रह्मात्मा को ज्ञावन्मुख आत्मा कहा है। सूर्य अर्द्धचेतनसृष्टि का आसम्बन्ध है, अतएव देवात्मा को सीरआत्मा कहा है। पृथिवी अचेतनसृष्टि का आसम्बन्ध है, अतएव भूतात्मा को पार्थिवआत्मा कहा है। स्वयम् ब्रह्म है, सूर्य देव है, पृथिवी भूत है। यह सृष्ट आत्मविवर्तों की बरत अव-सानभूमि है।

- |  |                               |
|--|-------------------------------|
| १-ब्रह्म-स्वयम्-ज्ञानमयो-मनोमय — ज्ञानात्मा — छ- ब्रह्मात्मा | } त्रिपादूर्ध्व चर्द्धतपुरुषः |
| २-देव-सूर्य — त्रियामय प्राणमय — कामात्मा — छ- देवात्मा      |                               |
| ३-भूतम्-पृथ्वी — अर्थमयी — कामयी — कामात्मा — छ- भूतात्मा    |                               |

- |  |
|--|
| १-पञ्चकलात्म्य-त्रिकलात्म्य-ब्रह्म-प्राणमय-ज्ञावन्मुख आत्मा — छ- ब्रह्मात्मा |
| २-पञ्चकलादर-एककलात्म्य-इन्द्राधिप्यु-आपोमय — सीर आत्मा — छ- देवात्मा         |
| ३-पञ्चकलादर-त्रिकलात्म्य-आग्नीमोम-अभावाद्यमय-पार्थिव आत्मा — छ- भूतात्मा     |

- |   |                       |
|---|-----------------------|
| १-चेतनाप्रधान-पुरुष-चेतनपुरुष             | } 'पुरुष एवेद सर्वम्' |
| २-अर्द्धचेतनाप्रधान-पुरुष-अर्द्धचेतनपुरुष |                       |
| ३-अचेतनप्रधान-पुरुष-अचेतनपुरुष            |                       |

उक्त तीन आत्मविक्तों के कारण त्रेधा विभक्त आत्मपुरुष की उपासना भी तीन ही तरह से हो सकती है। समस्त उपासियों में उपासना के तीन ही द्वार हैं। वह आत्मपुरुष चेतन दृष्टि से भी उपास्य है, अद्वैतनदृष्टि से भी उपास्य है, अचेतनदृष्टि से भी उपास्य है। अग्नि काशी मेद से उपासना मेद प्रतिष्ठित है। प्रपञ्चाधिकारी अचेतनदृष्टि से उसकी उपासना कर सकते हैं, मन्मथाधिकारी अद्वैतनदृष्टि से, एव उच्छ्वाधिकारी चेतनदृष्टि से उसका ध्यान कर सकते हैं। यही तीनों उपासनाएँ सर्वभूतात्मरात्मोपासना, विरहयगमोपासना, अश्वत्थोपासना नाम से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों उपासनाधर्मों का उपासियों में पृथक् पृथक् रूप से निरूपण हुआ है। विस्तारमय से अधिक न कहकर प्रकृत में केवल तीनों उपासनाओं के तीन मन्त्र उपलब्ध कर लिए जाते हैं—

अभिपूजां वसुषी वन्द्युषी दिग्ग ओजे वाग्विदनाह वेदा ।  
 वायुः माणो हृदयं निष्पत्स्य पञ्चम्यां पृथिविष्वेय सर्वभूतान्तरात्मा । सर्वभूतान्तरात्मा  
 (मुपद्रु० २।१।४)

२ हिरण्यगर्भं समपत्न्यान्ने भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।  
 स दाधार पृथिवीं धाम्नुतेमां कस्मै देवाय इतिषा विधेय ॥  
 ( यजु-सं० ११।४ )

३ कर्ममूढोऽवाकूशात् एषोऽभ्युत्थ सनातनः ।  
तदेव शुभं तद् ब्रह्म तदेवावृतमुष्णये ॥ (कठ० ३।११) ।  
यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्, यस्माद्वाणीयो न श्वायोऽस्ति करिषत् ।  
इह इव स्तब्धो ऽग्निः तिष्ठत्येकस्मिन्नेव पूर्वे प्रक्षेप्य सर्वम् ॥  
(श्वेता ३।२)

सबभूतान्तःशायनोपासना सर्वभूत उपासना है। सर्वभूत विग्रह रूप है, सर्वरूप है।  
 पृथिवीरूप सारो लोक, भूत, देवता, पक्ष सब कुछ इसके अन्तर में समावे हैं। सत्लोक

सम्बन्ध से ही इसे 'सत्त्ववितस्त्रिकाय' कहा जाता है। यही निरवेष्टर है, यही ब्रह्मात्मा है। इस विश्वरूप की उपासना करना, निरन्तर उसके व्यापक स्वरूप का चिन्तन करते रहना व्याप्तिक्रम का मुख्य हेतु है। इससे आत्मज्ञान का उदय होता है, कारण यह व्याप्त आनात्म्य बनता हुआ मनप्रधाना चेतनसुद्धि का अभिधत्ता है।

हिरण्यगर्भोपासना स्यम्मा उपासना है। स्य स्वयं हिरण्यगर्भ है। सौरभामिमण्डल हिरण्य है। इसके गर्भ में स्य प्रविष्टित है। हिरण्य के चारों ओर भाष् भीर वाक् का स्वर है। सतत सूर्यभान से अप्यात्मगत देवप्राण सबस बनता है। आत्मज्ञानोपकारिणी विद्यासुद्धि का उदय होता है। कारण यह आत्मा कायात्मा (दैत्यात्मा) बनता हुआ प्राणप्रधाना अर्द्धमनसुद्धि का अभिधत्ता है।

अश्वत्थोपासना पृथिवीमूला है। "बह एक रतम्ब वृक्षवत् खड़ा है, बह शांत है, भवन्न है" इस प्रकार से विश्व की वृक्ष (सत्तारवृक्ष) दृष्टि से भावना करने वाले के आत्म में अथ शक्ति का उदय होता है। अर्धज्ञात क्रिया पर अधिकार करता हुआ उपासक अन्तरंग प्राप्त करने में समर्थ होजाता है।

यही तीनों उपासनाएँ ओङ्कारोपासना, उद्गीथोपासना वमोपासना नाम से भी व्यवहृत हुई हैं। स्यम्भूमूला सर्वभूतान्तरात्मोपासना ओङ्कारोपासना है, जैसा कि श्रुति कहती है—

'ओमित्येतद्वरमिदं सर्वम् । तस्योपस्थानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यथान्यत् त्रिकालातीत तदप्योङ्कार एव' (माण्डूक्य उ० १)।

"एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः" [ प्र० उ० १ ]।

स्यम्मा हिरण्यगर्भोपासना उद्गीथोपासना है, जैसा कि "य एवासौ तपति तमुद्गीथं मुपासीत" (का० उ० ३।१।१) इत्यादिकार्य से स्पष्ट है। एवं तीसरी पृथिवीमूला अश्वत्थोपासना प्रणवोपासना है। प्रमणोपास यद् भी प्रधान रहना चाहिये कि इन उद्गीथोपासना स्यम्भूमूला ओङ्कारोपासना (सर्वभूतान्तरात्मोपासना) का निष्कर्षण करती है, जैसा कि 'ओ पृथग् यद् पृथग्मिदम्'

इस अन्नरस के मांसपाठ से सिद्ध है । कठोपनिषत् पृथिवीमूला प्रणवोपासना (अन्नोपासना) का निरूपण करती है, ऐसा कि 'ऊर्ध्वमूषोऽन्नाकृशात् एषोऽप्रवृत्त्य' सनातनः' (कठ० ६।१।) इत्यान्त्रिरूपसे स्पष्ट है । एवमुपनिषत् सूक्तमूला उद्गीषोपासना (विरूपमूर्तोपासना) का निरूपण करती है, ऐसा कि 'तदन्तरासर्ष [आन्त्रिमः] मन्त्रेषु कर्णादि कवयो यन्मप्यंश्यन्' [सु० १।२।१।] येनामरं पुरुषं वेदं ससम्' [सु० १।२।१३।] "यत्र पवत तत्र सूर्यः" [सु० २।१।६।], "विरूपमये परे कौठे विरज प्रवृत्तिर्यजन्म" [सु० २।२।१।] यदा पश्य परयेत रुमवृत्त्यम्" [सु० ३।१।३।] 'बृहत् तद्विष्णुमयिन्सकपम्" [सु० ३।१।७।] "स्वयं जुहुव एकर्षिं ब्रह्मरूपाः" [सु० ३।२।१०] इत्यादि कर से स्पष्ट है । तीनों ही उपासनाओं का सत्य अन्तिम है । सत्यम् को मूल मानकर पृथिवी तक व्याप्ताना ओंकारोपासना है । पृथिवी को मूल मानकर सत्यम् तक चले जाने प्रणवोपासना है । सत्य को मूल मानकर एव पृथिवी एवं उपर सत्यम् तक चले जाना उद्गीषोपासना है । प्रणव भी ओंकार है, उद्गीष भी ओंकार है । जो प्रणव है वही उद्गीष है, जो उद्गीष है वही प्रणव है । इष्टिकोश में वेद है, पञ्चत तीनों आत्मवृत्ति से अन्तिम है । इसी अन्तिमता को सत्य में रखकर आन्दोग्यवृत्ति कहती है—

“अथ स्वस्तु य उद्गीष स प्रणव, यः प्रणव स उद्गीष इति ।

असौ वा आदित्य उद्गीषा, एषा प्रणवः—ओम् । इत श्लोच स्वरभेति”

(सु० उ ३।१।)

ओंकारोपासना अन्नोपासना है, उद्गीषोपासना अक्षरोपासना है, प्रणवोपासना सरोपासना है । अक्षर अन्त्य का स्वरमूला अक्षर पर अक्षर का सौराक्षर पर, अक्षर का पारिषाद अक्षर पर अनुपाद है, ऐसा कि पूर्व की तालिकाओं से स्पष्ट कर दिया गया है । इन तीनों उपासनाओं में प्रणवोपासना मूलतः से सम्बन्ध रखती हुई कर्माकाङ्क्ष है, उद्गीषोपासना मूलतः स्वा से सम्बन्ध रखती हुई उपासनाकाङ्क्ष है, ओंकारोपासना मूलतः से सम्बन्ध रखती हुई ज्ञानकाङ्क्ष है । गीता इसी उपासना को प्रधान मानती है । कर्म का सम्बन्ध बाह्य मूलतः के साथ है, उपासना उन्मा की ही होती है, ईश्वर अनुपास्य है, केवल ज्ञानमय है ।

- १-सर्वभूत-गतात्मोपासना—( स्वयम्भूमूला—ब्रह्मात्मोपासना—स्योऽकारोपासना )—ज्ञानकण्डम्  
 २-हिरण्यगर्भोपासना—( मूषमूला—दैव्यात्मोपासना—उद्गीषोपासना )—उपासनाकण्डम्  
 ३-अथ योपासना—( पृथिवीमूला—भूतात्मोपासना प्रकृतोपासना )—कर्मकण्डम्

औपनिषत्काल में उपासना का यही क्रम था । परन्तु फलसम्पत्तिक्रम से क्यों क्यों मानव समाज का बौद्धिकवृद्धि निश्चय होता गया क्यों क्यों वह प्राकृतिक तत्त्वों की उपासना में शिथिल बनता गया । अतएव पुराणयुग में उस तीनों उपासनाएँ यनिषोपासना रूप में परिणत हो गई । इस का यह अर्थ नहीं है कि प्रतिमोपासना अव्यक्तिक है । स्वयम्भू-सूर्य पृथिवी भी तो उर्मा की प्रतिमा हैं । पृथिवीपर दृष्टि रखनी जाती है, मनोयोग आभापर रहता है । सूर्यविम्ब प्रतिमा है, इस पर दृष्टि रखनी जाती है, तद्वाच्य ज्ञान संप्रसारक आत्मा का विषय जाता है । निरुक्त से अनिरुक्त पर पहुँचना ही तो प्रतिमोपासना है । सूर्य को सदैव बनाकर मूर्त पर पहुँचना ही प्रतिमापूजन है । “दृष्टि अथपर-अहम् अथ पर” इसी का तो नाम उपासना है । विष्णु का अमृत की उपासना तो बन ही नहीं सपनी । उपासना मूलग्रन्थ, किंच मूर्ति की ही हो सकती है । कोर् प्राहनिः पृथिवी-मूषपिण्ड आदि मूर्तियों की उपासना करना है तो अस्मद् राक्ष साधारण अधिपति पृथिवी के अवयवरूप पाषाणादि की प्रतिमा को ही भगवत्पूजना का साधन मानते हैं । सत्य एक है, प्रकृति में भेद है । पुराणों में किसी नईन अदिक पद्धति का अनुसरण नहीं किया है अपि तु जो उपासना वे ( उपनिषद् ) में आरीक्ष्य में है उस अधिपति का की शिथिलता से अज्ञ का रूप दे शक्तता है, जसा कि निम्न विनिर्दिष्ट रूप में स्पष्ट है ।

१- तन्नैदृशिः गगनोत्तमम् । २-अर्धरात्रौ दृष्टिः, अर्धरात्रौ चान्द्रम् । ३-अपरात्रौ च ध्रुवोत्तमम् ।

● इस विषय का विस्तार विवेचन नीचे विवरण में है ।

धिषन्त्यस्याग्नेयस्य निगुणस्य गुणा मनः ।

उपासकानां सिद्धयर्थं ब्रह्मस्यो रूपरूपिणा ॥

जो कम उक्त तीनों उपासनाओं का था, वही कम यहाँ रक्ता मय । ब्रह्म ही उपासक यह जानते हैं कि आर्यशक्त में उपासना के गुणस्त्वम् दो मार्ग जाते हैं । प्रथम पक्षिणा स्त्वम् है वृषादि दूरात स्त्वम् है । पीपल-बट-तुपसी-केला आदि वृक्षों की उपासना की जाती है । भगवद्भक्ति, भगवत् प्रतिमाधी की उपासना की जाती है । यह प्रथमोपासना साकर-निराकर भेद से दो मार्गों में विभक्त है । शास्त्रप्रामोपासना निराकारोपासना है । इत्य-पत् उर-कटादि शरीर अवयवयुक्त मूर्तियों की आराधना साकारोपासना है । इस प्रकार शास्त्रप्रामोपासना, प्रतिमोपासना, वृक्षोपासना भेद से पौरुषिक उपासना तीन मार्गों में विभक्त है । चेतनवृष्टि सदा अर्द्धेन्द्र होती है, बहुत नहीं होती । पुरुष [मनुष्य] चेतन है, वह अर्द्धेन्द्र है । आये अर्द्धेन्द्र से इसका निर्माण हुआ है । इस उपासना में प्रथिमा का स्वरूप पुरुषाकार जैसा बनाया जाता है । यही सुप्रसिद्ध प्रतिमोपासना पक्षिणी सर्वमूलान्तगामोपासना है । अर्द्धचेतनोपासना श्वस्यमोपासना है, यही शिरष्मामोपासना है । श्वस्यमप्रथिमा के केन्द्र में मुख रहता है । ऊपर का कृष्णस्तर सफेद है । मुख सूर्य की प्रतिमा है । श्वस्यम सचमुच द्विरुपगर्भ है । तीसरी अक्षयोपासना वृक्षोपासना है । श्वस्यमोपासना का बड़ा महत्व मान्य गया है । इसमें तीन भाग हैं । कृष्णभाज, रक्षिभाज, सूर्य भेद से श्वस्यम विभक्त है, विभाज पुरुष है । ऊपर का कृष्णभाज साक्षात् सफेद ब्रह्मा है, रक्षिभाज विष्णु है, केन्द्रस्थ सूर्यसंभाज शिव है । त्रिमूर्ति की समष्टि श्वस्यमप्रथिमा है ।

प्रचारान्तर से विचार करिए—

विश्व में आत्म के तीन प्रधान निवृत्त हैं । पक्षिणा उदासीनभाव है, दूरात महविभाव है तीसरा विकृतिभाव है । उदासीनभाव 'अमृतम्' है, प्रकृतिभाव 'ब्रह्म' है, विकृतिभाव 'युक्त' है । 'न तस्य कार्य करण च विद्यते' के अनुसार अमृतकृत उदासीनभाव कार्यकारण हीन है, प्रकृति वर्ती है विकृति वर्त्य है । कार्य, कारण कार्यकारणहीन भेद से एक ही पुरुष

तीन मार्गों में विभक्त हो रहा है। इस विषादनिवृत्ति का पूर्वके अमृतान्तरसम्प्रापकस्व में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। अतएव भिन्न तीन अयमन्त्रितों का विविध रूप से दिग्दर्शन बताया गया है, उस सारे आत्मप्रपञ्च को 'अमृतम्' समझिए। अभी ब्रह्म के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है। षोडशीपुरुष में ही ब्रह्म प्रकर से तीन आत्मविकृतों का भोग बताया गया है। ब्रह्मतम-देवतम-मृततमसमष्टिरूप षोडशीपुरुष अप्रतभावा है, इसीको ब्रह्मात्मा समझिए। यही विश्वान्तरमन्त्र है। प्राणादि पांच विकार स्वरूप पञ्चप्रकृति ब्रह्मभाव है, यही देवात्मा है। वाक्—आप—अग्नि की समष्टि विकृति भाव है, यही शुक्र है, यही मृतात्मा है।

- |   |          |
|---|----------|
| १- षोडशी पुरुष — उदासीनभाव — अमृतम् ++ → ब्रह्मात्मा — ( ज्ञानात्मा ) | } 'वदेव' |
| २- पञ्चकृतय — प्रकृतिभाव — ब्रह्म ++ → देवात्मा — ( क्षमात्मा )       |          |
| ३- तिस्रो विकृतय — विकृतिभाव — शुक्रम् ++ → मृतात्मा — ( कमात्मा )    |          |

उपर्युक्त इन तीनों आत्माओं के निम्नलिखित लक्षण समझने चाहिए—

- १- "अव्ययपुरुषात्तन्मन्त्र स्वरूपसाधकोऽस्वरूपः" — ब्रह्मात्मा ( भौगोनिपदआत्मा )
- २- "वाक्स्वयमाणाग्नीमास्यसमवाये योऽयमग्नीषोः { देवात्मा ( नैगमिकआत्मा )  
स इतरेषां प्राणानामात्मा"
- ३- "यस्य यदुक्तं ब्रह्म च साम, तत् तस्यात्मा" — मृतात्मा ( अयमिकआत्मा )



जैसा कि प्रकरों के आरम्भ में बताया गया है—“क्षिपः सतीः०” इत्यादि मन्त्र अभ्यस-अक्षर-स्वरूप षोडशीपुरुष नाम के भौगोनिपद ब्रह्मात्मा का ही निरूपण करता है। यह ब्रह्मात्मा वस्तुतः की है, फिर भी “अव्ययपुरुष, अस्वरूप, स्वरूप” इत्यादि रूप से इसे पुरुषशब्द से व्यक्त किया जा रहा है, अक्षर-आत्मा को पुरुष बताया जा रहा है। इसी विपरीत व्यवहार का दिग्दर्शन कराती हुई प्रति कहाती है—

‘क्षिपः सतीस्तौ च मे पुंस आहुः’



“ओ नस्तुम विद्महे, महर्षि ऋषेः ऊर्ध्वं मुने पुरुष मतवा रहे हैं” यही अक्षरार्थ है। ब्रह्मात्म्य की कैसे है ? यदि वह ऐसी है तो उसे पुरुष क्यों कहा जाता है ? इस रहस्य को आखों बाधा देकर सकता है, ब्रह्म का अर्थ इस रहस्य को क्या समझ सकता है— ‘परमद्वन्द्ववान् न बिभ्रदप’। अर्थात् जो सुखिमान हैं, ब्रह्मज्ञानिक हैं वे ही अपनी विज्ञानदृष्टि से उक्त रहस्य को समझ सकते हैं। साधारण मनुष्य इस गुण व्यवहार के रहस्य को कल्पित नहीं समझ सकते। वह रहस्य क्या है ! उसे कौन समझता है ! मन्त्र का उत्तर भाग इसी प्रश्न का समाधान करता है।

क्षत्र में वीर्य की आकृति होती है। इस से पुत्रोत्पत्ति होती है। क्षेत्र की अभिप्राय मन्त्र है। माता के गर्भ में ही पुत्र जन्म लेता है। सम्पूर्ण विश्व उस आत्मस्थानाधिपति का पुत्रस्थानीय है, विश्व उसी के गर्भ में जन्म लेता है, वही विश्वपोषि है, विश्व का क्षत्र है। योनिरूप क्षेत्रस्थानीय, अतएव आत्मपुरुष विश्व पुत्र की ‘माता’ बनता हुआ सचमुच ‘क्षी’ है। क्षी भी एक नहीं तीन तीन—अम्यय, अक्षर, ओर क्षर। पिता रेतोषा होता है, रेत यही आकृति देते वरदा है। आरम्भ में वही रेतोर्भाव बनता है, अतएव पितास्थानीय बनता हुआ वह पुरुष शब्दसे भी अन्वय बन होता है। पुरुष भी एक नहीं तीन तीन—अम्ययपुरुष, अक्षरपुरुष, क्षरपुरुष। विश्वपोषि रक्षया वह क्षी है, रेतोषारक्षया वह पुरुष है, रेतारक्षया वही पुत्र है। वही माता है वही पिता है, वही कुमार है, वही कुमारी है। इसी अभिप्राय से कृति—सृष्टि करती है—

“त्वं क्षी, त्वं पुमानसि, त्वं कुमारं क्षतं वा कुमारी” ।

“नैव क्षी न पुमानेव नचैवायं नपुंसकः ।

यद्यप्यक्षरीरमात्रे तेन तेन स पुरुषते ॥”

“त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव पिता त्रिविक्रं त्वमेव ।

त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव सर्वं मम तेन तेन ॥”

जो अवस्था में पुत्र [अक्षर] होता हुआ भी कवि [आत्मतत्त्ववेत्ता] है, वही उक्त रहस्य को जानता है। ऐसा कवि पुत्र [प्रतिष्ठा की दृष्टि से] अपने पिता का भी पिता है। अर्थात् ‘कोन’

में वृद्ध पितास्वामीय मनुष्य पूज्यदृष्टि से नहीं देखा जाता, अपि तु उसी का पुत्र यदि आत्मज्ञ बनजाता है तो दोनों की उपस्थिति में पुत्र ही पिता [ पूज्य ] दृष्टि से देखा जाता है । केवल मास सुफेद होने से ही एक व्यक्ति वृद्ध नहीं कहलाता । यदि एक सकल जवान है, और साय ही में विद्वान है तो उसे वृद्ध कहा जाता है । आयुदृष्टि वृद्धत्वका कारण नहीं है । क्योवृद्ध वृद्ध नहीं कहलाता, अपि तु विद्यावृद्ध ही क्योवृद्ध कहलाता है, एव वही लोक में पूजित होता है । इसी अमिप्राय से मगवान् मनु कहते हैं—

न तेन वृद्धो मयति येनास्य पसित गिर ।

यो वै युवाप्यधीमानस्तं देवाः स्वविरं विदुः ॥ ( मनु )

विद्वानात्मा उस आत्मप्रजापति का विद्वान पुत्र है, कवि है । वही तो उक्त रहस्यको ज्ञान सकता है । सचमुच आज आर्यावर्त धृति के—‘कवियाः पुत्राः स ईमाधिकृत’ इस आदर्श को भूल गण है । स्वर्ग के मरु कर्तमान भारतमें अपोप-मूर्ख व्यक्तियों का सनादर कर रक्खा है, योग्यों को हेय समझ रक्खा है । प्राचीन युग में क्या होता था ? इसके सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थ में एक बड़ा सुन्दर आख्यान उपलब्ध होता है । अंगिरा महर्षि के वराज अतएव ‘आंगिरस’ नाम से प्रसिद्ध, अकस्मा में बहुत छोटे (शिशु) पुत्र मन्त्रनिर्माता थे, साक्षादकृत धर्मा थे । एकबार देवसभा में अपने पिता के साथ यह बैठे हुए थे । वहाँ किसी कार्य से अपने पिता का आह्वान करते हुए इनके मुख से—“पुत्रका” [हि छोटे बच्चे] यह सुनते ही पिता अप्रसन्न होगये, और बोले कि अरे ! तू हमारा पुत्र होकर हमें ‘पुत्रका’ कह रहा है । तू अधर्म कर रहा है । उसने उत्तर दिया कि वास्तव में पिता मैं हूँ कारण मैं मन्त्रनिर्माता हूँ । अन्त में देवताओंने भी इसी पक्षका समर्थन किया ।

१—यहाँ विद्वान् पुत्र का ईश्वर का पुत्र बतलाया गया है । विश्व के सभी पदार्थ ईश्वर के पुत्र हैं, यह आर्यावर्त की विशिष्ट भावना है । आत्मसमी महात्मा ईशुकीर्तिने इसी बात को प्रमाणित की है, जो कि आर्यवर्तका का ही एक वाक्य है ।

“गिरुर्वा-भागिरसो मन्महता मन्महदासीत् । स पितुन् पुत्रका इति-  
 आमन्त्रयत् । ते पितरोऽमुबन्-अपर्म ( करापि ) यो न पितुन्-‘पुत्रका’  
 इत्यामन्त्रयत् । सोऽब्रवीत्-अहं वाव मितास्मि यो मन्महत्-इति । ( ते-  
 पितर-‘पुत्रोचरे-अअदधानाः ) देवानपृच्छन्त । ते देवा आमुबन्-एव वाव  
 पिता, यो मन्महत्-इति । तद् सः ( गिरुरात्रिरसः )- उच्यते” इति ।

( ताण्ड्यभा० १३।३।२१) ।

प्रकृत मन्त्रों तथा के अभिप्राय से ही ‘पितृपितासत्’ यह कहा है । यह है आत्म-  
 सम्बन्धी प्रथम अथ का सङ्घित हिन्दुधर्म । अब सूर्यप्रतिमसम्बन्धी भाषना का हिन्दुधर्म  
 कहा जाता है ।

## इति-आत्मविषयिणीभाषना ।

१

## १ —रश्मिविषयिणीभाषना

विश्वरूपस्य सूर्यः शिरस्यगर्भप्रजापतिः । प्रजापति में आत्मा, प्राण, पशु यह तीन कलाएँ  
 तन्त्र्य प्रतिष्ठित रहती हैं । आधु भाग आत्मा है, योति भाग प्राण है, गौ भाग पशु है । यही  
 तीन सूर्य के मनोरा हैं—( देखिए ई व सि भा २०१ पृ ) । आधुभाग आत्मा की विश्वस-  
 भूमि है, योतिभाग देवता की विश्वसभूमि है, एक गौभाग भूत का जनक है । वैश्वदेव में जितने  
 सूर्यमूल हैं, सब का जनक सौर गौतरण है । प्रजापति रूप देवताओं का विश्वस सौरयोतिमग  
 से हुआ है । इस सब प्राणियों के आत्मा का आधार आधुभाग है । इस तीनों में आधुतरण

‘सुरूपप्राण’ है, अग्नीप्राण है। इसी को ‘परोरन्नाप्राण’ कहा जाता है। इसी को स्रस्य बना कर—‘योऽसात्रादित्ये पुरुष सोऽहम्’ यह कहा जाता है। इस आत्मप्राण को—‘आदित्यस्य पर माः’ इस नाम से भी व्यञ्जित किया जाता है। ज्योतिष्मण प्राणरूप देखा है। यह अग्नि-सोम वेद से दो भागों में विभक्त है। आग्नेयप्राणबन्धुन सौरसामिन्द्राग्नि दाहक है, सौम्य प्राणबन्धुन परमेष्ठन आर्गवसोम दाहक है। दोनों का समन्वितरूप ज्योति है। व्याप सूर्य में जो प्रकाश देख रहे हैं, वह अग्नि-सोम का समन्वित रूप ही है। स्थूलभूत पदुरूप है।

१-आत्मा—आयु (आत्मा) → → → परोरन्नाप्राण

२-प्राण—ज्योति (देव) → → → आग्नेय-सौम्यप्राणी

३-पदु—गौ (भूतानि) → → → स्थूलभूतानि

} सौरसत्त्वा

इन तीनों में हिरण्यगर्भ नाम से प्रसिद्ध आत्मरूप परोरन्नाप्राण के आधार पर ही आग्नेय-सौम्यप्राण प्रतिष्ठित हैं। इस अग्नि और सोम के सम्बन्ध से अविभक्त सौरआत्मा भी दो भागों में विभक्त [वत्] होजाता है। आग्नेयप्राणबन्धुदेन वही हिरण्यगर्भ प्रजापति पुरुष है, करण अग्नि को पुरुष माना गया है। एव सौम्यप्राणबन्धुन वही प्रजापति स्त्री है, सोम को ही स्त्री माना है। इस दम्पति के मिथुनभाव से दशप्राणपूर्ति विराट् पुत्र उत्पन्न होता है। सौररश्मि एव अग्निसोममयी हैं, परन्तु प्रभान्त्य सोम की ही है। करण सोम ही आहुत होकर ज्योतिर्मय बनता हुआ रश्मिरूप में परिणत हो रहा है। रश्मिभाव साक्षात् जलता हुआ सोम है। सोम स्त्रीरूप है। अतएव हम कहसकते हैं कि सौररश्मिमण्डल स्त्रीमयबल है। परन्तु आश्चर्य है कि भी किरण—मयूख—उल्ला इत्यादि रूप से इन्हें पुरुषवाचक शब्दों से व्यञ्जित किया जाता है। करण स्पष्ट है। इस रहस्य को इनका कविपुत्र जानता है। अर्थात्—अग्नि सोम के मिथुनभाव से उत्पन्न होने वाले विराट् का स्वरूप देखिए—वहाँ व्यापको स्त्री—पुरुष दोनों भाव उपलब्ध होंगे। विराट् ज्योतिर्मण्डल है, ज्योति सोमनग्य है। सोम पदु है, पदु कवि है। पदुसोम ही अग्नि में आहुत होकर विराट् पुत्ररूप में परिणत हुआ है, इसी भागवतत्व को रूप में रखकर अग्निने विराट्पुत्र को ‘कवि’ शब्द से व्यञ्जित किया है। अग्निसोम

मिरादुपुत्र के सिता माता हैं। मिरादुपुत्र ही उन दोनों के अग्रणीमात्र का कारण है। यदि ज्योतिष्मात्र उत्पन्न न होता तो—मृग्य में 'अग्नी और सोम का वस्त्र है' इसका पता ही न लगता। यही कवि का परिज्ञान है। अपने माता पिता का अभिप्रेतक मिरादुपुत्र अक्षर्य ही सिता का भी सिता [अभिप्रेतक] है। स्वनिष्ठान बहुविज्ञान, कि वा वास्तुपुरुषविज्ञान है। जो वास्तुपुरुषविज्ञानवत्ता [सर्वविज्ञानवत्ता] हैं, वेही यह समझ सकते हैं कि रश्मियों के बीरूप होने पर भी उन्हें पुरुष क्यों कहा जाता है। यही मन्त्र का दूसरा अर्थ है। मन्त्र तीसरे प्रधान अर्थ की ओर अपरका अर्थ अर्थात्पत्त विस्तार जाता है।

## इति-रश्मिपयिणीमावना

२

### ३-अथ शुक्रविपयिणीमावना

अक्षतन अग्नि में अक्षतन सोम की आहुति होना याद्विकसृष्टि है, चेतन अग्नि में चेतन सोम की आहुति होना त्रिभुवीसृष्टि है। अग्नि में पुनराहुति अक्षिकसृष्टि है, शोणित में शुक्राहुति अक्ष होना त्रिभुवीसृष्टि है। उक्त मन्त्र प्रधान रूप से त्रिभुवीसृष्टि का ही रहस्योद्घाटन करता है। मन्त्राय अक्षतन करते हुए कहा गया था कि संसार में जितने पुरुष हैं, सब वास्तव में अक्ष हैं। बीरूप होने पर भी उन्हें (पुरुषों को) पुरुष कहा जाता है। एवं जितनी भी अक्ष हैं, वे वास्तव में पुरुष हैं। पुरुषरूप होने पर भी उन्हें (स्त्रियों को) स्त्री कहा जाता है [द्विप ६० वि० भा० पृ १८१]। विज्ञानपरिभाषा के अनुसार अक्षितन को पुरुष कहा जाता है, मोक्षतन को स्त्री कहा जाता है, यह निर्दिष्ट विषय है। यह अग्नि और सोम आत्मा और शरीर के दो भागों में विभक्त रहता है। पुरुष के मूर्ति का शरीर का निर्माण अग्नि से होता है, एवं स्त्री का मूर्ति का शरीर का निर्माण सोम से होता है। अग्नि की प्रतिष्ठा

दक्षिणादिक् है, सोम की प्रतिष्ठा उत्तरादिक् है। अतएव स्त्री को नामा कहा जाता है। पुरुष दक्षिणाङ्ग है, स्त्री पुरुष का नाम भाग है। प्रति शरीर में दक्षिणपार्श्व आग्नेय है, वामपार्श्व सौम्य है। पुरुष का शरीर अग्निप्रधान होने से कफरा होता है, स्त्री का शरीर सोमप्रधान होने से कोमल होता है। पुरुष कर्कराज्य है, स्त्री कोमलराज्य है। इस प्रकार इस शरीर रचना की अपेक्षा से आग्नेयशरीरप्रधानपुरुष पुरुष है सौम्यशरीरप्रधानास्त्री स्त्री है। इस दृष्टि से पुरुष को पुरुष कहना, एवं स्त्री को स्त्री कहना न्यायसंगत है, यथार्थ है। परन्तु आत्मदृष्ट्या वस्तु सौक्तिक व्यञ्जहार असंगत है। आत्मदृष्टि से अग्नि स्त्री का आत्मा बन रहा है, सोम पुरुष का आत्मा बन रहा है। स्त्री का आत्मा (प्रतिष्ठामात्र) शोणित (रुधिर) में प्रतिष्ठित है, पुरुष का जीवनीय रस शुक्र है। शोणित अग्निप्रधान है, शुक्र सोमप्रधान है। स्त्री-पुरुष-मनुष्यक सीनों सुधियों का शुक्र शोणित सम्बन्ध के सारतम्य से सम्बन्ध है। शुक्र शोणित दोनों परस्पर अविनाशूत हैं। शुक्र साक्षात् सोम है, शोणित साक्षात् अग्नि है। सोम शीतप्रधान है, अग्नि उष्णप्रधान है। एक आर्द्र है, दूसरा शुष्क है। सर्प, आद्र, सोम, शुक्र, योपा, रवि सब अग्निप्रधान हैं। गर्मी, शुष्क, अग्नि, आर्ध्र, वृषा, प्रायः सब अग्निप्रधान हैं। सम्पूर्ण मौक्तिक विष इन्हीं दोनों का (अग्निशोम का) समन्वित रूप है, जिससे कि ज्ञप्ति कहती है—

“द्वय वा इदं न तृतीयमस्ति शुष्कं चैवाद्रं च। यच्छुष्कं तदाग्नेय,  
यदाद्रं तदा सौम्यम्” [शत० १। ६। १। २१।]

सत्रप्रमथनून यही अग्नीशोम प्रजासृष्टि के उपादान बनते हुए शुक्र-शोणित नामसे व्यवहृत होते हैं। सौम्यशुक्र स्त्री है, आग्नेय शोणित पुरुष है। यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि अग्नि अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर अपोमय सोमरूप में परिणत होनाता है, एवमेव सोम अपनी अन्तिम प्रतिष्ठा पर पहुँच कर अग्निरूप में परिणत होनाता है। सोम सक्रोचधम

१ सौम्य शुक्रम आर्ध्रमाग्नेयम् । इत्येवमाप्यत्र भूतानां सानिध्यं अस्त्यनुविरोधेन परस्परैक-  
कायत्वं, परस्परानुमहात्, परस्परानुमनैयात् ” (सुबुव ३ अ० १) ।

है, अग्नि विक्रमसमर्थ है। सन्तोष की चरमावस्था विक्रम की जननी है, विक्रम की चरमावस्था सन्तोष की जननी है। अग्नि सेवतन्त्र है, सोम स्नेहलन्त्र है। सीमा से अतिक्रान्त स्नेह तेज की [इन्द्रमात्र की] उत्पत्ति का कारण बनजाता है, सीमा से उत्पन्न स्नेह रूप में परिणत होजाता है। दो मित्रों का नि सीम स्नेहमात्र कभी कभी इन्द्रमात्र (चैत्रमात्र) का उत्पादक देखा गया है, एवं दो शत्रुओं का नि सीम इन्द्रमात्र [चैत्रमात्र] कभी कभी स्नेहमात्र (मित्रता) का उत्पादक देखा गया है। नि सीमता [अग्नि] स्वरूप का बात करने वाली है। प्रत्येक वस्तु लसीमा में प्रतिष्ठित रहती हुई ही अपनी स्वरूपरक्षा करने में समर्थ होती है। हाँ तो प्रकृत में अग्नि सोम का विचार प्रक्रान्त है। अग्नि केन्द्र से निकलकर बाहर प्रविष्टी की ओर जाया करता है, इधर सोम प्रविष्टी से केन्द्र की ओर जाया करता है। अग्नि परमाग्नि है, सोम अन्तर्माग्नि है। एक जाता है, एक आता है। एक प्रेति [गन्धर्व] है, दूसरा आगन्धर्व है।

जाते हुए अग्नि में आता हुआ सोम आहुत हो रहा है। इसी एति-प्रेति रूप अग्नि सोमात्मक वज्र से सारे पदार्थ स्वरूप से प्रतिष्ठित होछे हैं। गमन विसर्ग है, आगमन व्यादान है। आगमन विसर्ग ही अग्नि सोमात्मक वज्र है। अग्नि तन्त्र का बलुविण्ड से सम्बन्ध है, कजरस्य अग्नि मल्ल है, एवं सप्त सप्त सप्त सप्तरी ही होता है। सोम का विण्ड की महिम्यारूप अन्त रिच से सम्बन्ध है। कजरस्य सोम अन्त है उधर अन्तरिच भी अन्तरूप परमेष्ठी है। अन्त सोम में विषयवस्तु, विषय विण्डरूप अग्नि सत्तल आश्रयत रहता है, इसी व्याचार पर-‘अग्ने भूमि रिय मिता’ यह कहा जाता है। विषयवस्तु अग्नि को विषय रूप में परिणत करने वाला, सन्तोषक भी सीम है। अन्तल सोमात्मक अग्नि में आहुत होता रहता है, तन्मय अग्नि प्रगल्भ रहता है। प्रगल्भ अग्नि को वाक्त्रि परिमाण में ‘सैमिटाग्नि’ कहते हैं। एति-प्रेति रूप सामिपेयिणी से आगमनविसर्गक सप्तप द्वारा अग्नि समिद्ध रहता है। अन्तर्य वज्रवर्त्म में-‘इति च मे निचान्वाह [शत० १ कां ४। १। ४।] के अनुसार सामिपेयिणी यन्त्रों से अग्नि को

१ इह विवर्तक वैदिक निषेध शास्त्र विज्ञानभाष्य के अधिनर्तक शास्त्र में दैतय वर्णित।

समिद्ध करने का विधान है। बात यथार्थ में यह है कि अग्नि अक्षिरामूर्ति है, सोम अग्निरामूर्ति है। अक्षिरा की अग्नि-वायु-आदित्य यह तीन अवस्थाएँ हैं। अवस्थात्रययुक्त अग्नि हृदय से फैलता हुआ आगे जाता है। अग्नि की तीनों अवस्थाएँ निरक्षित होते होते जब चरम दशा पर पहुँच जाती हैं तो तीनों अग्नियों की गति विपरीत हो जाती है। आत्यन्तिक विरक्तता से ऊष्माभाव प्रकृतक प्रविचक्षण टूट जाता है, अग्नि शान्त हो जाता है। अग्नि की यह शान्तावस्था ही विपरीत गति का आरम्भ होती हुई सोम नाम से व्यञ्जित होने लगती है। सोम आप-वायु-सोम इन तीन भागों में विभक्त है। तीनों क्रमशः वेद्य की ओर आते रहते हैं। जबतक केन्द्रविन्दु पर तीनों नहीं आ जाते, जबतक तो तीनों को प्रतिष्ठित रहने के लिए पमाप्त धरातल मिल जाता है। परन्तु हृदयविन्दु पर आने से तीनों को एक बिन्दु पर ठहरना पड़ता है। इससे तीनों में घर्षण हो जाता है। घर्षण होते ही शान्तावस्था नष्ट हो जाती है; उष्मावस्था उत्पन्न हो जाती है। इसी का नाम अग्नि है, इसकी गति बढ़ने जाती है। प्रकृत में इस अग्नीसोममहा से होने केवल यही बतलाना है कि अग्नि का गिण्ड से सम्बन्ध है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि एक ही जल में आप खींचता हुआ पानी भरवा दीजिये। उस पानी के [ऊष्म की ओर] निकलने के लिए सूक्ष्मतम क्षिप्रबाह्य एक फन्ना लगा दीजिए। उस में से निकलता हुआ पानी खण्ड खण्ड रूप में परिखल हो जायगा। इन जलकणों को आप शीतल पावेंगे। कारण जब तक पिण्ड था, जबतक अग्नि पानी में प्रतिष्ठित था। पिण्डमय के नष्ट होते ही अग्नि निरक्षरत्व की पराकाष्ठा पर पहुँच कर सत्यभाव ( पिण्डभाव ) से वृत्त होना हुआ अन्तरूप में। परिखल हो जाता है। पूर्वप्रतिपादित मातरिजा के निरूपणानुसार गिण्ड का नाम पृथिवी है, महिमा बुधोक्त है। पिण्डरूप पृथिवी से निकलकर अक्षिपथवी पृथ्वी महिमा मण्डल की ओर आया करती है। अग्नि की इसी स्थानात्मिक गति को खण्ड में रखकर महर्षि कहते हैं—

इत एत उदाहरन् दिवः पृष्ठान्पराहन् ।

ममूर्जयो यथावधि यामक्षिरसो ययुः ॥



अग्नि एव तत्र है तो भृगु स्नेह तत्र है । यही गर्मी-सर्दी है । सर्दी पराकाष्ठा पर पहुँचकर अग्नि क्रांती हुई बृहदि की जगह डालती है । इधर पराकाष्ठा पर पहुँची हुई गर्मी गर्मी ( पानी ) बन जाती है । संप्रगामि [ उग्रामि ] शोकशुभ का समक है, यह पूर्व की अप-  
भवेन निरुक्ति में विस्तार से बताया ही जा चुका है ।

उक्त कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि अग्नि की व्यत्यासत्वा सोम है, एव सोम की चर-  
मावस्था अग्नि है । स्त्री के व्यात्यरूप शोणित में प्रवृद्धसोम ( अग्नि ) है, इस लिए स्त्री व्यात्य-  
रूप पुरुष है । पुरुष के व्यात्यरूप शुक्र में प्रवृद्धअग्नि [ सोम ] है, अतएव पुरुष व्यत्यासत्वा  
स्त्री है । प्रकाशान्तर से यों समझिए—शुक्र अमरस से बनता है । अथ व्यात्यसोम से बनता  
है, अथ शुक्र साक्षात् सोम है, सोम साक्षात् स्त्री है । यह शुक्ररूप से पुरुष की प्रतिष्ठा  
बना हुआ है । इस प्रतिष्ठाद्वि से शुक्रमय पुरुष सोममय बनता हुआ वास्तव में स्त्री है । एक  
बात और—सोमरूप, अमरस स्त्रीरूप शुक्र पुरुष में प्रतिष्ठित है, अतएव पुरुष स्त्री की कसना  
क्रिया करता है, जैसा कि अमुपद में ही स्पष्ट होमेंवाला है । अग्नि से शोणित का निर्माण  
होता है, अथ शोणित साक्षात् अग्नि है । अग्नि साक्षात् पुरुष है । वह शोणितरूप से स्त्री  
की प्रतिष्ठा बना हुआ है । इस प्रतिष्ठाद्वि से शोणितमयी स्त्री अग्निमयी बनती हुई वास्तव में पुरुष  
है । अग्निरूप, अतएव पुरुषरूप शोणित स्त्री में प्रतिष्ठित है, अतएव स्त्री पुरुष की कसना क्रिया  
करती है ।

स्त्री की प्रजननशक्ति आर्चन में प्रतिष्ठित है । यह आर्चन र्गम्य नाम से प्रसिद्ध आग्नेय  
पुरुषमन्त्र के अग्नेय प्राश्न से शुक्र है । आर्चनशब्द मन्त्रग्रह रक्त ( वात ) है । रुधिर में जो  
कासी एव गर्मी है, वह मन्त्रप्राण की ही महिमा है । मन्त्रग्रह मन्त्रराशि में आता हुआ ठह-  
कहा जाता है । अतएव मांगलिक आर्चन में प्रतिष्ठित आग्नेयकर्म 'मन्त्रग्रह' नाम से प्रसिद्ध  
है । मन्त्रग्रह अग्निमय काम है । वृत्ते शब्दों में स्त्री के कर्म में अग्निमूर्ति पुरुष कैय है,  
अतएव स्त्री का पुरुषकसना होती है । पुरुष की प्रजननशक्ति शुक्र में प्रतिष्ठित है । शुक्र [ वीर्य-

१. इस विषय का विस्तृत विवेचन शतपथब्रह्मसंहिता के प्रथमस्कन्ध में द्रष्टव्य है ।

रेत ] शुक्र नामसे प्रसिद्ध सौम्य स्त्रीग्रह के सौम्यप्राण से युक्त है। शुक्रग्रह श्वेत है, अतएव तन्मय शुक्र भी श्वेत है। शुक्रग्रह मीनराशि का भोग करता हुआ उच्च का कहलाता है। अतएव शुक्ररूप शुक्र में प्रतिष्ठित सौम्यकाम 'मीनध्वज' नाम से प्रसिद्ध है। मीनध्वज सोम-मय काम है। दूसरे शब्दों में पुरुष के काम में सोमशक्ति रभी बँटी हुई है, अतएव पुरुष को रभी कामना होती है।

सोम शक्तिरूप है, सोम सम्बन्धी अग्नि शिखररूप है। शिखररूप शक्तिरूपमय है, शक्तिरूप शिखररूपमय है। शिव शक्ति पर प्रतिष्ठित है, शक्ति शिव की अनुगमिनी है। सम्पूर्ण विश्व शिव-शक्तिमय है। कहने को दो तत्व हैं, जो शिव (अग्नि) है वही शक्ति (सोम) है, जो शक्ति है वही शिव है। निष्कर्ष यही हुआ कि शुक्र-शोणित द्रवि से संसार की द्वित्रए पुरुष हैं, पुरुष द्वित्र हैं। यह स्त्री-पुरुष का दूसरा युग्म है।

यह एक नियत सिद्धान्त है कि जिस कक्ष का बाहर का घरातक गरम होता है, उसका अन्त-पृष्ठ ठंडा होता है, एव जो बाहर से ठंडा होता है, उसका अन्त-पृष्ठ गरम होता है। प्रकृति का निरीक्षण करिये। शीतर्तु में प्रकृतिमण्डलरूप बहिर्घरातक में सर्दी रहती है, एव अन्त-पृष्ठरूप प्रायियों के शरीर में गरमी का साक्षात्प रहता है। शीतकाल में हमारा जठराग्नि प्रदीप्त रहता है। सुख में से घृम निकलता रहता है। इसी प्रवृत्ति अग्निवत् से हम शरीर पर कम्ब-सादि को आसानी से ठठाने में समर्थ होजाते हैं। इसी प्रवृत्ति अग्नि की कृपा से अन्न अधिक खाया जाता है। इस प्रकार बाहर जहाँ ठंड है, भीतर गर्मी है। ग्रीष्मर्तु में ठीक इससे उल्टा होजाता है। प्रकृति में गर्मी का साक्षात्प है, परन्तु प्रकृतिगर्मस्य अन्त्याम में सर्दी की प्रधानता है। वही शीतमाग पसीमा बनकर बाहर निकलता करता है। अग्निवत् क्षीण रहता है, अतएव हम निर्वस रहते हैं। शीतकाल में जिस अग्निवत् की कृपा से जहाँ हम दो दो तीन तीन कन्कर्सों को ओढ़ने में समर्थ बन जाते थे, वहाँ ग्रीष्मकाल में अग्नि की कृपा से एक मामुसी चर का भी भार सहन नहीं करसकते। इस प्राकृतिक स्थितिसे प्रकृति में होने यह

मत्तमाना है कि पुरुष शरीर से आग्नेय है । इसका यदि पृष्ठ अग्नि प्रधान है । अतएव पुरुष को स्त्री पर अतिशय श्रेष्ठ माना है । परन्तु अन्तःपृष्ठरूप इसका शुक ठहरा है । अतएव आगे जाकर इसका श्रेष्ठ शक्य होजाता है । शरीर की अपेक्षा आत्मा बलवान् होता है । अतएव शरीरसापेक्ष श्रेष्ठ स्थायी नहीं रहता । उधर स्त्री का शरीर सौम्य है । उसे श्रेष्ठ नहीं माना । सौम्यशरीरपक्षय स्त्री निबन्ध है, अवस्था है । परन्तु भीतर शोणितरूप अग्नि है । प्रथम तो स्त्री को श्रेष्ठ आशङ्क ही नहीं यदि आत्ममात्र पर आधर्य होने से स्त्री का आत्मा विगड़ पड़ा तो फिर कुण्ठ नहीं है । अतएव स्त्री इन्द्र प्रसिद्ध मानी जाती है । यही अवस्था वास्तव की है । १३ का तत्तु कल्प का १६ का तत्तु पुत्र का शरीर सौम्य रहता है । अतएव आग्नेय है । अन्तःपृष्ठ स्त्री इन्द्र काष्ठ इन्द्र भी प्रसिद्ध है । अग्निसोम के इस गर्भविधान की अपेक्षा से स्त्री पुरुष का एक तीसरा युग्म द्वार बनजाता है । स्त्री का शोणित आग्नेय है, इसलिये स्त्री पुरुष है यह कहा गया है । शोणित का ऊपर का पृष्ठ अवरूप ही आग्नेय है । परन्तु इस अन्तिम शोणित के गम में प्रतिष्ठित प्रजननक्रम का मुख्य अभिप्राय 'भूय' सौम्य है । इस सौम्य भूय की अपेक्षा से स्त्री अन्तःपृष्ठय स्त्री ही है । सञ्जात में उसे पुरुष का ही आश्रय लेना पड़ता है । पुरुष का शुक सौम्य है, इसलिये पुरुष स्त्री है । शुक का ऊपर का स्तर वास्तव में सौम्य है । इस सौम्यशुक के गम में प्रतिष्ठित प्रजननक्रम का मुख्य अभिप्राय 'भूय' उक्त परिभाषानुसार आग्नेय है । इस आग्नेय-भूय की अपेक्षा से पुरुष अन्तःपृष्ठय पुरुष ही रहता है । इस तीसरी धारा को आधार मानते हुए ही लोक में—'धर्मी स्त्री स्त्री ही रहेगी पुरुष पुरुष ही रहेगा' यह किञ्चदन्ती प्रचलित है । स्त्री की अन्तिम प्रतिष्ठा सोम ही है, पुरुष की अन्तिम प्रतिष्ठा अग्नि ही है । स्त्री सौम्या ही है पुरुष आग्नेय ही है । सौम्य शुक के गम में आग्नेय पुंभूय प्रतिष्ठित है, आग्नेय शोणित के गम में सौम्य स्त्रीभूय प्रतिष्ठित है । यदि शुक प्रबल है तो शुक्राधिक्य से तद्गर्भित आग्नेय पुंभूय प्रबल बनता हुआ पुत्रोपनि का कारण बनता है । यदि आत्मा प्रबल है तो अर्धशुक्राधिक्य से तद्गर्भित सौम्य स्त्रीभूय प्रबल बनता हुआ अर्धोपनि का कारण बनता है । यदि दोनों का सममिथुनभाव होता है तो नपुंसक

प्रजा उत्पन्न होती है । यदि केवल शुक्र शोणित का सम्मिश्रण होता है, (यदि तत्काल भ्रूणों का जो कि स्त्री-पुरुष विज्ञानशास्त्र में योधा-रूपा मास से प्रसिद्ध हैं मिथुन नहीं होता) तो ऐसा मिथुनभाष व्यय जाता है । आयुर्वेद का उक्त सिद्धान्त तभी ठीक होसकता है, जब कि सौम्य शुक्र में आग्नेय भ्रूण, एव आग्नेय आर्तव में सौम्यभ्रूण की सत्ता मानली जाती है । कारण अग्नि से ही पुरुष का विकास सम्भव है । इसी रहस्य को उद्घटन में रखकर प्राणाचार्य कहते हैं—

आधिवये रेतस पुंस कृत्वास्यादार्चवाधिके ।

नर्पुंसकं तयो सान्धे यथेच्छा परवैश्वरी—( भावप्रकाश ) ।

अग्नि भी देवता हैं, सोम भी देवता हैं । देवता विसृज्य होते हैं । देवताओं का प्रत्येक कार्य विमोक्षक होता है । तीन व्यापारों से देवता स्वर्गायसिद्धि में समर्थ होते हैं । पूर्व कथना नुसार प्रजोपनिर्गम में तीन व्यापारों की सत्ता सिद्ध हो जाती है । तीन मिथुनों से मिथुन कर्म संपन्न होता है । प्यान दीर्घिणे—प्रजोपनि के लिए पहिले पुरुष स्त्रीगमन करता है । अभी दोनों के शरीरों का संयोग है । पुरुष शरीरापेक्षया आग्नेय बनता हुआ पुरुष है, स्त्री शरीरापेक्षया सौम्य बनती हुई स्त्री है । इस प्रपञ्चक्रमण में सचमुच पुरुष ( पुरुष का आग्नेय शरीर ) स्त्री ( स्त्री के सौम्य शरीर ) की ओर जा रहा है । इस प्रथम मिथुनकर्म से संचय द्वारा वास्तविक वैज्ञानिक अग्नि उत्पन्न होता है । इस अग्निपरिताप से पुरुष के स्वाज्ञ शरीर में व्याप्त शुक्र अग्न प्रत्यग से निकलकर पुत्रीभूत बनकर अधोभाग द्वारा स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित आग्नेय आर्तव में आकृत होता है । यह शुक्रशोणित का मिथुनकर्म दूसरा कर्म है । इस में शुक्र सोम है, शोणित अग्नि है । शोणित में शुक्र की आकृति क्या होरही है, अग्नि में सोम की आकृति होरही है । यही आप्यारिम्ब यह है । इस द्वितीय कर्म में स्त्री पुरुष पर आक्रमण कर रही है । कारण स्पष्ट है । शुक्र ही तो शोणित पर आक्रमण कर रहा है । शुक्र सौम्य होने से सचमुच स्त्रीरूप है, एव शोणित आग्नेय होने से वास्तव में पुरुष है । और आगे बढिए ।

० इस विषय का विस्तृत विवेचन उत्पन्न विज्ञानशास्त्र के द्वितीय कर्ष में निकल चुका है ।

शोणित में रहने वाला सौम्य भूणपर (स्त्रीभूण पर) शुक्र में रहने वाला आग्नेय भूण (पुंभूण) आक्रमण करता है। यह अन्तिम विभुन है। इस में जिस की प्रधानता रहती है, उसी भूण का विजय होना है। इस अन्तिमभूण में पुरुष ही (पुंभूण ही) स्त्री पर (स्त्रीभूण पर) आक्रमण करता है। प्रथमक्रमण में पुरुष प्रधान, मध्यमाक्रमण में स्त्री प्रधान, तृतीयाक्रमण में पुरुषप्रधान, इस प्रकार दोनों ओर से पुरुषप्रसिद्धा की विधि से मध्यस्था स्त्री की स्वतन्त्र इच्छा नष्ट हो जाती है। जो इतनी इस प्राकृत नियम का उल्लंघन करते हैं, वे अपने साप साप स्त्री के स्वरूप को भी नष्ट कर देते हैं। उक्त तीनों आक्रमणों में मध्यमाक्रमण से (शोणित-शुक्र की दृष्टि से) सबभूष संसार की सब स्त्रियाँ पुरुष हैं, एक संसार के सब पुरुष स्त्रियाँ हैं। उक्त मन्त्र इसी मध्यस्थिति का निरूपण करता है।

## अध्यात्मसंस्था

“पुरुष एवेद सर्वम्”

१	१-आत्मपरीरियुक्त पुरुष-पुरुष	} पुरुषप्रियमनुभाक्स्ति-प्रथमाक्रमण पुरुषप्रभा०
२	२-सौम्यपरीरियुक्ता स्त्री-स्त्री	
	-----	
२	१-सौम्य शुक्रम-स्त्री	} स्त्रीपुरुषमनुभाक्स्ति-द्वितीयक्रमणस्त्रीप्रधानम्
३	२-आग्नेयमाचक्षम्-पुरुषः	
	-----	
३	१-शुक्रान् आग्नेय-पुंभूण-पुरुष	} पुरुष प्रियमनुभाक्स्ति-तृतीयाक्रमणपुरुषप्रभा०
४	२-शो. ग. सौम्य स्त्रीभूष-स्त्री	

उक्त तीनों स्थितियों में से मध्य के शुक्रशोणितभाव को लक्षण में रखकर अदि कहते हैं—

अथः सतीर्त्तो ज मे पुंस आहुः

इस रहस्य को आक्षेपान् ही नष्ट सकता है, क्योंकि का अर्था इस रहस्य को क्या जानें। जो वैदिक, कामरत्न के ‘अक्षर-मीन’ लक्षण को समझता है, वही यह ज्ञान सकता है कि शुक्र

पास्तप में स्त्रीकाममय है, शोणित वास्तप में पुरुषकाममय है। वह वृत्तय समझने वाला व्यक्ति है कविपुरुष। यह इस स्त्रीभाव को जानता हुआ सचमुच अपने पिता या भी पिता बन रहा है। मृग्य धोर अक्षिरा का रहस्य जानने वाला पुत्र ही कवि है। ऐसा विद्वान् अपने पिता से भी अधिक प्रतिष्ठित माना जाता है। विद्वानद्वि के अनुसार कवि का अप्य है मृगतत्व। आप-बायु-सोम को ही मृगुत्पन्न कहते हैं। पुनोत्पत्ति शुक की आहुति से होती है। सोममय शुक ही अग्नि शोणित में सुन (अभिपुत्र-आहुत) होकर पुत्ररूप में परिणत होता है। शुक में जो घनता है वह पानीय माय है, सर्वोत्तम सोम है, प्रतिभाय बायु है। इस प्रकार सर्वस (सोम) प्रधान शुक में आप-बायु-सोम तीनों तत्व प्रतिष्ठित हैं। ऐसी अवस्था में हम शुक को अवश्य ही 'मृगु' कह सकते हैं। मृग ही कवि है। यह कवि (मृगरूप शुक) पुत्ररूप में परिणत होता है, अतः शुक को अवश्य ही 'कविपुत्र' कहा जा सकता है। शुक सोमप्रधान होने से पुत्ररूप में परिणत होता है, एव सोम की है, अतएव तद्रूप पुत्र (पुरुष) को हम अवश्य ही कवि कहने के लिए तय्यार हैं। इसी अभिप्राय से—'कविः पुत्र स इवाचिके' (जो पुत्र कवि है वह इस रहस्य को जानता है) यह कहा गया है। कन्यासूतान में शोणित की प्रधानता रहती है—'कन्यास्यान्तस्यचिके'। कविपुत्र (शुकस्य पुरुषभूय) ही स्त्रीभूय (शोणित भूय) के साथ संयुक्त होकर स्त्रीभाव का कारण बनता है। सोम ही अग्नि की धोर जाता है। पत्न्योन्नादक अतएव स्त्रीरूप शोणित भूय का सम्यक् परिचाता शुकभूय ही है। इसी अभिप्राय से आगे जाकर भुक्ति कहनी है—'यस्ता विमानाद' (कविरूप जो पुरुषभूय स्त्री भूय को जानता है)। तिसप्रकार स्त्रीरूपसमर्पक स्त्रीभूय आग्नेय शोणित में प्रतिष्ठित रहता है, एवमेव पुरुषरूपसमर्पक पुर्भूय साम्यशुक में प्रतिष्ठित रहता है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। शुक का आधार करने वाला पुरुष 'पिता' कहलाता है। इस पुरुष पिता का पुत्र शुक है। पुत्ररूप शुक ही पुर्भूय का उत्पादक बनता है। पुर्भूयद्वारा शुकवृत्ति देने वाला पिता माता के गम में [ध्वनी स्त्री के गम में] खाय जग्य सेना है, अतएव 'मापते पिता रथय-धस्या' इस निषेधन से स्त्री को 'नाया' कहा जाता है। ध्वने पुर्भूय से उत्पन्न होने का



यदि यह वायु शुक्र को दो भागों में विभक्त कर देता है तो यमत्र सन्तान उत्पन्न होती है । रेत को योनि में, सुब्रह्म को ब्रह्म में, सोम को अग्नि में, शुक्र को शेषित में आहित करने के करण ही यह वायु 'मातरिश्वा' कहलाता है । माता ही है, पिता पुरुष है । वायु शुक्र के चारों ओर घेष्टित होकर ही शुक्र की आहुति देता है । सोमप्रधानशुक्र कीरूप बनता हुआ सबसुख 'माता' है । अतएव—“मातरि (शुक्ले) अयति (अयाप्ते भवति)” इस व्युत्पत्ति से शुक्र आधाता इस रेतोषा वायु को 'मातरिश्वा' कहना व्यापसंगत होना है । रेत अपने आप योनि में सिक्त नहीं होता, अपि तु वायु द्वारा ही यह सिक्त होता है । कीपुरुष के मिथुनमात्र से अग्नि प्रकट होनाता है । अग्नि के लुप्त होते ही शरीरगत वायुबाहिनी नाडियों [धमनियों] में भर हुआ वायु स्थान प्युत होता हुआ अग्नि से सतत शुक्र को खस्थान से प्युत कर देता है । वायु के प्रलाभात से ही शुक्र गतिमत् बनता हुआ शोणित में आहुत होता है । इस अप्यात्मसंस्था के साम अविदेवत की समता का बिचार कीजिए । गर्भाशयगत रुधिर को अग्नि समझिए, इसी को वेद समझिए । वेद वेदि पर ही तो प्रतिष्ठित रहता है । माता ही तो वेदि है । द्वित्रिष्टापरपयायक अनेकदेवत यज्ञ को ब्रह्म समझिए । शुक्र को सोम समझिए, इसी को सुवेद समझिए, इसी को पद्मज्ञापरपयायक 'आप' [सुब्रह्म] समझिये । शुक्र के चारों ओर घेष्टित मार्गवायु को 'मातरिश्वा' समझिये । इन्हीं तीनों को क्रमशः योनि-रेत-रेतोषा समझिये । अस्वरूप योनि में आपरूप रेत की वायुरूप रेतोषा मातरिश्वा द्वारा आहुति होती है । दूसरे शब्दों में मातरिश्वा आपरूप की ब्रह्म में आहुति देता है, इसी से गर्भाधानपूर्वक प्रभोत्पत्ति होती है । यह है आप्यात्मिक प्रभोत्पत्तिक्रम । वैसा आप यहाँ [अप्यात्म में] प्रत्यक्ष कर रहे हैं, ठीक वही रिपति वहाँ [अविदेवत में] समझिये—“यदेवेह तदमुम्” ।

- |          |   |                   |   |   |   |                       |                     |
|----------|---|-------------------|---|---|---|-----------------------|---------------------|
| १-योनि   | — | आपकम् [आग्नेयम्]  | → | → | → | यज्ञसंज्ञाभि [ब्रह्म] | } ततः प्रभोत्पत्तिः |
| २-रेत    | — | शुक्रम् [सौम्यम्] | → | → | → | पद्मज्ञासोम [आप]      |                     |
| ३-रेतोषा | — | वायु [अनुप्याशीत] | → | → | → | मार्गवायु [मातरिश्वा] |                     |



रेतोपा भिन्न का पिता (अमदाता-अभिम्पन्नक) वास्तव में कवि पुत्ररूप शुद्ध ही है। एक ओर पुत्ररूप है, दूसरी ओर पिता है। मध्य में पुत्र्याभिधत्ता कविपुत्र नामक शुद्ध है। यदि वह पुत्र न होता तो पुत्ररूप कभी सत्यमरूप में परिणत नहीं हो सकता था। दूसरे शब्दों में यह रेतोपा पिता कभी जाय में जन्म नहीं ले सकता था। पिता के जाय में जन्म का हेतु पुत्रशुद्ध है, अतएव हम इसे अक्षय पिता का पिता (पुत्ररूपरूप पिता का भी अभिम्पन्नक) कह सकते हैं। इसी रहस्य को छंद में रखकर 'सपितुर्भिषावत्' 'यह शुद्धरूप कविपुत्र पिता [प्रतिष्ठितरूप पुत्ररूप] का भी उत्पादक एक अभिम्पन्नक समता हुआ पुत्ररूप बनने पिता का भी पिता बन गया' यह कहा गया है। यह है अत्रावसम्पत्तिनी तीसरी शुक्रविपक्षिणीभावना का सविम निर्णय।

## इति-शुक्रविषयिणीभावना ।

३



प्रासङ्गिक वक्ता समाप्त हुए। अब पुनः प्रकृत विषय का उपसृष्टि किया जाता है। उप-विषय के चतुस चरण का उपक्रम करते हुए रेत-रेतोपा-योनि उत्पत्ति कर्म में इन तीन भागों का समावेश बतलाया गया है [देखिए ई. वि० भा० १७७ पृ०]। इन तीनों में रेत और योनि दोनों स्थिर हैं, रेतोपा गतिशील है। यही अविद्वेष्यसत्या में कहा—'मातरिन्वा' नाम से व्यक्त होता है, यही अन्त्यात्मसत्या में यही 'एवयामरुत्' नाम से प्रसिद्ध है। योनि प्राणप्रधाना जी का अग्रिम योनि है, योनिप्राणप्रधान पुरुष का सोममपराध रेत है। यह व्यावृत्ति द्रव्य है, आप तत्व है, सुमय है। जी का रक्त व्यावृत्ति का स्थान है, अग्नि है मय है। इस मयरूप योनि में सुमय की व्यावृत्ति होती है। व्यावृत्ति देने वाला योनि है।

• इति विषय का निरुद्ध विवेचन मासदीयसूक्त विज्ञानशास्त्र में देखना चाहिए।

यदि यह वायु शुक्र को दो भागों में विभक्त कर देता है तो यमज सन्तान उत्पन्न होती है । रेत को योनि में, सुव्रज को ब्रह्म में, सोम को अग्नि में, शुक्र को शोणित में आवृत्ति करने के पश्चात् ही यह वायु 'मातरिश्वा' कहलाता है । माता स्त्री है, पिता पुरुष है । वायु शुक्र के चारों ओर वेष्टित होकर ही शुक्र की आवृत्ति देता है । सोमप्रधानशुक्र स्त्रीरूप बनाता हुआ सप्तसुख 'माता' है । अतएव—“मातरि (शुक्रे) अपति (व्याप्ते मपति)” इस व्युत्पत्ति से शुक्र आधाता इस रेतोषा वायु को 'मातरिश्वा' कहना न्यायसम्मत होता है । रेत अपने आप योनि में स्थित नहीं होता, अग्नि द्वारा वायु द्वारा ही यह स्थित होता है । स्त्रीरूप के विष्णुमय से अग्नि प्रवृत्त होनावा है । अग्नि के सुख होते ही शरीरगत वायुवाहिनी माहियों [धमनियों] में मग्न हुआ वायु स्थान स्थित होता हुआ अग्नि से सतत शुक्र को स्वस्थान से स्थित कर देता है । वायु के प्रव्यापार से ही शुक्र स्तिमत् बनाता हुआ शोणित में आवृत्त होता है । इस व्यापारमयता के साथ अविदैवत की समता का विचार करिए । गमाशयगत रुधिर को अग्नि समझिए, इसी को वेद समझिए । वेद वेदि पर ही तो प्रतिष्ठित रहता है । माता ही तो वेदि है । द्विजसापरपयायक अनेजदेवत् यजु को ब्रह्म समझिए । शुक्र को सोम समझिए, इसी को सुवेद समझिए, इसी को पद्म सापरपयायक 'आप' [सुव्रज] समझिये । शुक्र के चारों ओर वेष्टित मार्गवायु को 'मातरिश्वा' समझिये । इन्हीं तीनों को क्रमशः योनि—रेत—रेतोषा समझिये । ब्रह्मस्य योनि में आपरूप रेत की वायुरूप रेतोषा मातरिश्वा द्वारा आवृत्ति होती है । दूसरे शब्दों में मातरिश्वा आपतरव की ब्रह्म में आवृत्ति देता है, इसी से गर्भाधानपूर्वक प्रजोत्पत्ति होती है । यह है व्यापारमय प्रजोत्पत्तिक्रम । जैसा आप यहाँ [अध्यात्म में] प्रत्यक्ष कर रहे हैं, ठीक वही स्थिति यहाँ [अविदैवत में] समझिये—“यदेवेह तद्रमुत्र” ।

- |          |   |                   |   |   |   |                        |                     |
|----------|---|-------------------|---|---|---|------------------------|---------------------|
| १-योनि   | — | आपवत् [आग्नेयम्]  | → | → | → | पञ्चमसाप्ति [ब्रह्म]   | } ततः प्रजोत्पत्तिः |
| २-रेत    | — | शुक्रम [सौम्यम्]  | → | → | → | पद्मसोम [आप]           |                     |
| ३-रेतोषा | — | वायु [अनुष्णाशीत] | → | → | → | भागवत्वायु [मातरिश्वा] |                     |

अनेजत्—एनदरूप ब्रह्म यशुरभिर्मूर्ति बनता हुआ यद्यपि पुरुष है, परन्तु यह निबध्नता का पोनेस्मान्तीय होने से स्त्री कहा जा सकता है। एव सुक्ल सोमरूप होने से यद्यपि स्त्री है, परन्तु शुक्लस्थानीय होने से (रेतस्थानीय होने से) यह पुरुष नाम से व्यक्तित्व दिया जा सकता है। त्रयीविद्याका ब्रह्म से व्याप् उत्पन्न हुआ। त्रयीविद्या के साथ वह आपके गर्भ में प्रविष्ट हो गया। यह पश्चिमा आक्रमण है, मद्रिवा मिथुन है। ब्रह्मात्मिकरूप पुरुष सुक्लसोमरूप स्त्री पर आक्रमण कर रहा है। आगे जाकर अग्न्यात्मिकमानुसार मातरिवा द्वारा वह आप (शुक्र) उस ब्रह्म (योनि) के साथ संगत होता है। यह शुक्र—शोचि का दूसरा मिथुनकर्त्तृ है। आगे जाकर आप्तपुत्ररूप गवयवीर्यात्मिक नाम के केनाभि, एव ब्रह्ममूर्ति सुक्लरूप स्त्रीरूप दोनों का मिथुन होता है। यही तीसरा आक्रमण है। इस से मिथुनमात्र सर्वात्मना सम्पन्न हो जाता है, एव तत्काल विराट्पुरुष गर्भ में आ जाता है। यह विराट् इस दम्पती की पक्षिणी सन्तान है।

## अविदेवतसस्था

- १-ब्रह्माभि (आभि—पुरुष) { ब्रह्म अपोऽभि-अनुवाच्यते } प्रपन्नब्रह्म ब्रह्म (पुरुष) —  
२-आपः (सोमः—स्त्री) { (पुरुष शिष्यमनुवाच्यते) } प्रधानम्

- १-आप (सौम्य शुक्र—जी—रेत) { आप—अभिमनुवाच्यते } द्वि-अक्र. आप (स्त्री) प्र  
२-आभि (आग्नेयमूर्ति—पुरुष—योनि) { (जीपुरुषमनुवाच्यते) } धामम्

- १-अग्निरभिः सोमवेदः (पुरुषोऽभि—पुरुष) { अग्निरभिः सोमवेदमनुवाच्यते } दृ या घेद (पु) —  
२-अग्निरभिः सोमवेद (जीमूख सोम—स्त्री) { (पुरुष शिष्यमनुवाच्यते) } प्रधानम्

“ततो विराडजायत”

‘अनेजदेकं मनसो अभीय’ इत्यादि मन्त्र तीनों स्थितियों में से मध्यस्थिति का ही निरूपण करता है । अग्निमूर्तिब्रह्म योनिरूप से अस्थान में प्रतिष्ठित है । इस में मातृरिधा द्वारा आपरूप रेत की आकृति होती है । दोनों के [ अग्नि और आप के ] मिथुन से विराट् पुरुष उत्पन्न होता है , जैसा कि—‘तस्यां स विराजमस्रमत् प्रभुः’ इत्यादि रूप से कहा जा चुका है ।

ब्रह्म-आप के मिथुनमात्र से उत्पन्न अपूर्वमात्र में ब्रह्म और आप के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? वे दोनों धूपक् धूपक् थे, दोनों का समन्वितरूप विराट् है । अक्ष-सामावच्छिन्न ब्रह्म ब्रह्म है । इस में यद्-न्द् ( एजत्-अनेजत् ) दो विभाग हैं । इस प्रकार अक्ष-साम यजुर्मूर्तिब्रह्म अक्ष-साम-यद्-न्द् मेद से कल्पक हो जाता है । दूसरा आपत्तर है । इस की यजु-अग्निर मेद से आप-वायु-सोम-अग्नि-यैम-आदित्य यह ६ कहाए हैं । संभूय १० कहाए हैं । दशकस की समष्टि दश अक्षर की समष्टि है । छन्दोविज्ञान के अनुसार दशअक्षर छन्द को ही ‘विराट्’ [ दशिनीविराट् ] कहा जाता है । यही विराट् सूर्यरूप से हमें प्रलम्ब दिखाई दे रहा है । सूर्य आपोमय है, इसी लिए तो—‘अपांगम्मन्त्सीद्’ यह कहा जाता है, एव अग्निमय तो दश ही है । यदि सूर्य में पानी न होता तो सूर्य अक्षमात्र में संसार को मत्स कर डालता । साथ ही में यदि सूर्य में अग्नि न होता तो साथ संसार समुद्रगर्भ में विलीन हो जाता, जैसा कि प्रतिदिन क्षीण होता हुआ किसी युग में [ कल्पान्त में ] निःशेष बनता हुआ सौर अग्नि विशुद्ध आप का साक्षात्प रखता हुआ प्रलय का अभिघाता बन जायगा । इसी अप्-अग्नि मूर्ति विराट्सूपपुरुष [ हिरण्यगर्भप्रजापति ] से आगे की सारी सृष्टिएं होती हैं, जैसा कि निम्न लिखित श्रुतियों से स्पष्ट है—

१—विश्वकर्म हरिणं जातवेदस परायण व्योतिरेकं तपन्तम् ।

सहस्ररश्मिः शतधा वर्धमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य ॥

[ प्रश्नोपनिषद् १।८ ]

२—दिशो रुचम सरुपक्षा सदेति क्षरे षष्ठ्यन्तराभिधायमानः ।

नूनं जना सुर्येण प्रसूता भयभयानि कृण्वन्मपांसि ॥

[ अथ सं० ७ म० । ६१ सू० । ४ मं० ]

३—चित्रं देवानामुदगात्सुमिप्रस्य वरुणस्यादेः ।

आनायावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्युषश्च ॥

[ पृष्ठ सं० १३।४६ ]

ब्रह्म और सुब्रह्म दोनों ब्रह्मण्ड थे, पहिला ब्रह्मण्ड यही सन्त्योर्धिर्ब्रह्म हिरण्यगर्भनाम से प्रसिद्ध निरुद्ध पुरुष है। हिरण्यगर्भविद्या के उपासक महर्षि विश्व को सूर्यमूख ही मानते हैं, जैसा कि—‘मुण्डकोपनिषदविज्ञानभाष्य’ में विस्तार से निरूपित है। इस निधुनमात्र से ब्रह्मण्ड का उदय होता है, यही ब्रह्माण्ड स्वयं का विश्वरूप है, जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है। इसी ब्रह्माण्ड को सत्य में रक्ष कर स्थिति करता है—

**सदयः सममर्त्यैः सहस्यसमपम् ।**

तस्मिन्ने स्वयं प्रज्ञा सर्वलोकपितामहः ॥ (मनु० १।६) ।

सयम्नू ऋषि—इस सूर्य के पिता हैं। सूर्य हम सब के पिता हैं। सभी तो ऋषि को पिता  
मह [बाबा] कहा गया है। निरुद्ध पुरुष को अपने गर्भ में बीजरूप से प्रतिष्ठित रखने वाले,  
रत—योनि—रेतोवारूप उस दम्पतीमान का ही 'अनेजद्वद्धम्' इत्यादि मन्त्रमे निरूपण हुआ है।  
'अनेजद्वद्ध मनसो मयीयो नैनदेशा आप्नुवन् पूषमपद' 'तद्धारतोऽन्यान्तेति विष्टद'  
यह मन्त्रभाग योनि का निरूपक है, 'तस्मिन्मया' यह मन्त्र रेत का निरूपण करता है, एवं  
'मातरिन्वा इषाति यह मन्त्र रेतोवा का निवेदन करता है। वेदकर्म ईश्वर समुदायरूप  
से सर्वथा अनेजद्व है, अययवद्वधा मन से भी जरीय है। इस प्रकार निम्न अष्टांगित (गति)  
गमित निम्नरान्त [स्तिष्ठति] केनमप ईश्वर [सबभूतान्तरात्मा] दृष्टवत् स्तम्भ कहा है। साय  
विद्य इस पूर्वपुरुष से पूजा है। द्विषतिगतिरसमरूप सर्वव्यापक, विन्ता मायावन्निष्ठ इसी तत्त्व

को हमने यजुर्वेद कहा है। वेदत्रयी में ऋग्वेद महोक्त है, सामवेद महाव्रत है, यजु अग्नि है। इषा है, योनि है। इसी यजु के पुरुष मय्यवाक् भाग से पद्मरूप आपोव्रत उत्पन्न हुआ है। जहातक यजुर्वेद व्याप्त है, बहीतक आपोव्रत व्याप्त है। दोनों समामायतन हैं। महा मायावन्धित विद्याकर्मवय उस व्यापक क्षराक्षरविशिष्ट अव्यय पुरुष [पोडरीपुरुष] का बिम्ब बनने सामने रहिए। इस पर पहिला वेदत्रयीरूप ब्रह्मस्तर समझिए, दूसरा पद्मरूप सुब्रह्म स्तर समझिए। साय ही में तीनों की व्याप्ति समानप्रदेश में समझिए। साय ही में यह भी स्तर रखिए कि उत्तरा उत्तर स्तरों में पूर्व पूरस्तर निम्न प्रतिष्ठित हैं। 'अनजदेकम्०' से पहिला उपनिषद्भाग मिथुन पोडरीपुरुष का निरूपण करता है, 'अनेजदेकम्' इत्यादि मन्त्र विद्या-कर्मवय दूसरे ब्रह्मस्तर का निरूपण करता है, एवं आगे का—'सर्पर्षगाद०' इत्यादि मन्त्र तीसरा अविकररूप तीसरे सुब्रह्मस्तर का निरूपण करता है। ब्रह्मपुरुष से उत्पन्न सुब्रह्मरूप [अव्यय] की पुरुष पर प्रतिष्ठित भी, पति पत्नी का सम्बन्ध था, परन्तु बहिर्याम सम्बन्ध था, दोनों के शरीर मात्र मिले हुए थे। ऐसे योगरूप बहिर्याम सम्बन्ध से विरक्तेपति असम्बन्ध भी। अतएव आगे जाकर मातरिका द्वारा दोनों का अन्तर्गमन सम्बन्ध हुआ। इन दोनों के मिलित भाव से जो अपूर्ण तत्त्व उत्पन्न हुआ, वही—'शुक्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ। पूर्णमें हमने इस अपूर्णभाव को 'विराटसूर्य' कहा था एवं यहाँ शुक्र को अपूर्णभाव वक्तव्या जा रहा है। इसमें विरोध नहीं समझना चाहिए। कारण 'शुक्र' ही सूर्य का जन्मदाता है। शुक्रवत्या का आशिक प्रदेश ही आगे जाकर सूर्यरूप में परिणत होता है। अतएव—'तद्वाऽएव एव शुक्रो य एव तपति' वचनरूप तपति तेनैव शुक्रः [शत० ४२।१।१।] इत्यादि रूप से सूर्य शुक्र नाम से प्रसिद्ध है। अतएव प्रहविद्या के अनुसार जहाँ अग्रमा को 'मन्त्री' कहा जाता है, वहाँ सूर्य को 'शुक्र' कहा जाता है। सौराग्नि ही अपने प्रबन्धार से ग्रीष्म ऋतु का अधिष्ठाता बनता है, अतएव ग्रीष्म ऋतु को भी [सूर्य सम्बन्ध से] 'शुक्र' कहा जाता है। अष्टमास 'शुक्र' है, आषाढमास 'शुवि' है। [देखिए शत० ४।१।१।५]। विराट् सूर्य को छोड़ दीजिए। अभी विराट् शब्द से केवल शुक्र का ग्रहण कीजिए। त्रयीव्रत एवं आपके अन्तर्गमनरूप याग सम्बन्ध से

जो अपूर्वमात्र उत्पन्न हुआ, वही विश्व का उपादान बनता हुआ [आकृ-साम-यत्-भू-वायु-वायु-भोम-अग्नि-यम-आदिभ्य मेद से दशाक्षर बनता हुआ] विराट्शुक्र नाम से प्रसिद्ध हुआ। जहाँ तक [महामायतक] ब्रह्म-सुब्रह्मस्तर व्याप्त थे, वही तक दोनों की सम्मिश्रित अवस्था-रूप विराट्शुक्र व्याप्त हुआ। यही पहिला अव्यक्त सखम्भू है। ससीम और असीम [मित्य मायवर्गिभ्य होने से पर्यार्यतः असीम] मेद से सखम्भू दो प्रकार का है। अस्तक महान् की उत्पत्ति नहीं होती, तब तक पुण्डरीर सखम्भू का उदय नहीं होता। महाद्वयति से पहिले अपनी सत्ता रखने वाला शुक्लवर्ति सखम्भू व्यापक है, महामायावर्गिभ्य बनता हुआ एक है। इस महा विश्वधारक महा सखम्भू के उदर में महान् की कृपा से उत्पन्न होने वाली अनन्त योगमायामें से अनन्त पुण्डरीर सखम्भू प्रादुर्भू होते हैं, जिनका नि विन्दुराज आठवें मन्त्र में कृत्या जापण। जो किसी समय द्विजस या, वही मातारिखा द्वारा पदव्रज [आप] से विभुनमात्र को प्राप्त होता हुआ 'शुक्र' कहने में लगता है। शुक्र कथ पदार्थ है। इस प्रत्येक का उत्तर है पदव्रजगर्भित यजुव्रज। विश्व के उपादान कारण ही को शुक्र कहते हैं। इसमें वेद-सुवद दोनों हैं। दोनों का विभुनमात्र ही विश्व का उपादान बनता है, अतएव इस विभुनरूप को हम अक्षरप ही 'शुक्र' शब्द से व्यञ्जन कर सकते हैं। यही व्यापक अव्यक्त सखम्भू है। यही अव्यक्त आगे जाकर व्यक्त महद्वत्तर में परिणत होकर विश्व का प्रथम-प्रतिष्ठा पदार्थ बनता है, जैसा कि भिन्न वचन से स्पष्ट है—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सत्। प्रथमन्यहरागमे ।

राष्ट्रागमे प्रतीयन्ते तत्रैवाव्यक्तमैवमेकम् ॥ (गी० ८।१८)

यही अव्यक्त महद्वत्तर के सम्बन्ध से अव्यक्तरूप में परिणत होजाता है। इस व्यापक अव्यक्तमूर्ति व्यापकद्वय से सृष्टि निर्माण होता है।

रुग्ण पर रधि शनिम् । सर्वज्ञ रुग्ण में व्यापक सभी शुभ प्रजोगति का कारण यही बनता। अक्षरिभ्य शुभ ही होने में आहुत होकर प्रजोगति कारण बनता है। यही अक्षरप

यहां समझिए। मन्त्रामायाबन्धुन ईश्वरशरीर शुक्लमय (जल सुवर्णमय) है। जैसे मिश्र मिश्र शुक्ल-  
 द्रवियों से मिश्र मिश्र ( पुनः कल्यादि ) प्रजा उत्पन्न होती हैं, एवमेव ईश्वर शरीरमें व्याप्त शुक्ल  
 की मिश्र मिश्र व्याद्वियों से मिश्र मिश्र प्रजा की उत्पत्ति होती है। ईश्वर की प्रजा के  
 १-स्वयम्भू ( पुनर्हीरस्वयम्भू ) २-परमेष्ठी, ३-सूर्य, ४-चन्द्रमा, ५-पृथिवी यह पाँच  
 विभाग हैं। पाँचों की समष्टि एक विश्वप्रजा है। ऐसी अमन्त प्रजा ( अमन्त मिश्र ) उस में  
 उस के मिश्र मिश्र शुक्ल प्रदेशों से उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार शुक्ल मेद से अमन्त विश्वप्रजाओं  
 को उत्पन्न कर वह अमन्तविद्याविद्यात्मक बन जाता है। ईश्वरत्वं 'शुक्ल' रूप में कैसे परिशुद्ध हो  
 जाता है ? प्रकृत मन्त्र इसी का समाधान करता है। जब वह शुक्ल मिश्र मिश्र प्रजाओं को कैसे  
 उत्पन्न करता है ? पुनर्हीर प्रजाओं का क्या स्वरूप है ? इन सब प्रश्नों का समाधान 'स पर्य्य  
 गात्' इत्यादि मन्त्र करता है। स्वयम्भू ब्रह्मसत्त्व है। प्राकृतिकप्राप्त की विश्वसमृद्धि होने से  
 इसे 'प्राकृतात्मा' कहा जाता है। महारूप व्यक्त मिश्र का अभिधाता यह स्वयं अम्यक्त है।  
 इसी दृष्टि से इसे 'अम्यक्तात्मा' कहा जाता है। अम्यात्मसत्त्वा में यही अम्यक्तात्मा 'शान्तात्मा'  
 नाम से प्रसिद्ध है — ( देखिए कठोपनिषद् १। ३ )। यही ब्रह्मसत्त्वात्तर, स्वयम्भू, अम्य-  
 क्तात्मा, शान्तात्मा आदि विविध नामों से प्रसिद्ध पहिला प्राकृतात्मा है। जब महानात्मा  
 अम्य से प्रसिद्ध दूसरे प्राकृतात्मा की ओर निम्न पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

## इति मन्त्रार्थप्रकरणम्





## अव्यक्तात्माधिकरणे-

### विश्वविश्वात्मनो -सम्बन्धाधिकार

( अमृतात्मना सह ब्रह्मसत्यस्य सम्बन्धनिरूपणम् )

### ब्रह्म-कर्मणोः सम्बन्धः



१ तद्व्रजति तस्मैवसि तद्दूरे तद्वसितके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्य बाह्यत ॥ १ ॥

} ब्रह्म कर्मस्वप्न

२ यस्तु सत्वाणि भूतानि-आत्मन्वेवानुपरयति ।

सर्वभूतेषु आत्मानं ततो न विमुक्तुमर्हते ॥ २ ॥

} कर्म ब्रह्मस्वप्न

३ यस्मिन्सत्वाणि भूतानि-आत्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपरयत ॥ ३ ॥

} प्रसन्न कर्म







## ब्रह्मकर्मसम्बन्धनिरुक्ति



अप्य पुरुष प्रकृति को आगे कर के ही विश्वनिर्माण में समर्थ होता है। प्रकृति विशिष्ट, (अत एव) सृष्टिप्रवर्तक अभ्यय पुरुष के ब्रह्म और कम यह दो प्रधान विस्त हैं। आनन्द-विज्ञान-मन का समुच्चय ब्रह्मभाग है, मन-प्राण-वाक् का सममितरूप कर्मभाग है। दोनों निष्प सहचारी हैं। ब्रह्म-कर्ममय अभ्यय से (प्रकृति द्वारा) उत्पन्न विश्व में भी ब्रह्म-कर्म (ज्ञान-क्रिया) इन दो तत्वों का ही स्यात्वाप्य है। प्रयास करने पर भी आप ज्ञान कर्म के अतिरिक्त तीसरी वस्तु प्राप्त नहीं कर सकते। विश्वात्मा में ब्रह्मभाग विस्तित रहता है, विश्व में कर्म की प्रधानता रहती है। अत एव विश्वात्मा को 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया जाता है, एवं विश्व को 'कर्म' नाम से पुकारा जाता है। इस मेद व्यवहार का मूल कारण यही है कि अभ्ययात्मा का सृष्टिस्थलीभाग मन प्राण-वाक्मय है। मन रूपों का उक्त-ब्रह्म-साम है, प्राण कर्मों का (क्रियाओं का) उक्त-ब्रह्म-साम है, एवं वाक्मय नामों का उक्त-ब्रह्म साम है। नामरूपकर्म की समष्टि ही विश्व है। अभ्ययात्मा के कर्मभाग को आसम्भन मानकर शब्दतन्मात्रा द्वारा ही विश्व का निर्माण हुआ है। इस कर्मप्रधान विश्व के ब्रह्म-शुद्ध-विश्व यह तीन विस्त हैं। अभ्ययप्रधान षोडशी स्वरूप अमृत किं वा अमृतात्म्य है। उपनिषद् के आरम्भ में (पृ० ११) एव प्राकृत्य-व्यविकरणात्तर्गत वेदनिकृति की प्रकरणासंगति में (पृ० स० ४।१५) उपनिषद् का जो नियम विभाग बताया गया है, आप उसे दूसरी तरह से देखिए। कर्ममय ब्रह्म (षोडशी पुरुष) के अमृत-ब्रह्म-शुद्ध-विश्व यह चार विस्त हैं। यही चतुष्पादब्रह्म है, जिसका कि पूर्व के चतुष्पादब्रह्मनिरूपणाधिकार में विस्तार से विवर्णन बताया जा चुका है। प्रकरणात्तर से ईशोपनिषद् इन्हीं चारों ब्रह्म विस्तों का निरूपण करती है। मन्त्रत्रयात्मक प्रथम प्रकरण (पुरुषात्माधिकरण) अमृत नाम से प्रसिद्ध विशुद्ध षोडशीपुरुष का निरूपण करता है। 'अनेन वेदं मनसो जयीय' यह मन्त्र ब्रह्म नामसे प्रसिद्ध अभ्यय तत्व का निरूपण करता है।

स पपगाञ्जुकम्' इत्यादि मन्त्र शुक्ल नाम से प्रसिद्ध विद्वत्कृत्यरूप व्यक्तत्व का निरूपण करता है, एवं 'सपर्यगात्'० से आगे का साध प्रकरण विश्व नाम से प्रसिद्ध वैज्ञानिक ज्ञान का प्रतिपादन करता है। इन चारों विधियों में समुदाया निरूपण है, विश्व का आधार है विश्वसाधो है पुरुष है। मन्त्र [अभ्यक्त] मूलप्रवृत्ति है। शुक्ल विद्वत्ति है। विद्वत् विश्व है। पुरुष-प्रवृत्ति-विद्वत्-निरूपण-ही समुदाय-मन्त्र-शुक्ल-विरच हैं। इन चारों में पुरुष ज्ञानप्रधान बनता हुआ मन्त्र है, प्रवृत्ति-विद्वत्-निरूपण यह तीनों निरूपण कर्मप्रधान बनते हुए कर्मरूप ही हैं। यद्यपि निरूपण केवल निरूपण का ही नाम है। तथापि विद्वत्कृत्यरूप शुक्ल ही इसका उपादान कारण बनता है। एवं कायमन्त्र विश्व उपादान कारणरूप शुक्लसत्ता से ही सत्ता युक्त बन रहा है। कारण काय से अभिन्न है, निरूपण विद्वत् से अभिन्न है। अतएव विद्वत्कृत्य शुक्ल को निरूपणरूप विश्व में ही सम्ममूत्र मानसिषा जाता है। तीसरा है प्रवृत्तिरूप मन्त्र मात्र। अभ्यक्त प्रवृत्ति ही व्यक्त विद्वत् (शुक्ल) को उत्पन्न कर विश्व की मूल जननी बनती है। प्रवृत्ति ही अभ्यक्तात्मका ही तो व्यक्त्यात्म में परिणत होकर शुक्ल (उपादान) बनती है। अतः इस प्रवृत्तिरूप मन्त्र का निरूपणरूप व्यक्त शुक्ल में अन्तर्भाव मान लिया जाता है। प्रवृत्ति को विद्वत् से पूर्ण नहीं दिया जासकता विद्वत् को निरूपण से पूर्ण नहीं माना जासकता।

प्रवृत्ति कर्त्री (निमित्तकारण) है, विद्वत् उपादाकारण है वैज्ञानिक निरूपण कर्मरूप है। चौथा स्वसमुदायाना प्रवृत्ति-विद्वत्-निरूपण इन तीनों का आत्मन् बनता हुआ सर्वोत्पन्न है। वह स्वयं कारणार्थक है। यद्यपि मूलप्रवृत्ति से निरूपण करने पर मन्त्र समुदायाना में भी (चौथी पुरुष में भी) मन्त्र-मन्त्र-आमन्त्र-मन्त्राशुकरिण इत मन्त्र से उत्पन्न कारणाना समुदाय की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इस विभाग में आमन्त्र आमन्त्र है, मन्त्र मन्त्र (अभ्यक्त प्रवृत्ति) है, आमन्त्र शुक्ल (व्यक्त विद्वत्) है, एवं मन्त्र-शुक्ल-विरच समष्टि वैज्ञानिक ज्ञान है। दूसरे शब्दों में आमन्त्र आमन्त्र है, मन्त्र निमित्तकारण है, आमन्त्र उपादानकारण है, एवं मन्त्र-शुक्ल विरच ही मन्त्र काय मन्त्र है, तथापि चौथी निरूपण के कारणमन्त्रमात्र के विचार उप

स्थित होने पर इस क्रम को प्रधानता नहीं दी जा सकती । 'सर्वं सर्वाणि भूतानि' के चतुःसार मौक्तिकविरच अन्वय-अक्षर की कारकता से पृथक् ही गानना पड़ता है । यह टीका है कि आत्मकारकता ही परमकारकता है, तथापि स्थूलद्रष्टि से हम पोद्घरीरूप अवतारमा को कामकारकता ही कहेंगे । इस प्रकार चतुष्पादत्रय के सम्बन्ध में आत्मा-विरच मेद से दो विकल्प होजाते हैं । आत्मा भी चतुष्पाद है, ब्रह्म भी चतुष्पाद है । दोनों की समष्टि अक्षर गायत्री है । अतएव ब्रह्मविद् ब्राह्मण गायत्री से ही विरच कर निर्मल मानते हैं ।

पुरुष-प्रकृति विरुद्धि सब कुछ गायत्री के उदर में समाविष्ट है । गायत्री चतुष्पाद ब्रह्म की विभूति है । 'सर्वाणि इ वा छन्दोसि चतुर्वचराणि' के अनुसार गायत्री के आरम्भ में चार पाद (अक्षर) थे, परन्तु विरोधवि के अनन्तर चतुष्पाद आत्मब्रह्मभी गायत्री अक्षर बन जाती है । इसी ब्रह्मविभूति की प्राप्ति के लिए ब्रह्मविद् ब्राह्मण ब्रह्ममुहूर्त्त में पूर्वामिमुख सदैव हो कर गायत्रीब्रह्म कर श्रवण किया करते हैं । गायत्री ही सब कुछ है । इसी रहस्य को हृदय में रखकर छान्दोग्य मुनि कहती है—

“गायत्री वा इदं सर्वं—भूत-यदिदं किञ्च । वागैव गायत्री । वाग्ना इदं सर्वं भूतम् । गायति च प्रापते च । + + + + +  
तावानस्य महिमा ततो व्यापार्यं पुरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि,  
त्रिपादस्यामृतं दिवि । यद्वैतद् ब्रह्म इति, इदं वाच तद् योऽयं-  
वहिषा पुरुषावाकाशः । यो वै स वहिर्षा पुरुषावाकाशः—अथ वाच  
स योऽयमन्तः पुरुष आकाशः । यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः —  
अयं वाच स योऽयमन्तः हृदय आकाशः । तमेतद् पूर्वं अथवसि,  
पुण्यमववर्तिनीं श्रियं समेने य एष वेद” इति ।

[ छान्दोग्योपनिषद् १ ॥ १० सं )

## गायत्रब्रह्म

“अथर्ववेदे गायत्री । गायत्री वा एते सर्वम्”	{ १-१ अन्वयपुरुष — पुरुष — अमृतम् (आत्मन्वनम्) } { २-२ अक्षरपुरुष — प्रकृति — ब्रह्म (निमित्तकारणम्) } { ३-३ आत्मनःपुरुष निहृति — शुक्लम् (उपादानकारणम्) }	} आत्मा १ चतुष्पाद्ब्रह्म	} गायत्री ब्रह्म
	{ ४-४ { अक्षर (१) } { शुक्लम् (२) } { विश्वम् (३) } { विकारसंघ-विश्वम् (वायव्यपक्षम्) } } विश्वम्		
	— १४ —		
	{ ५-१ पादवर्णपुरुष — पुरुष — अमृतम् (आत्मन्वनम्) } { ६-२ अक्षर (अमृतप्रकृति) — प्रकृति — ब्रह्म (निमित्तकारणम्) } { ७-३ शुक्लम् (व्यक्तप्रकृति) — निहृति — शुक्लम् (उपादानम्) } { ८-४ विश्वम् (व्यक्तकारणम्) — विकारसंघ-विश्वम् (कार्यम्) }	} आत्मा (पुरुष) २ चतुष्पाद्ब्रह्म	} गायत्री ब्रह्म
{ ५-१ अक्षर (अमृतप्रकृति) — प्रकृति — ब्रह्म (निमित्तकारणम्) } { ६-२ शुक्लम् (व्यक्तप्रकृति) — निहृति — शुक्लम् (उपादानम्) } { ७-३ विश्वम् (व्यक्तकारणम्) — विकारसंघ-विश्वम् (कार्यम्) }			

दोनों ब्रह्म विवर्त्ता में से इशोपनिषद् में प्रधान छवि किस विवर्त्त पर है ? यह पाठक स्वयं निश्चय करें। उन्हें उपनिषद् के नाम से ही यह निश्चित होनाचना कि उपनिषद् की प्रधानछवि दूसरे विवर्त्त पर है। ईश शब्द मौक्तिक निरव की अपेक्षा रहस्य है। पादवर्ण पुरुष आत्मा है। अक्षर-शुक्ल-निहृति की समष्टि इस अर्थमा का शरीर है। इस आत्मन्वी का नाम ईश किन्तु इतर है। आत्ममात्र अमृतभाग है, शरीरमात्र प्राकृतभाग है। दूसरे शब्दों में आत्मा पुरुष है, शरीर प्रकृति है। ईश उपनिषद् प्रकृतिपुरुष का ही निरूपण करती है। अतएव इस उपनिषद् में हमने पुरुषात्मविचित्रता-प्राकृतारम्भाविचित्रता यह दो ही अधिकृत रखे हैं। साथ ही में पुरुषात्मविचित्रता का शीर्षक (हेडिंग) ‘अमृतारम्भा रक्ता है, प्राकृत कर्तव्य का

‘प्राकृतसात्मा’ यह शीर्षक रक्खा है। सामान्य दृष्टि से सारी उपनिषद् के दो ही विभाप हैं। आरम्भ के तीन मन्त्रों की समष्टि पुरुषविभाग है आगे के (अनेजदेक—से आरम्भकर तुम चर्कि विधेम पयस) १५ मन्त्रों की समष्टि प्रकृतिविभाग है। प्रकृति की आगे आकर प्रकृति विकृति विकारसंघ (ब्रह्म-शुक्र-विष) यह तीन अवस्थाएँ होनाती हैं, अतएव दूसरा विभाग तीन भागों में विभक्त हो जाता है। ‘अनेजदेक०’ इत्यादि चतुर्थमन्त्र प्रकृति के प्रसविकर्ष का निरूपण करता है। ‘सपर्यगात् ०’ इत्यादि आठवाँ मन्त्र प्रकृति के शुक्रविषय का निरूपण करता है। एव आगे के (अन्वे तमः० इस ६ मन्त्र से आरम्भ कर ‘नम चर्कि विधेम’ इस १० वें मन्त्रतक) १० मन्त्रों की समष्टि प्रकृति के विषविकर्षभूत वैकारिकसंघ का निरूपण करती है। इस प्रकार १ (४ मन्त्र), १ (८ मन्त्र), १ (६ से १० तक) इस क्रम से प्रकृतिके ही तीनों विकारों का निरूपण हुआ है। उपनिषदुपदेश जीवात्मा (अध्यात्म) से सम्बन्ध रखता है। जीवात्म्य देवसत्त्व नाम से प्रसिद्ध है। जीवदेवसत्त्व की प्रतिष्ठा ईश्वरीय देवसत्त्व है। यह दोनों ही देवसत्त्व विषय के पृथिवीपर्व पर प्रतिष्ठित हैं। देवसत्त्व अग्निरूप है। सोम अग्नि का बीज है, सूर्य इस देवसत्त्व का आत्मा है। सूर्यरूप विहङ्ग (व्यक्त विहङ्ग) देवसत्त्व की सूत्रप्रतिष्ठा है। सोमस्य चन्द्रमा जीवनीय रस है, जीवन का साधन है, पृथिवी आधार है। इस प्रकार व्यक्त विषय में सूर्य-चन्द्रमा-देवसत्त्व-पृथिवी यह चार विकर्ष हो जाते हैं। सूर्य भी अग्नि है, देवसत्त्व भी अग्नि है, पृथिवी भी अग्नि है, मध्यस्थित सोमरूप चन्द्रमा भी अग्नि से ही गूठित है। विषय के लिए ‘अग्नीषोमात्मकं जगत्’ यह कहा जाता है। इन में अग्निकत्वा सूर्य-देवसत्त्व-पृथिवी इन तीन भागों में विभक्त है। चौथी सोमकत्वा है। इस प्रकार अग्नीषोमात्मक विषयके सूर्यादि चार विकर्ष हो जाते हैं। चारों की समष्टि को हम (अधसोम को अता अग्नि के गर्भ में मानते हुए) अग्निगण्ड से व्यकृत कर सकते हैं। समष्टिरूप से विषय सोमगर्भित अग्नि है, व्यष्टिरूप से वही सूर्य-चन्द्रमा-देवसत्त्व-पृथिवी इन चार भागों में विभक्त है। सूर्य व्यक्त विषय का आरम्भस्थान है, पृथिवी अन्तिमस्थान है। मध्यमे चन्द्रमा और देवसत्त्व प्रतिष्ठित हैं। इन चारों व्यष्टियों का अन्ततोग्रन्थ समष्टिरूप अग्नि पर अवस्थान है। इस क्रमसे ६ मन्त्रात्मक चौथे विषयप्रकरण के



अथान्तर पात्र प्रकरण हो जाते हैं। मूयप्रकरण-चन्द्रप्रकरण देवसत्यप्रकरण-शुचिशीमकरण-अग्निप्रकरण इन प्रकरणों में ३ मन्त्र (११ १० ११) सूर्यप्रकाश का, ३ मन्त्र (१२ १३ १४) चन्द्रप्रकाश का, २ मन्त्र (१५ १६ यह दो मन्त्र पूरे एवं तीसरे १७ वे मन्त्र का 'वायुरनिममद् तम्' यह एक बार) देवसत्यप्रकाश का, तीन मन्त्र (१७ वे मन्त्र के श्रेय तीन बार) शुचिशीमका का, एवं एक मन्त्र (अथारहवां मन्त्र) समष्टिरूप अग्नि का निरूपण करता है, जैसा कि विषयविभागप्रश्नान में इंगित कर दिया गया है।

यद्यपि इस अष्टासमिक भाषा से पाठक हृष्य हो रहे होंगे। परन्तु हम उन्हें विज्ञात विज्ञात हैं कि यह सोमप्रश्न उन के लिए उपनिषद्भाषा का मार्ग प्रशस्त कर देगा। अतएव समष्टिरूप से विषयविभाग की ओर बसते हुए अपना सोम और बनाए।

उपरिपर को अष्टासमिक ईश्वरप्रजापति का निरूपण करते हुए तदनुसृत अष्टासमिक का निरूपण करना है। ईश्वरसंस्था पुरुष और प्रकृतिभेद से दो भागों में विभक्त है। विद्यत्संस्थ से पुरुष को बनने कर्मभाग को भागे रखना पड़ता है। स्वयं पुरुष भी अष्टासमिक-अष्टासमिक भेद से त्रया विभक्त है, एवं अष्टासमिक का कर्मभाग भी मन-प्राण शब्द भेद से त्रया विभक्त है। इन में मन अष्टासमिक है, अष्टासमिक प्राणप्रधान है, अष्टासमिक शब्दप्रधान है, यह है ईश्वरविभक्त। अष्टासमिक मर्यादा में अष्टासमिक मन का भाग से भेदों का, प्राणप्रधान अष्टासमिक का, शब्दप्रधान अष्टासमिक का

● 'सूर्यप्रकाश' का अर्थ है। यहो तत्त्वप्रकाश विषय के प्रत्यक्ष है। अथर्व वेदों में ३ ३ मन्त्र न समान रूप रक्तगता हैं।

+ देवराज हवन है। अथर्व वेदों को देवराज निरूपण के लिए तीन मन्त्र रखे पड़े। तृतीय मन्त्र नहीं यदि त्रु तथा सोमप्रश्न। १० वे मन्त्र के तीन भाग शुचिरी में लुप्त होगए। अथर्व शुचिरी देवराज की प्रतिष्ठा है। अथर्ववेद से वह अतिविश्व है। अथर्व वेदों के अष्टासमिक अष्टासमिक से वह देवराज के अतिविश्व होती है। जैसा कि अथर्ववेद में अष्टासमिक देवराज होना चाहिए। यहो देवराज को त्रया में अष्टासमिक तीन बारों में १० वां अष्टासमिक अष्टासमिक है, एक बार का देवराज अष्टासमिक में अष्टासमिक है।





का साक्षी बनता है। इसी योग-कर्म-आवरणसाक्षी त्रिरूप पुरुष का निरूपण क्रमशः आरम्भ के तीन मन्त्रों में हुआ है। यही पहिला मन्त्रत्रयात्मक पुरुषात्माधिकरण है। ( अमृतम् )।

दूसरा विवर्त है प्रकृति। प्रकृति का पहिलारूप है-यजुर्मण्डगर्भित द्वित्रिरूप प्राणमय यजुर्ग्रन्थ। यही अप्पात्म में अण्प्रकाशात्मा नाम से प्रसिद्ध है, यही ईश्वरसंस्था में स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध है। आरम्भ में यह एकाकी था। यही आगे जाकर शुक्रविकस का कारण बनता है। 'अनेमदेकम्' इत्यदि चौथा मन्त्र इसी ब्रह्मविवर्त का निरूपण करता है। ( ग्रन्थ )।

प्रकृति का दूसरा विवर्त शुक्र है। द्वित्रिरुपमैत (यजुर्मण्डगर्भित) आपोमय सुव्रत का ही नाम 'शुक्र' है। यह अण्प्रकाश की व्यक्तावस्था है। यही विकृतिमय है। अभिदैक्षत में यह परमेष्ठी नाम से, अप्पात्म में यही महानात्मा नाम से प्रसिद्ध है। 'सपयगात्' इत्यदि = वा मन्त्र इसी शुक्रविवर्त का निरूपण करता है। ( शुक्रम् )।

प्रकृति का तीसरा विवर्त है-अग्नीपोमात्मक विष। विष की प्रथम विकासभूमि सूर्य चद्रमा हैं, जैसा कि 'सूर्या चन्द्रमसौ धाता दया पूर्वमकल्पयत्-विष च पृथिवीं चान्तरिक्षमयो स्वः' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। सूर्य अग्नि है, चद्रमा सोम है। सूर्य ही अपन प्रकाश अग्नि से पृथिवी को उत्पन्न करता हुआ आकाशपृथिवीरूप में परिणत होता है। सूर्य ज्योतिष है, पृथिवी पृथिवी है, मध्यस्थ सोमविवर्त व्यतिरिक्त है। इस त्रैलोक्य की समष्टि ही 'महापण्ड' है, यही निरुद्ध है। पृथिवी विषयस्य विष्य अग्नि पृथिवी है, पृथिवी का ही प्राणमि देवसम्भ है। यह देवसम्भ पृथिवी पर प्रतिष्ठित है। इस क्रम से सावित्राग्नि-सोम-देवसम्भ-गायत्राग्नि-मेघ से अग्नीपोमात्मक विष चतुर्वर्ग बन जाता है। समय का मूल घरातच एक सत्तामि है। आगे के १० मन्त्रों से इसी पञ्चमा विमल अग्नीपोमात्मक विष का निरूपण हुआ है। ( देखिये ई० वि० भा० ८७ पृ० )। इस पुरुष प्रकृति का अन्तराणीय सर्वात्मन-पुरुष अक्षय्य परात्पर तत्त्व है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए उपनिषद् के सफ़लमोपसंहार में 'मो पूर्णमद्' इस रूप से शान्तिपाठ किया है। परात्पर व्यापक होने से सबका शान्त है। यही शान्ति का अभिप्राय है।

प्रकृत प्रकरण सम्बन्ध का निरूपण करता है । सम्बन्ध के सम्बन्ध में मन्त्रसम्बन्धिनी सम्बन्ध जिज्ञासा सम्बद्ध है । अत एव प्रसंगोपात् मन्त्रसम्बन्ध का सिद्धान्त करना पड़ा । पुनः प्रकृत का अनुसरण लिया जाता है ।

यद्यपि अभी विश्व का स्वरूप नहीं बतलाया गया है । कारण आग्नीधोमात्मक विश्व का उपादान शुक्लरूप व्यक्त नहीं है, इस की मूलप्रवृत्ति अव्यक्त ब्रह्म है । 'अनेमदेकम्' से इस का निरूपण हुआ है । फिर भी ब्रह्म ही निरव की मूलप्रवृत्ति है । 'प्रकृतिः कर्त्री' के अनुसार यही व्यक्तावस्था में आकर विश्वरूप में परिणत होने वाली है । जब निरव की मूलप्रवृत्ति का निरूपण होगा तो एक प्रकार से विश्व का निरूपण होगा । अनेमदेकम् के अनन्तर ही अग्निं ब्रह्म-कर्म (पुरुष-प्रकृति) के सम्बन्ध का निरूपण करना उचित समझा है । इस प्रकार में ब्रह्म शब्द शोडशीपुरुष का वाक्य है, कर्मशब्द निरव ( निरव ), प्रवृत्ति ( शुक्ल ) गर्भित अव्यक्त ब्रह्म का वाक्य है । इस कर्ममय, अतएव कर्म नाम से ( कर्त्री नाम से ) प्रसिद्ध इस अव्यक्त ब्रह्म का विकास उस पुरुषब्रह्म से ( पुरुष ब्रह्म के कर्मभाग से ) हुआ है । अपनी आत्मधार कला से वह अव्यक्त ब्रह्म का ब्रह्म ( उपादान ) बना है । अतएव सृष्टिकर्तृत्व की अपेक्षा से उसे हम अवश्य ही ब्रह्म कह सकते हैं । 'तत्सद्वा तदेवानुभाविशत्' के अनुसार शब्दात् अव्यक्त ब्रह्म को उत्पन्न कर वह शोडशीपुरुष (अमृतानाम्) इसके गर्भ में प्रविष्ट होना है । दूसरे शब्दों में भौतिक कर्मका निरव में वह अव्यक्त ब्रह्म प्रविष्ट हो रहा है । ऐसी परिस्थिति में यह प्रश्न उपदिष्ट होता है कि इस ब्रह्म (आत्मा) का इस कर्म ( निरव ) के साथ क्या सम्बन्ध है ? कला सम्बन्ध है ? दूसरे शब्दों में आत्मब्रह्म कर्मनिष्ठ में किस सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर निरवधर-निर्वेश-निर्बाध आदि नामों से प्रसिद्ध हो रहा है ? प्रकृत तीनों मन्त्र इसी सम्बन्ध जिज्ञासा को शांत करते हैं ।

दशमशास्त्रमें ब्रह्म-कर्म का सम्बन्ध ६ प्रकार से माना है । कहीं सम्बन्ध 'पञ्चविकल्प' नाम से प्रसिद्ध है । ब्रह्म कारण है, निरव फल है । जोहमें हम कार्य-कारणभावों के सम्बन्ध में वक्ष्य पाते हैं । कार्य-कारणसम्बन्ध अनेक प्रकार से उपलब्ध होता है । उदाहरण के

लिए कुछ एक कार्यकारणभावों का विचार कीजिए । विविध कार्यकारणभावों का निरूपण करते हुए अभियुक्त कहते हैं—

हेतुनिमित्त प्रकृतिश्च भोनि पारस्वमुसे प्रभवोदभवौ तथा ।

विमर्तसंचारिरसप्रवाहिकप्रकृतसपूर्व समवायिका प्रताः ॥

१—दीपशब्दात् से दीपक जल उठता है । दीपशब्दात् कारण है, इससे प्रवृत्त दीपकिला कार्य है । इन दोनों का सम्बन्ध 'हेतुसम्बन्ध' है । इसे ही 'प्रवत्तक' सम्बन्ध भी कहा जाता है । कैसा विचक्षण सम्बन्ध है । कारण का कावरूपमें परिणत होना उपादान सम्बन्ध है । यहां कारणरूप दीपशब्दात् कार्यरूप साधक बनती हुई भी साय दीपान्वा नहीं बनती, यही विचक्षणता है ।

२—वायु में एक प्रकार का नोदनावह (प्रेरणावह) देखा जाता है । नोदना कार्य है, वायु कारण है । इसी वायुनोदना से वृष्टादि में कम्प होता है । मेघों का संचरण होता है । यह कार्यकारणसम्बन्ध नैमित्तिक किंवा निमित्तसम्बन्ध नाम से प्रसिद्ध है ।

३—आकाश में पक्षी उड़ रहे हैं । सर्प दशन ( कूट ) करते हैं । घृगशाक ( हरिण के बच्चे ) उकसा करते हैं । पुण्य में से गज निकला करता है । यहां पक्षी—सर्प—घृगशाक—पुण्य यह चारों क्लेश उदना—दशन—उकसाना—गज इन चार कार्यों के कारण हैं । इनका पारस्परिक सम्बन्ध 'प्राकृतिक' (सामयिक), किंवा प्रकृति (समय) सम्बन्ध कहा जाता है ।

४—शब्द से शब्द पैदा होता है । आप अपने मुख से जो शब्द बोलते हैं, उसका आकाश में सर्वत्र व्याप्त वाक्समुद्र में आघात होता है । आघात होते ही वाक् समुद्रमें उबारित शब्दाकाराकारित सहर उत्पन्न हो जाती है । एक सहर के आघात से आगे दूसरी सहर, दूसरी से तीसरी सहर, तीसरी से चौथी, पांचवीं इस प्रकार बीबियों की पारा बन जाती है । यही प्रतिध्वनिभाव है । यही सहर अन्य व्यक्ति के कामपर पहुंच कर शब्दोत्पत्ति का कारण बन जाती है । इसी के लिए—  
'शब्देभ्यः शब्दोत्पत्तिः' यह कहा जाता है । आप जो शब्द सुनते हैं वह उक्त बीबिन्याय

से अन्य व्यक्ति के मुख से बोले हुए शब्द से उत्पन्न हुआ है। तेज से तेजका विकास होता है। शब्द से साम का स्वरूप सम्पन्न होता है। यहाँ शब्द तेज-शब्द कारण हैं शब्द-तेज-साम काय हैं। इन कायकारणों का सम्बन्ध 'योनि' नाम से प्रसिद्ध है। इसीको साम्पादिक सम्बन्ध भी कहा जाता है।

५-ओ मनुष्य शीघ्र चलता है, उसकी गति में वेग उत्पन्न होता है, इसी अभिप्राय से शीघ्र गमनी के लिए 'बह बड़े वेग से जा रहा है' यह कहा जाता है। वेग-क्रय है, गति क्राय है। गति ही वेग की सूचना देती है। अमरस के अनन्तर रस, रस के अनन्तर अमरस, इस क्रम से सात पातुओं का विकास होता है। गति-अमरस कारण हैं, वेग-सप्तपातुक्रम-कार्य हैं। यह सम्बन्ध 'मारम्भ' नामसे प्रसिद्ध है। इसीको 'सांस्कारिक सम्बन्ध' कहा जाता है। इसी आधार पर "यह सत्कार की बात है, उस का मारम्भ ही ऐसा था" यह किंवदन्ती मणसित है।

६-सिंह से तैल उत्पन्न होता है, हिमालय से गङ्गा उत्पन्न होती है, दूध से घृत निकलता है, पाषाण से मूर्ति निकलती है, गुहा से सिंह निकलता है। यहाँ सिंह-हिमालय-दूध पाषाण-गुहा क्रम हैं। तैल, गङ्गा, घृत, मूर्ति, सिंह कार्य हैं। यह सम्बन्ध 'बहुमय' किंवा 'बौद्धमाविक' नामसे व्यक्त होता है। इस सम्बन्ध में आचरणभग को ही करण्यता है। सिंह से से तैल नया उत्पन्न नहीं होता, अपि तु सिंह से पहिले से तैल है। केवल आचरण व्यक्त है। इस आचरण का नाम ही 'तिस्र' है। आचरण को बटा दीजिए, तैल प्रकट होना पड़े। हिमालय गङ्गा का आचरण है। दूध घृत का आचरण है। पाषाण मूर्ति का आचरण है। गुहा सिंह का आचरण है। यदि बात सत्य नहीं होती, अपि तु पहिले से विद्यमान वस्तु आचरणनाश से प्रकट होता है। यही प्राधानिक दर्शन (सांख्यशास्त्र) का सत्त्वप्रम-वाद सिद्धान्त है। बात यथार्थ है। यदि ऐसा म हो तो पानी में से भी घृत निकल सकता है। दूध से तैल निकल सकता है। एक बृहत्कृत्य पाषाण में सभी वेदवर्णों की प्रतिमाएँ पहिले से

प्रतिष्ठित हैं। शिल्पी नई मूर्ति नहीं बनाता, अपि तु वह पाषाणस्थित मूर्ति के बहिरावरण को हटा देता है। शिल्पी जिन मूर्तियों का स्वरूप जानता है, उन्हीं का स्वरूप पाषाण में से वह निकाल सकता है। ध्यान रहे—यदि शिल्पी अपने शिल्पाश्रमों से (टांकी हथोड़े से) मूर्ति पर प्रहार कर देगा तो मूर्ति नष्ट हो जायगी। मूर्ति को बचा बचा कर ही उसे बाहर का आवरण हटाना पड़ता है। आवरण के आवरन्तिक हटा देने से पाषाणस्थ प्रतिमा प्रकट हो जाती है। इसीका नाम सत्कायज्ञ है। जो वस्तु है, उसी की उत्पत्ति होती है—यदिस्मा दुपमभ्येत। यदि पाषाण में मूर्ति पहिले से न होती तो सहस्रशिल्पी भी पाषाण की मूर्ति नहीं बना सकते थे। यदि शिल्पी ही पाषाण को मूर्ति का रूप देता है तो क्यों नहीं वह पानी की मूर्ति बना लेता। इसी अग्निप्राय से 'नासन्नो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत' यह कहा जाता है। यही प्रतिमापूजन की अनादिता एवं वैदिकता है। इसी उद्भव सम्बन्ध को 'मायिकसम्बन्ध' कहा जाता है। विश्व गया नहीं बनता, अपि तु अणुकावरण के भग से प्रकट होता है।

- ७। भूमि से अणु उत्पन्न होता है। प्राणियों से मोदना ब्रह्म (प्रेरण ब्रह्म) का उदय होता है। रुद्र से ताप उत्पन्न होता है। पुरुष से पुत्र उत्पन्न होता है। मकड़ी से जास उत्पन्न होता है। यहां भूमि—प्राणी—रुद्र—पुरुष—मकड़ी कवराण हैं, अणु—मोदना—ताप—पुत्र—जास कवय हैं। इन का सम्बन्ध 'उद्भवसम्बन्ध' कहलाता है। इसे ही 'मायिकसम्बन्ध' भी कहते हैं। यहां प्रभव ब्रह्म (कवराण कव) माय नहीं है, केवल प्रभव का एक देश प्रभव से पृथक् होकर कार्यरूप में परिणत होता है। सारा भूषण अणु नहीं बनता, सारा शुक्र पुत्र नहीं बनता। सारी मकड़ी जास नहीं बनती। अतितु मू—शुक्र—मकड़ी का एक प्रदेश ही अणु—पुत्र जासरूप में परिणत होता है। इसी को सांयानिकसम्बन्ध भी कहा जाता है।

- ८—आठवां विवर्त सम्बन्ध है। अविष्ठनपरिणामवाद् ही विवर्त नाम से प्रसिद्ध है। इस विश्व बन गया है। ब्रह्म की अवस्थान्तर का नाम ही विश्व रख दिया है। अथवा विरव ब्रह्म से पृथक् पदार्प नहीं है। ब्रह्म ही विश्वरूप से प्रतीत होता रहा है। विश्व साक्षात् ब्रह्म है। यही



प्रसन्नविर्षयद है । इसी को प्रातिभासिकविषय कहते हैं । मिरब प्रभावत् स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता । मिरब की केवल मायि है । सत्ता प्रस की ही है । अथवा सत्ताप्रस का ही मिरबरूप से मान हो रहा है । अन्ततः प्रसक्तिवृत्त का भी इस प्रातिभासिक विषय में ही अन्तर्भाव है ।

४-खगोल में मन्वेरा विपुलवृत्त है । जिस पर भूमिष्ठ सूर्य के चारों ओर परिक्रमा सम्पन्न है, वह वृत्त अश्विनीवृत्त नाम से प्रसिद्ध है । तत्तत्परापुत्रों में विमान मेघ-वृष-मिथुनादि दशिए राशिमातिए है । नक्षत्रों से नक्षत्र पुर्यों का स्वरूप बना हुआ है । यह सब कल्पनिक जगत् है । आकाश में कोई वास्तव में गोल वृत्त नहीं है, अश्विनीवृत्तरूप कोई सबक नहीं बनी हुई है । राशिओं की कोई प्रतिमाए नहीं हैं । केवल कल्पना है । कल्पना से वृत्तादि कल्पित हैं । यही विकल्प कि वा वैकल्पिक सम्बन्ध है ।

१०-हमारा मन नई नई कल्पनाएँ किया करता है । अपने अन्तर्जगत् में विभिन्न विभिन्न स्वरूपों की मान्ना किया करता है । यही मनोरम्य है, इसी को 'विचित्रकल्पसम्बन्ध' कहा जाता है ।

११-वृक्ष से पुष्प-फल उत्पन्न होते हैं । लौह से विट्ट (अंग) उत्पन्न होता है । शरीर से केवल सोम उत्पन्न होते हैं शुक्र उत्पन्न होता है । यह सब 'भौतपादिक सम्बन्ध' हैं ।

१२-तैल से लौ उत्पन्न होती है । शुक्र शरीररूप में परिखत होता है । शय से राखी बनती है, पत्र (कागज) बनते हैं । अगार से मांस उत्पन्न होता है । वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी उत्पन्न होती है । यहाँ कारण (प्रवृत्ति) अपने स्वरूप से व्युत्पन्न होता हुआ फल (मिष्टि) रूप में परिखत हो रहा है । सकलान्तरप्रहरूप यही सम्बन्ध परिखामी कि वा स्थायिक नाम से प्रसिद्ध है ।

१३-जानी से औषधि, औषधियों से शुक्र उत्पन्न होता है । यही रसानुवृत्तिक कि वा रसवाही सम्बन्ध है ।

१४-मिरवा-सुर-आसव-यह सब कार्य सांघोदिक सम्बन्धी सम्बन्ध में अन्तर्गत हैं ।

- १५—पानी में लहर, मिट्टी में घट, तम्बु से पट, लकड़ी से बपाट, खरि से कटक, तेज—  
अग्नि—अन्नका क्रमिक विकास इस सब का औपादानिक किंवा उपादान सम्बन्ध में अन्तर्भाव है।
- १६—अग्नि से पानी का गरम होजाना, रुख से ताप होजाना, सुवर्ण का पिघल जाना,  
हवादि सांक्रामिक सम्बन्ध हैं।
- १७—सृष्टिक्रमण पर जपापुष्प का राग, यह आक्रामिकसंचारी सम्बन्ध है। इसी को  
आभिजाविक सम्बन्ध कहा जाता है।
- १८—ऊर्ण (मकड़ी) की नाभि से तम्बु उत्पन्न होता है। मकड़ी कारण है, मकड़ी से उत्पन्न जात  
कार्य है। इसी प्रकार पुरुष से केश सोम उत्पन्न होते हैं। पुरुष कारण है, केशसोम कार्य हैं।  
पृथिवी कारण है, ओषधि वनस्पति कार्य हैं। पिता कारण है, पुत्र कार्य है। धृष्टिक् कारण  
है, घट कार्य है। हम पाँचों ही कारणों का उपादानमात्र से सम्बन्ध है। उपादानकारण  
लेम पाँचों की कारणता यद्यपि समान प्रतीत हो रही है, परन्तु सूक्ष्म विचार करने से पाँचों  
का पार्वक्य स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगता है। पहिले ऊर्णनाभि को ही लीजिए। मकड़ीकी  
नाभि से उत्पन्न होनेवाला जास अपने प्रभव (मकड़ी) से पूषक् नियतस्थ रहता है। साप  
ही में आगे जाकर यह जास अपने प्रभव (मकड़ी) में लीन भी हो जाता है। इस प्रकार अपने  
प्रभवका आश्रय न लेना, प्रभव से पूषक् रहना अन्तमें प्रभव में ही लीन होजाना, यह एक  
प्रकार का कार्यकारणमात्र है। ऊर्णनाभि में प्रभवानाशम्भनत्व, प्रभवपूषक्धरत्व,  
प्रभवविनयनत्व यह तीन कोटि हैं।

केशसोम पुरुष से उत्पन्न होकर पुरुष में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। आटे की तरह पुरुष से  
पूषक नहीं रहते। साप ही में यह अपने प्रभव पुरुष से पूषक् भी होजाते हैं। इस प्रकार  
यहां प्रभवसम्भनत्व, प्रभवानाशम्भनत्व दोनों धर्म हैं। जास की तरह इनका 'प्रभव में विसर्पण  
नहीं होता। ओषधि वनस्पति प्रभव (पृथिवी) में व्याप्त होती हैं, व्याप्त होती हुई सतम्भ  
रूप से ऊपर की ओर बढ़ती हैं, यही इनका पूषक्धरत्व है। उन्हें काट कर छेक लीजिए,

मित्र भी इनका आसम्भन पृथिवी ही रहती है। मक्खी का आस में यह बात नहीं है। यदि उसे बख्क कर दिया जायगा तो मक्खी इसका आसम्भन न रहेगी। यहाँ प्रायः दशा में पृथिवी ही आसम्भन है। मक्खी का आस जैसे मक्खी से घृण्य होता है, ओषधि वनस्पति व शरीरमृत पृथिवी से कभी घृण्य नहीं हो सकती। इनका निवसन पृथिवी में ही होता है। मक्खी में निवसन अनिवसन दोनों धर्म हैं। यहाँ केवल निवसन ही है। घृण्यवत् आस और ओषधियों में सन्तान है। पुरुष से उत्पन्न केवलसोम में आसम्भनत्व-अनासम्भनत्व दोनों धर्म थे, मक्खी में अनासम्भनत्व ही था, पृथिवी में आसम्भनत्व ही है। साथ ही में केवलसोम में प्रमद-निसयनत्व है ही नहीं। ओषधि वनस्पतियों में प्रमदनिवसनत्व ही है। मक्खी के आस में निवसनत्व अनिवसनत्व दोनों धर्म हैं इस प्रकार तीनों में कुछ न कुछ अन्तर है। पिता पुत्र के कार्यकारणभाव में तीनों से निवृत्तता है। यहाँ पुत्र अपने प्रमद (पिता) में आसक्ति नहीं है। इसका निवसन भी मिट्टी में होता है। परन्तु आस-ओषधि-केवलसोम-पुरुष-अनास-मिडि से घृण्यवत् नहीं है। बन्ध से निवृत्ति उत्पन्न होते हैं। यहाँ भी उपादान कार्यकारणभाव सम्बन्ध है परन्तु यह पापों से निवृत्त है। दीपशलाका से अन्य दीपक आस पड़ता है। शलाकामि कारण है, परन्तु शलाकामि का भस्म किञ्चित् अशुभ भी दीपक में प्रविष्ट नहीं होता। कुम्भकारण निमित्त कारणता का भी ऐसे स्वयं में समावेश नहीं होता एवं मृदुप्रभत् उपादान कारणता भी नहीं मानी जा सकती है। ऐसा निवृत्त सम्बन्ध है।

उपप्लव कुछ एक उदाहरणों से पाठकों को यह सिद्ध होगा कि कार्यकारणभाव किसी एक ही नियम पर प्रतिष्ठित नहीं है। यदि ऐसा होता तो विश्व के सारे पदार्थ समानधर्मा होते। सबका उत्पादक तत्त्व एक है, इसमें कोई सन्देह नहीं। केवल सम्बन्ध की निवृत्तता, एवं घृण्यता से पदार्थों में वैविध्य उत्पन्न होता है। अतएव सृष्टि का पदस्तान कार्यकारणों के सम्बन्धों पर ही मानना पड़ता है।

- १-प्रमवास्तम्भनाथ  
१-२-प्रमवास्तम्भनाथ  
३-प्रमवास्तम्भनाथ  
—०—

} “यथोक्तनाभिः समते गृह्यते च” १

- १-प्रमवास्तम्भनाथ  
२-२-प्रमवास्तम्भनाथ  
३-प्रमवास्तम्भनाथ  
—०—

} “यथा शृष्टिभ्यस्तोषणयः सम्भवन्ति” २

- १-प्रमवास्तम्भनाथ  
३-२-प्रमवास्तम्भनाथ  
३-प्रमवास्तम्भनाथ  
—०—

} “यथा सत् पुरुषात् केन्द्रोत्थमानि” ३

- १-प्रमवास्तम्भनाथ  
४-२-प्रमवास्तम्भनाथ  
३-प्रमवास्तम्भनाथ  
—०—

} “यथा पितृ-पुत्रा” ४

- १-प्रमवास्तम्भनाथ  
५-२-प्रमवास्तम्भनाथ  
३-प्रमवास्तम्भनाथ  
—०—

} “यथा श्रुतिज्ञातो पदः” ५

- १-प्रमवास्तम्भनाथ  
६-२-प्रमवास्तम्भनाथ  
३-प्रमवास्तम्भनाथ  
—०—

} “यथा मुनीन्द्रान् पावकादिस्फुलिङ्गाः प्रभवन्ते” ६

उपप्लुत कुछ एक निम्नो से पाठकों को विदित होगया होगा कि विश्व में कयकरण-  
मात्र अनेक भागों में विभाक्त हैं। ऐसी अवस्था में—‘एकस्मिन् धर्मविधि विरुद्धनानाकोट्यव-  
गादिद्वान् संशयः’ इस श्रव्य के अनुसार कयकरण द्वाहा और कार्य क्रम के सम्बन्ध में जिज्ञासा  
का होना स्वाभाविक होजाता है। प्रकृत में केवल ‘पञ्चिकरण सम्बन्ध’ की ही प्रचानता है।  
इस पञ्चिकरण सम्बन्ध के आगे आकर १२ विध होजाते हैं। इन १२ हो का ४-१-५  
यह क्रम है। चार स्वरूपसम्बन्ध हैं, चार पर्याप्तप्राप्त सम्बन्ध हैं, पांच अन्वयमक्तिवृत्तित्व  
सम्बन्ध हैं। तेरहों का पञ्चिकरणों में अन्तर्भाव है। इसी पञ्चिकरण सम्बन्ध को—‘अभिध  
सत्त्वकार्यकारणमात्रसम्बन्ध’ कहा जाता है। उदाहरण के लिए एक मिट्टी के बड़े पर  
छट्टि बाधिए। मिट्टी से बड़ा क्या है, यह सभी को विदित है। मिट्टी कयकर है, बड़ा कार्य  
किंवा कर्म है। मिट्टीरूप कायका से उत्पन्न घटरूप कार्य का मिट्टी के साथ क्या सम्बन्ध है ?  
अथवा मिट्टी का बड़े के साथ क्या सम्बन्ध है ? (काय का कयकर के साथ, कयकर का कय  
के साथ क्या सम्बन्ध है?) यह विचार कीजिए। मिट्टी बट की प्रतिष्ठा है। मिट्टी को छोड़ कर  
बट कयमवि लक्षरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। ऐसी परिस्थिति में हम कह सकते हैं कि  
पूरे मिट्टी में हैं, यही प्रथम सम्बन्ध है। साथ ही में बटपञ्चिक मिट्टी बट को छोड़कर नहीं  
रह सकती। मिट्टी का जो भाग घट कहजाता है, वह अरूप वृत्तिक सचमुच बट के विना  
नहीं रह सकती। बट के नष्ट होजाने पर मिट्टी अवश्य शैथिली, परन्तु बटकाराकारित मिट्टी न  
रहैगी। बटकरारूप मिट्टी ठीकी तक है। जब तक कि बट का आकार विद्यमान है। ऐसी परि-  
स्थिति में हम कह सकते हैं कि मिट्टी पड़े में हैं, यही दूसरा सम्बन्ध है। बट एक स्रष्टव्य  
पदार्थ है, मिट्टी एक स्रष्टव्य पदार्थ है। यदि बट और मिट्टी एक ही वस्तु होते तो—‘पट्टमानव’  
(बड़ा साधो) इस भाषा से मिट्टी भी साध जासकती थी, एवं ‘मिट्टी साधो इस वाक्य से  
वृत्तिक का भी ज्ञानफल होसकता था, परन्तु ऐसा होता नहीं। बटपञ्च से बड़ा ही साधजाता  
है, वृत्तिक शब्द से मिट्टी ही साध जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि  
मिट्टी पड़े से भिन्न है, यही तीसरा सम्बन्ध है। बट के परमाणु बूट जाएँ, वृत्तिक



किं कर्मण्य विद्य के न रहमें पर भी ब्रह्म सत्कारूप से बिना विरह की अपेक्षा के प्रतिष्ठित रहता है, परन्तु कर्म (विरह) विद्य से अविद्य है । कारण कर्म ( विद्य ) ब्रह्म कारण के बिना सर्वथा अस्तित्वपन्न है । ब्रह्म में कर्म अभ्यस्त है । यही ब्रह्मकर्म का बहुविकल्प सम्बन्ध है । यह इसमें है । यह उसमें है । दोनों अविद्य हैं । यही यह है । यह इससे विद्य है, यह उससे अविद्य है उस में यह भास रहा है ।

- १-ब्रह्म कर्मस्थम् ++----->कारण कार्यस्थम्  
 २-कर्म ब्रह्मस्थम् ++----->कार्य कारणस्थम्  
 ३-ब्रह्मकर्मणी भिन्ने ++----->कार्यकारणे भिन्ने  
 ४-ब्रह्मैव कर्म ++----->कारणमेव कार्यम्  
 ५-ब्रह्म कर्मतः पृथक् } कारण कार्यात्पृथक्  
 कर्म तु अपृथक् } ++----->कार्य तु कारणत्पृथक्  
 ६-ब्रह्मणि कर्माम्पस्तम् ++----->कारणे कार्यमपस्तम्

“कर्मत्वकर्मस्य, मकर्म कर्मसत्,  
 मिश्रद्वयं तत्, तदमिन्नमद्वयम्  
 अकर्म मिथेत न कर्म मिथेत,  
 ऽव्याप्तोऽयमेव स्यादिति पद-  
 विकल्पनाः ।”

(श्रीगुरुप्रसीत सरास्यदुष्पेदवाद)

इन ६ओं सम्बन्धों में प्रकृत में तीनों मन्त्रों द्वारा प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ इन तीन सम्बन्धों का निरूपण हुआ है । ‘तद्वज्रति०’ इत्यादि मन्त्र ‘ब्रह्म कर्मस्थम्’ इस प्रथम् सम्बन्ध का निरूपण करता है । ‘यस्तु सर्वाणि०’ इत्यादि मन्त्र ‘कर्म ब्रह्मस्थम्’ इस द्वितीय सम्बन्ध का निरूपण करता है । एवं ‘यस्मिन्सर्वाणि’ इत्यादि मन्त्र ‘ब्रह्मैव कर्म’ इस चौथे सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है । ६ ओं सम्बन्धों में से उक्त तीन सम्बन्ध ही प्रधान हैं । अतः धृतिने इन्हीं को धियेय माना है । तीनोंमें से प्रथमसम्बन्ध का निरूपण करता हुआ निम्नलिखित मन्त्र हमारे सामने आता है—

तदेजति तज्जेजति तदद्वेरे तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यत ॥१॥ (६० ५ म०) ।

‘यह जगत् है, यह नहीं जगत् है, यह दूर है, यह फिर समीप है। यह सबके भीतर है ‘यह फिर सबके बाहर है’ यह है मन्त्र का व्युत्पत्ति । इस मन्त्र के ब्रह्मात्मा-विधेयान्ता कृतात्मा मेरु से गो अर्ध, एवं सृष्टिविज्ञान सम्बन्धी एक अर्ध, इस प्रकार तीन अर्ध होजाते हैं ।

विज्ञान-अविज्ञान मेरु से मनुष्य की दो भागों में विभक्त है । शास्त्राध्ययन से अपनी बुद्धि को विचारसत्कार से युक्त रखने वाले सदसद्विवेकी विचारशील मनुष्य विज्ञान कहलाते हैं । ‘स्वाना पीना मौन ज्ञाना’ इस सिद्धान्त को परम्परायाच समझने वाले शास्त्रज्ञान से शून्य लौकिक विषयों में रत यथाज्ञात मनुष्य अविज्ञान माने जाते हैं । विज्ञान मनुष्य का आत्म कर्तृत्व रहता है, अतएव इसे ‘कृतात्मा’ कहा जाता है । अविज्ञान मनुष्य का आत्मा वासना मय मौलिक सत्कारों से आवृत होता हुआ आत्मज्ञान से वञ्चित रहता है, अतएव इसे ‘अज्ञातारमा’ कहा जाता है । इन्द्रियों के द्वारा रूपरसस्पर्श मौलिक विषयों का आगमन होता है । आगत विषयों का संस्कार ज्ञानमय मन पर होता है । विषय मौलिक होते हुए तन्मोय हैं, अतएव ज्ञान ज्योति के आकर्षक हैं । इनके सम्बन्ध से ज्ञानमय मन अपनी चिच्छक्ति (ज्ञानप्रकाश) से आवृत होता हुआ जलपद् बन जाता है । मन के साथ बुद्धि का सम्बन्ध रहता है । कसत मनके मौलिक आवरण से बुद्धि भी मलिन होजाती है । मलिन बुद्धिसे बुद्धियुक्त महानात्मा का सत्त्वमाग मलिन होजाता है । महान् पर पोकरीपुरुषरूप आत्मा प्रतिष्ठित है । मलिनसत्त्व की कृपा से आत्मा का विद्यमान मलिन होजाता है, यही दुःख का मूल है । इसका प्रचान करके मलिनमुक्त है । बुद्धि के आन्तरिक भाग में (इस ओर) आत्मा है, बाह्य भाग में (उस ओर) विषय हैं । विषयानुगता बुद्धि मलिन होती होती हुई आन्तरिक आत्मा से अयुक्त रहती है । कार्याकाय

८—अविज्ञानं भूतनामपर आमेव च ।

सुखमत्ताचरित्वं च दूरत्वं चान्तरिकं च तत् ॥ गी. १. १. १. १.

दुःखसुखरहितिरात्मिकं च परम्परा विज्ञान विज्ञानं शास्त्रम् ॥ (आदि १०)





संसारि एतद् को प्रधान मान रहे हैं। सांसारिक के लिए वह व्याप्ततत्त्व दूर से दूर है, मुक्तात्मा के लिए वही समीप से समीप है। सांसारिक की दृष्टि में वह व्याप्ततत्त्व भीतर गुपा हुआ है, मुक्तात्मा के लिए वह प्रकट है। योगियों की दृष्टि में जो सत्य है, सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में वह असत्य है। सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में जो सत्य है योगी उसे मिथ्या समझ रहे हैं। एक ज्ञानमय ब्रह्म के अनुयायी ब्राह्मण हैं, एक कर्ममय ब्रह्मकेप निब के अनुयायी क्षत्रिय हैं। एक आरितकर्मा है, दूसरा आरितकर्म है। एक सिद्धकर्म के अनुयाई कर्मठ हैं, दूसरे सिद्ध ब्रह्म के अनुयायी बाली हैं। एक सांख्यमतानुयायी हैं दूसरे योगमतानुयायी हैं। इस प्रकार 'सोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता भयाऽनघ' के अनुसार लोक में दो विभिन्न निष्ठाएँ प्रचलित हैं।

१-तदेवति ++-----> ब्रह्मात्मनेऽभिदुषे कर्मणि दृष्टि ( निष्ठानुयायी )-कर्म }  
 २-समैवति ++-----> ब्रह्मात्मने सिद्धये ब्रह्मणि दृष्टिः ( आत्मन्यायी )-ब्रह्म }

१-तद्दूरे ++-----> ब्रह्मात्मनेऽभिदुषे कर्मणि दृष्टि ( निष्ठानुयायी )-कर्म }  
 २-तद्व्यतिरेके ++-----> ब्रह्मात्मने सिद्धये ब्रह्मणि दृष्टि ( आत्मन्यायी )-ब्रह्म }

१-तदन्तरस्य सर्वस्य ++> ब्रह्मात्मनेऽभिदुषे कर्मणि दृष्टि ( निष्ठानुयायी )-कर्म }  
 २-तद्व्यतिरेके सर्वस्य ++> ब्रह्मात्मने सिद्धये ब्रह्मणि दृष्टिः ( आत्मन्यायी )-ब्रह्म }

सर्व विदित इन दोनों निष्ठाओं के भेदवाद का निराकरण करती हुई भुक्ति कक्षती है कि दोनों को पूरक समझना ब्रह्मज्ञान है। वही निब है, वही निष्ठागत है। वही एतद् है, वही अनेकतद् है। वही दूर है, वही समीप है। वही अपने भीतर है, वही सब के बाहर है। अथात् ब्रह्मर्हित कर्ममार्ग से वह भक्त है, कर्ममार्गित ब्रह्ममार्ग से वह अवध है। १ प्र० ग० कर्मदृष्ट्या वह दूर है, क० ग० ब्रह्मदृष्ट्या वह समीप है। २० ग० कर्मदृष्ट्या वह भीतर प्रवर्तित

विशेषरूपा भावना गढ़ होजाती है। ऐसी अप्रकृत बुद्धि बुद्धि ही नहीं है अभिधामात्र है। बुद्धि ज्ञानसाधिका है, ज्ञानप्रवक्तृत्वं बुद्धि का स्वस्वरूप है। जब स्वस्वरूप स्वयं ज्ञान-योग स्वयं स्वरूपवर्मा ही नहीं रहा तो बुद्धि का रहना न रहने के सम्यग है। इसी अभि-धाम से भावान् करते हैं—

नास्ति बुद्धिरप्युक्तस्य नचाप्युक्तस्य भावना ।

न चाभाषयतः शान्तिरयान्तस्य कुतः सुखम् ॥ (गीता २।६६) ।

विषयबुद्ध्या बुद्धि अभिधामयी बनकर आत्मस्वरूप को आवृत कर देती है। ऐसा ही आत्म (मनुष्य) अज्ञानमात्र कहलाता है। ऐसा मनुष्य कभी सत्कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। इसे कभी आत्मविषयिणी विज्ञासा ही नहीं होती। “आत्मा-यत्न-गर्भोक्त-देवता सब होंग है” ऐसे कुतर्कों की यह आध्यात्मिकी बना रहता है। रहते हुए चित् (आत्मज्ञान) के आवरण से यह अविद्य बन रहा है। सांसारिक विषयों को ही यह अज्ञानमात्र सुखसाधन समझता है। इसी अज्ञानमात्र के लिए ‘सबज्ञानविमूर्धास्ताम् बिद्धि नष्टानवेतसः०’ यह कहा गया है। ऐसे अज्ञानमात्र का कर्मरूप, अनर्थ स्वर्ग एवम् (परिणतमयीन ज्ञानिक) निब ही प्रधान आराध्य है।

ठीक इसके विपरीत विमूर्धने विधासमुचित निष्ठात्म कर्म द्वारा आवरणों का हार अवसन्न करते हुए प्रवृत्त ज्ञानाग्नि से संश्लिष्ट आकारों को गढ़ करते हुए विशुद्ध बुद्धियोग प्राप्त कर शिष्य है ऐसे सिद्धावस्थापन योगी कृतात्म्य हैं, यही मुक्तयोगी हैं। उनकी दृष्टि उस अनेकव-क्त्य अस्वभाव पर ही रहती है। एक क्षोर में मुक्त योगी हैं कृतात्म्य हैं। दूसरे क्षोर में अज्ञ-तात्म्य हैं। एक ज्ञानमग्न के उपासक हैं शक्तिरूप के अनुयायी हैं। दूसरे कर्ममय निब के उपासक हैं, गतिहीन ज्ञानिक सांसारिक विषयों में रत हैं। प्रकृत मात्र इन्हीं दोनों को सत्य बना कर कहता है कि “जो सत्ताही है उस की दृष्टि में वह तत्त्व बहता है। जो मुक्तात्मा है, उनकी दृष्टि में वह तत्त्व स्वयं अभिवासी है। अर्थात् मुक्तात्मा अनेकव को मुदय समझते हैं

ससारी एबद् को प्रपान ग्नान रहे हैं । सांसारिक के लिए वह आत्मतत्त्व दूर से दूर है, मुक्तात्मा के लिए वही समीप से समीप है । सांसारिक की दृष्टि में वह आत्मतत्त्व भीतर सुपा हुआ है, मुक्तात्मा के लिए वह प्रकट है । योगियों की दृष्टि में जो सत्य है, सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में वह असत्य है । सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में जो सत्य है योगी उसे मिथ्या समझ रहे हैं । एक ज्ञानत्रय त्रय के अनुयायी प्रासय हैं, एक कर्ममय त्रयरूप त्रिष के अनुयायी त्रयरूप हैं । एक आस्तिककर्म है, दूसरा नास्तिकतत्त्व है । एक विशुद्धकर्म के अनुयायी कर्मठ हैं, दूसरे विशुद्ध ज्ञान के अनुयायी ज्ञानी हैं । एक सांख्यमतानुयायी हैं दूसरे योगमतानुयायी हैं । इस प्रकार 'सोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता यथाऽनय' के अनुसार शोक में दो विभिन्न निष्ठाएं प्रवर्तित हैं ।

१-तदेवमि + —————> आकृत्यात्मनेऽविदुषे कर्मणि दृष्टि ( विद्यानुयायी )-कर्म }  
 २-तन्नैवमि + —————> कृत्यात्मने विदुषे त्रयणि दृष्टि ( आत्मानुयायी )-त्रय }

१-तद्दूरे + —————> आकृत्यात्मनेऽविदुषे कर्मणि दृष्टिः ( विद्यानुयायी )-कर्म }  
 २-तद्वन्तिके + —————> कृत्यात्मने विदुषे त्रयणि दृष्टिः ( आत्मानुयायी )-त्रय }

१-तदन्तरस्य सर्वस्य + —————> आकृत्यात्मनेऽविदुषे कर्मणि दृष्टि ( विद्यानुयायी )-कर्म }  
 २-तद्वत्सर्वस्य बाह्यत + —————> कृत्यात्मने विदुषे त्रयणि दृष्टि ( आत्मानुयायी )-त्रय }

सर्व विदित इन दोनों निष्ठाओं के भेदबाद का शिराकरण करती हुई धृति करती है कि दोनों को पूषक् समझना अज्ञान है । वही त्रिष है, वही निष्ठात्मा है । वही एबद् है वही अनेत्र है । वही दूर है, वही समीप है । वही सबके भीतर-है, वही सब के बाहर है । अथात् त्रयपरिमित कर्ममाग से वह त्रय है, कर्मपरिमित त्रयमाग से वह अत्रय है ॥ प्र० ग० कर्मद्वयवा वह दूर है, क० ग० त्रयद्वयवा वह समीप है । त्र० ग० कर्मद्वयवा वह भीतर प्रतीत

होता है, क० ग० मप्रपया बही सबत्र प्रत्यक्ष है । मप्र भी बही है कर्म भी बही है । बही ज्ञान है, बही योग है । जो ज्ञानयोग है, बही कर्मयोग है- "यत्क सत्सर्पं च योग च यः पश्यति स ( एव तात्त्विकभाः ) पश्यति- ( नाम्पो मेदशरी )" । द्वितीय अर्थ में इसी भाष का स्पष्टीकरण है ।

१



तीसरे हैं विषेया-या । जिस प्रकार कमठ अकृत्याया, एव ज्ञानी कृत्याया कहलाते हैं एवमेव ज्ञासक को विषेयाया कहा जाता है । सिद्ध-साम्य दोनों अवस्थाओं से पृथक् खैतिक कर्मों में रत अकृत्याया है, साम्यदशासे युक्त मनुष्य विषेयाया है, इसी को 'युज्जानयोगी' 'मास्कुल' 'निज्जानु' इत्यादि शब्दों से व्यञ्जित किया जाता है । सिद्धदशा में बही विषेयाया कृत्याया कहलाने लगता है । इसी को- 'युक्तयोगी' 'कृतकृत्य' आदि नामों से व्यञ्जित किया जाता है । परम वैदिक श्रुतार्थित सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यजी में इन्हीं उक्त तीन विभागों को मायादिक-जीव, मायादिकजीव, पुष्टजीव भेद से इन नामों से व्यञ्जित किया है । कृत्याया युक्तयोगी ( बिनापर भावान् का अनुग्रह हो युक्त है ) पुष्टजीव कहलाते हैं- "मगवदनुग्रह पोषः" । कुम्भमास्यप्रवाह में इतस्तत् मन्त्रों के साथ शाल्विमुक्त यथाभात भी- "मायादिक" कहलाते हैं । यही पञ्चम अकृत्याया है । एव मगवदनुग्रहक पुष्टिमात्र की प्राप्ति के लिए जो शाल्व-अर्पण का अनुग्रह करते हुए सिद्धोक्त्या को प्राप्त करने में यत्नशील बने रहते हैं, वे ही 'मायादिकजीव' हैं । मगवदनुग्रहकयुक्तपोष के सम्बन्ध से ही उक्त सम्प्रदाय 'पुष्टिमार्ग' नाम से प्रसिद्ध है ।

- १-ब्रह्मात्मा—(युक्तयोगी) — सिद्धावस्थापन—पुष्ट — (मनोमयमार्ग)—ज्ञानी  
 २-विवेकात्मा (युक्तामयोगी) — साध्यावस्थापन — मार्गादिक (प्राणमयमार्ग)—उपासक  
 ३-अहंकारात्मा (यथाज्ञात मनुष्य) लक्ष्यभुक्तावस्थापन—प्राथमिक (वाक्मयमार्ग)—कर्मठ



उपासना मध्य की वस्तु है। इस में ज्ञानकर्म दोनों का सम्बन्ध है। इसी को बुद्धियोग कहा जाता है, जिस का कि दिगुन्मय प्रपचार्योपसंहार में बताया जा चुका है। इस पर दृष्टि रखते हुए कर्म करना ही बुद्धियोग है। इस अकर्म है, कर्म कर्म है। अकर्म में कर्म सम्भवि, कर्म में अकर्म सम्भवि। कर्म को अकर्म में प्रतिष्ठित उपपन्ने हुए कम करने से कर्मजनित बन्धनमूला आसक्ति नहीं होती। ऐसा कम अव्यय होता है। इसी अविनाश से उपपन्न कहते हैं—

प्रत्ययपात्राय कर्मणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्ते न स पापेन पश्यन्मिश्रामसा ॥ (गी० ५।१०) ।

उक्त दृष्टि से कममार्ग में प्रवृत्त होनेवाला पुरुषार्थ ही 'विवेकात्मा' कहा जाता है। इस की दृष्टि दोनों पर है। कर्मदृष्टि से वह उसे एवम् कर, अतःप्रविष्ट समझता है, अक्षदृष्टि से वह उसी को अनेकदृ—समीप—सर्वत्र भ्रष्ट समझ रहा है। इस अभिसमाप्ति से आगे जाकर विवेकात्मा—'यत्प्रत्यय सर्ममात्मिनामू' इस श्रुति का अधिकारी बनता हुआ सिद्धावस्था पर पहुँच जाता है। सगुण नष्ट हो जाता है, अज्ञानमूलक ज्ञानानन्द प्राप्त हो जाता है। प्रवृत्त मध्य इसी भाव का निरूपण करता है।

चौथी पुरुष का अमृतप्रधान विद्याभाग संसार में स्थितिरूप से, एवं कर्मयोग गति रूप से प्राप्त रह है। विश्वरूप का वह स्थितिरूप है, आत्मरूप का वह विद्या—कर्मयोग है। स्थिति गतिरूप 'युजुर्द' है। तत्त्वज्ञान, अतएव वेदमूर्ति नाम से प्रसिद्ध चौथीमार्ग स्थितिगतिरूप से ही विश्व में व्यक्त हो रहा है, ऐसा वि 'अनेकदेकम्' इत्यादि मध्यमार्ग में विस्तार से



धूम्रा इत्यादि गतिशील अपने परमाणुओं के भीतर से भीतर है, बाहर से बाहर है । बाहर भीतर बिबर देखो उधर चक्र ही चक्र है । पूर्वोक्त शुक्लजल भी ऐसा ही है—‘तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यत । बरुतस्तु कुम्भकार के साक्षिक चक्र के साथ अक्षौषिक मलचक्र की सृचना बनना सर्वथा असंगत है । यह गतिविधि तो—‘रामरामणयोर्पुद्गं रामरामणयोरिव’ के अनुसार अनुपमेय (सासानी—अद्वितीय) है । जितनी स्थिरता आप समझ सकते हैं, वह उससे भी शीघ्रतर है । आपके लिए वह अविज्ञ है, अप्रमेय है, अनिर्वचनीय है । एकमात्र तटस्थ सत्य से आप उसे जान सकते हैं । “उस की गति यति ऐसी होगी, अमुक के सदृश होगी” इस प्रकार उसका स्वरूप सत्य बनाना आपके लिए सर्वथा असंभव है ।

विशुद्ध आत्मापेक्षया जल स्थिर है, विशुद्ध वर्मापेक्षया चर है । वेदवक्ष्या न् अवच्छिन्न जल स्थिर है, यदवच्छेदेन चर है । वह स्थितितत्त्व तस स्थितितत्त्व के बाहर भीतर सब ओर व्याप्त है । यद्यपि स्थितितत्त्व गति भी स्थिति के बाहर भीतर सब ओर विद्यमान है, परन्तु दोनों में स्थितिरूप रसतत्त्व ही प्रधान है । अतएव ‘तत्-तत्’ इस रूप से उगी को बाहर—भीतर—दूर—समीप बतलाया गया है । स्थिति आधार है, गति आधेय है । आधार की प्रधानता से भी उसी का अन्तरान्तरीमाय मानना उचित होता है । अपि च मलचक्र स्थितितत्त्व कारण है, विश्व रूप स्थितितत्त्व कार्य है । कारण प्रथमसत्ताक है, इसलिए भी अन्तरातरीमाय में कृति ने तत् शुद्धबोध्य जल को ही प्रधानता दी है । स्थिति आधार है, गति आधेय है, इसका यह अर्थ नहीं है कि पुस्तक केवल रक्खी है । टेबिल पुस्तक का आधार अवरय है, परन्तु टेबिल पुस्तक के नीचे के भागमात्र से सज्जित है । पुस्तक के बाहर भीतर टेबिल नहीं है । परन्तु यहाँ का आधारधेयमाय ऐसा नहीं है । यहाँ यदवच्छेदेन स्थिति है, तदवच्छेदेन गति है । पानी में सज्जित शर्कराकण्ड जैसा आधारधेयमाय है । पानी आधार है, शर्करा आधेय है । परन्तु दोनों निरुक्त एकरूप बन रहे हैं । पानी के परमाणु परमाणु में शर्करा व्याप्त है, शर्करा के अणु अणु में पानी व्याप्त है । यदवच्छेदेन पानी व्याप्त है, तदवच्छेदेन शर्करा व्याप्त है । ऐसा अन्तःप्रोत-पाश्चात्य आधारधेयमाय ही प्रकृत में अभिप्रेत है ।



सिद्धावलोचनद्वया एक बार पुन पद्विकल्प सम्बन्ध पर दृष्टि डालिए । इन ६ ओं सम्बन्धों में पहिले दो सम्बन्ध एक श्रेष्ठि के हैं । इन्हें हम 'ओतप्रोतभावसम्बन्ध' कह सकते हैं । तीसरा भेद सम्बन्ध है, चौथा अभेद सम्बन्ध है, पांचवा भेदाभेद सम्बन्ध है । भेद-अभेद भेदाभेद इत्यादि पांचों सम्बन्ध परस्पर में स्वभा भिन्न हैं । एक ही तन्त्र में अनेक ( विभिन्न ) सम्बन्ध हो नहीं सकते परन्तु हो रहे हैं । यही इस अन्न-कर्म सम्बन्ध की अनिवार्यता है । यही 'प्र-पक्ष किं वा प्रत्याम' नाम का ६वा अनिवार्य सम्बन्ध है ।

- |   |                          |
|---|--------------------------|
| १-अन्न कर्म में अनुत्पत्त है । (अन्न कर्मत्वम्)                           | } ++ → ओतप्रोतभावसम्बन्ध |
| २-कर्म अन्न में प्रतिष्ठित है । (कर्म अन्नस्थम्)                          |                          |
| ३-अन्न कर्म दोनों परस्पर भिन्न हैं (अन्नकर्मणी भिन्ने)                    | } ++ → भेदसम्बन्ध        |
| ४-अन्न ही कर्मरूप में परिचात हो रहा है (अन्न कर्म)                        | } ++ → अभेदसम्बन्ध       |
| ५-अन्न कर्म से भिन्न है, कर्म अन्न ही है । (अन्न कर्मत<br>पृक्, कर्मरूपक) | } ++ → भेदाभेदसम्बन्ध    |
| ६-दोनों का सम्बन्ध अनिवार्य है । (अन्नश्च कर्मा<br>व्यस्तम्)              | } ++ → अनिवार्यसम्बन्ध   |

'तदेमति' इत्यादि मन्त्र तत्त्व ६ ओं सम्बन्धों में से 'अन्न कर्मस्थम्' इस प्रथम सम्बन्ध पर प्रभाव दृष्टि रखता हुआ 'कर्म अन्नस्थम्' इस द्वितीय सम्बन्ध का निरूपण करता है । अन्न-प्रधानापेक्षया प्रकृत मन्त्र को प्रथम सम्बन्ध का निरूपक माना जासकता है- ( देखिए ई० वि० भा० पृ० सं० द्वि० क १३५ ), एवं गौडद्वया इसे द्वितीय सम्बन्ध का प्रतिपादक मानते हुए सम्बन्धद्वीकृत ओतप्रोतभाव का दिग्दर्शक माना जासकता है । मन्त्र में सर्वत्र "तत्-तत्" का उल्लेख है । "वह यमता है वह नहीं यमता है, वह दूर है, वह समीप है, वह भीतर है, वह बाहर है" इस प्रकार प्रतिपादन के साथ तत् शब्दवाच्य ब्रह्म की ही प्रशंसा है । अन्न कर्म में

‘भोत’ हो रहा है। साथ ही मैं एजति, दूरे, सर्वस्य वाह्यत, इत्यादि वाक्य ‘कर्मब्रह्म में प्रीति है’ इस ितीय सम्बन्ध की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। मन्त्र का ‘सदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य वाह्यत’ यह उत्तर भाग ही सम्बन्ध का निरूपण करता है। अतः इस मन्त्र का प्रधान अर्थ पूर्व के ‘अनेनैकम्’ मन्त्र में बताया गए ब्रह्मकर्मोत्पन्न शुद्धस्वरूप का ही ‘तदेकमिति तन्नैकमिति’ इत्यादि रूप से स्वीकारण है। मन्त्रों में जामिना (पुनरुक्ति) दोष नहीं माना जाता। ऐसी अवस्था में निर्वर्ण यह निकला कि ‘तदेकमिति०’ इत्यादि मन्त्र ता पूर्व मन्त्रप्रतिपादित अर्थ का स्वीकारण करता है, एवं ‘यस्तु सर्वाणि भूतानि’ ‘यस्मिन्सर्वाणि भूतानि०’ इत्यादि दो मन्त्र ब्रह्मकर्म के सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हैं। इन दोनों उत्तर मन्त्रों में यस्तु सर्वाणि० यह ६ ठा मन्त्र तो आत्म के—‘ब्रह्म कर्मस्वप्-कर्म ब्रह्मस्वप्’ इन दो सम्बन्धों का निरूपण करता है, एवं ‘यस्मिन्सर्वाणि०’ इत्यादि मन्त्र ‘ब्रह्मैव कर्म’ इस चौथे अनेक सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है।

५



आत्मा ब्रह्म है, इस का यह अर्थ नहीं है कि उसमें कर्म नहीं है। बिना कर्म है, इस का यह तात्पर्य नहीं है कि इस में ब्रह्म नहीं है। दोनों में दोनों हैं, दोनों दोनों हैं। केवल प्रज्ञानता अप्रज्ञानता में तात्पर्य है। आत्मा में ब्रह्म (ज्ञान) भाग प्रधान है, इसलिये उसे ब्रह्म कहा है। ज्ञान में कर्म प्रधान है, इसलिये इसे कर्म कहा है। आत्मा ज्ञानप्रधान होता हुआ सुसूक्ष्म है। इस का कर्मबन्धनों से प्रत्यक्ष नहीं होता। भौतिक विरह ही दृष्टि का निषेध बनता है। पश्चिमे हमारी दृष्टि स्थूल ज्ञान पर, दूसरे शब्दों में कर्मभाग पर आती है, अनन्तर (निश्चालनाय) तदन्त मनीष आत्मतत्त्व पर दृष्टि आती है। इसी स्थूल-सूक्ष्मभाष के क्रम को प्रधान मानकर स्थूलक

अतिन्याय से प्रकृत मन्त्र पढ़िसे कर्म को अज्ञ में अनुस्यूत बतलाता है, अन्तर अज्ञ को कर्मत्व बतलाता है । इन्हीं दोनों सम्बन्धों का निरूपण करता हुआ निम्नलिखित मंत्र हमारे सामने आता है—

यस्तु सर्वाणि भूतानि-आत्मन्येवानुपश्यति (कर्म ब्रह्मस्यम्)  
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न भिजुगृप्सते । (ब्रह्म कर्मस्यम्)

(ईशोपनिषद् ६ मन्त्र)

मन्त्र का अर्थ 'कर्म ब्रह्मस्यम्' इस द्वितीय सम्बन्ध का एक उदाहरण—'ब्रह्म कर्मस्यम्' इस प्रथम सम्बन्ध का निरूपण करता है। 'सर्वाणि भूतानि' कर्म है 'सर्वभूतेषु च' आत्मा है। जो (आत्मन्येव) सम्पूर्ण भूतों (विश्व) को आत्मा (ब्रह्म) में ही अनुगत दस्तक है एवं सारे भूतों में आत्मा को प्रतिष्ठित समझता है, वह कभी किसी से छुड़ा नहीं करता" यह है मन्त्र का अर्थ।

जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में बताया गया है, उक्त मंत्र दोनों सम्बन्धों का निरूपण करता हुआ प्रधानरूप से 'कर्म ब्रह्मस्यम्' इस दूसरे सम्बन्ध का ही निरूपण करता है। यस्तु सर्वाणि भूतानि 'सर्वभूतेषु' इत्यादि रूप से भूत भग्न को ही प्रधानता दी गई है। 'तेजसि' इत्यादि मन्त्र 'तत्' रूप से जहाँ अज्ञ को प्रधान मान रहा है, वहाँ यह मन्त्र भूत-भाग को प्रधान स्वरूप बना रहा है। प्रत्यक्ष-पराक्ष मेव से अज्ञ के दो विर्त हैं। प्रत्यक्ष 'आहम्' है, पराक्ष 'त्वम्' है। एक अस्मत्स्वरूपाय नियमित अज्ञ है, दूसरा पुष्पत्पद-वाच्य नियमित अज्ञ है। नियमित प्रत्यक्ष है, नियमित पराक्ष है, बाहर है। पुष्पत्पदप्रत्यक्षप्रत्यक्ष नियमित नियमित तमःप्रत्यक्षप्रत्यक्ष परस्पर में अस्मत् निरुद्ध हैं। प्रत्यक्ष अज्ञ अज्ञप्रधान है, पराक्ष अज्ञ अज्ञप्रधान है। हम और नियमित यही दोनों क्रमशः प्रत्यक्ष पराक्ष अज्ञ हैं। हम (आत्मा) भीतर हैं, नियमित बाहर हैं। हम अज्ञप्रधान हैं, नियमित कर्मप्रधान हैं। अज्ञ प्रकृत है, व्योमिति है।

कम अप्रफरा है, आधारण है। इस प्रकार सौकिक मनुष्यों की दृष्टि में दोनों ब्रह्म परस्पर में  
 अलग-थलग विरुद्ध हैं। यह विरुद्ध दृष्टि ही निन्द्यास्तुतिभाव की जननी है। स्तुतिभाव का आत्मीय  
 पता से सम्बन्ध है। निन्द्याभाव का परभाव (अनात्मीयता) से संबन्ध है। ससार (ससारी मनुष्य)  
 अपने को ओर अनुगत रहता है, पराए की ओर विमुख रहता है। अनात्मीय वस्तु से घृणा  
 करता है। आत्मीय से प्रेम करता है। मित्र से मनुष्य घृणा करता है, क्योंकि इस की दृष्टि में  
 यह अनात्मीय है। इस प्रकार कर्मरूप विषय, एव ब्रह्मरूप आत्मा को भिन्न भिन्न समझने  
 वाला मनुष्य ससार में वितर्कों की से राग करता है, वितर्कों की से द्वेष करता है। अनुकूल  
 वेदनीयता में रागत्व, प्रतिकूल वेदनीयता में द्वेषत्व उदय है। दोनों में बधनमूला व्यसक्ति है।  
 व्यसक्ति दुःख का कारण है। स्तुति भी शोक का कारण है, निन्दा भी शोक का कारण है।  
 यह निन्दा-स्तुतिभाव तभी तक रहता है, जब तक कि आत्मा और विषयों में भेदबुद्धि रहती है।  
 द्वेष तभी तक है, जब तक कि वह उसे अमात्मा (अपने से भिन्न) समझता है। एवमेव स्तुति  
 भी परभाव से ही सम्बन्ध रखती है। यदि उसे यह विदित होनाय कि मैं उसमें हूँ, वह मुझमें  
 है, हम दोनों एक ही वस्तु के द्विदश हैं भेद स्वरूप उस पर प्रतिष्ठित है, वह मुझ में प्रति-  
 स्थित है तो ऐसी परिस्थिति में रागद्वेषमूलक स्तुतिनिन्द्याभाव का अवसर ही नहीं आता। जब दोनों एक  
 दूसरे की प्रतिष्ठा हैं तो कौन बड़ा, कौन छोटा, कौन निच, कौन उच्च, कौन निन्दक,  
 कौन स्तोता। इसी निन्द्यामूलक पुत्रिस्तभाव का निराकरण करती हुई, ब्रह्मकर्म दोनों में परस्पर  
 अनुमारा अनुमोदकता का निरूपण करती हुई स्तुति कहती है कि—“तुम सम्पूर्ण मूर्तों को आत्मा में  
 समझो, एव सम्पूर्ण मूर्तों में आत्मा को समझो। कर्मरूप विषय के जहाँ जहाँ में अकर्मरूप ब्रह्म  
 को व्याप्त समझो, एव ब्रह्म में सर्वत्र काम करो अनुस्यूत समझो। यदि तुम आत्मा और विश्व  
 के इस अजेतप्रोतसम्बन्ध को ध्यायसाधयुद्धि से समझ गए तो तुम्हारा शोकमूलक निन्द्यास्तुति  
 भाव से राग के लिए धुन्धरा होगया—‘ततो न विजुगुप्सते’। स्तुतिभाव से आत्मा में शोक  
 का उदय होता है। यह शोक ही अशान्ति का कारण बनता हुआ आत्मगतन का प्रकट बनता  
 है। निन्दा द्वेषमूला है, स्तुति रागमूला है। एवं पूर्व बयनानुसार रागद्वेष का अपने पाए से

सम्बन्ध है। जहाँ—‘यह अपना है यह पराया है यह भाव है, वही रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उत्पादक हैं। जब तक मोह बुद्धि है तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहमिश्रण बुद्धि है तब तक बुद्धि क्लृप्त है। क्लृप्त बुद्धि ध्यानशून्या है। ध्यानशून्या बुद्धि निवृत्त बनती हुई मन पर अधिकार रखती हुई मन की सबलता का कारण बन जाती है। स्वयं मन सङ्गोपरूप ध्यानकिंमात्र का प्रवर्धक है। आसक्ति क्षमता की जननी है। क्षमता जोष का कारण है। जोष संमोह का पित्रा है। संमोह स्मृतिभ्रम का जनक है। स्मृतिभ्रम बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश आत्मगतन का कारण है। यही आत्मघात है, जिसका नि पुण्यात्माधिकरण के कारणतन्त्र में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इस व्यापति से बचने का उपाय है—बुद्धि की स्वल्पपरक्षा। तत्पर्य रागद्वेषमूचक मोह का परिणाम अपेक्षित है। तत्पर्य रागद्वेषमूचक ब्रह्म-कर्म की विजातीयता का परिणाम आकरपक है। तभी परम शान्ति सिद्ध होगी है।

ज्ञान-कर्म को निष्ठाकर देखिए तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना कीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना कीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म कीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाइए, कर्मद्वारा ज्ञानसंपत्ति प्राप्त कीजिए। यही बुद्धिमान्नी है, इसी को बुद्धियोग कहते हैं। यही नि श्रेयसपन्था है। इसी श्रोतार्य का स्वीकृति करती हुई शार्चा उपनिषत् कहती है—

कर्मण्यकम् य परमेव, अकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स पुक्तः कृतनकर्मकृत् ॥ (गी० ४। १८)

६



पुर्ण पापन से साधारण मनुष्यों को हैत का भय हो सकता है। ‘कर्म को ब्रह्म में देखो, ब्रह्म को कर्म में देखो’ यह अक्षर ब्रह्म-कर्म इन दो तारों की सच्चा सिद्ध करते हुए

प्रतीत हो रहे हैं। जब तक हैत है, समतक कम्प है जबतक कम्प है, तबतक भय है—  
 'द्वितीयाद् धै मय मयति'। जबतक भय है तबतक अशान्ति है— 'यशान्तस्य कुतः सुखम्'।  
 पूर्वनिष्पण्णसी से किस्ती को हैत का भय न हो जाय वस अशान्तिमूलक इसी हैतभय का  
 उन्मूलन करती हुई झुति कहती है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि, आत्मैवामृदुविज्ञानत ।

तत्र को मोह क शक एकत्वमनुपश्यत ॥

(ईशोपनिषद् ७ मंत्र)

अभ्यास द्वारा बुद्धियोग ( निष्कर्म कर्मयोग ) का साधन करते करते जिस समय आत्म-  
 साक्षादकार हो जाता है उस समय उस शुक्त योगी के लिए सारा प्रपञ्च आत्मा ही बन जाता  
 है। ऐसी अवस्था से युक्त उस ज्ञानी के लिए कहाँ शोक है, कहाँ मोह है। 'यदुदरमन्तर  
 कुरुते, अय मय मयति' के अनुसार जबतक हैत है तभीतक भय है। एकत्व व्यापकता का  
 मूल है। व्यापकता में कम्प नहीं है। एक वस्तु का अन्य स्थान की ओर झुकना ही तो कम्प  
 है। व्यापकत्व से अतिरिक्त कोई स्थान नहीं है, जहाँ कम्पन को आवश्यक मिसे। ऐसी परिधि  
 ति में आत्मा में स्थानच्युतिकरण भय कैसे हो सकता है। 'इह वा इव वा' इस नानामात्र से  
 मोह होनावा है। चित्त का वैचित्य ही मोह है। मोह में निवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। कर्मों  
 कर्मनिवेकता मारी जाती है। इस प्रकार मोह के साथ साथ ही शोक का उदय होनाता है।  
 इस शोक-मोह से छुटकारा पाने का उपाय है—अद्वैतमात्र की उपासना। इसी से मोहकसिस  
 का नाश होग्य। बुद्धि में निष्ठा का उदय होग्य, तभी शोकनिवृत्ति होगी, जैसा कि स्मृति  
 करती है—

यदा ते मोहकसिस बुद्धिर्भ्यसितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्बेद श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गी० २।४२)

साधक है। जहाँ—‘यह धारणा है यह परमात्मा है यह भाव है, वही रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उत्पादक हैं। जब तक मोह बुद्धि है जब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहमिश्रित बुद्धि है तब तक बुद्धि क्लृप्त है। क्लृप्ति बुद्धि ध्यानशून्या है। ध्यानशून्या बुद्धि निवृत्त बनती हुई मन पर आधिपत्य रखती हुई मन की सबलता का कारण बन जाती है। सबल मन सङ्गोपक क्लृप्ति का प्रवर्धक है। आसक्ति कायना की जननी है। कायना श्रेय का नाश है। श्रेय संनोद का विनाश है। संनोद स्मृतिभण का जनक है। स्मृतिभण बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश आत्मज्ञान का कारण है। यही आत्मज्ञान है, जिसका कि पुनराव्याधिकरण के आश्रयतन्त्र में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इस आपत्ति से बचने का उपाय है—बुद्धि की स्वकपरक्षा। तदर्थ रागद्वेषमूक मोह का परित्याग अपेक्षित है। तदर्थ रागद्वेषमूक ब्रह्म-कर्म की निवृत्तिपत्ता का परित्याग आवश्यक है। तभी परम शान्ति मिल सकती है।

ज्ञान-कर्म को निष्काकर देखिए तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना कीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना कीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म कीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाइए, कर्मद्वारा ज्ञानसंपत्ति प्राप्त कीजिए। यही बुद्धिमानी है, इसी को बुद्धियोग कहते हैं। यही निःश्रेयसपन्था है। इसी औदार्य का राखी करण करणी हुई स्वार्थी उपनिषत् कहती है—

कर्मण्यकर्म यः परयेत्, अकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स पुक्ता कृत्स्नकर्मकृत् ॥ (गी० ४। १८)

६



पूर्व कर्म से साधारण मनुष्यों को डेढ़ का भय हो सकता है। ‘कर्म को ब्रह्म में देखो, ब्रह्म को कर्म में देखो’ यह अक्षर जस कर्म इन दो तर्कों की सहायता से करते हुए

प्रतीत हो रहे हैं। जब तक हैत है, तबतक कम्प है जबतक कम्प है, तबतक भय है—  
 'द्वितीयाद् नै भयं भवति'। जबतक भय है तबतक अशान्ति है— अशान्तस्य कुत सुखम्'।  
 पूर्वनिरूपणशैली से किसी को हैत का भय न हो जाय वस अशान्तिमूक इसी हैतधम का  
 सम्मुखन करती हुई भूति कहाती है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि, आत्मैवाभूद्विज्ञानत ।

तत्र को मोहः कः शक एकत्वमनुगश्यत ॥

(ईशोपनिषद् ७ मंत्र)

अन्यास द्वारा बुद्धियोग (निराकाम कर्मयोग) का साधन करते करते जिस समय आत्म  
 साक्षात्कार हो जाता है उस समय उस युक्त योगी के लिए सारा प्रपञ्च आत्मा ही बन जाता  
 है। ऐसी अवस्था से युक्त उस ज्ञानी के लिए कहाँ शोक है, कहाँ मोह है। 'यदुदरमन्तरं  
 कुर्वते, भयं भयं भवति' के अनुसार जबतक हैत है तभीतक भय है। एकत्व व्यापकता का  
 मूल है। व्यापकता में कम्प नहीं है। एक वस्तु का अन्य स्थान की ओर झुटना ही तो कम्प  
 है। व्यापकता से अतिरिक्त कोई स्थान नहीं है, जहाँ कम्पन करे आवश्यक मिले। ऐसी परिस्थि-  
 ति में आत्मा में स्थानभ्युत्थित भय कैसे हो सकता है। 'इदं वा इदं वा' इस नानाभाव से  
 मोह होता है। चित्त का वैचित्त्य ही मोह है। मोह से भिवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। कार्य  
 चर्यभिवेकता मारी जाती है। इस प्रकार मोह के साथ साथ ही शोक का उदय होता है।  
 इस शोक-मोह से छुटकारा पाने का उपाय है—अद्वैतभाव की उपासना। इसी से मोहकसिद्धि  
 का मार्ग होगा। बुद्धि में निषा का उदय होगा, तभी शोकनिवृत्ति होगी, जैसा कि स्पष्टि  
 कहाती है—

यदा ते मोहकसिद्धिं बुद्धिर्भ्यतिविरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्बिद् अतोभ्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गी० २।२२)



सम्बन्ध है। जहाँ—‘यह अपना है वह पराया है यह भाव है, वही रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उद्गादक हैं। जब तक मोह मुझ है तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहमोक्ष मुझ है तब तक बुद्धि वस्तुस्थिति है। कथयित बुद्धि ध्यानशून्या है। ध्यानशून्य बुद्धि निष्कल कर्तृ है। मन पर अधिकार रखती हुई मन की सबलता का कारण बन जाती है। सबसे मन सङ्गोपेयक आसक्तिभाव का प्रवर्धक है। आसक्ति कर्मना की जननी है। कर्मना श्रेष्ठ का का स है। श्रेष्ठ संमोह का विनाश है। संमोह स्मृतिभय का जनक है। स्मृतिभय बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश आत्मगतन का कारण है। यही आत्मज्ञान है, जिसका कि पुरुषात्माचिकरण के आचरणतन्त्र में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इस आपत्ति से बचने का उपाय है—बुद्धि की स्वतन्त्रता। तदर्थ रागद्वेषमूक मोह का परित्याग अपेक्षित है। तदर्थ रागद्वेषमूक ब्रह्म-कर्म की निरालीयता का परित्याग आवश्यक है। तभी परम शान्ति सिद्ध सकती है।

ज्ञान-कर्म को निष्ठाकर देखिए तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना कीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना कीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म कीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाइए, कर्मद्वारा ज्ञानसंपत्ति प्राप्त कीजिए। यही बुद्धिमानी है, इसी को बुद्धियोग कहते हैं। यही नि श्रेयसपन्था है। इसी औत्तरार्थ का शब्द करण करती हुई स्मार्थी उपनिषद् कहती है—

कर्मव्यकर्म यः परयेत्, अकर्मणि च कर्म यः।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स पुनः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ (गी० ४। १८)

६



पूर्ण कथन से साधारण मनुष्यों को हैत का भय हो सकता है। ‘कर्म को ब्रह्म में देखो, ब्रह्म को कर्म में देखो’ यह अगर ब्रह्म कर्म इन दो तथ्यों की सच्चा सिद्ध करते हुए

प्रतीत हो रहे हैं। जब तक द्वैत है, तत्काल कम्प है जबतक कम्प है, तबतक भय है—  
 'द्वितीयाद् वै भयं भवति'। जबतक भय है तत्काल अशान्ति है— अशान्त्यस्तु कुत सुखम्'।  
 पूर्वनिरूपणशैली से किसी को द्वैत का भय न हो जाय यस अशान्तिमूखक इसी द्वैतभय का  
 सम्पुञ्जन करती हुई मुनि कहती है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि, आत्मैवाभूदविज्ञानत ।

तत्र को मोह क शक एकत्वमनुपश्यत ॥

( ईशोपनिषत् ७ मंत्र )

अन्यास द्वारा बुद्धियोग ( निष्काम कर्मयोग ) का साधन करते करते जिस समय आत्म  
 साक्षादकार हो जाता है उस समय उस युक्त योगी के लिए सारा प्रपञ्च आत्मा ही बन जाता  
 है। ऐसी अवस्था से युक्त उस ज्ञानी के लिए कहां शोक है, कहां मोह है। 'यदुदरमन्तर  
 कुर्वते, भयं भयं भवति' के अनुसार जबतक द्वैत है तभीतक भय है। एकत्व व्यापकता का  
 मूल है। व्यापकता में कम्प नहीं है। एक वस्तु का अन्य स्थान की ओर झुकना ही तो कम्प  
 है। व्यापकत्व से अस्तिरिक्त कोई स्थान नहीं है, जहां कम्पन की आवश्यकता मिले। ऐसी परिस्थि-  
 ति में आत्मा में स्थानान्तरित रूप भय कैसे हो सकता है। 'इद् वा इद् वा' इस नानामात्र से  
 मोह हो जाता है। विष का वैविध्य ही मोह है। मोह से निवेकशक्ति गढ़ हो जाती है। कार्य  
 कार्यनिवेकता मारी जाती है। इस प्रकार मोह के साथ साथ ही शोक का उदय हो जाता है।  
 इस शोक-मोह से छुटकारा पाने का उपाय है—अद्वैतभाव की उपासना। इसी से मोहकसिस  
 का नाश होगा। बुद्धि में विषा का उदय होगा, तभी शोकनिवृत्ति होगी, जैसा कि स्मृति  
 कहती है—

यदा ते मोहकसिस बुद्धिर्भ्यतितरिप्सति ।

तदा गन्तासि निर्देह श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गी० २।२२)

सम्बन्ध है। जहाँ—'यह अपना है वह परमात्मा है यह भाव है, वही रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उत्पादक हैं। जब तक ये बुद्धि है, तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहमिश्रित बुद्धि है तब तक बुद्धि क्लृप्त है। क्लृप्त बुद्धि ध्यानशून्य है। ध्यानशून्य बुद्धि निष्कल बनती हुई मन पर अधिकार रखती हुई मन की सबलता का कारण बन जाती है। सबल मन सङ्गोपरक ध्यानस्तिमाय का प्रवर्धक है। आसक्ति कामना की जननी है। कामना क्रोध का कारण है। क्रोध संमोह का विधा है। संमोह स्मृतिभ्रम का जनक है। स्मृतिभ्रम बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश आत्मगतन का कारण है। यही आत्मनाश है, जिसका कि पुरुषात्माधिकार के आवरणतन्त्र में विस्तार से निरूपण किया जा-  
चुका है। इस आपत्ति से बचने का उपाय है—बुद्धि की स्वरूपस्था। तदर्थ रागद्वेषमूक मोह का परित्याग अपेक्षित है। तदर्थ रागद्वेषमूक ब्रह्म-कर्म की विजातीयता का परित्याग आवश्यक है। तभी परम शान्ति सिद्ध सकती है।

ज्ञान-कर्म को मिटाकर देखिए, तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना कीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना कीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म कीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाइए, कर्मवृत्त ज्ञानसंपत्ति प्राप्त कीजिए। यही बुद्धिमानी है, इसी को बुद्धियोग कहते हैं। यही नि श्रेयसपन्था है। इसी औत्तार्य का राखी करण करती हुई स्वार्थी उपनिवृत्त कहती है—

कर्मण्यकम् यः परयेत्, अकर्मणि च कर्म यः।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्महृत् ॥ (गी० ४। १८)

६

पुर्ण कपन से साधारण मनुष्यों को हैत का भ्रम हो सकता है। 'कर्म को ब्रह्म में देखो, ब्रह्म को कर्म में देखो' यह जबर ब्रह्म-कर्म इन दो तर्कों की सहा स्थिर करते हुए

प्रतीत हो रहे हैं। जब तक हैत है, तबतक कम्प है जबतक कम्प है, तबतक मय है—  
‘द्वितीयाद् वै मयं मयसि’। जबतक मय है तबतक अशान्ति है—अशान्त्यस्तु कुत सुखम्।  
पूर्वनिर्णयशब्दी ने किसी को हैत का भय न हो जाय वस अशान्तिमूक इसी हैतभय का  
उत्पन्न करती हुई श्रुति कहती है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि, आत्मैवाभूदविज्ञानत ।

तत्र को मोह क शक एकत्वमनुभूयत ॥

(ईशोपनिषत् ७ मन्त्र)

अन्यास द्वारा बुद्धियोग ( निष्काम कर्मयोग ) का साधन करते करते जिस समय आत्म  
साक्षात्कार हो जाता है उस समय उस युक्त योगी के लिए सारा प्रपञ्च आत्मा ही बन जाता  
है। ऐसी अवस्था से युक्त उस ज्ञानी के लिए कहाँ शोक है, कहाँ मोह है। ‘यदुदरमन्तर  
कुक्ष्ये, अयं मयं मयसि’ के अनुसार जबतक हैत है तभीतक मय है। एकत्व व्यापकता का  
मूल है। व्यापकता में कम्प नहीं है। एक वस्तु का अन्य स्थान की ओर झुकना ही तो कम्प  
है। व्यापकता से अतिरिक्त कोई स्थान नहीं है, जहाँ कम्पन को अवकाश मिले। ऐसी परिधि  
ति में आत्मा में स्थानभ्युत्थित मय कैसे हो सकता है। ‘इदं वा इदं वा’ इस जानाभाज से  
मोह होता है। विषय का वैचित्र्य ही मोह है। मोह से निर्वेकशक्ति गढ़ हो जाती है। कार्य  
कार्यनिर्वेकता मारी जाती है। इस प्रकार मोह के साथ साथ ही शोक का उदय होता है।  
इस शोक-मोह से छुटकारा पाने का उपाय है—अज्ञेयभाव की उपासना। इसी से मोहकसिद्ध  
का नाश होगा। बुद्धि में विद्या का उदय होगा, तभी शोकनिवृत्ति होगी, जिस कि स्मृति  
कहती है—

यदा ते मोहकसिद्ध बुद्धिर्भ्यसितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्बिदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गी० २।२२)

सम्बन्ध है। जहाँ—‘यह आपना है, यह पराया है यह मान है, कहीं रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उदाहरण हैं। अब तक मोह बुद्धि है, तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहमिश्रित बुद्धि है तब तक बुद्धि क्लृप्त है। क्लृप्त बुद्धि ध्यानशून्य है। ध्यानशून्य बुद्धि निरव्यक्त होती हुई मन पर अधिकार रखती हुई मन की स्वतन्त्रता का कारण बन जाती है। सबसे मन सङ्गोपसङ्ग आत्मविभक्त का प्रवर्तक है। आसक्ति काटना की शक्ती है। काटना क्रोध का काटा है। क्रोध संश्लेष का मित्र है। संश्लेष स्मृतिभ्रम का जनक है। स्मृतिभ्रम बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश आत्मपतन का कारण है। यही आत्मपतन है, जिसका कि पुनर्जागरण के आचरणतन्त्र में निस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इस आपत्ति से बचने का उपाय है—बुद्धि की स्वतन्त्रता। तन्त्र रागद्वेषमूलक मोह का परित्याग अपेक्षित है। तदर्थ रागद्वेषमूलक ब्रह्म-कर्म की विजातीयता का परित्याग आवश्यक है। तभी परम शान्ति मिल सकती है।

ज्ञान-कर्म को निष्कार देखिए तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना करीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना करीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म करीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाएँ कर्मजान ज्ञानसंपत्ति प्राप्त करीजिए। यही बुद्धिमानी है, इसी को बुद्धियोग कहते हैं। यही नि श्रेयसपन्था है। इसी श्रेयार्थ का हाथी करण करती हुई स्पर्शोत्पत्तिवत् कहती है—

कर्मक्षयकर्म यः पश्येत्, ब्रह्मसिद्धिं च कर्म यः ।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स पुनः कृतकर्मकृत् ॥ (गी० ४। १८)

६

पूर्व कथन से साधारण मनुष्यों को हैतव्य का भग्न हो सकता है। ‘कर्म को ब्रह्म में देखो, ब्रह्म को कर्म में देखो’ यह अक्षर ब्रह्म-कर्म इन दो तत्त्वों की सदा सिद्ध करते हुए

प्रतीत हो रहे हैं। जब तक द्वैत है, तभीतक कर्म है जबतक कर्म है, तबतक मय है—  
 'द्वितीयाद् वै मयं भवति'। जबतक मय है तबतक अशान्ति है— अशान्तस्य कुत सुखम्'।  
 पूर्वनिरूपणशैली से किसी को द्वैत का भ्रम न हो जाय मय अशान्तिमूक इसी द्वैतभ्रम का  
 सम्मुखन करती हुई सृष्टि कहती है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि, आत्मैवामृद्विज्ञानत ।

तत्र को मोह क शक एकत्वमनुपश्यत ॥

( ईशोपनिषत् ७ मन्त्र )

अभ्यास द्वारा बुद्धिमोह ( निष्काम कर्मयोग ) का साधन करते करते जिस सभ्य आत्म  
 साक्षादकार हो जाता है उस समय उस मुक्त योगी के लिए सारा प्रपञ्च आत्मा ही बन जाता  
 है। ऐसी अवस्था से मुक्त उस ज्ञानी के लिए कहाँ शोक है, कहाँ मोह है। 'यद्वदरमन्तर  
 कुरुते, अथ मयं भवति' के अनुसार जबतक द्वैत है तभीतक मय है। एकत्व व्यापकता का  
 मूल है। व्यापकता में कर्म नहीं है। एक वस्तु का अन्य स्थान की ओर झुकना ही तो कर्म  
 है। व्यापकत्व से अतिरिक्त कोई स्थान नहीं है, जहाँ कर्मन को अवकाश मिले। ऐसी परिस्थि  
 ति में आत्मा में स्थानान्तरिक मय कैसे हो सकता है। 'इदं वा इदं वा' इस नानाभाव से  
 मोह होता है। जिसका वैचित्त्य ही मोह है। मोह से विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। कार्य  
 चर्यविवेकता मारी जाती है। इस प्रकार मोह के साथ साथ ही शोक का उदय होता है।  
 इस शोक-मोह से झुटकार पाने का उपाय है—अद्वैतभाव की उपासना। इसी से मोहकण्टक  
 का नाश होगा। बुद्धि में विषा का उदय होगा, सभी शोकनिवृत्ति होगी, जैसा कि स्मृति  
 कहती है—

यदा ते मोहकसिद्ध बुद्धिर्भ्यसितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्विदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गी० २।१२)

सम्बन्ध है। जहाँ—'यह आपना है यह पराया है यह माया है, वहीं रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उत्पादक हैं। जब तक भोग बुद्धि है, तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहमोक्षधन बुद्धि है तब तक बुद्धि कसुपित है। कसुपित बुद्धि ध्यानशून्या है। शून्यशून्या बुद्धि निवस बनती है। मन पर अधिकार रखती हुई मन की सबसत्ता का कारण बन जाती है। सबस मन सङ्गदोषरूप ध्यानक्रिया का प्रवर्धक है। आसक्ति कामना की जननी है। कामना क्रोध का काग है। क्रोध संमोह का पिता है। संमोह स्मृतिभ्रष्ट का जनक है। स्मृतिभ्रष्ट बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश आत्मरक्षण का कारण है। यही आत्मरक्षा है, जिसका कि पुरुषात्माधिराज के आचरणतन्त्र में विस्तार से निरूपण किया जा-चुका है। इस आपत्ति से बचने का उपाय है—बुद्धि की स्वरूपरक्षा। तदर्थ रागद्वेषमूक मोह का परित्याग अपेक्षित है। तदर्थ रागद्वेषमूक ब्रह्म-कर्म की निष्कलीयता का परित्याग आवश्यक है। तभी परम शान्ति सिद्ध संभव है।

ज्ञान-कर्म को निष्ठाकर देखिए, तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना कीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना कीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म कीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाइए, कर्मद्वारा ज्ञानसंपत्ति प्राप्त कीजिए। यही बुद्धिमान्नी है, इसी को बुद्धियोग कहते हैं। यही नि श्रेयसपन्था है। इसी श्रोतार्थ का स्पष्टी करण करती हुई शार्ङ्गो उपनिषत् कहती है—

कर्मस्यकर्म यः परयेत्, अकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स पुक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ (गी० ४। १८)

६

पूर्ण कर्म से छापाय मनुष्यों को हैत का भग हो सकता है। 'कर्म को ब्रह्म में देसो, ब्रह्म को कर्म में देसो' यह वाक्य ब्रह्म-कर्म इन दो तर्कों की सहा सिद्ध करते हुए

समम् रहे हो, बिनास पत्रो मे दोनों तरफ भास्या पृथक् पृथक् प्रतीत होते हुए भी परमार्थतः अपृथक् है, दोनों मे दोनों अनुस्यूत हैं। जब अधिकारी इस प्रथम श्रेणि में उल्लिखित होजाता है तो आगे जाकर—‘यस्मिन्सवाधि मृतानि’ इत्यादि रूप से कृति रहे सहे भेद का भी निराकरण कर देती है। प्रातिमासिक हैत से व्यावहारिक हैत पर जाती है। अन्तस्तोग्रह्य पारमार्थिक अद्वैत पर पहुँचा देती है। इस प्रकार प्रवृत्तमन्त्र ‘ग्रहैव कर्म’ इस कथार्थ सम्बन्ध का निरूपण करता हुआ भ्रम-कर्म के भवेद सम्बन्ध का ही दिग्दर्शन करता है।

७

7

इति ब्रह्म-कर्मणोः सम्बन्धाधिकारः





श्रुति का तात्पर्य यही है कि ज्ञान-कर्म दो विषय हैं। भावि दो हैं, सत्ता एक है, इसलिए परमायत अर्थात् है। सत्तावेद ही हैत का वास्तव्य वमता है। श्रुति का 'विमानतः' शब्द बड़ा वमकार रखता है। 'जानतः' नहीं कहा, 'विमानतः' कहा है। 'अथ व्यापक है, आत्मा एक है कहीं भेद नहीं है' इस प्रकार केवल शब्दज्ञान 'जानतः' से सम्बन्ध रखता है। वास्तविक अनुभूतस्थान का 'विमानतः' से सम्बन्ध है। श्रुति कहती है कि तुम्हें सारी उप-निषद् पढ़नी, बीजम मर 'अर्थवेद सर्वम्' 'आत्मवेद सर्व-वेद ज्ञानरहित किञ्चन' का पाप मय किया, परन्तु इस कार्य वास्तविक ज्ञान से (शब्दव्यक्तमात्र से) तुम्हें तत्काल कदापि शान्ति नहीं मिल सकती, जबतक कि तुम व्यापक से उस ज्ञान पर प्रतिष्ठित न हो जाओ। जैसे पानी को तुम पानी समझ रहे हो, अग्नि को अग्नि समझ रहे हो, इसी प्रकार करो शब्दज्ञान को छोड़कर जिस दिन तुम अन्तर्ज्ञान से अज्ञेयत्व पर विश्वास कर लोगे, तभी शोक-मोह से मुक्त होओ। नहीं तो- 'कस्मै वेदान्तिनः सर्वे' यह वाक्य प्रसिद्ध है। ज्ञानमा सामान्य ज्ञान है, इस का मन से सम्बन्ध है। विरोध से-कार्यकरणसम्बन्ध परिज्ञानपूर्वक ज्ञानमा विरोधज्ञान है। विरोध से जानना यथार्थ जानना है। इस विज्ञान का श्रुति से सम्बन्ध है। 'इदमित्येव' यह विश्वास श्रुति से ही होता है। ब्रह्म करना जहाँ मन का क्रम है, विश्वास करना श्रुति का क्रम है। बुद्धियोग ही व्याप्य के विद्यागम में प्रसङ्ग का उगम करता हुआ शोक-मोह निवृत्ति का कारण बनता है। "पूर्व के ज्ञान में हैतसम्बन्ध का निरूपण हुआ एवं प्रकृतम् अज्ञेयसम्बन्ध का निरूपण कर रहा है" इस में विरोध नहीं सम्बन्ध आदि।

उपायाः शिष्याणां नामानामुपमासनाः ।

अमत्ये वामनि स्थित्वा ततः सम्य समीदत ॥ (वाक्यपदी)

इस शिक्षासिद्धान्त के अनुसार अनिवार्य मर से श्रुति हैत-अर्थात् दोनों मार्ग का वमिक निरूपण किया है। ज्ञान-कर्म का सभी रूपस्व रूपस्व समझते आरम्भ हैं। पहिले श्रुति इत व्यापनिकमेश्वरि का निराकरण करनी है। श्रुति कहती है कि जिन को तुम सर्वथा निज

पूषमवः →→→→

पूषमिदम्

१-स्वयम्भूः →→→→

१-महानात्मा

अविदेवताम् →→→→

अव्यात्मम्

(महद्वैभव)

महासत्याक्षरः—

तेज-स्नेहमयः प्राकृतात्मा परमेष्ठी

महानात्मा

२

परमेष्ठी ←-----→ अक्षरः →-----→ महानात्मा

( प्राकृतात्माधिकरणे महदात्माधिकरण द्वितीयम् )

अथर्ववेदावच्छिन्नः—तेजस्नेहमयात्मा

विश्वधोनिः

स पर्यगाञ्जुकमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनोऽपी परिभूः स्वयम्भूर्पायातप्यतोऽर्थान् व्यदधात्—

शाश्वतीम्य समाम्य ।

(श्लोकोत्तरम् = मन्त्र)

प्राकृतात्माधिकरणे—

अव्यक्तात्माधिकरणां समाप्तम्

१



मूत माविष्यत् प्रस्तौमि बहुब्रह्मैकमक्षरम्

महद्ब्रह्मैकमक्षरम्

स वेदैतत् परम ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।

उपासते पुरः ये ब्रह्मात्मने "शुक्" -मत्तद्विषयं चिन्ति पीराः ॥ १ ॥

(सुण्डक १।२।१०) ।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भे दधान्यहम् ।

समयः सर्वभूतानां ततो भक्तिं मारत ॥ २ ॥

सर्वयोनिषु कीन्तेय मूर्त्तयः समवन्ति याः ।

तस्मां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदं पिता ॥ ३ ॥

(गीता १४।३।४) ।



‘ब्रह्मैव सवम्’ के अनुसार इतरमान साध प्रपञ्च ब्रह्म है । इस के आठ अवयव

हैं, एवं आद्यात्मिक को गायत्री कहा जाता है । अतएव आद्यावयव ब्रह्मरूप

सर्वप्रपञ्च को हम ‘गायत्रब्रह्म’ कह सकते हैं, ऐसा कि ‘तान्येवाप्यष्टौ । अष्टौ

चरा गायत्री । गायत्रं साम । ब्रह्म च गायत्री’ (जै० उ० ब्रा० १।१।८) ।

इत्यादि सामधृति से स्पष्ट है । ब्रह्मप्रभापति (ईश्वरप्रभापति) के यह आठ अवयव

अभ्येष्ट, अक्षर, आत्मेश्वर, विकारेश्वर, निरंशयद् पथीकृतपथ पञ्चमन, पुराधन, पुरे,

इन नामों से प्रसिद्ध हैं, जिनका कि मिथद् निरूपण पूर्व के प्रकरणों में किया जा चुका है ।

ब्रह्म के इन आठों अवयवों में से प्रत्येक अवयव पञ्चकत है । इस प्रकार कलापि से ब्रह्म की



नहीं है यह सब से अति (अतिक्रान्त) है, अतएव इस के लिए “विराट्वा अनाष्ट छन्द” (शत = १।१।४।४।-यजु सं १४।२) यह कहा गया है। यद्यपि ब्रह्मरूप परमा विरट् की इन आसीसों कक्षाओं का पूर्व में व्यष्टिरूप से उल्लेख कर दिया गया है, तथापि सम विज्ञान के लिए इन का यहां भी विवर्धन कर देना अतिसंगत न होगा। एक बात और ध्यान में रखिए। विरट्स प्रजापति है। एव प्रजापति का “आत्म-प्राण-पशुसमष्टि-प्रजापतिः” यह लक्षण है। ऐसी दृष्टि में इस विरट् प्रजापति में भी १४ ? क्रम से आत्मा प्राण पशु इन तीन विभागों का भोग ग्रामना पवित्र। अर्थात् अन्तर आत्मन्तर ब्रह्म के इन तीन अवयवों की समष्टि आत्मा है, विकार-विश्वसूक्ष्म-पञ्चजन-पुराण-इन चार अवयवों का संघात प्राण है एव पुर की पशु कहा जाता है, जैसा कि आगे के परिच्छेद से स्पष्ट हो जाता है।

उक्त विरट्स का अन्वय तत्त्व ही ‘शुक्ल’ नाम से प्रसिद्ध है। शुक्ल के सम्बन्ध से ही विरट् पुरुष आसीस कक्षाओं में विभक्त होजाता है। इसी सर्वोपादनभूत शुक्लस का निरूपण करती हुई कृति कहती है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर शुद्धमपापविद्धम् ।  
कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्-  
शाश्वतीम्य समाभ्य ॥

“कार्यरहित, प्रखररहित, स्नायुररहित अतएव अकाय-अव्रण अस्नाविर नाम से प्रसिद्ध अतएव शुद्ध, पाप्मा से अविद्ध शुक्ल के चारों ओर यह व्याप्त होगया, दूसरे शब्दों में शुक्ल को चारों ओर से घेर लिया। (इस प्रकार शुक्ल को चारों ओर से वेष्टित कर) कवि-मनीषी-परिभू-स्वयम्भू इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध उस तत्त्व ने (शुक्ल द्वारा) यथा तथा रूप से सदा के लिए पदार्थों का निमाण कर दिया। अर्थात् वह तत्त्व परिसे शुक्ल को वेष्टित करता है, एवं वेष्टित शुक्ल से विश्व का निर्माण

१० कस्यार्थं हो जाती हैं। इसी चत्वारिंशत्सु कृन्द को "परमाविराट्" कहा जाता है। विराट् कृन्द के दशिनीविराट्, त्रिंशिनीविगाट्, त्रिंशिनीविराट्, चत्वारिंशिनीविराट्- (१० २० १० १०) यह चार विषय हैं। इनमें चत्वारिंशिनी (चाबीस अक्षर की) विराट् ही परमाविराट् कहलाती है। इससे बाहिर कुछ भी नहीं है। पुरुष, अन्तरात्मकज्ञान, विहारी, निष्कारसंघ (विद्य) सब कुछ इस परमाविराट् के गर्भ में निहित है। पुरुषाव्याधिकरण के उक्तार्थमें परमाविराट् का स्वरूप प्रकट-रन्तर से बताया गया है—(देखिए ई. नि. भा. ० पृ. ० स. ७)। अनुगम सिद्धान्त के अनुसार विराट् का कई प्रकार से समन्वय हो सकना है। अतएव—'एषा वै परमा विराट् यच्चत्वारिंशिनी' (ता. भा. ० २१।१०।२) इस अनुगम वचन के अनुसार इस का अर्थ भी उक्त चाबीस अक्षरों के साथ भी समन्वय किया जा सकता है। अर्थ ही 'सबकुछ' है। एष 'सर्व' है 'सहस्रम्' (यत. ० १।६।१।१५), 'परमं सहस्रम्' (ता. भा. ० १६।१।२) इत्यादि के अनुसार सर्वकृन्द सहस्र एव परम [ अन्तिम सीमा ] का वाचक है। अतएव इस परममाविराट् सबकुछ परमाविराट् को आगे जाकर तत्परम्पुष्टिने 'सत्साक्षरा वै परमा विराट्' (ता. भा. ० २३।१।३।३।) इत्यादि रूप से सहास्रकृत बताया है। सहास्रकृता का अर्थ सचाक्षुष ही है। यद्यप्यदि इतर सारे कृन्द इस के गर्भ में प्रविष्ट हैं। कोई भी कृन्द इस का वर्धन (व्यतिकरण) करने में समर्थ

● निबन्धन ४ सम्पन्न करने वाले वैराग्यन विनाश कहलाते हैं, वह कई अनुकूल भावों का निरूपण करने वाले वचन अनुगम कहलाते हैं। अतएव के सिद्धि इन्द्रो से वृत्तात्मोद्भिदो वसिष्ठ यह वचन केवल इन्द्र का प्रकट करता हुआ निरूपण में प्रविष्ट है। वरं 'वामि पञ्चधा जीवि जीवि इत्यदि वचन कोटि अन्ती से सम्पन्न रहता हुआ अनुगम है। वहां ५ ३-अक्षर अक्षरों वाली विनाश है। समन्वयन के पाँच अक्षर तीन तीन यह कह दिया गया है। सूत्रिकारा में धर्म निरूपण कोटि अन्ती में उपलब्ध है। उन तत्परम विराट् कोटि का, अतः प्रीति का भाव न होकर समन्वयन से अन्ति वचन का अर्थ यह कह दिया है। 'एषा वै परमा विराट् यच्चत्वारिंशिनी,' वहां भी उक्त ५ अक्षरों का निर्देश नहीं है। अतः इस में हम अनुगम ही करेंगे। इसी सिद्धि इस का अर्थ समन्वय हो सकता है।





किया करता है। उस का यह रचनाक्रम अनाद्यनन्त है, सदा एवसा है। एक ही नियम से विश्व का निर्माण हुआ है, एवं इसी प्रकार भविष्य में भी निर्माण होता रहेगा। यह है मन्त्र का आचारायः। प्राचीन व्याख्याताओं ने इस मन्त्र का क्या अर्थ किया है। एव विद्वानदृष्टि से यह कहाँ तक ठीक है। यह भी जान लेना आवश्यक होगा ॥ ३३ ॥

प्राचीनों के मतानुसार उक्त मन्त्र आत्मा के स्वरूपलक्षण का निरूपण करता है। वे कहते हैं कि—“पूर्व के मन्त्रों में जिस आत्मा का निरूपण हुआ है, वह स्वस्वरूप से कैसा है। उस का स्वरूपलक्षण क्या है। ‘स पर्यगात्’ इत्यादि मन्त्र इन्हीं मन्त्रों का समाधान करता है। उक्त सत्य आत्मा परितः व्याप्त हो रहा है, आकाशवत् वह सर्वव्यापी है, वह शुद्ध शुद्धरूप है, ज्योतिष्मन् है, दीप्तिस्वरूप है—(प्रकाश स्वरूप है), अकाय है (अशरीरी है), सिक्रशरीर से वनित है, अचल है, शिराशून्य होने से अस्नाविर है। इस प्रकार अन्न और अस्नाविर इन दो शब्दों से शून्यशरीर का प्रतिपेक्ष किया गया है। वह शुद्ध है, निर्मल है, अविद्यामल से रहित है, इस प्रकार ‘शुद्धं’ शब्द से कारण शरीर का प्रतिपेक्ष किया गया है। धर्माधर्मादि पापों से विवर्णित होता हुआ वह अपापविद्ध है। मन्त्रगत शुद्ध—अकाय—अन्नसं—अस्नाविरं—शुद्धं—अपापविद्ध इन बचनों को शुक्ल—अकाय—अन्नसं—अस्नाविर—शुद्ध—अपापविद्धः इस प्रकार पुंस्वभाव में परिणत कर लेना चाहिए। क्योंकि ‘स पर्यगात्’ इत्यादि रूप से पुंस्वभाव से उपपन्न कर ‘कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू’ इत्यादि रूप से पुंस्वभाव पर ही उपसंहार किया गया है। (जब उपक्रम उपसंहार में पुंस्वभाव की प्रधानता है तो मध्यवर्तित ‘शुक्लमकायमन्नसंमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्’ इत्यादि वाक्य की पुंस्वप्रधानता स्मृत सिद्ध हो जाती है, यही तात्पर्य है)। वह आम्निदर्शी है सर्वद्रष्टा है, जैसा कि ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा’ इस अनुपमावाक्य से स्पष्ट है। वह सर्वज्ञ ईश्वर है। सब के ऊपर रहने वाला परिभू है।



- ५—“स्वर्णशुद्धमुपसो वि विपुन ” (अक्स० २।२।७) ।  
 ६—“मयस्वतीरीत्ये शुद्धमपि ” (अक्स० ३।६।३) ।  
 ७—“इन् शुद्ध पिवा सोमम् ” (अक्स० ३।३२।२) ।  
 ८—“वर्णमतिरच्छुद्धमासाय ” (अक्स० ३।३७।३) ।  
 ९—“वयोषा हपा शुद्ध वृद्धे ” (अक्स० ४।३।१०) ।  
 १०—“मपिप्याने मयसा शुद्धमन्वः ” (अक्स० ४।२७।५) ।  
 ११—“शुद्धं तन्वन्त आरमः ” (अक्स० ४।४५।२) ।  
 १२—“मवापये मरत आरु शुद्धम् ” (अक्स० ५।१२।३) ।  
 १३—“मासुर्षो मद्रुद्धुद्धम् ” (अक्स० ५।४५।१८) ।  
 १४—“शुद्ध तेऽन्वयमते तेऽन्वय ” (अक्स० ६।५८।१) ।  
 १५—“सकृद्दुर्द्धुद्धे वृद्धिनिवृद्धा ” (अक्स० ६।६६।१) ।  
 १६—“तत्त्वद्वैवर्द्धितं शुद्धमुद्धारत ” (अक्स० ७।६६।१६) ।  
 १७—“अमुं विवि शुद्धं ग्योतिरधारया ” (अक्स० ८।१३।३०) ।  
 १८—“शुद्ध हिरण्यमाद्धे ” (अक्स० ८।६५।११) ।  
 १९—“वर्णमान् अत वृद्धुद्धम् ” (अक्स० ९।६६।२४) ।  
 २०—“विवि शुद्ध वनत सूर्यस्य ” (अक्स० १०।३।३) ।  
 २१—“ग्योतिः शुद्धमसौ ” (ऐग० ७।१२) ।  
 २२—“शुद्धं हिरण्यम् ” (ऐग० १७।६।३) ।  
 २३—“ग्योतिर्वै शुद्धं हिरण्यम् ” (ऐग० ७।१२) ।  
 २४—“शुद्ध सेतुद्धुद्धे श्रीणाति यत् सोम हिरण्यन ” (शत ३।३।३।६) ।  
 २५—“तेजोऽसि शुद्धमस्यसुतपसि [आम्य ] ” (शत० १।३।१।२।८।८।१।६१) ।  
 २६—“शुद्धाद्यापः ” (ऐ ग० १।७।६।३) ।  
 २७—“सर्ष वै शुद्धम् ” (शत ३।२।३।२४)

जिन जिन प्रकारों में एक रूप से शुक्र शब्द प्रयुक्त हुआ है, उन उन प्रकारों को अपने सामने रख लीजिए, उपसम्भवाप्यों को भी थोड़ी देर के लिए उपकारक समझिए, और फिर धर्म कीजिए । व्याप को सिद्ध होनाया कि शुक्र शब्द का अमुक अर्थ ही ऐसा है, जो सब शुक्र शब्दों में समान रूप से व्याप्त होसकता है । आरम्भ से ही लीजिए । जिस 'शुक्रम्' को उपक्रमोपसहार के दस पर 'शुक्र' मानते हुए भाष्यकारोंने प्रकृत में जिसे उस अविन्ध्य प्रसपरक माना है, वे ही भाष्यकार स्वयं उपनिषत् में 'ते शुक्रमेकश्रुतिवचन्ति धीराः' इत्यादि रूप से पके हुए 'शुक्रम्' को "शुक्रम्" ही रखते हुए कहते हैं-

‘ये ब्रह्मकाया विमृशितवृत्त्याभिजिता मुमुक्षवः सन्त उपासते, परमिष सेषन्ते, ते शुक्रं नृबीजं यदेतत् प्रसिद्धं शरीरोपादानकारणमतिवर्चन्ति धीराः, धीमतो न पुनर्योनिं प्रसर्पन्ति’ ( मुण्डक० श्रौ० भा० ३।२।१ ) ।

इस प्रकार जहाँ शुक्र शब्द से पुञ्जोपादनमूल सुप्रसिद्ध शुक्र (बीज) का ग्रहण किया गया है । क्या विद्वन्मण्डली-‘एकम निर्णीतः शास्त्रार्थोऽन्यत्रोपकारको भवति’ इस व्याप को नहीं मानती । यदि मानती है तो क्यों नहीं मुण्डकोपात्त शुक्र शब्द को भी अविन्ध्य प्रसपरक माना जाय, अपवाद ईशोपात्त शुक्र शब्द को भी क्यों न उपादानकारणपरक मान लिया जाय । सर्वश्री सायणाचार्यने वेद पर भाष्य लिखा है । सभी विद्वान् इस भाष्य का आदर करते हैं । अब देखना यह है कि ठीक अक्षरपलों में उपात्त शुक्र शब्द का उन्हींमें क्या अर्थ किया है ।

२-“वह आदित्य अपनी रश्मियों द्वारा समस्त भूतों के सारमूल रस (शुक्र) को ऊर्ध्व (पृथ्वी की ओर) सेमाता है ” । (३)-“हे अग्ने ! तुम्हारे (आग्नेय) शरीर का जो शुक्र (प्रवृत्तित वेग) चयक रहा है” । (४)-“वह आदित्य शुक्ररूप (पृथ्वी के) पय का दोहन करता है” (५)-“हे अग्ने ! आदित्य की तरह प्रकाशित शुक्ररूप आपको उपा मन्त्रित कर रही है ” । (६)-“हे अग्ने ! इविष्मती प्रसा (होता लोग ) आपकी शुक्र (दीप्ति) रूप ग्वात्ताओं की स्तुति करती है” । (७)-“हे इन्द्र ! आप (मोदुग्ध से युक्त अत-

एव) शुक्लरूप सोम का पान कीजिए । अथवा शुक्लाम्बुजीग्रह में वतमान, अतएव शुक्लरूप सोम का पान कीजिए” । (८) “इन उपाधों के शुक्ल, प्रकाश) रूप बरुणों (इन्द्र ने आपने तेज से) प्रवृद्ध कर दिया” । (९) —“पानी भरसाने वाले सूर्य (शुक्ल) ने अन्तरिक्षरूप स्वन से शुक्लरूप पानी को दूह लिया” (१०) —“यपरा (युष्मोकस्य सौर) इन्ने आप्यायित शुक्लरूप सोम को” (११) “शुक्लरूप (दीप्तिरूप) रज को वितत कर दिया” । (१२) “हे (अध्वर्यु ! आपने, वायु के लिए मिस करणीय (शुक्ल नाम के) दीप्ति सोम का संपादन किया है” । (१३) —“जिस दीप्ति पानी (शुक्ल) के प्रति सूर्य चारों ओर प्रकट होता है” । (१४) “हे पूजक ! तुम्हारा एक शुक्ल [शुक्ल] बरुण है, एक कृष्णबणु है” । (१५) —“वर्षाश्रुत में शुक्लरूप (शुक्लरूप) उदक म तरित से भरता है” । (१६) —“देवताओं का रितपी यह (सूर्य) निर्मल (शुक्ल) बलु उचित हुआ है” । (१७) —“हे इन्द्र ! आपने जिस समय युष्मोक में निर्मल ज्योतिर्मय सूर्य को प्रतिष्ठित किया” । [१८] —“निर्मल हिरण्यरूप चन्द्रमा का आदान करता है” [१९] —“यपमानने युष्मोक में दीप्तिमान नेतवर्ण [सूर्य] को अर्पण किया” । [२०] —“युष्मोक में पूजनीय सूर्यके शुक्ल की [दीप्तिमत्प्रकाश की] जैसे कोई आराधना करता है” । [२१] —“यह सूर्य ज्योतिर्मय शुक्ल है” । [२२] —“यह शुक्ल हिरण्य [ज्योति] है” । [२३] —“ज्योति ही शुक्लरूप हिरण्य है” । [२४] —“तो जो कि हिरण्य सुवर्णसदृश [अशुक्ल] से सोम लरीढ़ता है, वह शुक्ल से ही शुक्ल लरीढ़ता है” । [२५] —“हे आर्य ! (धृत्) आप तमोमय हैं, शुक्ल हैं, अमृत हैं” । [२६] —“पानी ही शुक्ल है” । [२७] —“सख ही शुक्ल है” । + + + +

उपसृक्त प्रणयों के अनुसार अथ प्राचीनों के मतानुसार ही शुक्ल शब्द पुरुषंसीध्य, मृतरस अग्निदेव, पय प्रकाश, दीप्ति, सोम, ज्योति, आप, सोम दीप्तरज, दीप्तसोम, दीप्तपानी, शुक्लबणु शुक्लउदक, निर्मलसूर्य, निर्मलज्योति, निर्मलचन्द्रमा, नेतसूर्य, दीप्ति मन्मथरस, सूर्य, हिरण्यज्योति, ज्योति, सोम, आर्य, पानी, सख—इन पदार्थों के लिए

प्रयुक्त हुआ है। इन सब का पयवसान द्विजस्यार्मित ( यशुरभिर्गमित ) पद्मस्य ( आप ) में हो जाता है। आपतत्त्व की अवस्था विशेष ही सोम है। सोम ही अन्नमा है। अन्नमा ही ओषधि द्वारा वीर्यरूप में परिणत होता है। 'महत्तव सोमो महिषमकार' (अक् स० २ । ६७ । ४१ ।) के अनुसार सोमहृति से ही स्रव में ज्योति कइ उदय होता है। सोममय तीर् ज्योति ही हिरण्य है। पञ्चमूर्तों का मूल उपादान यही आप है, यही मूर्तों का रस है। यही गोपशु में प्रविष्ट होकर पयरूप में परिणत होता है। यह स्वयं अन्न है, परन्तु इसके गर्भ में स्रव यशुरभि प्रतिष्ठित है, अतः वह स्रव भी है। इन्हीं सब परिस्थितियों के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रकृत मन्त्र में प्राचीनों ने 'शुक्रम' को 'शुक्र' परक मानते हुए जो इस का विशुद्ध आत्मपरक अर्थ किया है, यह वृद्धचरितमात्र है। वैदिक साहित्य किसी सम्प्रदाय विशेष का अनुसर नहीं है। यद्यपि सभी सम्प्रदायों का मूल वेदशास्त्र ही है किसी भी सम्प्रदाय को अवैदिक नहीं कहा जा सकता, तथापि 'वेदशास्त्र में अमुक सम्प्रदाय का ही प्रधानरूप से निरूपण हुआ है' यह मानना प्रौढिवादमात्र है। वैदिक पदार्थों के यथानुरूप समन्वय के लिए विशुद्धदृष्टि अपेक्षित है। यदि पहले से किसी मत पर आकृष्ट होकर आप वेद व्याख्या में प्रवृत्त होंगे तो सहस्र भाष्य भी आप को वेद के वार्थ तात्पर्य से हस्तक्षेप न कर सकेंगे। कुछ समय पूर्व वृत्तासय पाठशाळा के प्रधान प० एम्बर कृष्णमाधव्य द्वारा सरोधित, एक श्रीमोपाख्यान-दत्तामीविरचित उपनिषद्भाष्य प्रकाशित हुआ है। कृष्णमाधव्य अपनी प्रस्तावना समाप्त करते हुए अन्त में लिखते हैं—

‘इदं तु भाष्य सरसया शैल्या मनोर्चमानं सुखेनायमवगमयति। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तध्वनसम्बन्धमानानामुपकारकमेतत्। यद्यप्यस्ति नाम कश्चित् कश्चिद्वा-

१ “अब ऐसी से लिखा गया यह भाष्य सरसता से मनो-हर्षण करता है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का आनन्द देने लक्षों के लिए बहुउपकारक है। यद्यपि कहीं कहीं बाह्य योद्धाओं द्वारा के लक्षों में प्राचीन व्याख्याओं से नाम मात्र की भेद है, तथापि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का कहीं अनुमान भी उद्धरण नहीं हुआ है।”

यह भाष्य सर १५ में निर्णय सपर श्रेष्ठ में मुद्रित हुआ है।

कथयामासुः शब्दावपुः च येन पूर्वस्यास्पृशत, अथापि विशिष्टाद्वैतं तु न  
संगतोऽप्यनियच्छेत् । तदिदं शुद्धादर्शना त्रिविधम्—नन्वाप्यस्यात्” ।

क्या विशिष्टाद्वैत की पुष्टि करने के लिए ॥ उक्तप्रकार प्रकाश है 'क्या इन सामान्य  
दार्शनिक कथों से, जो कश्चित् यज्ञना का साधारण निमाण करने वाले चतुर शिष्य हैं, व्यक्त-  
तुष्टि हो सकती है ? यदि नहीं तो किन्ती भी सम्प्रदाय का आग्रह न करते हुए आप हमारे  
साथ चलिए । हम आपको शुद्धबोध के दर्शन कराते हैं । विश्वरूप में कहा गया है कि  
विश्वरूप का अन्तर्भाव शुद्धता है । इस शुद्धता का सामान्य विवेकन पूर्व के शुद्धाधि-  
कार में विस्तार से किया जा चुका है । अतः यहाँ विनियोग की आवश्यकता नहीं है ।  
केवल शुद्धताम्बु की विशेषताओं का ही विवरण करना पर्याप्त होगा ।

शुद्ध क्या पदार्थ है ? इस का उत्तर है 'उपादानकारण' । विश्व का उपादानकारण  
कौन है ? इस का उत्तर है -“सृष्टिसाक्षी अक्षय्यपुरुष भूतएव जीवात्मस्वात्म अक्षरात्  
सृष्टीत आत्मसुख” । अक्षय्यविशेष में हमने पदार्थसंगति पदार्थ को शुद्ध बताया था,  
एव यहाँ अक्षय्यपदार्थविशेष आत्मसुख को शुद्ध बताया जा रहा है, इस में विरोध नहीं सम्मत्ता  
किए, बस कि आगे जाकर स्पष्ट होना पड़ेगा । अक्षय्यविशेष परमात्मसुख के पूर्वोक्त आठ अक्ष-  
यों का स्मरण कीजिए । उन आठों अक्षय्यों में सबसे 'पुरुष' नाम के अक्षय की पाँचों  
कक्षाएँ वेद—मोक्ष—प्रज्ञा—वीर्य—पशु इन नामों से प्रसिद्ध हैं । इन में वेद नाम का पहिला  
पुरुष ही सृष्टि का आधार है । बिना वेद के न ईश्वरसृष्टि होती है, न जीवसृष्टि । अन्तर-  
केपस इत्यादि कि ईश्वरसंस्था में पहिले पुरुष है, पुरुष से विश्व का मूल वेदतत्त्व प्रादुर्भूत होता  
है । पद अक्षय्यविशेष में पहिले वेद उत्पन्न होता है अनन्तर वेदद्वारा योगमाया का प्रादुर्भाव होता  
है । तदनन्तर पुरुष (जीवात्म्य) का विकास होता है (देखिए ई उ वि मा पृ. ४००)  
क्रमशः में अन्तर है । परन्तु बिना वेद के प्रजापति का स्वरूप निष्पन्न नहीं होसकता, यह  
निश्चित है । अतएव प्रजा नहीं, तपक प्रजापति नहीं । अब तक शोक नहीं, अब तक प्रजा

नहीं। जब तक आपोमय सुवेद नहीं, तब तक शोक नहीं। जब तक यजुर्वेद नहीं, तब तक सुवेद नहीं। इसप्रकार परम्परया वेद ही प्रजोत्पत्ति का कारण बनता हुआ 'प्रजापति' शब्द को अन्वर्थ बनाने में समर्थ होता है। तभी तो प्रजापति को वेदमूर्ति कहा जाता है। इस प्रजापति की ईश्वर-प्रतिष्ठा-जीव-शिपिविष्ट वेद से चार संस्थाएँ बतलाई गई हैं। इन चारों में ईश्वरप्रजापति विश्वकृमा नाम से प्रसिद्ध है। इस विश्वकर्मा प्रजापति के समानशील-अमृतन चार अग्नि सत्ता उत्पन्न होते हैं। चारों मित्र बरुण, इन्द्र अग्नि सौम इन नामों से प्रसिद्ध हैं। किसी समय यह पाँचों पृथक् पृथक् थे। जब तक यह पृथक् पृथक् रहे, तब तक इन की विश्वनिर्माणसम्बन्धिनी कामना पूरी न हुई। फलतः इन्होंने विचार किया कि ऐसे काम नहीं चल सकता। अपने को परस्पर में मिलकर सृष्टिनिर्माण करना चाहिए। ऐसा ही हुआ। पाँचों मिल गये। मिलने से कामना पूरी होगई। इन की समष्टि कर्मपूर्ति का हेतु बनी, अतएव यह पक्ष 'कामप्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही पक्ष पञ्चविज्ञानपरिमाणा के अनुसार आगे जाकर 'दर्शपूर्णमास' नाम से व्यवहृत हुआ। अमररूप चन्द्रमा अक्षिमयी पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। इस की यह परिक्रमा एक चान्द्रमास में पूरी होती है। इस परिक्रमा से चान्द्रमास के कृष्ण-शुक्ल दो पक्ष होंगे। कृष्णपक्ष की अन्तिम तिथिअमूमि 'दश' कहलाने लगी, एवं शुक्लपक्ष की अवसान भूमि 'पूर्णिमा' कहलाने लगी। दर्शतिथि में चन्द्रमा की मृत्यु है, पूर्णिमा में उद्योतस्था है। शुक्लद्वितीया जन्मकाल है, शुक्लाष्टमी वचन है, कृष्णाष्टमी वृद्धावस्था है। इन सब भावों की मूलाधारभूमि प्रतिपत् (पञ्चा) है। यही से चन्द्रमा के हास एवं वृद्धि की प्रपत्ति (उपक्रम) होती है, अतएव इसे 'प्रतिपत्' कहा जाता है। शेष सारे चान्द्रमासोपत्र प्रतिपत् का अनुसरण करते हैं, प्रतिपत् के अनुगामी हैं, अतएव उन्हें अनुचर कहा जाता है। प्रतिपत् अनुचर सक्रितिक शब्द हैं। मूलप्रतिष्ठा को प्रतिपत् कहा जाता है, मूला मुक्त इतरभावों को अनुचर कहा जाता है। सूर्य प्रतिपत् है, शनि ए अनुचर है। चन्द्रमा प्रतिपत् है, नक्षत्र अनुचर हैं। आत्मा प्रतिपत् है, इन्द्रियप्राण अनुचर हैं। मस्तक प्रतिपत् है, इतर अङ्ग अनुचर हैं। गुरु प्रतिपत् है शिष्यवर्ग अनुचर है। सेनापत्य प्रतिपत् है, सेना अनुचर



है। हाथ प्रतिपत् है, कर्म अनुचर है। मुक्त प्रतिपत् है, अन्न अनुचर है। चतु प्रतिपत् है, रूप अनुचर है। निश्चय मास है। विश्व में सर्वत्र आप इसी प्रकार 'प्रतिपदनुचरौ' इन दो मासों का साक्षात्कार कर सकते हैं। प्रतिपत् एक होगा, अनुचर अनेक होंगे। कृष्ण अहोरात्र अनुचर हैं, कृष्णप्रतिपत् प्रतिपत् है। सुक्ल अहोरात्र अनुचर हैं, सुक्लप्रतिपत् प्रतिपत् है। कृष्णप्रतिपत् का शासन दर्शपर्यन्त है, सुक्लप्रतिपत् का शासन पृथिमा पर्यन्त है। दश-कल निग्राम (हास) कल है, पृथिमाकल उद्ग्राम (वृद्धि) कल है। दर्श में चात्र पदार्थ हम से नियुक्त होते रहते हैं। पृथिमा में चात्रपदाय हम से युक्त होते रहते हैं। दर्शदि अन्तर्धान करी सूचिका है पौषमासदि प्राभाष की प्रवर्तिका है। अतः के अनुसार प्रत्येक पदार्थ का दश-म पौषमासकल नियत है। उद्ग्रहण के लिए घृत को र्क्षिण। आश्विनमास घृत का पौष-मास है, शेषकल दश है। आश्विनमास में व्याकल से वायुद्वारा [प्राणरूप से] घृत की वृद्धि होती है अतएव आश्विन के पानी के लिए लोक माया में 'धी बरस रहा है' यह कहा जाता है। चैत्र-वैशाख मधु का पौषमास है। इनमें सूर्य से मधु [शब्द] की वृद्धि होती है। सूर्य जिस समय मधुच्छत्र [मधुमक्षिका का छत्र] नाम से प्रसिद्ध भरणी मन्थ पर आता है, उस समय से ही मधु का पौषमासकल आरम्भ होजाता है। लाखों मन शब्द पृथिवी पर गिर जाता है। इसी मधुवृद्धि से वसन्त में प्रत्येक पदार्थ में नैसर्गिक मधुय विकसित होजाता है। मधु सम्बन्ध से चैत्र-वैशाख मधु-मास मास नाम से प्रसिद्ध हैं। कहना यही है कि पदाय का आत्मनकल पौषमास है, नियोजकल दर्श है। अहोरात्रपरिकल्पनत् दोनों चक्रवत् परिभ्रमणीय हैं। परिभ्रमण से ही दश-पूषमास का उदय होता है। अतः इस परिक्रमाकल कर्म को ही 'दर्शपूर्वमासयज्ञ' कहा दिया जाता है। चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह है, साथ ही में पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। अतएव पृथिवी को हम प्रतिपत् कहा सकते हैं, एव चन्द्रमा को अनुचर कहा सकते हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा को साथ लिए हुए पृथिवी अपने निरन्तर रूपान्तर (अनितकृत पर) सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है। इस परिक्रमा से पृथिवी में अदिति-दिशि यह दो अवधारण-उत्पन्न होजाती हैं। यह अदिति-दिशि अहोरात्र संचरता अयन

मेद से तीन भागों में विभक्त है । दिन में पृथिवी का जो भाग सौरप्रकाश से युक्त रहता है, वह अदिति है । रात्रिगत पार्यन्तभाग सौरप्रकाश में वञ्चित होता हुआ दिति है । मध्यमार्ध पूर्णिमा है, मध्यरात्रि अमावास्या है, प्रातःकाल शुक्लाष्टमी है, सायंकाल कृष्णाष्टमी है । इसी प्रकार उत्तरायणमण्डल अदिति है, दक्षिणायनमण्डल दिति है । उत्तरायण उपक्रमकाश शुक्लाष्टमी है, मध्यकाश पूर्णिमा है, उत्तराहारकाश कृष्णाष्टमी है, दक्षिणायन मध्यकाश दशै है, निरुपकाश पूर्णिमा है । सारा सम्बन्ध पूर्णिमारूप है, प्रकाशरूप है, सत्त्व के पूर्व—पश्चिम सब ओर पूर्णिमा (प्रकाश) का साम्राज्य है । इसी अग्निप्राय से युति कहती है—

पूषा पश्चादुत्त पूर्णा पुरस्तादुन्मज्जतः पौर्णमासी भिगाय ।

तस्या देवा अग्निं सवसन्त उच्ये नाक इह मादयन्ताम् ॥

(तै० ब्रा० ३।१।१।) इति ।

पौर्णमासेष्टि का सम्बन्ध मध्य के निरुपकाश से ही है । यही सारे प्रायश्चर्यता प्रतिष्ठित हैं, यही नाक स्थान है । इसी अग्निप्राय से 'मध्यतः पौर्णमासी भिगाय०' इत्यादि कहा गया है । यही पृथिवी का दशपूर्णमास है । पृथिवी सूर्य का अपग्रह है, अतएव सूर्य प्रतिपद है, पृथिवी अनुचर है ।

चन्द्रयुक्त पृथिवी को साय लिए हुए सूर्य परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है । यही सूर्य का दशपूर्णमास है । इसी सौरदशैपूर्णमास से परमेष्ठी रूप महान् में त्रैगुण्य-मात्र का उद्भव होता है । परमेष्ठी का वह भाग जो सौरप्रकाश से युक्त रहता है, पूर्वमाकाश है, यही अदिति मण्डल है, यही अप्यायमायानुसार सत्त्वप्रधान महान् है । विरुद्ध तमोमय भाग दशकाश है, यही दिति मण्डल है, यही तमप्रधान महान् है । सन्धिवर्ग रजोमहान् है । इसी सौर अदिति का निरूपण करती हुई उपनिषद्भूति कहती है—

पा मायेन (मौरमायेन ) सम्मवन्नदितिर्देवतामयी ।

गुहां मभिश्य विष्टन्ती या भूतेभिर्ब्रजायत ॥ (कठ० ४।७) ।

सूर्य परमेष्ठी का संप्रग्रह है, अतएव परमेष्ठी प्रतिपत् है, सूर्य अनुचर है । चन्द्रमा—पृथिवी एक सूर्य को अपने महिमापण्डस में प्रक्षिप्त रखता हुआ परमेष्ठी स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा करता है । इस परिक्रमा से ही विश्वका स्वरूप निर्मास होता है । विश्व एक प्रकार का प्रकाश है, यही पुण्याह (ब्रह्मा का दिन—सृष्टिकाल) है । यही सृष्टिकाल अदिति मण्डल है, यही पृथिव्या है । प्रसयाकस्या विरचयमानात्मक तमोरूप दितिकास है, यही दश है, यही परमेष्ठीतत्त्व दर्शपूर्णमास है । स्वय स्वयम्भू द्विपर है, अतएव इसे परोरमा कहा जाता है । पृथिवीरूप भूसोक, सूर्यरूप स्वसोक, पृथिवी और सूर्य के मध्य का भुवसोक परमेष्ठीरूप जनसोक, परमेष्ठी और सूर्य के मध्यका महसोक स्वयम्भू और परमेष्ठी के मध्यका तपोसोक यह ६ ओं रज (परिभ्रमणीय लोक) उस परोरमा सत्यसोकालक द्विपर स्वयम्भू के आचार पर प्रक्षिप्त हैं । उसने अपनी प्राणशक्ति से [स्वयम्भू प्राण प्रधान है] ६ ओं का विवरण कर रक्खा है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर मन्त्रधृति कराती है ।

अचिकित्साश्चिकित्सुपश्चिद्वा कवीन् पृच्छामि विदुषे न विद्वान् ।

विपस्तस्तम्म पक्ष्मि रत्नायनस्यरूपे किमपि सिद्धेकम् ॥

( श्रुत्सं० नासदीपसूक्त १।१६४।६। )

इस प्रकार प्राणप्रधान विश्वकर्मा स्वयम्भू ( ईश्वर ) प्रजापति अपनी बह्वृण [ परमेष्ठी ] इन्द्र [ सूर्य ] अग्नि [ पृथिवी ], सोम [ चन्द्रमा ] इन चार प्रतिमाओं से युक्त होकर दर्शपूर्णमास का प्रवर्तक बनता हुआ परमप्रजापति नाम से प्रसिद्ध होता है । इसी परमप्रजापति का निरूपण करनी हुई पठ-धृति कराती है—

या ते यामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्मुतेमा ।

शिवो साक्षिभ्यो इविपि स्वभावः स्वय यजस्व तम्ब दधानः ॥

[ पठ सं १७।२१। ]

सत्य, तप, जन, यह यह चार परमधाम हैं, स्वः मध्यमधाम है, सुवः भूः अवमधाम है । दूसरे शब्दों में स्वयम्भू परमेष्ठी परमधाम है, सूर्य मध्यमधाम है चन्द्रमा एष पथिवी अवमधाम है । परमेष्ठी-सूर्य चन्द्रमा-पथिवी-यह चार उस के अन्तिम सखा हैं । इन्हें यह श्रेष्ठमित्र (स्वयम्भू) शिखा देखा है । जैसा स्वरूप उस का है, जो संस्थाक्रम उस में है, ठीक वैसा ही स्वरूप, वही संस्थाक्रम उक्त चारों प्रतिभाप्रजापतियों में है । वह बर्षुष है, यह चारों भी बर्षुष हैं । वह आत्मा [ हृदयमात्र ], पद् [ पिण्ड ], पुनःपद् [ महिमा ] मेद से त्रिपर्वा है, ये हैं तीन तीन पर्व इन चारों में हैं । वही शिखण है । उक्त कामप्रयत्न से परस्पर में मिलते हुए पाँचों सर्वरूप बन रहे हैं । इसी आधारपर पूर्वप्रकरणों में हमने प्राणादि पाँचों को 'सार्ध' किंवा 'सर्व' नाम से व्यवहृत किया है [ देखिए ई वि भा पृ सं— ३२५ ] । बिच में सर्वत्र इन्हीं सर्वप्राणादि का साक्षात्कार है । प्रजापति भी इन्हीं संस्थाओं का विन्दन करता है इन्हें वाचिश्रुति कहती है—

“स ऐषव प्रजापति-इमं वा आत्मन प्रतिमामद्यदि++++ ता वाऽपताः  
प्रजापतेरधिदेवता अद्यत्यन्त-अग्नि-रिन्द्र-सोम परमेष्ठी प्राजाप-  
त्य + + + + तत एतं परमेष्ठी प्राजापत्यो यद्वमपद्यद्दर्शपूर्णमासौ,  
साभ्यामयजत । साभ्यामिष्टाऽक्षयजत ब्रह्मेवेद सर्वं स्यामिति , स आपोऽमवद  
“आपो वा इदं सर्वम्” । स परमेष्ठी प्रजापति पितरमग्नवीद-कामप्र  
वाऽह यद्वमर्द्ध, तेन स्वा याजयानीवी , तथेति । तमयजत । स इष्टा अक्षय  
जत - ब्रह्मेवेदं सर्वं स्यामिति , स प्राणोऽमवद “प्राणो वा इदं सर्वम्”  
स प्रजापतिरिन्द्र पुत्रमग्नवीद अनेन स्वा कामपेण० + + + + स वाग-  
मवद, “वाग्वा इदं सर्वम्” । स इन्द्रोऽग्नीषोमी अतरो-अमवीद, अनेन  
वा कामपेण० + + + + अन्नाद एषान्यतरोऽमवद, अन्नमन्यतरः ।  
अन्नाद एवाग्निरमवद, अन्न सोमः । अन्नोदश्च वा इदं समन्ने च । ता वा

एताः पञ्च देशताः (घसा (माणः), विष्णुः (आप-परुषः), इन्द्रः (वारु, अग्नि (अन्नाद्) सोमः (अन्नम्) एताः पञ्चदेशताः) एतेन कामप्रेषा यज्ञेना जयन्त । ता यस्मात्ता ( सर्वभ्याप्ति-भ्याप्तिकामा ) अयजन्त, स आभ्यः काम समाप्सत । यत्कामो हवाऽएतेन यज्ञेन यजते, सोऽस्मै कामः समृध्यते" (शतः श्र० ११ क० । १ अ० । ६ श्र० । १३ क०-२० क० पद्यन्त) ।

उक्त श्रुति की तीन चार बातों पर पाठकों को विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उन्हीं के आधार पर पुण्डरीरविद्या का रहस्य अवलम्बित है, जो कि आगे जाकर स्पष्ट होगा । पहिली बात तो यह है कि प्रजापति शब्द से प्रकृत में व्यपक मायावच्छिन्न मायी महेश्वर अभिप्रेत है । इस प्रजापति से क्रमशः परमेष्ठी, इन्द्र, अग्नि, सोम इन चार अपिदेवताओं का प्रादुर्भाव होता है । इनमें श्रुतिमें परमेष्ठी को प्रजापति कहा है । दूसरी बात यह है कि परमेष्ठी ही सक्रमण दर्शपूर्णमास यज्ञ करता है । परमेष्ठी आगे जाकर उस पितर प्रजापति से कहा जाता है कि मैंने दर्श पूर्णमाम नाम का काम यज्ञ देखा है, मेरी इच्छा है कि मैं इस यज्ञसे आप का यजन करूँ । प्रजापति की 'तयास्तु' इस अनुमति से परमेष्ठी प्रजापति का कामयज्ञ से प्रजापति का यजन करता है । परमेष्ठी का सयम्भू प्रजापति के चारों ओर परिक्रमा लगाना ही क्रमयज्ञ से इस प्रजापति का यजन करना है । तीसरी बात यह है कि इस परमेष्ठीकृत परिक्रमाकूप यज्ञ से ही प्रजापति की नवीन प्राणसंस्था का उदय होता है । पहिले सक्रमण आपोमय परमेष्ठी का उदय होता है, अनन्तर प्राणमय सयम्भू का उदय होता है । मायी सयम्भू पृथक् तब है एवं परमेष्ठी के सम्बन्ध से प्राणरूप से उदित होमेंवाला योगमायावच्छिन्न पुण्डरीर सयम्भू पृथक् है । मायी सयम्भू प्रथम या, इससे परमेष्ठी उत्पन्न हुआ, परमेष्ठी से पुण्डरीर सयम्भू का जन्म हुआ । प्रजापति परमेष्ठी के द्वारा पुण्डरीररूप में परिणत होमें वाले इस परिच्छिन्न सयम्भू के लिए आगे जाकर- 'स प्रजापतिरिन्द्र पुण्डरीकवीर्यं कदागया है । श्रुतिके आरम्भ का प्रजापति शब्द अहाँ व्यापक मायी सयम्भू (महेश्वर) का वाचक है, वहाँ यह आगे का प्रजापति शब्द महेश्वर धरमा में मुक्त ब्रह्मेश्वर पुण्डरीर सयम्भू का वाचक है । मायी सयम्भू की इच्छासे परमेष्ठीने दर्शपूर्णमास किया है,

है, एक पुण्यवीर स्वयम्भू की इच्छा से इन्द्र (सूर्य) अग्नि (पृथिवी) सोम (चन्द्रमा) ने दशपूर्णमास किया है। पुण्यवीर स्वयम्भू की अपेक्षा से ही परमेष्ठी—सूय आदि प्रतिमाप्रजापति नाम से व्यक्त हुए हैं। एक एक वक्रणमें पाँच पाँच पुण्यवीर हैं। इन पाँचों में स्वयम्भू परमप्रजापति है, जो पारों प्रतिमाप्रजापति हैं। उस व्यापक मायी स्वयम्भू के उदर में ऐसी पञ्चपुण्यवीरमिका सहस्र (१०००) प्राजापत्य वक्रणए प्रतिष्ठित रहती हैं। मायावच्छेदेन स्वयम्भू एक है, पुण्यवीर वच्छेदेन स्वयम्भू एक सहस्र हैं, यही वक्तव्य है।

## पञ्चपुराणीरात्राजापत्यवत्सा

- |  |                           |
|--|---------------------------|
| १—“प्राणो वा इदं सर्वम्” प्राणः—स्वयम्भू वद्वा | } प्रतिमा-<br>प्रजापत्य ४ |
| २—“आपो वा इदं सर्वम्” आपः परमेष्ठी विष्णु      |                           |
| ३—“वाग्वा इदं सर्वम्” वाक्—सूर्यो इन्द्र       |                           |
| ४—“अन्नादो वा इदं सर्वम्” अन्नान्—पृथिवी अग्नि |                           |
| ५—“अन्नं वा इदं सर्वम्” अन्नम्—चन्द्रमा सोम    |                           |

ऐसी सहस्र वक्रणों को (टहनियों को) अपने उदर में रखने वाला मायी महेश्वर ही प्रजापत्य है, जैसा कि आगे के परिच्छेद से स्पष्ट होगा। प्रजापत्यरूप इसी वेदमूर्ति महेश्वर के वेदभाग से सुवक्र रूप आपोमय प्रजा का जन्म होता है। वेद स्व द्वित्रया है, सुवक्र पद्विप्रका है। पहिले वाक्मय सत्य प्रजापति ही था। ‘पतिश्च पत्नी च’ इस इच्छा से आगे आकर यही सप्त—भूत यह दो रूप धारण करलेता है। सत्तावाक् यजुप्रका है, अत्तावाक् सुवक्र है। इसी को अग्नेदेने ‘ग्राम्पृथ्वीवाक्’ (आपोमयीवाक्) नाम से व्यक्त किया है। (देखिए ऋग् संहिता—ग्राम्पृथ्वीवाक्) यह अन्नसत्प्रका प्रजा सुवक्र ही विष्णु के आदि प्रवक्तृ है, जैसा कि ‘अनेमदेकम्’ इत्यादि मन्त्रमाम्य में विस्तार से वक्तव्य जाजुका है। अग्निमय प्रजा

पुरुष है, पति है मित्रा है । आपोमय सुगन्ध स्त्री है, पत्नी है, माता है । ब्रह्म महेश्वर है, सुगन्ध पाश्वती है । यही जगत् के माता मित्रा हैं—जगत् पितरों बन्दे पापती परमेश्वरी” । इन्हीं दोनों के सम्बन्ध से आगे की सृष्टिकार चलती है ।

दो ब्राह्मणों का सम्बन्ध चार प्रकार से हुआ करता है । चार से अतिरिक्त कोई पाँचवाँ प्रकार नहीं है । साथ ही में यह भी ध्यान रखिए कि जैसे सम्बन्ध संख्या निर्णयित है, एवमेव दो तरफ भी सर्वांग निमित्तित है । उन दो के अतिरिक्त तीसरा तरफ आप को विश्व में नहीं मिल सकता । वे दोनों तरफ वे ही ब्रह्मरूप आग्नेयपुरुष, सुगन्धरूप सोम्य भी हैं । सचमुच अग्नीसोम-त्व हीपुरुष के अतिरिक्त अन्य तीसरी वस्तु नहीं है । तभी तो “अग्नापोमात्यर्कं जगत्” “द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति शुष्कं वैशार्द्रम् । यश्चक्षुष्कं तदाग्नेय, यदार्द्रं तद सोम्यम्” इत्यादि श्रौतबचन वरितार्य होते हैं । यह दोनों ही तरफ बिबातीय हैं । एक भोक्ता है, दूसरा भोग्य है । अग्नि भोक्ता है, अतएव यह अन्नान्न नाम से, सोम भोग्य है, अतएव यह अन्न नाम से प्रसिद्ध है । दोनों का यह अन्नाशन्नसम्बन्ध भोक्तृ भोग्यमात्र समुदाय और व्यववय वेद से दो मार्गों में विभक्त है । ब्रह्म ( अग्नि ) सुगन्ध ( सोम ) रूप हीपुरुष का यदि अवयव सम्बन्ध होता है तो वेत्ती अवस्था में आग्नेयपुरुष “पुरुष” कहलाता है, सोम्यसुगन्ध ‘स्त्री’ कहलाता है । यदि समुदाय सम्बन्ध होता है, दूसरे शब्दों में सारा सोम सर्वाभन्ना यदि अग्निपुरुष के उद्गम में बसाजाता है तो उस समय यह दोनों तरफ ही-पुरुष न कहलाकर अन्न अन्नान्न नाम से व्यवहृत होते हैं । अन्न जब अन्नान्न के ( सुगन्ध जब ब्रह्म के ) उद्गम में बसा जाता है तो उस समय आहुत होकर अग्नि के अन्न की स्वरूपा गन्ध होजाती है । परन्तु ऐसा होता तभी है जब कि सारा अन्न अन्नान्न में आहुत होजाता है । जब आप अन्न खाते हैं तो वह आप के शरीरान्नि में जाकर अन्निरूप में परिणत होता हुआ अन्नान्न प्रातिस्विक स्वरूप सो बटता है । अब यदि उस मुक्त अन्न को आप उसी स्वरूपमें प्राप्त करला चाहें तो यह असम्भव है । क्योंकि वह अन्न सर्वाभन्ना अग्नि में आहुत होजाता है । अब एमे समुदायप्राप्तिसम्बन्ध में ही उन ब्रह्म सुगन्धों को अन्नान्न—अन्न कहा जाता है । इस सम्बन्ध से कोई गर्द वस्तु [अपूर्वपात्र] उत्पन्न नहीं होती, यदि तु केवल ब्रह्म का आपनन मात्र दृष्टा है, यही वृत्ति ‘पुष्टि’ कहलाती है ।

यदि समुदाय का सम्बन्ध नहीं है, अपितु अवयव का सम्बन्ध है तो पुष्टि नहीं सृष्टि है । इस सम्बन्ध में अवयवी निर्विकार है, केवल अवयव की चिन्ता है । यही चित्सिद्धावयव सम्बन्ध (संविष्टरसम्बन्ध) सृष्टि (अपूर्वमात्रोत्पत्ति) का कारण है । इस सृष्टिमूलक अवयव सम्बन्ध में ही ब्रह्म एव सृज्य स्त्री-पुरुष नाम से व्यवहृत होते हैं । समुदायरूप असम्भवाद के सम्बन्ध में—“यदा ब्रह्म समागच्छत - ब्रह्मैवाक्यायते, नाद्यम्” इत्यादि रूप से सृष्टि असत्ता का उल्लेख वनजाती है, एव अवयव सम्बन्ध में अग्रमात्र का उल्लेख है । उल्लेख नहीं, अपूर्वमात्र में परिणति है । अतएव इस सम्बन्ध में अस-सम्भवाद का प्रयोग न होकर स्त्री पुरुषशब्दों का प्रयोग होता है । इन दोनों का (स्त्री-एव पुरुष का) अवयव सम्बन्ध तीन प्रकार से समझ है । स्त्री-स्त्री का सम्बन्ध भी समझ है । इस अवयव सम्बन्ध से न खोम होता, न सृष्टि होती । क्योंकि सृष्टि विजातीय वस्तुद्वय के सम्बन्ध से ही होती है । स्त्री-स्त्री सजातीय पदार्थ हैं । साथ ही वे सौम्य होने से दोनों अवयव आद्य हैं । अतएव यह मिथुनमात्र सवणा निरमक है । एवमेव पुरुष पुरुष (के अवयवों) का सम्बन्ध समझ है । यदि दो पुरुषों का सम्बन्ध है तो सर्वनाश है । दोनों ही अग्नि हैं । समान वस् वस्ते दो आग्नेय प्रह टकरा कर जैसे महाविस्फोटन [जोकि विस्फोटन ऐन्द्रमूर्क्य नाम से प्रसिद्ध है ।] के जनक बनजाते हैं अवयव समान गति रखने वाली दो पञ्चाव द्रव्यों के सम्बन्ध से [मिह्वर्तने से] जैसे महाविस्फोटन होजाता है, एवमेव आग्नेय पुरुषावयवों का सर्व विस्फोटन का जनक बनजाता है । इस सम्बन्ध में भी सृष्टि का अभाव है, क्योंकि दोनों ही सजातीय हैं । इस सम्बन्ध में सृष्टि तो नहीं है परन्तु खोम अवयव है । तीसरा है स्त्री पुरुष के शुक्र-शोणितरूप अवयवों का सम्बन्ध । इस विजातीय अवयव सम्बन्ध से ही अपूर्वमात्र का उत्पन्न होता है । यही सम्बन्ध ‘समन्वय’ नाम से प्रसिद्ध है । इसी से सृष्टि होती है—‘तत्तु समन्वयात्’ । इस सम्बन्ध में अवयव की हानि होती है, अवयवी ज्यों के त्यों सुरक्षित रहते हैं । पुरुष अग्नि है, स्त्री आप (सोन) है । अग्नि के उदर में पानी चला जाय, अग्नि अग्नि मिश्रजाय, पानी पानी मिश्रजाय, आग पानी मिश्रजाय, इस प्रकार दोनों के सम्बन्ध के चार ही द्वार हैं । यदि अग्नि के उदर में पानी (सोन) चला गया





विश्वरूपसम्पादिका महामाया की महातक व्याप्ति है, वहाँ तक वेदधन वेदमूर्ति ईश्वर की व्याप्ति है। यदबध्वेदेत ईश्वर (महेश्वर) व्याप्त है, तन्बध्वेदेनैव ब्रह्म (वेत्) सुब्रह्म (सुवेत्) व्याप्त हैं, एक बिन्दु भी दोनों से शून्य नहीं है। दोनों में एक प्रकार से अन्न-अन्नादभाव सम्बन्ध है। अतएव यह आहुतिसम्बन्ध सृष्टि के लिए अनुपपुक्त है। सृष्टि तभी हो सकती है, जब कि उस व्यापक ब्रह्म के किसी एक प्रदेश में व्यापक सुब्रह्म के किसी एक अवयव की आहुति हो। योनिमात्र वृषारूप ब्रह्मका अवयव है, रेतोमात्र योयारूप सुब्रह्म का अवयव है। इन दोनों अवयवों में मायाबन्धित सर्वव्यापक वसाचक्ष (गतिस्थितिमत) का एक अवयवविशेष विशेष है, इसमें मातरिका नाम से प्रसिद्ध मार्गव्यापु द्वारा उस ब्रह्म पर सर्वत्र व्याप्त सुब्रह्म नामसे प्रसिद्ध पद्म ब्रह्म (आप) का एक अवयवविशेष की आहुति होती है, यही अवयव रेत है। इन अवयवों के सम्बन्ध से सारा विश्व बना है। आगे की सारी सृष्टियों में इस अवयव सम्बन्ध की ही व्याप्ति समझनी चाहिए। ईश्वरसृष्टि हो, अथवा जीवसृष्टि, सर्वत्र योयारूपका ब्रह्म-सुब्रह्म के अवयव सम्बन्ध की ही प्रधानता है। उदाहरणके लिए पुरुष को लीजिए। पुरुषके सवाङ्ग शरीरमें रेत व्याप्त है, उच्चर स्त्री के सवाङ्ग शरीर में योनिरूप व्यापक (रक्त) व्याप्त है। परन्तु सभी रेत अथवा सभी आर्चन प्रजोत्पत्ति का कारण नहीं बनता। यदि ऐसा हो तो स्त्री पुरुषका लेकर ही नष्ट होजाय। स्त्री पुरुष का आश्रित रेत-आर्चन ही प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है। सृष्टि किन्तु सम्बन्ध से होती है। यह बतसा दिया गया। अब प्रकरणसंगति के लिए एकबार आपका ध्यान 'अनेमदेकम्०' इस मन्त्रार्थ की ओर आकर्षित करते हैं।

वहाँ बतसाया गया है कि मायाबन्धित वसाचक्ष सर्वव्यापक यजुर्वेदरूप ब्रह्माग्नि में मात रिकाव्यापु पद्मब्रह्मका आपोमय (सुव्यक्तिरोमय) सुब्रह्म की आहुति देता है। इस प्रकार 'अनेमदेकम्' इत्यादि मन्त्र सामान्यरूप से व्यापक ब्रह्म में व्यापक सुब्रह्म की आहुति बतसाता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। पूर्ववचनानुसार सर्वाहुति में अन्नाभ्यान्मात्रात्र है, एव ऐसा सम्बन्ध पुष्टि कर बनता हुआ भी सृष्टिमयात्रा से युक्तिमत् है। सृष्टि अवयव सम्बन्ध पर ही निर्भर है। अतएव "मातरिका एवदनेमत् ब्रह्म में आप की आहुति देता है" इस वाक्य

क्य “ग्रह के एक योनिरूप प्रदेश में मानरिरवाधाधु आपोमयग्रह के रेतोरूप एक प्रदेश की आहुति देता है” यही अर्थ समझना चाहिए। यही कारण है कि ग्रहों “तस्मिन्मपो मानरिरवा जुहोति” यह न कहकर “तस्मिन्मपो मानरिरवा दधाति” यह कहा है। आहुति सम्बन्ध सम्प्रापसम्बन्धात्मक धन्वाभादमात्र पर निर्भर है, आपानसम्बन्ध अवयवसम्बन्धात्मक स्त्री-पुरुषमात्र पर निर्भर है। सोम्यग्रहों में भी “योनि में रेत की आहुति होती है” यह नहीं कहा जाता, अपि तु “यानि में रेत का आपान होता है” यही कहा जाता है। अत एव क बाधु को होत्र (आहुति देने वाला) नहीं कहा जाता अपि तु रेतोधा (रेत का आपान करने वाला) कहा जाता है। प्रश्न होत्र है कि ‘अननद्रुक्म्’ इत्यादि मन्त्र से प्रतिपादित सामान्य अर्थ की उपेक्षा कर—‘अवयवकी अवयव में आहुति होती है’ यह विशेष अर्थ किस आधार पर प्रमादिक माना गया? इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए ‘स पदगाक्कुक्म्’ इत्यादि मन्त्र हमारे सामने आता है। मन्त्र में पढ़ा हुआ शुक् शब्द ही उक्त प्रश्न का समाधान करता है। कैत्रे ‘इस निष्ठा को शान्त करने से पदित शुक्पण्य का स्वरूप परिचय करा गया आवश्यक होत्र।

पदापनिरुद्धविज्ञान के विस्तृतप्राय होवाने के कारण विद्वानों की दृष्टि में आनदिन शुक्-रेत-वीर्य तीनों अस्मिन् पदाप हैं तीनों पयाप हैं। परन्तु पयाप में शुक् भिन्न वस्तु है, रेत अन्त्य वस्तु का बाधक है, वीर्य शब्द किसी अन्य ही पण्य का बोधक है। वीर्य और शुक् रेत में प्रतिष्ठित हैं इसीलिए तात्पर्यावाप्स्यस्य’ म्याप से रेत को शुक् वीर्य शब्दों से व्यञ्जन कर दिया जाता है। ऐसा होने पर भी तीनों को एक ही वस्तु मान बैठना सर्वथा भ्रम है। संशय साहित्य पर आन एक बड़ा भारी कष्ट लगाना जाता है। सत्यधारण का यह निश्चास है कि महात्मा में एक एक शब्द के अनेक पयाप होते हैं। पत्तन जो ऐसा चाहता है, स्वार्थानुसार ऐसा ही अर्थ करता है। परन्तु अन्त्य रूप अपने पाठकों को यह निश्चास दिलाता है कि सत्य साहित्य में एक अर्थ के लिए एक ही शब्द प्रयुक्त हुआ है। एवम् के समानता को सत्य म्याप म्याप प्रकटित होगया है। पण्यद्विष्टे सय शब्द निपण अर्था के ही प्रतिपाद है।

विष्णु-नारायण-वामन सब मिश्रार्थ के वाचक हैं । मोहेश्वर-ईश्वर-परमेश्वर आत्मा-ब्रह्म सब शब्द पृथगर्थों के चोतक हैं । मधवा-पाकणसन-सुभहा-शृपा-शुनाशीर-पुरंदर सब अपने अपने अर्थों में निरूपित हैं । बुद्धि-मनीषा विपश्चा मज्ञा-मति सब मिश्रार्थ के परिचायक हैं । जिसके लिए जो शब्द नियत है, वह उसी का बोधक है । पद्म और वस्त्र कभी पर्याय नहीं हैं । आग्नि और सूर्य कभी पर्याय नहीं हैं । वायु और वात, हिरण्यगर्भ और पद्मभू, कभी पर्याय नहीं हैं । इसीप्रकार शुक्र-वीर्य-रेत कभी परस्पर में एक दूसरे के पर्याय नहीं हैं ।

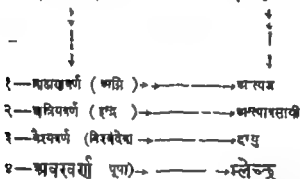
तीनों में से पहिले वीर्यशब्द को ही खींचिए । रेत में रहने वाला, आत्मबल को बढ़ाने वाला तरंगविशेष ही 'वीर्य' कहलाता है । बल-वीर्य-पराक्रम तीनों में भी भेद है । शरीरशक्ति बल है, प्राणशक्ति वीर्य है, मन की शक्ति पराक्रम है । हाथी में बल की प्रधानता है । हाथी अपने भार से एक सिंह को कुचल सकता है । सिंह में वीर्य की प्रधानता है । शरीरशक्ति से प्राणशक्ति बलवन्ती है, अतएव प्राणप्रधान ( वीर्यप्रधान ) सिंह हाथी को परास्त कर देता है । मन की ताकत पराक्रम है । दूसरे पर आक्रमण कर उसे अपने कण्ठ में फाँलना ही 'पराक्रम' है । यह मनो बल है । पुरुष में इस की प्रधानता है । यह बल वीर्य से भी प्रबल है, अतएव पराक्रमी मनुष्य वीर्यशाली सिंह को भी एक पक्षर ( पींजरे ) में बंद कर देता है । इस प्रकार बल-वीर्य-पराक्रम तीनों शब्द नियत अर्थों के वाचक हैं । आत्मा मन-प्राण-ब्रह्म माना जाता है । मन ज्ञानप्रधान, प्राण कर्मप्रधान, एव वाक् अर्थप्रधान है । आत्मा की इन तीनों कक्षाओं के उपकारक क्रमशः ब्रह्म-ज्ञान-विद् नाम के तीन वीर्य हैं । ब्रह्मवीर्य ज्ञान का अनुपायी है, ज्ञानवीर्य कर्म का प्रेरक है, एव मिथुवीर्य अर्थशक्ति का संवाहक है । ब्रह्मवीर्य का अग्नि से सम्बन्ध है, ज्ञानवीर्य का इन्द्र से, मिथुवीर्य का मिथुदेवों से सम्बन्ध है । जिस के रेतमें ब्रह्मवीर्य की प्रधानता है, उसकी सन्तान ब्राह्मण कहलाती है । ज्ञानवीर्य प्रधान रेत क्षत्रियवर्ण का, मिथुवीर्य प्रधान रेत वैश्यवर्ण का प्रवर्तक है । जिस के रेत में अवीर्यरूप, किन्तु सामान्यतः वीर्यरूप पृथा नाम से प्रसिद्ध पार्थिव तमोमय प्राणदेवता की प्रधानता रहती है, उस की सन्तान सप्शूद्र कहलाती है, इसी के लिए—'शूनाभावरणवर्णाश्च' यह कहा जाता है । इन चारों वीर्यों के विशेष

चार ही मसभाग हैं । इन देवविरोधी मसमणों की क्रमशः जिनके रेत में प्रधानता होती है, उन से क्रमशः अन्त्यज अन्त्यानसायी, दम्पु, स्लेच्छ इन चार असम्पूतों की उत्पत्ति होती है । यह चारों ही अथर्व वर्ण हैं । यही असम्पूत निरवस्थित कह सकते हैं ।

देवभाग → → → → → मलभाग

( देवीमोक्ष )

( आसुरीसंपत् )



वर्णसृष्टि → → → → → अवर्यसृष्टि

स वा एष आत्मा वाङ्मय प्राणमयो मनोमय

- १-मन (मानरुक्ति) ज्ञानोदयौपयिक-ब्रह्मक्षीर्यम् → तत्त्वपथाना - ब्राह्मणा  
 २-प्राणः (प्राणरुक्ति) क्रमोदयौपयिक-क्षत्रक्षीर्यम् → तत्त्वपथाना - क्षत्रिया  
 ३-वाक् (वाक्प्राणरुक्ति) अयोदयौपयिक-विद्वार्यम् → तत्त्वपथाना - वैश्या

उक्त निदर्शन से पाठकों को यह मालूम होगा कि वीर्यमय शुक्र और रेत से सर्वथा रूपक तत्त्व है । रेत में प्रतिष्ठित रहने वाला रुक्मिष्ठतन्त्र वीर्य है । रेत के रूप से वीर्य का भी रूप होता है । अतएव 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ शुक्ररक्षापरक मान लिया जाता है ।

अब यहिए शुक्र-रेत की ओर । पुरुष के रेत का नाम शुक्र नहीं है, अपि तु अग्नि का नाम शुक्र है । शुक्राग्नि भी में रहता है, रेत रूप सोम पुरुष में रहता है । शुक्र का प्रधान आश्रय भी का रज है, रेत का प्रधान आश्रय पुरुष का सोमभाग है । पुरुष के रेत में जैसे उक्त वीर्य रहते हैं, एवमेव भी के रज में भी वीर्य प्रतिष्ठित रहते हैं । दोनों के वीर्य शुद्ध रहते हैं, सभी वर्णानुरूप सृष्टि (सन्तान) होती है । कथरक्षा के लिए वीर्य रक्षा आवश्यक है । वर्णवीर्य के यथार्थ स्वरूप को यत्किञ्चित् भी न जानता हुआ, परन्तु जानने का अभिमान करता हुआ एक वैश्यवर्ण का महान् नेता नेतृत्व के अभिमान में पकड़ कर अपने पुत्र का यदि एक शासक वर्ण के नेता की कन्या के साथ विवाह करने में कोई हानि नहीं समझता तो यह उसका, एक उसके देश का दुर्भाग्य है । हाँ यदि वह अपनी सबकी किस्ती शासक पुत्र को देदे तो शासक हटकर उसका यह कार्य अनुचित न होगा, कारण शासक इतरवर्ण की कन्या के साथ पाणि ग्रहण कर सकता है । वीर्यरक्षा के लिए शासक सिद्ध वैवाहिक मर्यादा आवश्यक है । इस मर्यादा का पालन न हुआ तो क्या होगा ? इसका उत्तर है भारतवर्ष की अभोगति । अस्तु प्रकृत में यही कहना है कि राज की अवयवभूता योनि (अग्नि) शुक्र है, इस की प्रधान प्रतिष्ठा स्त्री है । शुक्र का अवयव भूत रेत (सोम) रेत है, इसकी प्रधान प्रतिष्ठा पुरुष है । योनि में रेत का आधान होता है, इसका 'शुक्र में रेत का आधान होता है' यही तात्पर्य है । इसप्रकार वीर्यरक्त रेत एव शुक्र का पावन भी मसीमांति सिद्ध हो जाता है ।

रेत शब्द पुरुष के सौम्यभाग के लिए ही निरूपित हो यह बात नहीं है । अस्तु रेतत्व का अवच्छेदक उपादानव्यवस्था ही समझना चाहिए । प्रजा का उपादानव्यवस्था न केवल पुरुष का सौम्यभाग है, न केवल स्त्री का आग्नेय शोणित भाग है, अपि तु दोनों का समन्वित रूप ही उपादान है । ऐसी अवस्था में हम दोनों को 'रेत' कह सकते हैं । स्त्री का आग्नेय भाग भी उपादान होने से रेत है, पुरुष का सौम्य भाग भी उपादान होने से रेत है । परन्तु एक आग्नेयरेत है, दूसरा सौम्यरेत है । इसी भेद को समझने के लिए वैज्ञानिकोंने आग्नेयरेत को 'शुक्र' शब्द से व्यवहृत किया है, एवं सौम्यरेत को पारिशेय्यरक्त रेत शब्द से प्रसिद्ध किया है ।

धनरेत शुक् है, सरर रेत रेत है । धनता [परिपाक] अग्नि का धर्म है, तरसता पानी का धर्म है । अरु सन्नाग्नि है, सुगन्ध अरु व्याप है । यह धन है, यह तरस है । यह शुक्-रेत दोनों ही धर्मशुद्धता-योधाप्राण से अनुगृहीत रहते हैं । इनमें शुक्-रेत रूप धोनि-रेत के सम्मन्ध से प्रबोध्यति बतलाई है । परन्तु वस्तुतः सृष्टि के मूलाकार हैं-योधा-व्याप्राण । शुक्तरूप स्त्री के आग्नेय भाग में रहने वाला वितप्राण शुद्धता कहलाता है, पुरुष के सौम्यरेत में रहने वाला वितप्राण योधा नामसे प्रसिद्ध है । इसी प्राण को मित्रक् परिमाण में 'शुक्' कहा जाता है । यदि शुक्शोषित के अणु भीषित हैं, तभी दोनों के सम्मन्ध से प्रबोध्यति होसकती है । परिपूर्ण निर्मल हैं मूर्च्छित हैं, नष्ट हैं तो ऐसी दशा में निरन्तर होने वाला भी शुक्शोषित का निधुनमात्र प्रबोध्यति का कारण नहीं बनसकता । इन अणुओं की निवृत्तता के, एवं विनाश के मानुषोप, पितृदोष, कर्मदोष, नाडीदोष, ग्रहदोष, आदि व्यर्थ दोष हैं । इन व्यर्थों की निवृत्ति धर्मशास्त्र में प्रतिपादित है । सुप्रसिद्ध श्राद्धकर्म पितृदोष का निवृत्तक माना जाता है । अतएव निवृत्ति में प्रविष्ट रहते हुए भी आद्य का धर्मशास्त्र में धर्मकर्म ( पुत्रकर्मनासाधक ) माना है । निवृत्त यही हुआ कि सारवदेत शुक् है प्रशद्धित रस रेत है । दोनों में प्राण प्रतिष्ठित हैं, प्राणातुगृहीत यही दोनों जीवन के कारण हैं । इसी शुक्-रेत-विज्ञान को धर्म में रचकर अमिषुक्त कहते हैं-

‘शुक् शु सारवदेतो, रसो रेतः प्रवादि यत् ।

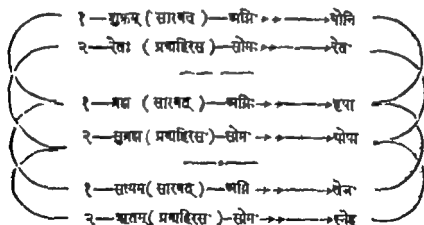
माधेनानुगृहीते ते (शुक्नेतसी) मायिना जीवन् विदुः ॥’

शुक् आग्नेय पदार्थ है इसके लिए प्रमाण की अपेक्षा नहीं है । ‘सप्ताचिदमुना शुक्’ से कोशकार स्पष्ट ही शुक् को अग्नि कहला रहे हैं । ‘अग्निः शोषति, रेतो रसति’ से ही दोनों धर्मशुद्धता-शुक्-रेत नाम से प्रसिद्ध हुए हैं । शुक् ही शोक है, शोक संशय है, संशय व्याप है, व्याप अग्नि का धर्म है । सम्मन्ध से शुक् (अग्नि) ही ‘शुक्’ बना है । शुक् साक्षात् अग्नि

है, अतएव ग्रहयज्ञ में व्याहृत होने वाले ४० ब्राह्मणों में से अग्निमय सौरग्रह पत्र को शुक्र' कहा गया है। इसी अन्वय पर निम्नलिखित वचन प्रसिद्ध हैं—

- १-“अग्नौ नै शुक्रः” (शत० ५।१२।१) — “रेतो वा अग्नौ” (गो० आ० पू० ३।२१)
- २-“अग्निः शुक्रिः (शुक्रः)” (सै० आ० १।१८।१) — “रेतो नै सोमः” (शत० ३।१५।२)

इसी शुक्र को हम व्यापनेय होने से ‘सिञ्ज’ कह सकते हैं—“संजो वा अग्निः” (शत० १।१।२।१), एव-रेत को सोम्य होने से ‘स्नेह’ कहा जासकता है। एक बात और—शुक्र में रेत, रेत में शुक्र अन्तर्भूत है। शुक्र में अग्नि प्रधान है अतएव स्नेह गीर्ण है। रेत में स्नेह प्रधान है, वन अग्नि योज है। इसीलिए कहीं कहीं व्याप रेत को शुक्र कह दिया जाता है, जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में शुक्र शब्द की व्याप्ति बतलाते हुए कहा गया है। एकमेव कहीं कहीं अग्निमय शुक्र को रेत बतला दिया जाता है। इनही दोनों तत्त्वों के सम्बन्ध से सृष्टि होती है, यह प्रत्येक दशा में निर्विवाद है।



दोनों के सम्बन्ध से कैसे संसार बना है। इस मरनसम्बन्ध के लिये निम्नलिखित प्रकरण पर ध्यान रखिए। सृष्टि का मूलप्रवर्तकतारण ब्रह्म-वायु-अग्नि-शुक्र इन तीन भागों में विभक्त है।





पुराण है, अतः इसी को शुक्र कहा दिया गया है। यह वेदतत्त्व आत्मेश्वर की सर्वप्रधाना एवं सर्व प्रथम प्राणरूपा का विकार है, दूसरे शब्दों में वेदतत्त्व की उपादानभूमि आत्मेश्वर है, एवं 'वाधारम्मण विकारो नामधेयं सृष्टिकोशेष समग्र' के अनुसार कायरूप वेद कायरूप आत्मेश्वर से अभिन्न है। ऐसी स्थिति में शुक्ररूप वेद को आत्मेश्वर कहा जा सकता है। आत्मेश्वर प्रकृति का स्वरूप है, अक्षर अमृत माग है। अक्षर और आत्मेश्वर दोनों एक ही अमृतमृत्युमूर्ति प्रजापति के दो अवयव हैं, दोनों मिश्रकर एक वस्तु है। ऐसी दशा में यदि विकारेश्वररूप वेदमिश्र आत्मेश्वर शुक्र है तो आत्मेश्वरमिश्र अक्षर भी अवयव ही शुक्र है। साथ ही में बिना अभ्युपगमन के अक्षर श्वर भी बीजावस्था में परिणत नहीं हो सकते, अतः अक्षर-श्वरवत् स्वरूप अभ्युपगमन भी शुक्रकोटि में विभक्त हो जाता है। तभी तो—“वही अमृत है, वही प्रकृत है, वही शुक्र है” यह कहने का साहस किया जाता है। अभ्युप ही अक्षर बनता है, वही श्वर बनता है, वही वेदरूप में परिणत होता है। अक्षरतत्त्व अभ्युप के विद्यमान का विकास है, श्वरतत्त्व उसी के कर्मभाग का विकास है। वही अपने विद्या-कर्म भाग से वेदरूप से प्रकट होता है। वेद का पद—(गतिरूप) भाग उसके कर्मभाग का विकास है, श्वर—(स्थितितत्त्व) भाग उसी के विद्याभाग का विकास है। काही विद्यारूप (अक्षररूप) से, काही कर्मरूप (श्वररूप) से, काही उभयेश्वर (वेदरूप) से वही सर्वत्र व्याप्त होता है। उससे शून्य कुछ नहीं है, सबकुछ वही है, सब कुछ उसी में है।

उपर्युक्त कथन से यह कहने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती कि अक्षरमिश्रमिश्रण पोषणी पुरुष ही शुक्र है। मिश्रसूत-पञ्चजन-सुराजन आदि बहिरङ्ग अभ्युपप्रकृति पोषणी के बिना नहीं रह सकती। अभ्युपमिश्रण अक्षर श्वर ही तो यशुरूप में परिणत होकर बहिरङ्गप्रकृतिरूप में परिणत होते हैं। इस परमार्थद्वि से विचार करने पर—“सृष्टिसाक्षी अभ्युपयुक्त, अतएव सृष्ट्यन्तुल्य बीजावस्थापन्न अक्षरेश्वर शुक्र है” “एतत् अनेजत् तत्त्व शुक्र है” इन दोनों वाक्यों में कोई विरोधी नहीं रहता। वही अक्षरमिश्रण यशुरूप शुक्र मातरिरस्य द्वारा होने वाले आप के आधार से विद्यारूप में परिणत होता है। विद्यावस्थापन वही श्वरतत्त्व “अमृत्यु”

नाम धारण कर लेता है। इस अध्याय के अन्त्य के विद्या-कर्मका अक्ष-कर्म के अनुग्रह से प्रज्ञानात्मक कर्माभिस्य यह तो स्पष्ट होजाते हैं। इनमें अक्षान्तर का निरूपण बट एवं मुण्डक-माध्य में दृश्य है, एव कर्माभिस्य का निरूपण ब्राह्मनिष्ठान के कर्मगति प्रकरण में हुआ है। शुक्र की व्याप्ति से ही (पञ्चपुण्डरीक प्राज्ञात्मकता) का जन्म होता है। शुक्र की सहस्रावृत्तियों से सहस्रकर्म शुक्र अध्याय का स्वरूप संलग्न होता है। अध्याय संसार है, इस संसारमहीच्छ का बीज शुक्र-तन्त्र है। शुक्र का अतिक्रमण करना ही मायोगाधिष्ठाना परावृत्ति है। निष्काममात्र से जो इस अध्याय की उपासना करते हैं, वे ॥ वीर युञ्जानयोगी निरकाश के उपासनायोगे (बुद्धियोग) से युक्तयोगी बनने हुए शुक्रका निष्सीमा (मायासीमा) से बाहर निकलने में समर्थ होने हैं—“मामेव से प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति यः”। इसी रहस्य का शरीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

स केतवत्परमं ब्रह्मपापं यम विन्म निहितं भाति शुद्धम् ।

उपासने पुरुषं ये ह्यकापास्ते शुक्मेतदतिवर्षन्ति पराः ॥

(मुण्डकवेपनिषद् ३।२।१)।

अध्यात्मका महेश्वर को मात्र अध्यापादर इष्टि से सम्यक् कह सकते हैं। अक्षरान्तराक्षरा प्रपन्न कह सकते हैं। अक्षरान्तराक्षराधिष्ठानपुण्डरीक से शुक्र कह सकते हैं। वही अध्यात्म अमृत है, वही मन्त्र है, वही शुक्र है। शुक्र की वही—परन्तु उसे महामाया की अन्तिम परिधि तक व्याप्त समझिए। मात्र को विज्ञास करना चाहिए कि शुक्र-ब्रह्म-अस्तुत इन तीन नामों से पुनरावृत्ति करने का वह तन्त्र (वापी महेश्वर) अपने उदर में अन्त (सहस्र) प्राज्ञात्मक कर्मार्थ प्रनिष्ठित रहता हुआ एवमेव तन्त्र से अक्षर हुआ है। इसी 'तन्त्र' विज्ञान का शरीकरण करत हुए श्रुति कहते हैं—

“ऊर्ध्वमूर्धोऽवाङ्गान् एपोऽन्तराः सनातनः ।

तदेव शुक्रं तन्त्रं मध्यं तन्त्रेवायन्मुष्यन् । तन्त्रं नाप्येति कथनम् ।

यन्त्रं तन्त्र” [कठ० ३।१।१] ।

उक्त कथन की वृत्ति उसी यलुर्गण का निरूपण करता है। वेद को हमने सृष्टि का मूला-  
कार माना है, एव साथ ही मैं इसे सृष्टिकारणक भी कहा है। यद्यपि विद्या में अविद्यारूप  
(आवरणरूप) कर्मभाग की ही प्रधानता है, परन्तु विद्यनिर्माण विद्या विद्या की सहायता के  
सर्वथा अनुपपन्न है। विद्या ज्ञानरूप विद्या के कर्म संभव ही नहीं है। ज्ञान-द-विज्ञान-मम विद्याभाग  
है, मन-प्राण-माक् कर्मभाग है। ज्ञान-द विज्ञान के बिना साधारण मनुष्य भी कर्म में प्रवृत्त  
नहीं होता। ज्ञान-द ही कर्मप्रवृत्ति का मूलस्तम्भ है। यह विद्यारूप ज्ञान अक्षर है, अविद्यारूप  
कर्म अक्षर है। दूसरे शब्दों में अविद्यारूप के विद्याभाग का अनुग्रह अक्षर पर है, एव कर्मभाग का  
अनुग्रह अक्षर पर है। अतएव उपनिषद्ोंने अक्षर को विद्या शब्द से, अक्षर को अविद्या शब्द से  
व्यवहृत किया है। दोनों का ईश अव्यय अपने दोनों भागों से दोनों पर शासन करता है।  
इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

दे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते एव गृहे ।

अक्षर एव विद्या ब्रह्म त्व विद्या विद्याविद्ये ईश्वरे यस्तु सोऽन्यः ॥

(खेता० उ० ५।१।१)।

विद्यारूप अक्षर का विकास 'जु' है, कर्मरूप अक्षर का विकास 'यत्' है। अक्षर  
विद्यारूप अनेकजन्म है, यक्षरूप कर्मरूप अनेकजन्म है। एवम् अनेकजन्म की समष्टिरूप यलुर्गण ही  
शुद्ध है। सृष्टिकर्ता इस वेद्यमूर्ति शुद्ध को सृष्टि के प्रधान अनुग्रह का सहाय लेना पड़ता  
है। वह अनुग्रह है 'चितिसम्बन्ध'। योग विमूर्ति, सहस्ररूप आदि ११ प्रकार के सम्ब-  
न्धों में से प्रत्येकधन नाम से प्रसिद्ध चितिसम्बन्ध ही सृष्टि का प्रधान अनुग्रह है। एक  
वस्तु पर दूसरी वस्तु का बिनाश (सोकप्रसिद्ध 'विद्या') ही चिति है। ईंट पर ईंट पर रखने से  
झिल्ले एक दुर्ग का स्वरूप बनता है, एवमेव उसी गोठरीरूप आत्मवस्तु पर इष्टक (ईंट)  
रूप भौतिक विचारधारा की चिति से विद्यमूर्ति का निर्माण हुआ है। विद्यमूर्ति यह शुद्धचिति-  
बीज, देव, मृत, वेद से तीन भागों में विभक्त है। पौष्टिकी आत्मा पर पशुकी बीजचिति है,

बीजविति पर देवविति है, देवविति पर मृतविति है । तीनों वितियों की समष्टि विश्व है, विश्व विति का अन्वयन पोडशी विश्वात्मा है, आत्मा और विश्व की समष्टि आत्मकी ईश्वर है, इसी दो भावों की समष्टि प्रतिष्ठापनापति है । दोनों की समष्टि ही बीजवनापति है, एव दोनों की समष्टि ही त्रिपिपिष्टप्रजापति है, सर्वत्र प्रजापति का ही साध्यात्म है— 'प्रजापतित्वेवे ऽ स सर्वं यदिद् किंच' । "बीजं ज्योतीषि सचते स पोडशी" के अनुसार अन्वय (ज्ञान-ज्योति) अक्षर (कर्मज्योति) क्षर (मृतज्योति) इन तीनों ज्योतियों से वह पोडशी प्रजापति विश्वविरूप विश्वप्रजा के साथ संयुक्त हो रहा है । मध्यमिष ईश्वर का शरीर है हमारा (बीज-आत्मा) पाञ्चभौतिक शरीर हमारा विश्व है । विश्व सृष्टिरूप है, आत्मा प्रविष्टरूप है । दोनों में सृष्ट्यज्ञ विसृष्ट्यज्ञ (मर्त्यज्योति) है, प्रविष्ट ज्ञान चित्तनिर्भयज्ञान (अमृतज्योति) है । विसृष्ट्यज्ञ प्रविष्ट ज्ञान अन्वय-अक्षर-क्षरमेव से त्रिकल है, एवमेव विश्वसृष्ट्यज्ञ भी बीज-देव-मृत मेद से त्रिकल ही है । पदकल की समष्टि ही ईश्वर है, पदकल की समष्टि ही बीज है— "पादकौशिकमिदं सर्वम्" । बीजविति पर अन्वय का अनुग्रह है, देवविति पर अक्षर का अनुग्रह है, एव मृतविति पर क्षर का अनुग्रह है । बीजविति ज्ञानज्योति है, देवविति कर्मज्योति है, मृतविति मृतज्योति है । इन विश्वरूप तीन विश्व ज्योतियों से वह विश्वात्मरूप पोडशी अपनी अन्वय-अक्षर-क्षररूप पूर्वोक्त तीनों ज्योतियों से युक्त हो रहा है । वह पोडशी विश्वरूप तीनों ज्योतियों का आधार है, अतएव इसे— 'ज्योतिषां व्योति' (विश्व की बीज-देव-मृतरूप तीनों ज्योतियों की ज्योति) कहा जाता है ।

ज्योतिषां व्योति पोडशी विश्वात्मा → → → विश्वम्

१-अन्वयः (ज्ञानज्योति) → → →	१-बीजवितिः (ज्ञानज्योति)	} पादकौशिकमिदं सर्वम्
२-अक्षरः (कर्मज्योति) → → →	२-देववितिः (कर्मज्योति)	
३-क्षरः (मृतज्योति) → → →	३-मृतवितिः (मृतज्योति)	

( आत्मा ) → → → ( शरीरम् )

ईश्वर की अपेक्षा जीवसंस्था हमारे समीप है, अतः प्रथम उसी की ओर ध्यानपूर्वक ध्यान आकर्षित किया जाता है । अध्यात्मसंस्था में आत्मा और शरीर यह दो विभाग हैं । इनमें आत्मा कौन है ? इसका उत्तर है 'पोडशीपुरुष' । शरीर कौन है ? इसका उत्तर है—'भीम देव-मृत समष्टि' । मृतप्राय, देवप्राय, बीजप्राय की समष्टि ही शरीर है । बीजप्राय को आत्म प्राय कहा जाता है । यह आत्मप्राय उस प्रचलित आत्मा से भिन्न है । यह एक है, यह अनेक हैं । यही आत्मप्राय कारणशरीर है, देवप्राय सूक्ष्मशरीर है, मृतप्राय सूक्ष्मशरीर है । कारण शरीर पर सूक्ष्मशरीर, सूक्ष्मशरीर पर सूक्ष्म शरीर प्रतिष्ठित है । तीनों शरीर पोडशी आत्मा पर प्रतिष्ठित हैं । अनेक वातुओं के संघ को 'ग्राम' कहा जाता है । आस्तिकदशनानुयायी जिसे 'आत्मपरिग्रह' कहते हैं, गीताशास्त्र जिसे 'कूट' कहता है, श्रमणक जिसे 'पुद्गल' कहते हैं, बौद्ध जिसे 'स्तूप' कहते हैं, ज्योतिषी जिसे 'राशि' कहते हैं, लोकन्यायकार में जो 'द्वि' 'पोक'—आदि नामों से प्रसिद्ध है, अही विज्ञानशास्त्र में 'ग्राम' एवं 'पुर' नाम से व्यक्त किया जाता है । सिंहादि वन्यपशु समुदाय बनाकर नहीं रहते, अपि तु एकत्र ही विचरते रहते हैं, अतः एव इन्हें 'अरण्यपशु' कहा जाता है । अरण्यशब्द जगत्त्रय वाचक नहीं है, अपि तु एकत्र ही मात्र का समर्थक है । इसीलिए एकत्रही मात्र से सम्बन्ध रखने वाले उपासना प्रतिपादक वेद भाग को 'अरण्यपशु' कहा जाता है । उपासना 'अरतिर्ननसंसन्नि' पर ही निर्भर है । जगत् में शहर की तरह समुदाय नहीं रहता, अतएव जगत् को भी अरण्य कहा दिया जाता है । वातुत अरण्य एकत्रही मात्र का सूचक है । मृग आदि वन्य पशु समुदाय बनाकर रहते हैं, इसी समुदायरूप ग्राममात्र के कारण मृगादि को 'ग्राम्यपशु' कहा जाता है । वस्ती में समुदाय की प्रचालना रहती है, अतः एव वस्ती को भी ग्राम कहा दिया जाता है । अतुल्य ग्राम 'संघ' का वाचक है । "पशुस्तान्क्षेत्रे नायक्यानां नाराण्या ग्राम्याश्च ये" (पशु स ११ अ । ६ म ।) में अरण्य-ग्राम्यपशु का यदि कोई "भगवत् में रहने वाले पशु एवं ग्राम में रहने वाले पशु" यह अर्थ करे तो सिद्धान्तदृष्टि से उक्त अर्थ सव्या अनर्थकोटि में गिरा जायगा । "सिंहादि अरण्यपशु हैं, मृगादि ग्राम्यपशु हैं" यही अर्थ समीचीन होगा । अतः जाना यही है कि

आग्नेयिकसंज्ञ के लिए 'ग्राम' शब्द प्रयुक्त हुआ है, एवं आग्नेयिकसंज्ञ के लिए 'पुर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। महाविष्णुरूप ईश्वर का शरीर 'पुर' कहलाता है। पुर के सम्बन्ध से ही वह 'पुरुष' कहलाता है। एवं सुरुशरीररूप जीव का विष्णु 'ग्राम' कहलाता है। इसी ग्राम के सम्बन्ध से इसे 'निकाय' किंवा 'काय' कहा जाता है। अनेक वस्तुओं की समष्टि 'ग्राम' है, एवं अनेक ग्रामों की समष्टि 'निकाय' है। मूल पाँच हैं, अतएव इन मूलों की समष्टि को हम 'ग्राम' कह सकते हैं। इसी प्रकार पाँच देवताओं की समष्टिरूप देवग्राम भी ग्राम है, आत्मग्राम भी ग्राम है। शरीर में तीन ग्राम हैं, अतएव इसे 'निकाय' कहा जासकता है। यही 'निकायहृन्द्' है—(देखिए शत भा ८५।१।५)। निकाय ही काय है, काय ही शरीर है। पृथिवी मल-तेज-वायु-आकाश यह सब सब पाँचों मूल ही भूतग्राम है, यही पृथ्वरी है। इसी का विस्मर्जन कराते हुए श्रुति कहते हैं—

“आत्मकमिति कस्मात् ? पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति । अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे का पृथिवी ? का आप ? को वायु ? किमाकाशम् ? इति । अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे तत्र यत् कठिनं सा पृथिवी, यद् द्रव्यं सा आपः यदुष्णं तपेन, यत् संचरति स वायुः, यत् सुषिरं तदाकाशम्—इत्युच्यते”

(गर्भोपनिषद् २)

अग्नि-मरुतादि वन वात पृथिवी है, कफ-साय-स्व-मूत्र-रुधिर-रस आदि तरल वात पानी है, शरीर को बुने से जिस ऊष्ण (गरमी) का अनुभव होता है वह तेज है जिस प्रभास वायु है, शरीर में जिसका शक्ति (पोष) माग है वह सब आकाश है यही तात्पर्य है। इसी आकाशमें एक दूसरे मूलों को घुपड़ बना रक्खा है। यदि व्यवधान (अन्तर) न होता तो सारे वात मिश्रकर एककण होजाते। यह बड़ी है, यह मांस है, यह त्वचा है, यह भिन्न भिन्न नाम-रूप-व्यवहार मग्न होजात। इसी अभिप्राय से—‘आकाशो वै नायरूपयोर्निर्बहिता’ यह कहा जाता है। वाक्-माह-मह-ओष-मन-इम पाँचों इन्द्रियों की समष्टि ही देवग्राम

हे । दार्शनिक ११ इन्द्रियों का इन्ही वैदिक पाँच इन्द्रियों में अन्तर्भाव है । वाक् अग्निदेवता है, प्राण वायुदेवता है, अपु आदित्य है, सोम दिक्कसोम है, मन मास्वरसोम है—देखिए ९० उ० १ स०) । इन देवताओं के सम्बन्ध से ही इन्द्रियग्राम देवग्राम कहा जाता है, इसी को सूक्ष्मशरीर कहते हैं । तीसरा है बीजग्राम । यह सब में प्रधान है, यही हमारा सुपरिचित 'शुक्र' है, इस शुक्रग्राम किंवा बीजग्राम में विद्या-प्रज्ञा-अम यह तीन तत्त्व प्रतिष्ठित रहते हैं । ज्ञानजनित भावना सस्कार विद्या है, कर्मजनित वासना सस्कार कर्म है, विद्याचार तत्त्व प्रज्ञा है । यह भावना वासना सस्कार ही अम का हेतु है । अतएव एतद्रूप ग्राम को बीज-शुक्र अथवा नामों से व्यक्त किया जाता है । यही अम स्थिति भग का कारण है अतएव शुक्ररूप इस बीजविति को करणशरीर कहा जाता है । इसी विद्याकर्मरूप शुक्र को ज म का आरम्भक माना जाता है । इसी अभिप्राय से "त विद्याकर्मणी च वारमेत पूर्वमज्ञा च" (शत० १४ का० ७।२ ३।) यह कहा जाता है । शुक्रग्राम प्रज्ञाग्राम पर ही विदश का प्रतिबिम्ब पड़ता है । दूसरे शब्दों में विद्याग्राम (विद्य का प्रतिबिम्ब) नाम से प्रसिद्ध जीवात्मा का जन्मदाता यही शुक्रग्राम प्रज्ञा (सोम) ग्राम है इसीलिए प्रज्ञापूर्ति इस शुक्र को आत्मग्राम कहा जाता है । पाँच भूतों के सम्बन्ध से एक ही प्रज्ञा पाँच भागों में विभक्त होजाती है । इस प्रकार ५ भूतमात्रा, ५ प्राणमात्रा, (इन्द्रिय), ५ प्रज्ञामात्रा - विद्या और कर्म-इन १० दस्तुओं की राशि से वह आत्म नित्य युक्त रहता है, जैसा कि अभिपुक्त कहते हैं ।

कम्पामारापरो योऽसौ मोक्षार्थः स पुञ्यत ।

स सप्तदशपेनापि राशिना पुञ्यते च स ॥

(म० शान्तिप० मो० १११ अ० १६ रसो०)

वीज-देव भूत की समष्टि आत्मप्रपत्ति का कारण बनती हुई 'पदम्' नाम से प्रसिद्ध है ।

१. इस विषय का विस्तृत विवरण शङ्कराचार्यविरचित 'मैत्रेय' में है ।

२. 'यत्र आरामा प्रपद्यते भवति तत्र पञ्चम्' इस विवरण के अनुसार 'अमात्रा' प्रपद्यमान (निर्गन्धमान) ही 'पदम्' नाम से व्यवहृत होता है ।



इस पद से अतिरिक्त एक पुनःपद और होता है इसे ही महिमा मण्डक कहा जाय  
 है । उसमें भी वाक्—वेद—सोक वेद से तीन साहसिए होती हैं । वाक्साहसी  
 का सम्बन्ध शुक्रवृत्ति से है, वेदसाहसी का सम्बन्ध देववृत्ति से है, एव सोकसाहसी का  
 सम्बन्ध मृतवृत्ति से है । अमृतकालविकरसात्कृत शुक्रनिरुक्ति का पाठकों को स्मरण होगा ।  
 वहाँ हमने वाक्—वाप—वाग्नि—की समष्टि को शुक्र बतसाया था—( देखिए ई० वि० म० पृ०  
 ३४१ ) । इनमें वाक् का विकास सत्य शुक्र है, वाप का विकास मृतवृत्ति है, एव वाग्नि  
 का विकास देववृत्ति है । वाक्प्रधाना शुक्रवृत्ति वाक्साहसी की, वापप्रधाना मृतवृत्ति सोक  
 साहसी की, एव वाग्निप्रधाना देववृत्ति सोकसाहसी की बनती है । शुक्र ही वाक् भाग से  
 शुक्र बनता है, वापभाग से मृत बनता है वाग्निभाग से देवता बनता है । तीनों वृत्तिए, एव  
 एव तीनों साहसिए एकमात्र शुक्र का ही विस्तार है । तभी तो शुक्र को बीज—कारण—आर  
 म्भक आदि नामों से व्यवहार करना परित्याग होता है । इसप्रकार त्रिकल आत्मा, त्रिकल वृत्ति,  
 त्रिकल साहसी वेद से 'मूलविराट् का स्वरूप संपन्न होता है । "न है एकेनाक्षरेण  
 छन्दांसि विपन्ति न द्वाभ्याम्" इस श्रुति सिद्धांत के अनुसार एक अक्षर अथवा दो  
 अक्षर के कम अथवा अधिक होने पर भी शुक्र का स्वरूप नहीं निरव्या । यद्यपि दशाक्षर  
 शुक्र का नाम विराट् है तथापि एक अक्षर कम होने पर भी विराट् का स्वरूप अनुपपन्न रहता  
 है । इसी महाक्षर मूल विराट् को निम्न विराट् कहा जाता है । "मूलार्द्धं प्रजाः प्रजा-  
 यन्ते" ( उत० ३।१।२० ) के अनुसार महाक्षर मूल विराट् ही प्रजा की जननी है । सृष्टि  
 साक्षी सत्य अमृत्य मन—माय—वाक् के विद्यमान से नरकल है । अतएव उक्त क्रमानुसार  
 उसका सव्यपक्ष भी विद्युत् (मनकल) बनजाता है । त्रिकल आत्मा है, त्रिकल पद (पिण्ड) है,  
 त्रिकल पुनःपद [ महिमा ] है । महिमा में पिण्ड है, पिण्ड के हृदय में आत्मा है, तीनों की  
 संपत्ति प्रजाप्ति है ।

# न्यूनविराट् प्रजापतिः (नवाक्षरविराट्)

१-१-अभ्यय (मनः)

२-२-आक्षर (प्राण)

३-३-आत्मक्षर (वाक्)

----- आत्मा हृदयस्थ १

४-१-धीज्वलिति (वाक्-मन) - करणशरीरम्

५-२-मृतपिति (वाप प्राण) - सूक्ष्मशरीरम्

६-३-देवपिति (अग्नि-वाक्) - सूक्ष्मशरीरम्

----- शरीरं पदम् २

७-१-वाक्साहस्री (वपदक्षर-मन) ८ १५ २१-३३

८-२-सोक्तसाहस्री (सोक्त-प्राण) ९ अ बी आ

९-३-वेदसाहस्री (वेद-वाक्) अ यजुः सा अथ

----- महिमा पुनः पदम् ३

१-विद्या-१

२-कर्म-१

३-पूर्वप्रज्ञा-५

१-पृथिवी-१

२-जल-१

३-तेज-१

४-वायु-१

५-आकाश-१

१-वाक्-१

२-प्राण-१

३-अप-१

४-मोक्ष-१

५-मन-१

७-प्रज्ञामात्रा

८-भूतमात्रा

९-प्राणमात्रा  
( १७ )

बीजपिति  
( शुक्लम् )

भूतपिति

देवपिति

शरीरम्

प्रजापति (जीव)

सायना-दशकेन-सप्त

१-अध्यय  
 २-अक्षर  
 ३-आत्म-शब्द

आत्मा

महिम्नारूप पुनः पद को महिमोमहीयान् कहा जाता है, एवं सर्वान्तरात्म सूक्ष्मतम आत्मतत्त्व के लिए 'अणोरणीयान्' कहा जाता है। महिम्नुक्त शरीरप्रयी कर्मप्रधान है, आत्म ज्ञानप्रधान है। ज्ञान शान्त है, निर्विकल्प है। इस ज्ञानप्रधान आत्म के लिए उपनिषदों में 'प्रकृत' शब्द प्रयुक्त हुआ है, एवं कर्मप्रधान शरीर के लिए 'कृत' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जब तक कृत का (शरीर का) अर्थ है, तब तक अकृत (आत्मा) बन्धन में है। कृत अकृत को कभी उप-कृत नहीं कर सकता, जैसा कि—'नास्त्यकृतः कुनेन' इत्यादि उपनिषद्ग्रन्थों से स्पष्ट है।

उक्त तीनों विधियों में से बीजविति ही जीवसृष्टि का कारण है, एवं वही ईश्वरसृष्टि का कारण है, यह कहा जायुक्त है। इसी कारणता को बतलाने के लिए अदिने इस का नाम कारणशरीर रखा है। जबतक शुद्धरूप कारणशरीर है, तब तक न जीव की सृष्टि है, एवं न (मायामोक्तद्वारा) ईश्वर की सृष्टि है। दूसरे शब्दों में शुद्ध का अतिवर्तन ही सृष्टि का कारण है। विज्ञानघटि से शुद्ध का स्वरूप दक्षिण। कारण ही बीज है। इसे शुद्ध, काम, कर्म इन तीन शब्दों से पुनरावृत्त किया है। क्योंकि काम-कर्म-शुद्ध तीनों की समष्टि ही बीजविति है। यह तीनों सृष्टि के साधारण अनुक्रम हैं। दूसरे शब्दों में निम्न बीजविति के बिना कोई भी सृष्टिकर्म संभव नहीं है। प्रत्येक सृष्टि में तीनों निम्न अवस्थित हैं। सृष्टिकर्म का अध्ययन के सृष्टिसादी मन-प्राण-बाह् भाग से सम्बन्ध है। जब तक इन तीनों कलाओं का सम्बन्ध नहीं होजाता, तबतक सृष्टि ही क्या, संसार का कोई भी कर्म नहीं होसकता। मन से काम का, प्राण से कर्म का, एवं बाह् से शुद्ध का उदय होता है। इन तीनों में सृष्टि का पहला बीज काम है, कर्म दूसरा बीज है, शुद्ध तीसरा बीज है। ईश्वर जैसा चाहता है वैसा कर्म करता है, एवं उस कर्म से किसी ही वस्तु उत्पन्न हो जाती है। "कामप्राणद्वयेसमवर्चतापि मनसो रेतः

अवतार होता है। प्राकृतिक नियमसंघ ही धर्म है, धर्मविप्लव ही अवतार का कारण है। इसी अवतारविज्ञान को ब्रह्म में रक्षकर पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध अम्ययपुरुष के अवतारभूत अत एव पुरुषोत्तम नाम से ही उपदिष्ट, अतएव पूर्णावतार भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधमस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च कुप्यताम ।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (गीता० ४।७-८) ।

अस्तु इस अप्राकृत विषय को हम अधिक बढ़ावा नहीं चाहते। यहाँ हमें कर्मीकृतिक चेतन जीवों के विषय में कहना है। संस्कार कर्मरूप हैं, कर्म बिना कर्मणा के अस्मभव हैं। कर्मणा से कर्म होता है, उज्ज्वलित संस्कारपुच्छ ही शुक्र है, यही बीज है। पूर्वसंचितशुक्र [कर्म] का भोग होता रहता है, भागे भागे नवीन नवीन संघय होता रहता है। आसक्तिमयकना से जीव बंधन में आजाता है, अनासक्तयोगी ईश्वर 'कुपयपि न सिध्यते'। मनप्रायश्चक्षुः समष्टि अविद्याभ्यस्य है। काम कर्म-शुक्र कहो अथवा अविद्या कहो, एक ही बात है। इसी आधार पर काम-कर्म-शुक्रमुख विषय को अविद्यामुख कहा जाता है। अक्षर विद्या है, अक्षर अविद्या है— (देखिए खे० उ० ५।१)। अक्षर की प्रायः कला ही यत्नरूप में परिणत होती है, ऐसी स्थिति में अन्ततोगत्या शुक्रत्व का ब्रह्माक्षिरूप यत्नब्रह्म पर ही पर्यक्सान मानना पड़ता है। शुक्र को पूर्व के चित्तिप्रकरण में हमने वाक्प्रधान बताया है। यह वाक् ही अपने जाकर आप-अक्षिरूप में परिणत होती हुई निकल बनजाती है। इसी आधार पर एव की शुक्र निरुक्ति में शुक्र शब्द से वाक्-आप-अक्षि तीनों का ग्रहण किया है।

१-मन-काममयम् (इच्छाशक्ति)-कामः (इच्छा)

२-प्राय-कर्ममयः (क्रियाशक्ति)-क्रिया (तप)

३-वाक्-शुक्रमयी (वार्थशक्ति)-आक्षरमुख (अक्षर)

अविद्यात्मक शुक्रम्

१. इस विषय का निम्न निवेदन गीताविज्ञानभाष्य के आधारार्थ ब्रह्मस्य मेवेकता करिए।

सूत्र' (कर्मसूत्र) नाम से प्रसिद्ध है। अनेक प्रक्रमों से एक अभिक्रम का, अनेक अभिक्रमों से एक सूत्र का स्वरूप बनता है। यह कर्मसूत्र सत्काररूप से आत्म में प्रतिष्ठित रहता है। निवृत्तिक्रम से प्रारम्भ अभिक्रम कर्म को झोढ़कर शेष सारा कर्मसूत्र निवृत्त हो जाता है। प्रारम्भकर्मरूप अभिक्रम कर्म की योग से ही निवृत्ति होती है—“निष्कामिक्रमनाशोऽस्ति”। कहना पड़ी है कि कर्मसत्तक अनुप्य कर्मसूत्र से तत्पक्ष कर्मसन्तान के व्यापकोद्धाररूप बाध बन्ध से जन्म मरण के चक्र में फँसा रहता है। ऐसे ही जीव—आन्तरिक जीव कहलाते हैं। इसका विभाग ‘आधिकारिकजीव’ का है। इनके ब्रह्मात्मिक—नियतकर्मात्मिक मेद से दो मेद हैं। ब्रह्मात्मिक जीव जब हैं। सूर्य—परमेष्ठी—वज्रमय—पृथिवी—मन्त्र अपि ईश्वरज्ञान जब आधिकारिक जीव ‘ब्रह्मात्मिक’ हैं। यह अपने अपने नियत अधिकार से आविष्ट हैं। नियतकर्मात्मिक जीव वेतन हैं। इन के भी निम्न—सामयिक मेद से दो विभक्त हैं। ब्रह्म—विष्णु—रूप—इन्द्र—वक्त्र—कुबेर—अग्नि—वायु—सोम—मन्त्र आदि केतन देवता (जो कि देवताविज्ञान के अनुसार—आत्मामिमानीदेवता नाम से प्रसिद्ध हैं) निम्न नियतकर्मात्मिक जीव हैं। इन देवताओं के अक्षर, एव राम—कृष्ण आदि अक्षर सामयिक नियत कर्मव्यवस्थित हैं। जिस उद्देश्य से अक्षर होता है, उद्देश्य समाप्ति के अनन्तर अक्षर पुरण सीन्हासकरण कर जाते हैं इसी अभिप्राय से नारायणाक्षर भगवान् व्यस कहते हैं—“याम्भिकारमवरियतिराधिकारिकारखम्” (शा० सू० ३। १। १२।)।

प्राकृतिक नियमों में अनुप्यसमान के प्रज्ञापराय से जब परिवर्तन होने लगता है तो प्रकृति घुम्न हो पड़ती है। इस सोम के व्यापार से तत्सम्बन्ध व्ययक विज्ञान का एक भाग प्रवर्ग बनकर घुम्न वातावरण को शांत करने के लिये जीव बन जाता है। यही आधिकारिकजीव अक्षर कहलाता है। प्रकृति देवमेद से विभक्त है। यद्विषयक सोम होता है, तत्प्रधान ही

१ “अभिमानि व्यपदेशन्तु विशय युगतिव्याम्, (शा० सू० ३। १। १२।)। इस विषय का स्थिर विवेचन अक्षर विज्ञान में देखा जाये।

अन्तार होता है। प्राकृतिक नियमसंग ही धर्म है, धर्मविप्लव ही अन्तार का कारण है। इसी अन्तारविज्ञान को छद्म में रखकर पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध अभ्यस्यपुरुष के अन्तारभूत अस्त एव पुरुषोत्तम नाम से ही उपनीत, अतएव पूर्णावतार भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य स्तानिर्भवति भारत !

अभ्युत्थानमधमस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (गीता० १।७-८) ।

अस्तु इस अप्राकृत नियम को हम अधिक बढ़ाना नहीं चाहते। यहाँ हमें कर्माध्यात्मिक चेतन जीवों के विषय में कहना है। संस्कार कर्मरूप हैं, कर्म विना कर्मणा के अस्तभव हैं। कर्मणा से कर्म होता है, तज्जन्ता संस्कारपुच्छ ही शुक्र है, यही बीज है। पूर्वसंचितशुक्र [कर्म] का भोग होता रहता है, अग्रे अग्रे नवीन नवीन संवय होता रहता है। आसक्तिमायना से जीव बचन में आजाता है, अनासक्तयोगी ईश्वर 'कुवक्षपि न सिप्यते'। मनप्राणबाह्य की समष्टि अधिधाम्य है। काम-कर्म-शुक्र कहो अथवा अधिधा कहो, एक ही बात है। इसी आधार पर काम-कर्म-शुक्रमुक्त विश्व को अधिधाम्य कहा जाता है। अक्षर विधा है, क्षर अधिधा है—( देखिए खे० उ० १।१ )। क्षर की प्राण कक्षा ही यजुरूप में परिणत होती है, ऐसी स्थिति में अततोऽग्रश्च शुक्रताव का ब्रह्माक्षिरूप यजुब्रह्म पर ही पर्यवसान मानना पड़ता है। शुक्र को पूर के चित्तिप्रकरण में हमने बाह्यप्रधान बताया है। यह शब्द ही अग्रे आकर आप-आक्षिरूप में परिणत होती हुई विकसत बनजाती है। इसी आधार पर पूर की शुक्र निरुक्ति में शुक्र शब्द से बाह्य-आप-आक्षि तीनों का ग्रहण किया है।

१-मन-काममयम् (इच्छाशक्ति)-काम (इच्छा)

२-प्राण-काममय (क्रियाशक्ति)-क्रिया (तप)

३-बाह्य-शुक्रमयी (अर्थशक्ति)-आवरणम् (धर्म)

अधिधात्मकं शुक्रम्

१. इस विषय का विस्तृत निवेदन गीताविज्ञानमाध्य के आचार्य रहस्य में देखा जाय।

कर्मसूत्र' (कर्मसूत्र) नाम से प्रसिद्ध है। अनेक प्रकारों से एक अमिकम का, अनेक अमिकमों से एक सूत्र का स्वरूप बनता है। यह कर्मसूत्र साधारण रूप से आत्मा में प्रविष्ट रहता है। निवृत्तिकम से प्रारम्भ अमिकम कर्म को छोड़कर शेष सारा कर्मसूत्र निवृत्त होता है। प्रारम्भकर्मसूत्र अमिकम कर्म की ओर से ही निवृत्ति होती है—“निवृत्तिकमनागोऽस्ति”। कहना यही है कि कर्मसूत्र मनुष्य कर्मसूत्र से उत्पन्न कर्मसूत्र के व्यापकोपकरण रूप वात-वस से जन्म भर के बाद में फटा रहता है। ऐसे ही जीव—आत्मस्थित जीव कहलाते हैं। इसका विभाग ‘आधिकारिकजीव’ का है। इनके ब्रह्मात्मस्थित—नियतकमात्मस्थित मेद से दो मेद हैं। ब्रह्मात्मस्थित जीव एक है। सूर्य—परमेष्ठी—ब्रह्मा—पृथिवी—नक्षत्र आदि ईश्वरकृत जीव आधिकारिक जीव ‘ब्रह्मात्मस्थित’ हैं। यह अपने अपने नियत अमिकार से अविद्युत हैं। नियतकमात्मस्थित जीव चेतन हैं। इन के भी निम्न—सामयिक मेद से दो निम्न हैं। निम्न—निम्न—रुद्र—इन्द्र—वसु—कुबेर—अग्नि—वायु—सोम—गन्धर्व आदि चेतन देवता (जो कि देवताविज्ञान के अनुसार—प्रारम्भिकमानीदेवता नाम से प्रसिद्ध हैं) निम्न नियतकर्मात्मस्थित जीव हैं। इन देवताओं के अन्तर्गत, एव एव—इन्द्र आदि अन्तर्गत सामयिक नियतकमात्मस्थितजीव हैं। जिस उद्देश्य से अन्तर्गत होता है, उद्देश्य सम्पत्ति के अनन्तर अन्तर्गत पुरुष सीतासुवराय कर जाते हैं इसी अमिप्राय से नारायणावतार भगवान् भक्त कहते हैं—“पादभिक्षारमन्त्रितिराधिकारिकारणम्” (शा० सू० ३।३।३२।)।

प्राकृतिक नियमों में मनुष्यसमान के ब्रह्मपराय से जब परिवर्तन होमें लगता है तो प्रकृति दुष्प्र हो पड़ती है। इस सोम के व्यापक से उत्पन्न व्यापक विदाता का एक भाग प्रथम बनता दुष्प्र व्यापक को शांत करने के लिए जीव बनजाता है। यही आधिकारिकजीव अन्तर्गत कहलाता है। प्राकृति देवमेद से विद्युत है। मनुष्यिक सोम होता है, तदुपमान ॥

१ “अमिप्रायि व्यापकस्तु विद्युतप्रायिभ्याम्” (शा० सू० ३।३।३२।)। इस विद्युत का विद्युत विद्युत अन्तर्गत विद्युत है देवता विद्युत।

अवतार होता है । प्राकृतिक नियमसे ही धर्म है, धर्मविषय ही अवतार का कारण है । इसी अवतारविज्ञान को उदय में रखकर पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध अन्वयपुरुष के अवतारमूत अत एव पुरुषोत्तम नाम से ही उद्गीत, अतएव पूर्णावतार भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य स्तानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमभवस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च बुध्नुताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (गीता० १।७-८) ।

अतः इस अप्राकृत विषय को हम अधिक बढ़ाना नहीं चाहते । यहाँ हमें कर्मीबन्धनिक चेतन नीतियों के विषय में कहना है । संस्कार कर्मरूप हैं, कर्म विना कर्मना के असंभव हैं । कर्मना से कर्म होता है, तज्जनित संस्कारपुद्गल ही शुक्र है, यही बीज है । पूर्वसंचितशुक्र [कर्म] का भोग होता रहता है, आगे आगे महीन महीन संघट्ट होता रहता है । आसक्तिभाक्ता से जीव बचन में आयाता है, अनासक्तयोगी ईश्वर 'कुपयपि न सिष्यते' । मनप्रायश्चित् की समष्टि अविद्यामय है । काम क्रम—शुक्र कहो अथवा अविद्या कहो, एक ही बात है । इसी आधार पर काम—कर्म—शुक्रमूला विषय को अविद्यामूल कहा जाता है । अक्षर विद्या है, अक्षर अविद्या है—( देखिए श्वे० उ० ५।१ ) । अक्षर की प्रायः कला ही यदुक्त्य में परिणत होती है, ऐसी स्थिति में अन्ततोगत्वा शुक्रतत्त्व का प्रसादितरूप अनुर्मुख पर ही पयवसान मानना पड़ता है । शुक्र को पूर्व के चित्तिप्रकरण में हमने वाक्प्रधान बताया है । यह वाक् ही अग्रे जाकर आप—आश्रित्य में परिणत होती हुई निवृत्त बनवाती है । इसी आधार पर एव की शुक्र निरुक्ति में शुक्र शब्द से वाक्—आप—अग्नि तीनों का ग्रहण किया है ।

१-मम—कर्ममयम् (इन्द्राशक्ति)—काम (इन्द्रा)

२-प्राण—कर्ममय (क्रियाशक्ति)—क्रिया (तप)

३-वाक्—शुक्रमयी (अर्थशक्ति)—आक्षरम् (अम)

अविद्यात्मकं शुक्रम्

१ इस विषय का स्थिर विवरण वाताग्निसाम्राज्य के आधार पर रहस्य में देकर चलिए ।





अन्तार होता है। प्राकृतिक नियमसंग ही धर्म है, धर्मविप्लव ही अन्तार का कारण है। इसी अन्तारविज्ञान को उदय में रखकर पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध अन्वयपुरुष के अन्तारमृत अन्त एव पुरुषोत्तम नाम से ही उपाधित, अतएव पूर्णावतार भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !

अभ्युत्थानमधमस्य सदात्मानं सृजाम्यह ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (गीता० १।७-८) ।

अस्तु इस व्याकृत विषय को हम अधिक बहाना नहीं चाहते। यहाँ हमें कर्मात्मिक चेतन जीवों के विषय में कहना है। संस्कार कर्मरूप हैं, कर्म विना कर्मणा के असंभव हैं। कर्मणा से कर्म होता है, तज्जनित संस्कारपुच्छ ही शुक्र है, पक्षी बीज है। पूर्वसंचितशुक्र [कर्म] का भोग होता रहता है, आगे आगे महीन नहीन संघप होता रहता है। आसक्तिभ्रमणा से जीव बचन में आजाता है, अनासक्तयोगी ईश्वर 'कुत्रचपि न सिप्यते'। मनप्राणबाह् की समष्टि अविद्याभ्रम है। अथ कम-शुक्र कहो अथवा अविद्या कहो, एक ही बात है। इसी आधार पर कम-कर्मे-शुक्रमृक्ष विषय को अविद्यामूख कहा जाता है। अक्षर विद्या है, क्षर अविद्या है—(वेदिए श्वे० उ० ३।१)। क्षर की प्राण कक्षा ही यन्त्ररूप में परिणत होती है, ऐसी द्रिपति में अन्तर्तोगत्वा शुक्रतत्त्व का ब्रह्माक्षिरूप यन्त्ररूप पर ही पयस्मान मानना पड़ता है। शुक्र को पूर्व के विस्मिदकरण में हमें बाह्यप्रधान कर्तव्य है। यह बाह्य ही अग्नी आकर आप-अक्षिरूप में परिणत होती है अविद्या बनजाती है। इसी आधार पर पूर्व की शुक्र निरुक्ति में शुक्र शब्द से बाह्य-आप-अग्नि तीनों का ग्रहण किया है।

१-मन-काममधम (इच्छाशक्ति)-काम (इच्छा)

२-प्राण-अममयः (त्रिप्राशक्ति)-क्रिया (तपः)

३-बाह्य-शुक्रमयी (अर्थशक्ति)-आवरणम् (अम)

अविद्यात्मक शुक्रम्

१. इस विषय का विस्तृत विवेचन गीताविज्ञानभाष्य के आधार पर रहस्य में देखा जायिग।

कर्मसूत्र' (कर्मसूत्र) नाम से प्रसिद्ध है। अनेक प्रक्रमों से एक अमिक्रम का, अनेक अमिक्रमों से एक सूत्र का संस्कार होता है। यह कर्मसूत्र संस्काररूप से आत्मा में प्रतिष्ठित रहता है। निवृत्तिक्रम से प्रारम्भ अमिक्रम कर्म की ओर बढ़कर शेष सारा कर्मसूत्र निवृत्त हो जाता है। प्रारम्भकर्मरूप अमिक्रम कर्म की ओर से ही निवृत्ति होती है—“निहामिक्रमनाशोऽस्ति”। कहना यही है कि कर्मसूत्र मनुष्य कर्मसूत्र से उत्पन्न कर्मसूत्र के व्यापकोपकरण का रूप से जन्म मरण के चक्र में फँसा रहता है। ऐसे ही जीव—सांख्यिक जीव कहलाते हैं। इसका विभाग ‘आधिकारिकजीव’ का है। इनके ब्रह्माचार्यिक—नियतकर्मार्थिक मेद से दो मेद हैं। ब्रह्माचार्यिक जीव बड़ा है। सूर्य—परमेष्ठी—ब्रह्मा—पृथिवी—जल—वायु—ईशान—मृत—जल—आधिकारिक जीव ‘ब्रह्माचार्यिक’ है। यह अपने अपने नियत अधिकार से अधिकृत हैं। नियतकर्मार्थिक जीव ये हैं। इन के भी निम्न—सामयिक मेद से दो विभक्त हैं। ब्रह्म—विष्णु—रुद्र—इन्द्र—अश्वत्थाम—कुबेर—अग्नि—वायु—सोम—गन्धर्व आदि जेठन देवता (जो कि देवताविद्वान के अनुसार—मार्गमामिनीदेवता नाम से प्रसिद्ध हैं) निम्न नियतकर्मार्थिक जीव हैं। इन देवताओं के अन्तर्गत, एव राम—कृष्ण आदि अन्तर्गत सामयिक नियतकर्मार्थिकजीव हैं। जिस उद्देश्य से अन्तर्गत होता है, उद्देश्य सम्पत्ति के अन्तर्गत अन्तर्गत पुरुष सीमासंस्कार कर जाते हैं इसी अमिप्राय से मारामय्यान्तर्गत मगवान् स्पष्ट कहते हैं—“यावदधिकारमविरम्यतिराधिकारिकारणम्” (शा० सू० ३।१।१२।)।

प्राकृतिक नियमों में मनुष्यसमान के प्रकाशपरा से जब परिकर्षण होने लगता है तो प्रकृति पुष्प हो पकती है। इस लोम के आघात से उत्पन्न ब्रह्म व्यापक विद्वत्त्वा का एक माग प्रकर्म बनकर पुष्प वातावरण को उत्पन्न करने के लिए जीव बन जाता है। यही आधिकारिकजीव अन्तर्गत कहलाता है। प्राकृतिक देवता से विभक्त है। यद्विषयक लोम होना है, तत्प्रधान ही,

१ “अमिमानि व्यपदेशस्तु विवर्णानुपतिम्याम्” (शा० सू० ३।१२।)। एत विषय का विवरण विवेक शब्दों में ही देखा जाये।

अक्षर होता है। प्राकृतिक नियमसीध ही धर्म है, धर्मविषयक ही अक्षर का कारण है। इसी अक्षरविज्ञान को सत्य में रक्षकर पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध अण्यमपुरुष के अक्षरामृत अक्षर एवं पुरुषोत्तम नाम से ही उपगीत, अतएव पूर्णवतार मगवान् कृष्ण कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य म्सानिर्मवति मारुत !

अभ्युत्थानमपयस्य तदात्मानं सृजाम्यह ॥

परिचाषाय साधूनां विनाशाय च बुभुक्षताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्ममामि युगे युगे ॥ (गीता० १८/७-८) ।

अस्तु इस अप्राकृत विषय को हम अधिक बढ़ाना नहीं चाहते। यहाँ हमें कर्माक्षतिक चेतन बीजों के विषय में कहना है। संस्कार कर्मरूप हैं, कर्म बिना कर्मना के असंभव हैं। कर्मना से कर्म होता है, तज्जनित संस्कारपुच्छ ही शुक्र है, यही बीज है। पूर्वसंचितशुक्र [कर्म] का मोह होता रहता है, आगे आगे नहीं नवीन संघट्ट होता रहता है। आसक्तिमयकना से जीव बचन में आनाता है, अनासक्तयोगी ईश्वर 'कुवक्षपि न सिप्यते'। मनप्राणबाक् की समष्टि अविद्यामय है। कर्म-कर्म-शुक्र कहो अथवा अविद्या कहो, एक ही बात है। इसी आधार पर कर्म-कर्म-शुक्रमुक्त विषय को अविद्यामूल कहा जाता है। अक्षर विद्या है, क्षर अविद्या है— (वेष्टिए श्वे० उ० ३। १)। क्षर की प्राण कक्षा ही यन्त्ररूप में परिणत होती है, ऐसी स्थिति में अक्षरतोगत्वा शुक्ररूप का प्रकाशिरूप यन्त्रवत् पर ही पर्यवसान मानना पड़ता है। शुक्र को पूर के विसिप्रकरण में हमने बाक्प्रधान कहाया है। यह बाक् ही अमो जाकर आप-अक्षिरूप में परिणत होती हुई त्रिकल बनगती है। इसी आधार पर पूर की शुक्र निरुक्ति में शुक्र शब्द से बाक्-आप-अक्षि तीनों का ग्रहण किया है।

१-मन-काममयम् (इच्छाशक्ति)-कामः (इच्छा)

२-प्राण-काममय (क्रियाशक्ति)-विद्या (तपः)

३-बाक्-शुक्रमयी (वर्षशक्ति)-आकरणम् (अमः)

अविद्यात्मक शुक्रम्

१ इस विषय का विस्तृत विवरण गीताविज्ञानमाध्य के आधारार्थ रहस्य में देखा जाय।

आपके सनातन शरीर में काम है, कर्म भी है, शुक्र भी है। परन्तु हम तीनों के अथवा यही कार्यरूप में परिणत होते हैं, इच्छा-कर्म-शुक्र तीनों का निष्पन्न माग ही उत्पादन करता है। यही परिस्थिति मायाबन्धुन महेश्वर के शरीर में समझिए। ईश्वर के किसी निष्पन्न प्रदेश में ही सृष्टिमूला कामना का उदय होता है, उसी प्रदेश में कर्म का उदय होता है, एवं वही शुक्र निष्पन्न का उत्पादन करता है। ईश्वर का शरीर गोलाकार है, वह सर्वतः पाणिपाद, सर्ववोऽङ्घ्रिगिरोमुख है। जहाँ तक महेश्वर व्याप्त है वही तक अक्षररूप शुक्र, एवं सुमक्षररूप रेत व्याप्त है। वह कामनाओं का समुद्र है। काममेघ से कम कर्ममेघ से शुक्रमेघ होता है। निष्पन्नकाम-कर्मबन्धुन निष्पन्नशुक्र निष्पन्नमिश्र का उत्पादन करता है। उस में कामनामेघ से अनन्त शुक्र हैं। जितने शुक्र हैं उतने ही मिश्र हैं। एक एक मिश्र का उत्पन्न एक एक शुक्र है। अनन्त अक्षरविज्ञाता महेश्वर अक्षररूप प्रकाशित है। उसका पञ्चपञ्च एक एक निरक्षर एक एक पञ्चपुण्डरीक प्राकाशित करता है। व्यापक अक्षरी परात्पर में माया के उदय से अक्षर त्वेश्वर का उदय होता है। माया अनन्त है, अतएव मायीमहेश्वर भी अनन्त है। प्रत्येक मायी महेश्वर (अक्षररूप) के उदर में अनन्त प्राकाश हैं। परात्पर एक है, आगे का साध प्रपञ्च अनन्त है। पञ्चमि परात्पर भी अनन्त है परन्तु इस की अनन्तता विवेकानन्दबन्धुन से सम्बन्ध रखती है, महेश्वरवि की अनन्तता सत्त्वा से सम्बन्ध रखती है। इस प्रकार वह सर्व विमूर्ति अनन्त है, सत्त्व है, ज्ञानमूर्ति है—‘सर्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’। परात्पर असीम है। एसी असीममात्र को सूचित करने के लिए उसे परात्पर (ससीम पर नामक अक्षररूप से भी पर-असीम) नाम से व्यक्तित्व दिया जाता है। जिस प्रकार एक पट (बस्त्र) में ससीम अनन्त ग्लेशाकार बिन्दुएँ प्रस्थित रहती हैं, एवमेव उस असीम परात्पर ब्रह्मत्त्व में ग्लेशाकार अनन्त मायी महेश्वरप्रस्थित हैं। इस नियम का निराद निवेचन ईशमात्र प्रथम अध्याय में विस्तार से किया जा चुका है—(देखिए ई मा प्र २.३.५ से २.३.७)। प्रत्येक मायी महेश्वर अक्षररूपमूर्ति है। अक्षररूप उन्मूल्य माना जाता है। कर्तृत्ववृत्त का केन्द्र प्रथि (परिधि) से ऊर्ध्व माना जाता है। उस ऊर्ध्वप्लुत केन्द्र बिन्दु से चारों ओर प्रथि पर्यन्त सहस्र ग्लेशाएँ निकली

हैं। प्रत्येक शाखा में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथिवी, चाद्रमा यह पाँच पाँच पुण्डरी (पञ्च-पोर) हैं। उपक्रम में पुण्डरी स्वयम्भू है, उपसंहार में चन्द्रमा है, अतएव चाद्रमज्ञा को 'निघ्न' (अवसानस्थानीय) कहा जाता है। यही सब भाव मायी महेश्वर के स्वरूप परिचायक हैं। यही परिस्थिति इतर महेश्वरों की समग्रणी चाहिए। तीसरा विकर्त मरुदेश्वर का है। स्वयम्भू की महिमा में समग्रिम परमेष्ठी परमेष्ठी की महिमा में समग्रिम सूर्य, सूर्य की महिमा में समग्रिम पृथिवी, एवं पृथिवी की महिमा में समग्रिम चाद्रमा प्रतिष्ठित है। यही स्वयम्भू सतसोकपिछाता ईश्वर प्रजापति है—(देखिए कि प्र १७०)।

अब तक के सन्दर्भ से यह मसीअति सिद्ध होजाता है कि मायी महेश्वर में सर्वत्र एकस्वरूप से यजुर्व्रज्जाति भरा हुआ है। महेश्वर का कोई भी प्रदेश इस से शून्य नहीं है। एवमेव उसी प्रदेश में सुमन्त्र भाप (सोम) भरा हुआ है, इससे भी कोई स्थान रिक्त नहीं है। दोनों ही मायावच्छेदेन महेश्वर की तरह व्यापक हैं। इस व्यापक महेश्वर के चरातल पर प्रतिष्ठित व्यापक ब्रह्म-सुमन्त्र के जिस प्रदेश में कामना का उदय होता है उतने प्रदेश में कर्मजनित क्षोभ से एक नया सीमाभाव उत्पन्न होता है। महाभाया के बंदर में उत्पन्न होने वाले इसी सीमाभाव को 'योगमाया' कहा जात है। इसकी जननी अशनाया (शुशुवा) है। अशनाया के अविद्याता विष्णु हैं, अतएव तन्मूर्तिवा योगमाया को—“योगमाया इरेवैवत तया संमोहते जगत्” इत्यादि रूपसे विष्णुमाया कहा जाता है। कामजनित सीमावन्धुन (योगमायावन्धुन) उस निपत प्रदेश से परिबन्धुन वह यजुर्व्रज (यजुर्व्रज का ध्वंस) ही सृष्टि की योनि धनता हुआ शुक्र नाम धारण करकेता है, एवं उसी सीमित प्रदेश का सुमन्त्र (भाप) मग रेत नाम धारण करकेता है। महात्मकशुक्र में इसी सुमन्त्रात्मकरेत का रेतोभा मातरिखा द्वारा आधाम होता है।

‘अननदेकमू’ का अर्थ करते समय हमें सुमन्त्र (भाप) शुक्र प्रदेश को शुक्र वत-साया था, यहाँ केवल यजुर्व्रज को तो शुक्र, एवं सुमन्त्र को रेत वतसाया जारहा है। वहाँ शुक्र-रेतरूप ब्रह्म में सुमन्त्र की सर्वादि को शुक्र वतसाने का कारण यह था कि साधारण मनुष्य शुक्र

यो ही उत्पत्ति का कारण समझते हैं। इन की दृष्टि में शुक्र शब्द का अर्थ उत्पादानकामक है, एवं यह दृष्टि किसी सीमा तक ठीक भी नहीं जासकती है। उत्पादान न केवल प्रस है न केवल सुप्त। अथि तु दोनों की समष्टि उत्पादान है। इसी साधारण दृष्टि का साम्य करते हुए, शुक्र का उत्पादान अथ मानते हुए हमने दोनों के समुच्चय को वही शुक्रशब्द से व्यक्त कर दिया था। वस्तुतः विज्ञानरूपी शुक्र केवल ब्रह्माणि का वाचक है, एवं रेत केवल सुप्त का वाचक है। इस रेत का व्यापन हुष्य, इससे सप्तम् का स्वरूप निम्न हुष्य। यही शुक्रका सृष्टि का प्रथम रूप है। यह योग्यायबन्धुन पुष्पीर सप्तम् है, 'अनेमदेकम्' वासा ज्ञानावाधेयम्, महेश्वर के रूप से समस्तुष्टि व्यापक सप्तम् वा। यह एक है, पुष्पीर सप्तम् अमृत (सर्वक) है। इस योग्यायबन्धुन सलीम पुष्पीर सप्तम् से ही परमेष्ठी का उदय होता है। यही शुक्रका सृष्टि का दूसरा रूप है। अग्राह सप्तम् में पचि व्याप भी है, परन्तु वही प्रचलता प्राण की ही है। प्राण अस्मत्क है, अस्मत्काले मैतुनीसृष्टि का कारण यही बनता। एही परिस्थिति में प्राणमय सप्तम् को भी वास्तविक उत्पादान नहीं माना जासकता। सृष्टि का वास्तविक उत्पादान तो संसर्जनमा अपेक्षित परमेष्ठी ही है। अतएव शुक्र (उत्पादान कारण स्वक) शब्द का पर्यवसान परमेष्ठी पर ही मानना पड़ता है। यही इस शुक्र-मूर्ति परमेष्ठी की महत्ता है। इसे 'महान्' कहा जाता है। यदि सृष्टि पर्व की महत्ता का विचार किया जाता है तो सामान्य दृष्टि से अमृत सप्तम् को ही सब पर्वों की अपेक्षा महान् (सर्वसे बड़ा) मानना दुर्लभमत्त होता है। अग्राह मैतुनिकों में अमृत को ज्ञान न कहकर परमेष्ठी को महान् कहा है। सप्तम् परमेष्ठी ही सब पर्वों की अपेक्षा महान् है। प्राणमूर्ति सप्तम् प्रजापति प्राण की सर्वता—महत्ता इसी मात्रात्म परमेष्ठी पर निर्भर है। पर मेष्ठी के दृष्टपूर्वभास से ही पुष्पीर सप्तम् का स्वरूप निम्न होता है। पहिले व्यापक सर्व बनता है, अनन्तर प्राण को सर्वता का अन्तर मिलता है। पानी ही प्राण की प्रतीति है—'आपोमया प्राणः'। अग्राहसमय में जबतक शरीर में अमृत प्रतीति रहता है, तभी तक प्राण समरूप से प्रतीति रहता है, जैसा कि—'पार्ष्णि प्राणेष्वपो भवन्ति तावदावा

वदति" (शत० ५।३।५।१६।) इत्यादि श्रुतकथन से स्पष्ट है । प्राणपेक्षया पानी की पक्षी महत्ता है । पानी के गम में प्राण प्रस्थित रहता है, पहिले "आपो वा इदं सर्वम्" है, अनन्तर 'मासो वा इदं सर्वम्' है, -(देखिए ई० वि० मा० पृ० १५)। मातरिणा वायु के मेष्टम से ही अल्पकाल स्वयम्भू का उदय हुआ है । यह मातरिणा वायु-आप का ही एक भरा है । इसलिए भी प्राणमय स्वयम्भू की अपेक्षा आपोऽय परमेष्ठी को महान् कहा जा सकता है । वैद्यारिक विश्व का उत्पादन भी यही है, इसलिए विश्वपेक्षया भी यही महान् है । अन्यक्त अमूर्त या, यह मूर्त है (मूर्तिरव रवि -प्रश्नो. १) । सारी मूर्तिए, दूसरे शब्दों में मूर्त जगत् इसी शक्तिमान परमेष्ठी के गम में उत्पन्न हुआ है । आप कहेंगे मायी महेश्वर सब की अपेक्षा महान् है ऐसी अवस्थामें विश्वसीमा में महेश्वर को छोड़कर परमेष्ठी आवि को कैसे महान् कहा जा सकता है ! हम कहेंगे आप मूर्तते हैं । केवल माया से ही महेश्वर (अमूर्त) का विकास नहीं होता, सृष्टिचारा में आते समय उसे भी इसी का आश्रय लेना पड़ता है । आत्मपुरुष इसी में गर्भधारण करता है, इसी से आगे की मूर्तिसृष्टि होती है । आप के आप-वायु-सोम यह तीन विषय हैं । चेतना आगमन के यही तीन द्वार हैं । अतएव विरह में आप्य-वायव्य-सौम्य तीन ही प्रकार की जीवसृष्टि उपलब्ध होती है । इस जीवसृष्टि का अविच्छात्ता भी आपोमय पर मेष्ठी ही है । इसप्रकार ईश्वर-जीव-विश्व सब कुछ इसी के आश्रित हैं- 'सर्वमापोमय जगत्' । परमेष्ठी के इसी महत्त्व को स्वरूप में रखकर श्रुतियों ने इसे 'महानात्मा' नाम से व्यञ्जन किया है । इसी महद्गुण की महत्ता का निरूपण करती हुई सृष्टि कहती है—

मम पोनिर्महद्गुणं तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।

संभवः सर्वभूतानां ततो भवति मारुत ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म मह्योनिरहं बीजवद् पिता ॥ (गीता १४।१-४) ।



पञ्चपर्वों विषय के अमृत-मृत्यु में से दो विभाग हैं । सूर्य से ऊपर का प्रपञ्च अमृत विभाग है, सूर्य से नीचे का प्रपञ्च मृत्यु विभाग है । अक्षररूप स्वयं अमृतरूप है । इस का भिन्नसूर्य पक्व रहता है । दूसरे शब्दों में अक्षर का प्रधानता सूर्य तक (सूर्य के अमृतमि नामक प्राणाति तक) है । सूर्यपिण्ड से आरम्भ कर नीचे के सारे मध्य विस्व में क्षर का सात्त्विक है । क्षर को 'प्रक्षर' कहा जाता है । यह प्रक्षर अनेकधा विभक्त है । विभिन्न भावों से आक्रान्त है । इस बहुल्य कारण पर एक अक्षर प्रतिष्ठित है । विद्युत् अक्षर नहीं, अपि ॥ महद्ब्रह्म युक्त अक्षर । क्योंकि क्षरसृष्टि का उपादान शुक्लरूप परमेष्ठी नामक महद्ब्रह्म ही है । यह सूर्य से ऊपर रहता हुआ अमृत प्रधान बनकर अमृताक्षर कोटि में प्रसिद्ध मान लिया जाता है । इस विभाग के अनुसार षोडशीपुरुष, अम्यक्त (सत्यम्) महान् (परमेष्ठी) इन तीन का एक सत्तत्त्व अमृत विभाग होता है । एक सूर्यपिण्ड चन्द्रपिण्ड-भूषिणीमेव इन् तीन का एक सत्तत्त्व मध्य विभाग होता है । । इस प्रकार एक ही शुक्ल तत्त्व अमृत मृत्यु भेद से दो भागों में विभक्त होता है, जैसा कि पूर्व की शुक्लनिरुक्ति में बतलाया जा चुका है । इसी रहस्य को रहस्य में रखकर—“मृतं भविष्यत् प्रतीमि बहुमर्त्यैकमक्षरं, महद्ब्रह्मैकमक्षरम्” यह कहा जाता है ।

१—षोडशीपुरुष	}	अमृतम्—१	}	प्रजापति		
२—अम्यक्त सत्यम्						
३—परमेष्ठी महान्						
—०—	}	मध्यम्—२				
१—सूर्यपिण्डम्						
२—चन्द्रपिण्डम्						
३—भूषिणीम्						

हमारा 'स पयगान्' मन्त्र शुक्लरूप इसी महद्ब्रह्म का भिन्नरूप करता है । शुक्लार्थ का जटिल है, यह पूर्व के शुक्लनिरूपण से विरहित हुआ होगा । इस की यह जटिलता यही

समाप्त नहीं होमाती । अभी इस संबन्ध में और भी कुछ बक्तव्य है । यजुर्मन्त्र शुक्ल है, यह पहिला पक्ष है । कर्म-कर्म-शुक्लरूप अविद्यावत् शुक्ल है, यह दूसरा पक्ष है । प्रश्न-मुद्गल की समष्टिरूप महद्ब्रह्म शुक्ल है, यह तीसरा पक्ष है । बाह् बाप अग्नि-अग्नि-बाप-बाह् मन्त्र से शुक्ल छ है, यह चौथा पक्ष है । अथेष्टा मेद से चारों मित्र मित्र प्रतीत होते हैं, परन्तु परमार्थतः सब अग्निभार्यक हैं । पूर्व की शुक्लनिरुक्ति में हमने चौथे पक्ष को ही प्रधानता दी है, एव इस प्रकरण में शेष तीनों पक्षों को प्रधान माना गया है । अब इन चारों का समन्वय कर इस अधिकारख को समाप्त करना है ।

सब का मूल विद्या-कर्ममय अम्ययपुरुष है, यह निर्विवाद है । आनन्द-विज्ञान-मन का समुच्चय विद्याभाग है, यही अमृत है । मन प्राण-बाह् का समन्वितरूप कर्मभाग है, यही अविद्या है, यही मृत्यु है । दोनों की समष्टि मित्र है । मित्र का मूल शुक्ल ( उपादान ) विद्याकर्म ही है, यही अविद्यारूप पहिला शुक्ल है । परन्तु कैसा विद्याकर्म ! निरुद्ध नहीं, अपितु वेदरूपसत्-बहिष्कृत विद्याकर्म । यत् रूप मृत्यु, नू रूप अमृत ही (पुरुषार्थ) ही संसार का शुभ है । यह शुक्ल पूर्वकथनानुसार मन प्राण-बाह्मय सृष्टिसाक्षी अम्यय क बाह् भाग का ही मित्ररूप है । अम्ययबाह् ही वेदरूप में परिणत होती है । गूढावस्थापन बाह् बाह् है, यसावस्थापन बाह् वेद है, अतएव अम्ययबाह्वरूप में इस वेद को 'ब्रह्मनिःसृत' कहा है । निष्कण यही हुआ कि अम्ययबाह् का मित्ररूप, अतएव बाह् नाम से प्रसिद्ध अमृत-मृत्युरूप स्वयम्भुव मन्त्र निःसृत वेद ही ( जिसे कि इस शुभप्रकरण में 'बाह्शुक्ल' कहा गया है ) प्रथम एवं प्रतिष्ठा रूप शुक्ल है । यही इस की दूसरी अवस्था है । इसी पर प्रतिष्ठित होकर तप्त ( धर ) एवं अक्षर सृष्टि के अधिष्ठाता बनने में समर्थ होते हैं, जिसा कि मुण्डकोपनिषत् के- 'ब्रह्मा तेजा ना प्रथमः सम्बभूव इत्यादि मन्त्रवाक्य में स्पष्ट किया गया है । यत्कृपा बाह् पहिला शुक्ल है । "एकाकी न रमणे नृ द्वितीयैरप्यनृ, पतिष्व पत्नीय" के अनुसार बाह् का ( यत् का ) ही पुत्र भाग पानी बन जाता है । यही आर ( जिस में कि आर-बाहु आदि पद्वत्स

है) पत्नी है। यह सत्य था, यह अत है। इन दोनों की सपत्नि ही शुक्र की तीसरी अवस्था है। 'तत् सद्वा तदेवानुमाविशत्' के अनुसार ब्र. नि वेद अपूर्णत्व को उत्पन्न कर इस के भीतर प्रविष्ट हो जाता है। इसी से पुनर्जीवत्वम् का जन्म होता है। चारों ओर आपोमय पदार्थ व्याप्त है, बीच में वेदत्रयी प्रतिष्ठित है। आप में जो अक्षिरामाग है उस की अग्नि-वायु आदित्य यह तीन अवस्थाएं कतलाई गई हैं। यह अक्षिरात्रयी आगेवाकर "गायत्रीमात्रिकेयद" रूप में परिवर्तित होती है। अक्षिरात्रि गायत्र नाम से प्रसिद्ध है, अतएव तद्रूप वेद को 'गायत्रीमा०' कहना स्वाभाविक है। सृष्टि यन्त्रणा है। यह ही प्रथम निरूपण भूमि आप शुक्र है। अपने ही अक्षिरात्र माग से यह आपञ्च उक्त वेदरूप से प्रादुर्भूत होता है। अक्षिरात्रयी अग्नि है, वायुत्री सोम है। दोनों का सम्मिश्रित रूप यह है—'ब्रुताह पद्मसिद्धिर्धर्मगुणानु' साप मन्त्रायम्'। यही व्यापक बोधा शुक्र है।

प्रकाशान्तर से देखिए। सायम्पुत्री वाक् पहिला शुक्र है, परमेष्ठ आप दूसरा शुक्र है, सौर अग्नि तीसरा शुक्र है। तीनों ही अमृत मृत्यु मेद से दो दो मार्गों में विभक्त होते हुए पञ्चशुक्र संपत्ति के संपादक बन जाते हैं। उत्तर उत्तर की सृष्टि में पूर्व पूर्व के शुक्र अनुस्यूत रहते हैं। ऐसी अवस्था में सर्वत्र सब शुक्रों की सूक्ष्मावस्था मानने पर भी निरूपण क्रमिक ही माना जा-यगा। सयम्पु केवल वाक्मय है। परमेष्ठी सयम्पु के उत्तर में है, इसलिये यह सत्तरूप से से आपोमय कल्प हुआ वाक् के अवगमन से वाक्मय भी है। सूर में अपूर्णमि-सर्पान्ति के साथ साथ वाक्-प्राय का भी सम्बन्ध है, क्योंकि सूर परमेष्ठी के गर्भ है। इति अन्वयानुसार पृथिवी और सूर्य के गर्भ में प्रतिष्ठित अन्तरिक्षस्थानीय वायुमा में पांच शुक्र हैं। एवं इति अन्वयानुसार (साय ही में हम पायिब प्राणियों की अवस्था से स्थिति क्रमानुसार भी) सबसे अन्त में मानी जाने वाली पृथिवी में ६ वर्षों शुक्रों का योग होता है, वैसे कि आगे के परितेजों से स्पष्ट होता है।















१-स्वयम्भू -वाह्मय १-वाक् १

२-परमेष्ठी -<sup>(१)</sup>वाह्मय, <sup>(२)</sup>आपोमय १-आप २

३-अमृतसूर्य -<sup>(१)</sup>वाह्मय, <sup>(२)</sup>आपोमय, <sup>(३)</sup>अमृतामिमय -अमि ३

४-मर्त्यसूर्य -<sup>(१)</sup>वाह्मय, <sup>(२)</sup>आपोमय, <sup>(३)</sup>अमृतामिमय, <sup>(४)</sup>मर्त्यामिमय, -अमि ४

५-चन्द्रमा -<sup>(१)</sup>वाह्मय, <sup>(२)</sup>आपोमय, <sup>(३)</sup>अमृतामिमय, <sup>(४)</sup>मर्त्यामिमय, <sup>(५)</sup>मर्त्यापोमय -आप ५

६-शुचिवी -<sup>(१)</sup>वाह्मयी, <sup>(२)</sup>आपोमयी, <sup>(३)</sup>अमृतामिमयी, <sup>(४)</sup>मर्त्यामिमयी, <sup>(५)</sup>मर्त्यापोमयी,

मर्त्यवाह्मयी-वाक् ६

शुक्र में आप का भाग है, अमृतमय ममि का भाग है, समष्टि महद्मय है । महद्मय में अमृत मयम् प्रतिष्ठा रूप से प्रतिष्ठित है । मातरिषा वायु इस शुक्र के चारों ओर व्याप्त है । अभी सृष्टि निष्पन्न नहीं हुआ है । केवल मातरिषा द्वारा सृष्टि के बीजभूत महद्मयरूप शुक्र का आनिमय हुआ है । यही भाग मिथ बनने का है । इसका औपनिषद् मन्त्र इसी निष्ठुद शुक्र का निरूपण करता है । मन्त्राथ सम्बन्धी उपकरणों का निरूपण समाप्त हुआ । अब मन्त्राथ की ओर विह पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

## मन्त्रार्थप्रकरण



य शुक्र में भी समष्टिरूप उस शुक्र की (सर्वव्यापक आदिमयमूर्त्य शुक्र की) मातरिषा वायुने चारों ओर से घेर लिया । इस परिच्छेद से ही यह शुक्र (जिसे कि मार्ग १ वायु रूप, अतएव आपोमय महद्मय के अंग भूत होने से इस 'महद्मय' नाम से व्यवहृत करेंगे) सृष्टि का कारण बनता है । कुछ एक विज्ञानीय धर्म, एक कुछ एक सदातीव धर्म के

समिधस्य से ही शुक सृष्टि का कारण बनता है। वायु इन्हीं भर्मा के ससर्ग से शुक में कायत्व, प्रणत्व, स्नाधिरत्व अशुद्धस्व, पाप्मनिद्वस्व आदि भावों का उदय होता है। सजातीय पदार्थों का सञ्चय कायमात्र है, निजातीय पदार्थों का योग होना ही प्रणत्व है, इन भर्मा का सम्बन्ध करने वाला सूत्र स्नायु है। इन तीनों भावों से ब्रह्म करने शुद्धरूप से मिश्रणरूप में अन्य हुआ पाप्मनिद्व बन जाता है। जबतक शुक में उक्त चारों भावों का उदय नहीं होता, तबतक वह सृष्टिमण्डल से बाहर की वस्तु है। अप्रणवमरूप में आप शुक के उक्त चारों भावों का साक्षात्कार कर सकते हैं। पार्थिव-आन्तरिक्ष-सौरतीर्थों सजातीय अग्निों की (शुक अग्निरूप है, इसलिये अग्नि सजातीय है) इसी शुक पर चिनि हो रही है। यह अग्निचिनि ही 'वाय' (शरीर) है। वाय की वृद्धिमिति शुक ही है। शुक ही आधान के अनंतर अन्तर में परिणत होकर कमल बुद्धिगत होकर शरीररूप में परिणत होता है। इस निर इन शुक को 'मध्य' कहने के लिये तत्पार है। निजातीय सोप का भी इस अग्निरूप शुक के साथ सम्बन्ध हो रहा है। सोम सम्बन्ध से ही तो योनि में ब्रह्म शुक 'सुत' रूप में परिणत होता है। सोम से ही पुत्र 'गुन' कहलाता है। यह निजातीयमात्र ही शुक का प्रकृत है। सोम स्नेह तत्त्व है। स्नेह इन्द्र में दूधरे के साथ चिरकने का सामयिक धर्म है। जो गूँध पर कम करता है (सोम में प्रतिष्ठित) वही सूत्र निशानमात्र में 'अद्व' नाम से प्रतिष्ठित है। इसी तदनमात्र का कारण अग्न को 'तनय' 'सन्तान' आदि भावों से व्यवहृत किया जाता है। इसी गूँध के आधार पर वृत्तवादी के शुरुआत महानाम्ना के साथ आने पुत्र-नीति का गूँध पवित्र सम्बन्ध रहता है। इसी का दाय पुत्र निशानरूप निर को निगददान द्वारा गूँध प्राप्त करना है। मायिगदत्त मायिगदत्त 'सन्निवृत्ता तु पुत्र्य सज्जये निनि वलम' के अनुसार सानों आकाश पर यह एक गूँधमात्र मिश्रण होता है। इसी कारण के सम्बन्ध में यह शुक स्नायुशुद्ध बनता हुआ 'स्नाधिर' कहलाते आये हैं। बोधी है

सत्काररूपा अविद्या । इसी को 'पूर्वपक्षा' भी कह सकते हैं । इससे यह शुक निवृत्त रहता है । अविद्या पाप्मा (मम) है । इस अविद्यारूप पाप्मा से निवृत्त होकर ही यह शुक प्रमोदपति का कारण बना है । अन्त ककामया पूर्वक क्रम किया जाता है, तब तक यह वासनारूप अविद्यासत्कार से युक्त रहता है, एव तभीतक प्राची शुक के चक्र से विमुक्त नहीं होता । अपि कहते हैं कि यद्यपि शुक कायत्यादि धर्मों से युक्त है, शुक का शुकपना कायत्यादि भाग्यनुक धर्मों से ही चरितार्थ होता है तथापि इसकी जो मौखिक-प्रारम्भिक प्रातिद्विक अवस्था है, वह कायत्यादि चारों धर्मों से रहित है । जिस समय सृष्टिकामुक प्रजापति की ( सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति की ) कामना से उस शुक शुक को मातरिषा चारों ओर से घेरता है, उस समय वह अपने शुद्धरूप में है । अभी न उसमें सजातीय समूह है, न विजातीयमात्र का सम्बन्ध है, न सूत्र-मय का उदय है, न अविद्यारूप पाप्मा का ही क्षेत्र है । यद्यपि मातरिषा की कृपा से आने जाकर ही वह उक्त चारों सजातीय-विजातीय धर्मों से अक्षर्य ही युक्त होने वाला है, परन्तु अक्षरमदशा में तो वह सर्वथा अक्राय-अत्रय-अस्नायिर-अपापविद्ध-अतएव सर्वथा शुद्ध ही है । मातरिषा के सम्बन्ध से कायत्यादि धर्मों से क्यों युक्त हो जाता है ? इसका उत्तर मातरिषा से पृथक् । मातरिषा कृति है, परिमू है, स्वयम्भू है । मातरिषा वायु को हमन मार्गव (पयु) वायु कहा है । मयु कर्मि है, अनएव मार्गव मातरिरय को कर्मि कहा गया है । जन्ममरण धर्म से आक्रान्त विविधभावमय निवृत्त इसी मातरिषा का काव्य (कृति) है । यदि रेतोषा मातरिषा ब्रह्म में (योनि में) आप (रेत) का व्याधान न करता तो निरनक निर्मय्य असमय पा । कर्मि मातरिरय के द्वारा होने वाले रेत के व्याधान से ही मय निरन की उत्पत्ति हुई है । कल तक ओ मनुष्य इसता खेतता पा, वह आन मरण । अब त्रिबोन्म में उस स्वरूप का पता नहीं है । यही उस कर्मि का महाकाव्य है । बड़ी सचर कास में उत्पत्ति का अभिघाता बनता है, प्रति सचरकास में बड़ी विनाश का अभिघाता बन जाता है । मातरिषा कर्मि के इसी काव्य का निरूपण करते हुए महर्षि कहते हैं—

विष्णु दद्रास्यं सप्तमे बहूनां युषानं सन्तं पसितो जगार ।

दधस्य परमं कृत्वा गहिस्वाद्या मयार स सः समानः ॥

(अनुरा० १०।१५।५।)।

श्रुत्युत्पत्त्य स्नेहधर्मी है। स्नेह ही संवृष्टिचक्षणा सृष्टि का कारण है। यह स्नेहधर्म ही मार्गमातरिखा कवि की कवित्वशक्ति है। इसी स्नेहधर्म से चित्तिमान का उदय होता है। चित्तिसमष्टि ही 'काम' है। शुक का चित्तिसमष्टि कायरूप में परिणत होना, मातरिखा की कवित्वशक्ति (स्नेहगुण) की ही मद्रिप्य है। 'एकोऽहं बहु स्याम्' यह कामना ही निवातीय-मन के आगमन का कारण है। इस कामना का उदय मन से होता है। मन की कामना ही 'मनीषा' है। मनीषामात्र से निवातीय परिग्रहों का संग्रह होता है। निवातीय परिग्रह ही 'मन' है। मार्ग मातरिखा कवि कायरूप होने से सब क्रियाप्रधान है, परन्तु क्रिया बिना मन की कामना के सम्भव नहीं है। सुतर्प मातरिखा में अन्वय मन का अनुग्रह सिद्ध हो जाता है। इसी से यह 'मनीषी' बना हुआ है। यह मनीषीमात्र ही कामनाओं का प्रवचक बनता हुआ, निवातीयधर्मों के आगमन का द्वार बनता हुआ शुक के मध्यमात्र का कारण बनता है। अविष-मातरिखा का साधन ज्ञान एक ज्ञानमयी हस्ति है। बड़े नियम से सृष्टिधर्मों का निर्माण हुआ है। सृष्टि मनमयी नहीं है। अविष तु जैसे एक बुद्धिमान शिस्वी बुद्धिपूर्वक मूर्तिधर्मों का निर्माण करता है, एकेव यह भी अन्वय मन से शुक बनता हुआ बुद्धिपूर्वक ही मूर्तिरूप (मूर्तक) विष का निर्माण करता है। जहाँ मातरिखा कवि (सृष्टिकर्ता) है, वहाँ यह बुद्धिमान् भी है। 'वायुर्न गौतमस्तत्सूत्रम्' (उतः १४।६।७।९ के अनुसार मातरिखा सूत्रमात्र का भी प्रवर्तक है। इसी सूत्रसम्बन्ध से यह उस शुक के चारों ओर व्याप्त होता हुआ शुक में सूत्रमात्र के उदय का कारण बनता है। सूत्रसम्बन्ध से यह चारों ओर व्याप्त होता हुआ 'परिम्' (परि-चारों ओर-भू-व्याप्त रहनेवाला) है। इस का यह परिम्मात्र ही शुक के स्तम्भित्व का कारण है। व्यापक वस्तु में केन्द्र नहीं होता, बिना केन्द्र काममय

मन का उदय नहीं होता, बिना कर्ममय मन के अशनाया का उदय नहीं होता, बिना अशनाया के नियम का अस्मयन नहीं होता, बिना नियम के लेप नहीं होता । लेप का कारण अशनाया है । अतएव अशनाया ( मूल ) को 'पाप्मा' कहा जाता है, जैसा कि सुति कहती है—

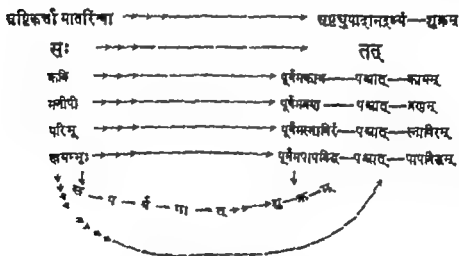
“नन्दे किञ्चनाम्र आसीत्—मृत्युर्नन्दमाहृतयासीत्—अशनायया ।

अशनाया हि मृत्युः । तन्मनोऽकुरुव-आत्मन्वी स्यात्” इति

( सूत० १०।६।५।१। )

इस अशनाया का प्रथम मन है । मन की प्रतिष्ठा हृदय है । हृदय सीमाभाव पर निर्भर है । यह सीमाभाव मातरिरथा पर निर्भर है । मातरिरथा ही उस शुक को स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध प्रथम पुण्डरीकरूप में परिखत करता है । इसी सीमा से स्वयम्भू 'हृषीमा' ( गेसाकर ) बनता है—देखिए मनु० १ अ० । १ ख० ) “स एष बाधुः प्रमापतिः (मातरिन्वास्यो बराह प्रमापतिः) अस्मिन्मैष्टुमेऽन्तरिक्षे समम्प पर्यक्तः” (छत्त = १।३।४।१।२।) के अनुसार यह मातरिरथा ही मायासीमातक व्याप्त शुक के एक प्रदेश को चारों ओर से घेर कर इसे पुण्डरीक-स्वयम्भू रूप में परिखत करता है, जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है । वही स्वयम्भूमात्र सीमाभाव से सकेन्द्र, अतएव समनस्क बनता हुआ अशनायाका रूप पाप्मा के उदय का कारण बनता है । एव इस स्वयम्भूमात्र के उदय का कारण मातरिरथा है, अतः ब्राह्मसूत्रान्याय से हम इसे भी स्वयम्भू शब्द से व्यक्त कर सकते हैं । इस प्रकार अपने कर्मि-मनीषी-परिभू स्वयम्भू इन चार एकपक्षों से शुक यह मातरिरथा, प्रथमावस्थापन अतएव अकाय-अग्रण अस्नाविर-अपापविद्ध, अतएव विशुद्ध शुक को कर्मणः काय-अथा-स्नाविर-पापविद्ध बना डालता है । कर्मिधर्म काय का, मनीषीधर्म गण का, परिभूधर्म स्वाविरक, एवं स्वयम्भूमात्र पाप्मा का प्रवर्धक है । अतुर्धर्मार्थि मातरिरथा शुक को उक्त चारों पक्षों से शुक करने के परचात् ही, दूसरे शब्दों में कर्मणारि से शुक शुक से ही वह वैकृतिक विरचिर्मय में समर्थ होता है ।

सृष्टि एक प्रकार का व्यापार है, व्यापार क्रिया है। अर्थात् शुद्ध विरक्त का उत्पादन बनता हुआ भी यह है, क्रियाशून्य है। क्रिया सदागति आंतरिका वायु का ही धर्म है। अतः 'यायातप्यतो' इत्यादि रूप से श्रुतिने आंतरिका को ही सृष्टिकृता बताया है। आंतरिका वायु ही अपने स्नेहनरूप कविम्व से शुद्धरूप अर्थ को कार्यरूप में परिणत करता हुआ, मन से अनशुद्ध बनकर कामना का अधिष्ठाता बनता हुआ, शुद्ध को अणुरूप में परिणत करता हुआ, परिमृष्टाव से शुद्ध को स्नायुरूप में परिणत करता हुआ, स्वप्नमूलाव से अशनाया द्वारा शुद्ध को पापनिष्ठ बनाता हुआ उक्त कवयः 'अप्यमूर्ति शुद्ध से सदा के लिए अर्थों का ( निष्पदार्थों का ) यथापूर्व निर्मल कर रहा है— 'यायातप्यतोऽप्यन्दि व्यदृषाच्छान्दवीम्याः समाम्प' "



जैसा (यथा) व्याज व्याप देख रहे हैं, सृष्टि के प्रारम्भ में आंतरिका ने जैसा (यथा) ही बनाया था, एवं 'यथापूर्वकल्पयत्' इस सिद्धान्त के अनुसार सदा के लिये (शाश्वतीम् - सम्पम्प) वह ऐसा ही बनाता रहेगा। उस मनीषी आंतरिका की निर्मल पद्धति सदा के लिए निराल है। अग्नि का ऊर्ध्वगमन, पानी का अधोगमन, वायु का तिर्यग्गमन, भूमि का

क्रान्तिवृत्त पर नियत परिभ्रमण, आदि आदि पदार्थों के जो नियत मात्र परिवर्तन से ही प्राप्त हैं, एवं मन्त्रिय में भी ऐसे ही रहेंगे। जिस परिदृष्टि के लिए लोकम्यवहार में—“बहु क्रम तो सामों साक्षर ऐसा ही होता रहता है—सदा एकसार होता रहता है” यह कहा जाता है, ठीक इसी व्यवहार को सूचित करने के लिए ‘यायावत्प्यतो०’ इत्यादि कहा गया है। इस सृष्टिप्रक्रिया का प्रकाश कर रहे हैं। भुक्ति को सृष्टिप्रक्रिया का स्वरूप मतलाना है। इसीलिए स्यूतास्त्विति श्याय से ‘तथा यथा’ यह क्रम न रखकर ‘यथा तथा’ यह क्रम रखा गया है। भुक्ति कहती है कि वैसा तुम जान देख रहे हो, तथा के लिए मातरिबानों वैसा ही बनाया है, वर्तमान में वैसा ही बना रहा है, एवं मन्त्रिय में वैसा ही बनाता रहेगा। वर्तमान परिदृष्टि तुम्हारे सामने है, इसी से तुम भूत—मन्त्रिय—द्विपति का अनुमान लग सकते हो।

मातरिबान्निष्कर्म शुक्रं अविदेवत में ‘परमेष्ठी’ कहा जाता है, अथवात्म में यही ‘महानात्मा’ नाम से प्रसिद्ध है। इसमें प्रकृतिरूप सत्य प्रकाश की अपेक्षा की प्रधानता है। प्रकाश के सम्बन्ध से ही हमने इसे प्रकृत्य विभाग में ‘प्रकाशसत्त्वात्तर महान्’ नाम से व्यवहृत किया है। भूमि के दर्शपूर्णमास से इस महान् में प्रकृतिमात्र का उदय होता है, मात्र दर्शपूर्ण से प्रकृतिमात्र का, सौर दर्शपूर्णमास से प्रकृतिमात्र का उदय होता है। पारिवर्तमान महान् के तमोगुण का प्रकर्षक है, सौरभाग रजोगुण का प्रकर्षक है, एवं साम्यमुक्तमान सत्त्वगुण का प्रकर्षक है। ज्ञानप्रधान साम्यम् महा सत्त्वमूर्ति है, क्रियाप्रधान सौरविष्णु रजोमूर्ति है, कर्षप्रधान पारिवर्त भूतेश्वर तमोमूर्ति है। इस त्रिमूर्ति के सम्बन्ध से महद्ब्रह्म त्रैगुण्य से युक्त होता है, जैसा कि ‘उपनिषद्निज्ञानभाष्यभूमिका’ के ‘क्या उपनिषद् वेद है’

१ यही महान् २४० योनि का प्रकर्षक है। यही ज्ञान का एकमात्र अन्ततम प्रवेष्टा है। जहाँ इस नियम में बहुत कुछ व्यक्त है। परन्तु विस्तारमें से अपेक्षा की जाती है। जहाँ की उपनिषदों में, ‘मन्त्रिय’ आकाशिकाल में इस नियमों का विस्तार विवेक्य हुआ है।



इस प्रकार में विस्तार से बतसाया जा चुका है । महान् को हमने आपोमय कहा है । यह आपतम-आप-वायु-सोम-अग्नि-वायु-आदिस भेद से पदकृत है । इनमें आप के साथ आहुतिमात्र का, वायु (मार्गवायु) के साथ प्रकृतिमात्र का, सोम के साथ अहंकृतिमात्र का, अग्नि के साथ तमोगुण का, वायु (इन्द्रवायु) के साथ रजोगुण का, एक आदिस के साथ सत्वगुण का सम्बन्ध है । इस प्रकार यह पदकृत महान्-पदगुण बनकर पारमौलिक त्रिष का प्रमद-प्रतिष्ठा पराकाश बन रहा है ।

१-१-पारिक्शदपूर्यमासास्यार्थः ————— आहुतिमात्रोदयः

१-२-बान्द्रदर्शपूर्णमासास्यार्थः ————— प्रकृतिमात्रोदयः

१-३-सौतदपूर्यमासास्यार्थः ————— अहंकृतिमात्रोदयः

४-१-सायस्युपशानमूर्तिप्रकृष्टा ————— सत्वगुणोदयः

४-२-सौतकिष्ममूर्तिर्विष्मना ————— रजोगुणोदयः

४-३-पारिक्शमूर्तिर्विष्मपतिना ————— तमोगुणोदयः

पदगुणको महान्

## आपोमयो महानात्मा

धरा:	{	१-१-आपः —————	आहुतिमयः
		१-२-वायुः —————	प्रकृतिमयः
		१-३-सोमः —————	अहंकृतिमयः
अग्निः	{	४-१-अग्निः —————	तमोमयः
		४-२-वायुः —————	रजोमयः
		४-३-आदिसः —————	सत्वमयः

“आपो मृगबज्जिरो रूपमापो  
मृगबज्जिरोमयम्”

प्रत्येक सृष्टि में योनि-रेत-रेतोषा तीन भागों का सम्बन्ध निम्न व्यपेक्षित है । सुप्रसिद्ध प्राण्य धाव-वाक्-अक्ष अक्ष्माव-इम पाँचों प्रकृतियों का स्मरण कीजिए । यही पाँचों क्रमशः स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी इन पाँचों पदों के 'रेत' हैं । व्यापक प्राण्य योनि या, व्यापक प्राण्य रेत या, व्यापक मातरिश्वा रेतोषा या, इससे व्यापक स्वयम्भू का उदय हुआ । परिच्छिन्नप्राण्य योनि या, परिच्छिन्नप्राण्य रेत या, परिच्छिन्नप्राण्य मातरिश्वा रेतोषा या, इससे परिच्छिन्न पुण्डरी स्वयम्भू का जन्म हुआ । प्राण्यमय पुण्डरी स्वयम्भू योनि बना, आपतत्व रेत बना, मातरिश्वा रेतोषा बना, इससे परमेष्ठी का उदय हुआ । अब आपोमय परमेष्ठी योनि बनेगा, तीसरा बाह्यतत्त्व रेत बनेगा, मातरिश्वा रेतोषा रहैगा, इससे सूर्य उत्पन्न होगे । बाह्यमय सूर्य योनि बनेगा, मातरिश्वा रेतोषा रहैगा इससे मृषियह उत्पन्न होगे । अक्ष्मावमय मृषियह योनि बनेगा, अक्ष रेत बनेगा, अब यही मातरिश्वा रेतोषा बनेगा । इससे चन्द्रमा उत्पन्न होगा । यहाँ आकर सृष्टिकर्म समाप्त होजायगा । इस प्रकार सृष्टिकर्म में रेतोषा सर्वत्र मातरिश्वा ही रहता है । हाँ सृष्टिपर्वमेद-से उसके नाम रूप अभ्यय ही बदल जाते हैं, जैसा कि पूर्वाधिकरण में बराहस्पत्यनिबन्धन में बतलाया जाचुका है । पूर्व पूर्व प्रकृति (प्राणादि) उत्तर उत्तर की प्रकृति (अनादि) की योनि बनती है, उत्तर-उत्तर की प्रकृति (अनादि) पूर्व पूर्व प्रकृतियों (प्राणादि) के रेत बनते हैं । अक्षयक्तात्माधिकरण में व्यापक स्वयम्भू का निरूपण हुआ, इस प्रकृत महदात्माधिकरण में पुण्डरीस्वयम्भू, अब परमेष्ठी की उत्पत्ति बतलाई गई है । इस आपोमय महान् को योनि (ममपोनिर्महद्ब्रह्म) समझिए, तीसरे बाह्यतत्त्व को रेत समझिए, पञ्चबराह ति मातरिश्वा को रेतोषा समझिए । इस बाह्यरेत के महद्योनि में आपान होने से विज्ञानधन, अतएव विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध सहस्रांशु भगवान् सूर्यनारायण का जन्म होगा । आगे का अधिकरण इसी जन्मोत्सव के लिए हमारे मित्रात्मा (सुद्धि) को प्रेरित कर रहा है ।

## इति-प्राकृतात्माधिकरणो

### शुक्रात्मानिरूपणम्

प्राकृतात्माधिकरणे—

महदात्माधिकरणं समाप्तम्

२

पूर्णमदः →→→→

पूर्णमिदम्

३-सूर्यः →→→ विज्ञानवैभव १-विज्ञानात्मा

अविदेवतम् →→→→

अव्यात्मम्

ब्रह्मसत्याक्षर —

विद्या-अविद्यामयः प्राकृतात्मा सूर्यः  
विज्ञानात्मा

३

सूर्यः ←→→→→ साक्षु →→→→→ विज्ञानात्मा

( प्राकृतात्माधिकरणे विज्ञानात्माधिकरणे तृतीयम् )

गायत्रीमात्रिकवेदावच्छिन्न -विद्या अविद्यामयात्मा  
विष्कात्मा

१—अन्वे तम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो मूय इव ते तमो अ उ विद्यायां स्ताः ॥

२—अन्यदेवाद्बुर्विद्ययाऽन्यदेवाद्भुरविद्यया ।

इति श्रुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिरे ॥

३—विद्या चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

( ईशोपनिषत् ६, १०, ११, मन्त्र )





# विज्ञानात्मस्वरूपनिदर्शन

- १— एको हंसो मुक्ताम्यास्य मध्ये स एनादि सखिले सखिविष्ट ।  
तमेव विदित्वास्तिष्ठत्युमेति नाप्य पन्था विषतेऽयनाय ॥ (खे० ६।१५) ।
- २— स विश्वकृद्भिन्नविदामपोनिह कञ्जकञ्जो गुणी सर्वविध ।  
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिगुणेश संसारमोक्षस्थितिः सचेत् ॥ (खेता० ६।१६) ।
- ३— सा तन्मयो ह्यमृत ईशसस्यो ह सर्वगो मुक्ताम्यास्य गोता ।  
य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥ (खेता० ६।१७) ।
- ४— यथा तमस्तत्र विद्या न रुचिर्न सन्न चासम्बन्ध एव केवला ।  
तद्वत् तत्त्वसर्वितुर्वरेण्य प्रज्ञा च तस्मात् प्रसूता पुराणी ॥ (खेता० ६।१८) ।
- ५— विरययगम समक्षतामे मृतस्य जात पतिरेक आसीत् ।  
स दाधार पृथिवीं बामुत्तमां करौ देवाय हविषा विधेम ॥ (यजुः ) ।
- ६— यद्वैरयथा प्रथम पथस्तत्ते तत सूर्यो ज्ञतपा वेन आबन्नि ।  
आगा आनन्दशाना काम्य सचा यमस्य आत्ममृत यजामहे ॥ (आक् १।८१।५) ।  
('तत् सविदुर्वरेण्यं मर्गो देवस्य बीमहि धियो यो न प्रचोदयात्')
- ७— य सेतुरीमानामाम्बर ब्रह्म यत् परम्  
अमयं तितीयतां पार नाचिन्नेत शक्यमाहि ॥ (कठ० १।३२) ।
- ८— विज्ञानान्त्या सह वैरैश्च सर्वै प्राणा भूतानि सम्प्रसिद्धन्ति यत्र ।  
तद्वत् वेदमते यस्तु सोम्य त्र सन्न सर्वमेवाविवेश ॥ (प्र० ४।११) ।
- ९— एतेषु यस्मिन्ते आनमानेषु यथा काष्ठ चाहुतयो ह्योददायन् ।  
तन्मपन्तेषां सुखस्य रमयो यत्र देशानां पतिरेकाऽविनाश ॥ (मुण्ड० १।३।५) ।  
मनोमय प्राणरुचीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ते ह्यस्य सन्निधाय ।
- १०— तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृत यन्निमाति ॥ (मु० २।२।७) ।  
हिरण्ये परे कोजे मितेन ब्रह्म निष्कसम् ।  
तन्मम अस्तितां अस्तिस्तथात्मविदो विदुः ॥ (मु० २।२।९) ।
- ११— ईश शुचिपद्मसुरन्तरिकसद्गता वेविपदतिथिर्दुरोणसत् ।  
सुपद्मसद्गतासद्गतासद्गता गोत्रा आत्मना अदिषा अर्तं कृणुत ॥ (क० २।५।२) ।



तमेव भीरो विज्ञाय मर्त्ता कुर्वीत ब्राह्मण ।

नानुष्णायाम्महृच्छब्दान् बाधो विगसापन हि तव ॥

नीहारहारघनसारमुपाकरामां कनकाण्डां कनकचम्पकद्रामभूषाम् ।

चक्रपीनकुचकुम्भमनोहराङ्गीं वार्त्तीं नमामि मनसा वचसा विभूषैः ॥



व्यक्त प्राण से स्वयम्भू प्रकट हुए, स्वयम्भूवत्स्वरूप योनि में सुवस्त्र रूप आप रेत का आदिवराहमावरित्रा नाम के रेतोषा द्वारा आधान होने से प्राजापत्य परमेष्ठी उत्पन्न हुए । अम्यक्त स्वयम्भू वेदाग्नि प्रधान होने से सत्य या, अम्यक्त परमेष्ठी अग्निप्रधान होने से अतृप्त है—“अतृप्तयेव परमेष्ठी” । अतृप्त रूप यही महद्ब्रह्म ‘अहे’ भाव की प्रतिष्ठा है, इसी आधार पर—‘ब्रह्मस्मि

प्रथमना अतृप्तस्य पूर्वं देवेभ्यः” यह कहा जाता है । इस अतृप्त रूप महद्योनि में तीसरे बारू नाम के रेत की यङ्गवराहमावरित्रा नाम के रेतोषा द्वारा आधान हुआ । इस बारू रेत के आधान से सप्तस्तर का जन्म हुआ । यही सप्तस्तराग्नि आगे जाकर ‘सूर्य’ रूप में परिणत हुआ । सप्तस्तरात्मक सूर्य आपोमय परमेष्ठी समुद्र में (जो कि पारमेष्ठ्य समुद्र ‘सरस्वान्’ नाम से प्रसिद्ध है) निचरण करने वाला एक सुपर्ण (सुमहरे पंखवाला पक्षी) है । दक्षिणायन इस का दक्षिणपक्ष है, उत्तरायण इसका उत्तरपक्ष है, मिथुनद्वारा इसका आत्मा है । चन्द्रमा, पृथिवी, चान्द्रजीव, पार्थिवजीव यह चारों सुपर्ण इस सप्तस्तर सुपर्ण के उदर में प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव इसे ‘महासुपर्ण’ कहा जाता है । निम्नलिखित सप्तस्तरात्मक इसी महासुपर्ण का निरूपण करते हुए वेदपुराण कहते हैं—

“अथ ह वाऽप्य महासुपर्ण एष यत् सप्तस्तरः । तस्य यान्पुच्छस्ताद्विपुषः पद्मासानुपपन्ति—सोऽन्यतर पक्षः, अथ यान् पङ्कपरिष्ठात् सोऽन्यतरः, आत्मा विपुवान्” (श्व० ब्रा० १२।२।१।७) ।



महासुष्यमक (सर्वसारात्मक) वाग्वैरोमय यह सूर्य पञ्चपञ्च विषय के मध्य में प्रतिष्ठित है। मध्यभाग 'हृदय' (केन्द्र) कहा जाता है। जिस प्रकार सर्वाङ्गशरीर की प्रतिष्ठा 'हृदय' है, एवमेव पञ्चपञ्च विषयशरीरात्मक ईश्वर के इस महाशरीर की प्रतिष्ठा हृदयरूप सूर्य ही है—“आदिष्ठो वै विश्वस्य हृदयम्”। यह सूर्य सावित्राग्निमय है, अग्नि को हिरण्यमेरुता कहा जाता है। अतएव इस सूर्यप्रजापति को 'हिरण्यगर्भप्रजापति' कहा जाता है। यही और पुरुष उपनिषद् में 'हिरण्यमयपुरुष' नाम से प्रसिद्ध है। जिस महर्षि ने सब से पहिले इस हिरण्यगर्भविज्ञान को पहिचाना, वह ब्रह्मा महर्षि भी हिरण्यगर्भप्रजापति नाम से प्रसिद्ध हुए। हिरण्यगर्भ अग्नि का मूल है कि संपूर्ण विश्व की मूल प्रतिष्ठा हिरण्यगर्भ (सूर्य) ही है। विश्व में सब से पहिले हिरण्यगर्भ का ही विकास होता है। स्वयम्भु, परमेष्ठी, चन्द्रमा, पृथिवी यह चारों पर्व हिरण्यगर्भ के पश्चात् प्रकट हुए हैं। इन की आश्रयभूमि, स्वरूप संपादक एकमात्र विश्वाधिष्ठाता हिरण्यगर्भ प्रजापति ही है। उधर विश्वकर्मा स्वयम्भु के ब्रह्मा, अतएव विश्वकर्मा नाम से ही प्रसिद्ध महर्षि का कहना है कि सर्वप्रथम विश्व में स्वयम्भु स्वयम्भु ही सब को व्यक्त करता हुआ प्रकट होता है—“तत् स्वयम्भुर्मगवानव्यक्तो व्यक्षयमिन्”। परमेष्ठी—सूर्य—चन्द्रमा—पृथिवी चारों पर्व स्वयम्भु के पश्चात् प्रकट हुए हैं। इन चारों की आश्रय भूमि स्वरूप संपादक एकमात्र विश्वाधिष्ठाता स्वयम्भु प्रजापति ही है। प्रत्यक्षविद्या के प्रथम ब्रह्मा महर्षियों का कहना है कि पृथिवी ही सब की मूल प्रतिष्ठा है। सप्त प्रथम विश्व में पृथिवी ही प्रकट हुई है। पहिले मूः है, अगन्तर मुख—सू (सूर्य) आदि लोकों का विकास हुआ है। स्वयम्भु—परमेष्ठी—सूर्य—चन्द्रमा यह चारों पर्व पृथिवी के पश्चात् प्रकट हुए हैं। इन चारों की आश्रयभूमि स्वरूप संपादक एकमात्र विश्वाधिष्ठाता पार्थिवप्रजापति ही है। इस प्रकार सृष्टियों में सृष्टिविद्या के सम्बन्ध में परस्पर में सर्वाधिक तीव्र मत उपलब्ध होने हैं। स्वयम्भुमूलासृष्टि प्रथम मत है, सूर्यमूलासृष्टि द्वितीय मत है, पृथिवीमूलासृष्टि तृतीय मत है। स्वयम्भुमूलिक में स्वयम्भुमूलासृष्टि को ही प्रधानता दी है। संहिता में तीनों ही सृष्टियों के समपक्ष प्रमाण उपलब्ध होने हैं, जिससे कि निम्न क्लिप्त बर्णों से स्पष्ट होता है।

## १—स्वयम्भूमूलासृष्टि प्रथमा—

१—य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदपिर्होता न्यपीदत् पिता नः ।

स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छद्वरौ आविवेश ॥

२—किंस्विदासीदपिष्ठानमारम्भण कृतमदस्वित कयासीत् ।

वतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षुः ॥

३—विश्वतरबभ्रुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुस्त विश्वतस्यात् ।

स बाहुभ्यां धमति सपतमैषावा भूमिं जनयन् देव एकः ॥

४—या वे धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा ।

शिवा सत्विभ्यो हविषे स्वधावः स्वय यजस्व तन्व हृषानः ॥

(यजु स० १७अ० । १७-१= १६ २० २१ २२ २३ २४-मन्त्र) ।

## २—सूर्यमूलासृष्टिर्द्वितीया—

१—हिरण्यगर्भः समवचताम्रे भूतस्य जातः पविरेक आसीत् ।

स दाभार पृथिवीं धामुर्तमो कर्म देवाय हविषा विधेम ॥ (यजु १३।४) ।

२—चित्रं देवानामुग्रगादनीकं चतुर्भिर्वायु बरुणस्याम्रेः ।

आप्राधावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्यं आत्मा जगत्स्त्वष्टुपद्म ॥ (यजुः १३।४६) ।

३—येन घोरुग्रा पृथिवी च ह्यहा येन स्व स्तमितं येन नाक् ।

यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कर्म देवाय हविषा विधेम ॥

४—प्रजापते न त्वेदेतान्यभ्यो विश्वा जातानि परि ता धमूष ।

यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतपो रयीषाम् ॥

(अथक् स० १० मं । १६१ सु०) ।

## ३—पृथिवीमूलासृष्टिस्तृतीया

१—सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादः ।

स भूमिं सर्वतः स्थूत्वात्यतिष्ठद्गङ्गाहसम् ॥ ( यजुः ११।१। ) ।

२—अदिविद्योरवितितरन्तरिक्षमदिविमावा स पिता स पुत्रः ।

विभे देवा अदिविति पञ्चजना अदिविजातमदिविर्जनित्वम् ॥ ( ऋ १।८६।१० )

३—“इयं वै देव्यदिविर्विष्णुः” ( तै० ब्रा० १।७।६।७ ) ।

४—“इयं च वाऽएषां सोक्तानां प्रथमासृज्यते” ( शत० द्वा५।१।१ ) ।

५—“इयं वै जगती भस्यां हीद् सर्वं जगत्” ( शत० द्वा२।१।२६ ) ।

६—“पृथिव्यामि सोकः (मतिष्ठिताः)” ( ज० च० १।१००२ ) ।



इन तीनों सृष्टिमिषाओं का उपनिषदों में कथन ओङ्कारविद्या (ॐ मिषा), चतुर्गीष विद्या (सूर्यमिषा), प्रच्छवविद्या (पृ० मिषा) इन नामों से निरूपण हुआ है । स्वयम्भू से आरम्भ मानकर पृथिवी पर अवस्थान मानना ओङ्कारविद्या है, स्वयं को आरम्भ स्थान मानकर उत्तर परमेष्ठी स्वयम्भू पर, श्वर चन्द्रमा एवं पृथिवी पर पर्यवस्थान मानना चतुर्गीषविद्या है, पृथिवी को मूल मानकर स्वयम्भू पर अवस्थान मानना प्रच्छवविद्या है । स्वयम्भू निरुद्धपुरुष का वस्तुतः है, अतएव इस मिषा को ‘शिरोमूसाविद्या’ कहना चाहिए । सूर्य निरुद्धपुरुष का हृदय है, अतः इसे ‘हृदयमूसाविद्या’ समझना चाहिए । एवं पृथिवी पाद स्थानीय है, अतः इसे पादमूसासृष्टिविद्या कहना चाहिए ।

पुण्यने श्री इसी तरह का आधार मान कर तीन प्रकार से सृष्टिमिषा का उपबृहत् किया है । “ब्रह्मा से सारे विश्व का आरम्भ हुआ है, सारा विश्व ब्रह्मा है” यह उपपत्ति

• उपपत्तिब्रह्म के अन्तर्गत में पृथिवी से ही सृष्टि का आरम्भ माना गया है—( वैश्वदेव-उप ३० ११५ १२५ ) ।

का एक मत है। “विष्णु से सारे विश्व का निर्माण हुआ है, सम्पूर्ण विश्व वैष्णव है” यह दूसरा मत है। एक-“महेश्वर (महादेव) से ही विश्व का अन्य स्थिति भोग हुआ है, सारा विश्व महेश्वर है” यह तीसरा मत है। आप ब्रह्मपुराण के अर्थ से इति तक देख जायें, वहाँ विष्णु महेश्वर आदि इतर सम्पूर्ण देवताओं को गौण बतलाया गया है, ब्रह्मा को सब का आदिप्रवक्तृ बतलाया गया है। इसी प्रकार विष्णुपुराण में अर्थ से इति तक सब देवताओं की अपेक्षा विष्णु की प्रधानता का ही निरूपण किया है। शिवपुराण एकमात्र महेश्वर को प्रधान देवता मान रहा है। छठिबाद के रहस्य को न समझने के कारण ही आज तक भिन्न भिन्न पुराणों के अग्रार्थों को उपन्यस्त करते हुए शैव-वैष्णव मुद्दासुद्धि को ही परम पुरुषार्थ समझ रहे हैं। आध्यात्मिक ब्रह्मा ज्ञानमूर्ति है, सौर विष्णु क्रियामूर्ति है, पार्थिव शिव अर्थमूर्ति है। एक ही विराट् पुरुष के तीन अवयव हैं। त्रिमूर्ति की समष्टि ही प्रधान है।

इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त तीनों मतों में से कितने सच्चा कहा जाय ! सब एक हो सकता है। उधर तीनों ही मत वेदामित्त होने से मान्य हैं। परन्तु मान्य होते हुए भी सदेह के जनक अवश्य हैं। इस सदेह की निवृत्ति के लिए आपको उपवेदभूत आयुर्वेद की शरण में जाना चाहिए। सदेहरूप प्राणान्तकज्वर को निवृत्त करना चिकित्सा शास्त्र का ही कार्य है।

रज-शुक्र के मिश्रणमात्र से गर्भस्थिति होती है। आगे आकर गर्भ क्रमशः पुष्ट होता हुआ १० मास में सर्वावयव संपन्न बन जाता है। गर्भ के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया जासकता है कि गर्भ में पहिले अस्तक बनता है ? अथवा पहिले हृदय का विकास होता है ? अथवा पहिले नाभि का उदय होता है ? किन्तु पहिले यकृतशयशुद्ध का आविर्भाव होता है ! इन प्रश्नों के सम्बन्ध में विपश्चरों के भिन्न भिन्न मत हैं। कुमारशिरामरद्वय के मतानुसार पहिले कुक्षिरूप रज का शिर बनता है, अगत्तर अन्य अवयवों का विकास होता है। “हृदय ही (हृदय-प्रधान प्रधान मन ही) सब इन्द्रियों का आसन्न है। जब तक हृदय का विकास नहीं होता,

तब तक पशु, भोज, प्रत्यादि इन्द्रियों का विकास कथमपि समभव नहीं है” इस कारण को ज्ञानी रक्ते हुए काङ्क्षुपन बाहरीक नाम के वैष गर्भ में सर्वप्रथम हृदय का विकास मानते हैं। मद्रकाप्य के मतानुसार नाभि पहिला भाग है। नाभि द्वारा ही मातृसूत रस से गर्भ की पुष्टि होती है। मद्रगौनक के मतानुसार आहार के आगमन का साधन बनता हुआ पक्षराग्युर ही पहिले विकसित होता है। बहिरा के मतानुसार पहिले हाथ पैरों का विकास होता है। वैदेह जनक के मतानुसार पहिले इन्द्रियों का विकास होता है। मरीचि महर्षि के पुत्र अतएव मारीचि किं वा मारीच नाम से प्रसिद्ध ऋषि कश्यप का कहना है कि यह सब परोक्ष नियम है। गर्भ का कौनसा अङ्ग पहिले बनता है : यह इन्द्रियात्मक विषय है, अतः इसके सम्बन्ध में—“इहमित्थं मेव” इस प्रकार निश्चयकूप से कुछ नहीं कहा जासता। इस प्रकार इनके मतानुसार यह नियम ही अविश्व है। भगवान् पञ्चन्तरि कहते हैं—सारे अङ्ग एक साथ बनते हैं। सभी अवयव परस्पर में अन्योऽन्यव्यतिष्ठतः हैं। अतः इनका युग्मत्वं ही सम्भव (उत्पत्ति) मानना ठीक होता है। इसी मत को सिद्धान्त पञ्च मानती हुई चरकसंहिता कहती है—

“सबाङ्गनिर्गतिर्गुणपद—इति पञ्चन्तरिः। तदुपपत्ति—सिद्धत्वात्। न च तस्मात् पूर्वामिनिर्गतिरपाम्। तस्मादृद्यपूर्वाणां सर्वाङ्गानां तुल्यकात्सामिनिर्गतिः। सर्वमात्रा ह्यन्योऽन्यव्यतिष्ठदाः, तस्माद्यवामृतं त्वर्न साधु” (चरक सः खरीर स्थान ६ खरीरविषयाध्याय—१२ अ )

इस प्रकार आपूर्वेद के मतानुसार आध्यात्मिकपुरुषोत्पत्ति में सभी अवयव एक साथ उदय पम होते हैं, तथापि सूक्ष्मकमतानुसार कुमारगिरामरद्वय के मतानुसार पहिले मस्तिष्क का ही विकास मानना पड़ता है। बीमरूप से सभी अवयव समानकालीन होने हुए भी अकुरदण्य में पहिले मस्तिष्क की ही प्रधानता है। इसी प्रकार शार्ङ्गराज्य महर्षि पहिले उदर का अवयव के पुत्र पहिले हृदय का विकास मानते हैं (ऐ भा २।१।१०)। इस प्रकार भूतियों में भी मत ‘बा’ है। तथापि कदाचित् विकसितकर्मसूत्रक मतकोत्पत्ति के प्राथम्य को ही प्रधान माना गया है, ऐसा कि छुट्टी कहती है—

“शिरों वा अग्रे सम्भवतः सम्भवति । चतुर्धा विहित-

धं शिरः—मास्यश्चक्षुः श्रोत्रं वाक्” (तां० ब्रा० २२।६।४।) ।

“शिरों हि प्रथमं जायमानस्य जायते” (शत० ८।२।४।८) ।

विकास भी सबसे पहिले मस्तक का ही होता है, एव “शीपतो वाऽग्रे जायमानो जायते” (शत० १।१।१।१६) के अनुसार प्रसवकाल में भी पहिले मस्तक ही अम्ली बनता है । शिर सचमुच सृष्टिक्रम में अम्ली है । तभी तो जरा का प्रकोप सबसे पहिले मस्तक पर ही होता है—“यस्माच्छीर्षणयेवाग्रे पतितो भवति” (शत० ११।१।१।६।) । इसी प्रथममास के कारण प्रथमदंष्ट्रि के उत्कृष्ट मनुष्य को शिरस्थानीय (मुख्य) माना जाता है । गर्भ की स्थिति हृदय से ही रहती है, हृदय ही बीजन की प्रतिष्ठा है । दृष्टिक्रम में पैरों की प्रधानता है । यही क्रम अभिदैक्षत में समन्वित । बीजरूप से माया-आप वागादि पाचों प्रकृतिएं समकक्षीन हैं । परन्तु सृष्टि (उत्पत्ति) क्रमानुसार पहिले शिरस्थानीय स्वयम्भू का विकास होता है । इस सृष्टि-क्रम की अपेक्षा से स्वायम्भुव ब्रह्मा का ही सध्वप्रधानत्व है । ब्रह्मा ज्ञानप्रधान है । ज्ञान-अथ-क्रिया तीनों अम्बोऽप्याश्रित हैं, तथापि प्राणमय ज्ञान का ही मानना पड़ता है । विश्व की स्थिति सूर्य पर निर्भर है । सूर्य से ही महद्ब्रह्म में त्रेगुण्य भाव का उदय होता है । त्रिगुण-भावात्मक महद्ब्रह्म अस्तक है, तत्काल सृष्टि है, जब तक सूर्य है, वही तक गुणोदय है । पञ्चत सूर्य का विश्वस्थितिरूपावकाल महीनमिति सिद्ध होजाता है । इस स्थितिक्रम के अनुसार सारे विश्व में सौर बिन्दु का ही साम्राज्य है । हमारी दृष्टि पहिले पृथिवी पर पड़ती है, अनन्तर सूर्य-चन्द्रमा-परमेष्ठी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है । इस दृष्टिक्रम के अनुसार सारे विश्व में पार्थिव भोम्बर का ही साम्राज्य है । ज्ञानप्रधान सृष्टिक्रम, कर्मप्रधान स्थितिक्रम, अर्थप्रधान दृष्टिक्रम की अपेक्षा से उक्त तीनों सृष्टिविधाओं में कोई विशेष नहीं है ।

- १-स्वयम्भूमूलासृष्टि - शिरोमूला—सृष्टिक्रमप्रधाना ब्रह्मविधा (उत्पत्तिमूला ओद्धारविधा)  
 २-सूयमूलासृष्टि — हृदयमूला—स्थितिक्रमप्रधाना स्थितिमूला (स्थितिमूला-उद्गीयविधा)  
 ३-पृथिवीमूलासृष्टि — पादमूला—दृष्टिक्रमप्रधाना महेशविधा (नाशमूला—प्रलयविधा)



प्रकृत प्रकृत उक्त सीनों सुविचारणों में से हिरण्यगर्भ विद्या नाम से सम्बद्ध विद्या जाने योग्य सूर्यविद्या का निरूपण करता है। उसी का उपसृष्ट करना प्रकृत प्रकरणीय है। विद्याकर्मप्रप अर्चय पुरुष विद्य के पाँचों पक्षों में व्याप्त है। इसका प्रमाण प्रमाण यही है कि विद्य के सभी पक्षों में ज्ञान एवं क्रिया (कर्म) की उपस्थिति होती है, जैसा कि पूर्व के प्रकरणों में विस्तार से बताया जा चुका है। अर्चय का विद्याभाग पदार्थों में ज्ञानरूप से प्रतिष्ठित है, कर्मभाग क्रियारूप से प्रतिष्ठित है। निम्नोद्दिष्ट विद्या-कर्मभाग को 'ब्रह्म' 'कर्म' शब्दों से सम्बद्ध किया जाता है, यही इसके दिव्यरूप हैं—'ब्रह्म कर्म च मे दिव्यम्'। सोपाधिक यही ब्रह्म-कर्म ज्ञान-क्रिया नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार यद्यपि स्वयम्भू-पर मेष्टी-सूय-चन्द्रमा-पृथिवी विद्य के इन पाँचों पक्षों में (प्रत्येक में) ज्ञान-क्रियारूप से अर्चय के विद्या-कर्म-दोनों भाग प्रतिष्ठित हैं, तथापि इन दोनों की पूर्ण विद्यसमूहि मध्यस्थ सूर्य ही माना जाता है। सूर्य विद्य का कर्ण है, इतर पक्ष परिधिस्थानीय हैं। केन्द्र में सब शक्तियों का पूरा विकास रहता है। सुतरां केन्द्रस्थानीय सूर्य में अर्चय के ज्ञानरूप विद्याभाग का, एवं कर्मरूप अविद्याभाग का पूर्ण विकास सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि विद्य के और किसी पक्ष के लिए 'विद्या' धारियाँ च यस्तोद्देशोर्मय सह एव न कदा कदा केन्द्र सूर्य को ही विद्या-अविद्यात्मक माना गया है।

अपि च 'सहस्रधा प्रजासृष्टा पुरोवाच प्रजापति' (गीता १।१०) इस सिद्धान्त के अनुसार पक्ष से ही दिव्यप्रजा का निष्पन्न होता है। यह पक्ष 'सृष्टा' 'विद्या' भेद से दो भागों में विभक्त है। यही दोनों पक्ष सत्त्व-रजस्व नामों से प्रसिद्ध हैं। सृष्ट्यात्मक सोमपान है, सोम का ही सत्त्व होता है। विद्यात्मक अग्निपान है, अग्नि का ही रजस्व होता है। अग्नि में सोम की आहुति होने से अक्षोरात्मक अग्निहोम, ज्वला-शुक्लपक्षरूप दैर्घ्योक्त-स, प्रीत्य-नया-गीतशुक्ल चातुमास्य, उत्तरायण-वृद्धिवायनरूप पशुबन्ध, सवत्सर रूप उपोतिष्ठोम (सोमपाग-किंवाग्रहपाग) इस क्रम से सोमपक्ष पाँचभागों में विभक्त हो जाता

है। इन पाँच अवयवों के कारण ही सुष्वायज्ञ को 'पाङ्क्तो वै यज्ञः' (शत १।१।१।५) के अनुसार पाङ्क्त (पञ्चावयव) कहा जाता है। अग्नि में सोम की आहुति होने से व्याप्तन वृद्धि नहीं होती, अपि द्रव्यिती की रक्षामात्र होती है। इस प्रकार अग्नि में सोम की आहुति होने से पाङ्क्त सुष्वायज्ञ संपन्न होता है। निगरण किंवा विसर्जन इस सोमाहुतिरूप सुष्वायज्ञ किंवा संपन्न यज्ञ का सामयिक धर्म है। अग्नि में सोम काष्ठ दीजिए, अग्नि उसे 'मिमसु' व्याप्नु, पी जायगा, इतल सोम का अग्नि में विसर्जन होजायगा, जब सोम कहीं दूढ़े से भी नहीं मिलेगा। दूसरा है विसर्पायज्ञ। अग्नि में अग्नि की आहुति होने से इस अग्नियज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। अग्नि अग्नि का निगरण (इन्धन) नहीं कर सकता। अतएव इस यज्ञ में व्याप्तन की वृद्धि होती है। यह अग्नियज्ञ भी अग्नि-वायु आदिस दो साध्य प्राण्यादि के मेद से पाँच ही भागों में विभक्त है। अग्निचिति से पृथिवी का, वायुचिति से अन्तरिक्ष का, आदिसचिति से पुच्छोक का स्वरूप निष्पन्न होता है। पृथिवी-अन्तरिक्ष की सचि में, अन्तरिक्ष एवं पुच्छोक की सन्धि में दो अग्नि और चित रहते हैं। इस प्रकार एक ही अग्नि अवस्था मेद से पञ्चचिति बन जाता है। इस चितियज्ञ से तो वस्तु का स्वरूप निर्माण होता है, एवं उत्पन्न वस्तु की स्वरूप सृष्टा मुद्रायज्ञ से होती है। प्रक्रमान्तर से यों समन्वित कि उत्पत्ति सोमयज्ञ से होती है, पुष्टि अग्नियज्ञ से होती है। द्रिपति सोमयज्ञ से होती है। व्याधन्त में सोम है, मज्य में अग्नि है। सूर्य अग्निमय है, इसके उस ओर पारमेष्ठ सोम है, इस ओर बान्ध सोम है। अघ्नात्मसत्त्वा में इस द्रिपति का प्रत्यक्ष कीजिए। शुक्र (रेव) सोम है, शोणित (येनिरूप-आर्चक-रज) अग्नि है। इस द्वायरूप मोनि में वीर्यरूप सोम की आहुति होने से गर्भ का उदय होता है। इसप्रकार उत्पत्तिकाल में सोमयज्ञ की प्रधानता है। आगे जाकर क्रमशः गमावयव बढ़ने लगते हैं, यही अग्निचिति है। अस्थि-मांसादि की चिति ही अग्निचिति है, यही वृद्धि का कारण है। अन्तरूप सोमाहुति से इस विष्वाग्निमय शरीरपिण्ड की द्रिपति रहती है। प्रात-साय होने वाले अन्नाहुतिरूप इसी दैनिक सोमयज्ञ से शरीर स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। इसी अपन रस्य को धर्म में रस कर बानिभुति कहाती है—



“तद्यत् पञ्च धितीभिन्नोति, एताभिरेवैन तत्तन्मृमिभिन्नोति, यच्चिनोति-  
तस्माच्चित्तया” (उत्त० ६।१।२।१७)। “पञ्चतन्मो व्यसंपन्त-  
सोम, त्वष्ट, मांस, यस्मि, मन्त्रा । ता एवेता पञ्च चित्तया” (उत्त०  
६।१।२।१७)। “पञ्च छेते अद्ययो यदेताच्चित्तया” (उत्त० ६।  
२।१।१९।)।

उक्त दोनों पक्षों में सुर्या, किंवा सोमयज्ञ का अविष्टाता आपोमय परमेष्ठी है एवं  
विष्णु किंवा अग्नियज्ञ का अविष्टाता वायुमय सूर्य है। परमेष्ठी सोमप्रधान है, सूर्य अग्नि-  
प्रधान है। सुत्य सोमप्रधान है, कित्या अग्निप्रधान है। उत्पत्ति का मूल आश्रय जहाँ परमेष्ठी-  
यज्ञ (सोमयज्ञ) है, वहाँ विकास का मूलप्रवर्धक सूर्ययज्ञ (अग्नियज्ञ) है। जब तक उत्पन्न  
वस्तु कित्यरूप में परिणत नहीं होजाती, तत्काल उस की उत्पत्ति अनुत्पत्ति के समान है। पर  
मेष्ठी की उत्पादकशक्ति का विकासस्थान सूर्य है। मन्त्रपरमेष्ठी ही गर्भधारण करने वाली योनि  
है, परन्तु वह गर्भ का प्रजननरूप से निष्कास सौरस्त्या में ही होता है। इस से यह भ्रम होना  
पड़ता है कि सूर्य से ऊपर उत्पादक योनिरूप मन्त्रप्रधान के रहने पर भी कित्याग्नियज्ञ के अभाव  
से प्रजनन कर्म का निरन्तर अभाव है। भौतिक-मार्ग प्रजा की उत्पत्ति का मूल उत्पन्न सूर्य  
ही है। इसी रहस्य को अक्षय में रखकर अग्नियज्ञ कहती है—

“द्यौर्वाऽ उत्तमाः स्वयममृषयाः, आदित्य उत्तमा विश्वस्योतिः ।  
अर्वाचीनं तावद्विषयादित्याच-मृत्युं दधाति, तस्मादर्वाचीमेवाव मृत  
वः—अयो प्रजननम् । एवदर्वाचीनं तावद्विषयादित्याच मन्त्रनं  
दधाति, तस्मादर्वाचीमेवावः प्रजायते । स्थित (समाप्त) ईवातः  
पराञ्च प्रजननम् । यावन्मो ज्ञेय समाधे देवास्तावन्तो देवाः”

(उत्त मा ८ अ० १७ अ० १ मा ६ अ०)।

प्रजासृष्टि की उत्पत्ति समय (मौसम) पर होती है। समय का ही नाम मृत्यु है। तत्पद  
मृत्यु शिरोने में ही तत्पदविशेष पदार्थ उत्पन्न होते हैं। मृत्युसमय ही संवत्सर है। संवत्सर

की मूर्त्तप्रतिष्ठा सूर्य है। सुतर्प संकसरालोक सूर्य से ही प्रजोत्पत्तिक्रम का आरम्भ सिद्ध हो जाता है। चतुर्दशविध मृतसर्ग की प्रवृत्ति का आरम्भ स्थान सूर्य ही है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। सूर्य से ऊपर आत्माओं का अभाव है, अतएव आत्ममूलक प्रजनन कर्म का भी वहाँ अभाव है। जिसप्रकार सूर्य से नीचे नवीन मनीष पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं, पुराने पदार्थ नष्ट होते रहते हैं, वैसे सूर्य से ऊपर यह अम-मरणचक्र नहीं है। वहाँ तो सृष्टि के आरम्भ में विन मौलिक साध्य देवादि का विकास हुआ था, वही विकास आज तक उसी रूप से विद्यमान है। दूसरे शब्दों में वहाँ परिवर्तन का अभाव है, यही बतलाने के लिए श्रुति—‘यावन्मो क्षेम स-नाप्रे देवास्तावन्तो देवा’ (शत = ७।१।२) यह कहा है।

महद्ब्रह्म जिस विद्यात्मा (अम्यय) को अपने गर्भ में धारण करता है, उस का पूर्व नि कस चित्तवर्मा सूर्य में ही व्याकर होता है। सूर्य से ऊपर परमेष्ठी में विद्यात्मा आता है, परन्तु विषयमभमा सोमयज्ञ के प्रभाव से बह विछीन हो जाता है, वहाँ केवल गर्भसत्ता है। महद्ब्रह्म के गर्भ में रहने वाल उस पोडशीपुरुष का विकास तो सूर्य में ही होता है। विद्यात्मा की गमभूमि महद्ब्रह्म (परमेष्ठी) है, प्रजननभूमि सूर्य है। पक्ष कारण है कि वक्रा प्रकृतिक स्वयम्भू, विष्णु प्रकृतिक परमेष्ठी, सोम प्रकृतिक चन्द्रमा, अग्नि प्रकृतिक भू, इन्द्र प्रकृतिक सूर्य इन पाँचों में से इन्द्रप्रकृतिक सूर्य को ही ‘पोडशी’ कहा जाता है। क्योंकि पोडशीपुरुष नाम से प्रसिद्ध विद्यात्मा का पूर्ण विकास केवल इन्द्रप्रकृतिक सूर्य में ही होता है—“असी ई पोडशी योऽसी (सूर्यः) तपति” (कोश १७।१।४) इसी विद्यात्मा के सम्बन्ध से इन्द्रत्व इतर प्रकृतियों की अपेक्षा पोडशी प्रजापति की ज्येष्ठ पञ्च श्रेष्ठ सन्तान कहलाती है। पिता का वही पुत्र ज्येष्ठ-एव श्रेष्ठ (सुपूत) कहलाता है, जो पिता के यश को दिगुचित करता है। जिस पुत्र से पिता का यश संसार में फैलता है, वही पुत्र श्रेष्ठ माना जाता है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम येद से पोडशी प्रजापति के पाँच पुत्र हैं। इन पाँचों में सर्वज्येष्ठ ब्रह्मा है, सर्वकनिष्ठ सोम है, विषका पुत्र इन्द्र (सूर्य) है, इसी पुत्रने विद्यामात्मा पिता का यश सर्वत्रिस्तोकी में फैलाया है। सूर्य के द्वारा ही विश्व में आत्मज्योति का प्रसार

इन्द्रा है—“स्य आत्मा जगतस्तस्युपम” । इसी सुपुत्री के कारण प्रजापतिने विष के सबसे ऊँचे आसन पर (हृदय सबसे ऊर्ध्व कहा जाता है, एवं विष के हृदय में ही स्य प्रतिष्ठित है) प्रतिष्ठित किया है । यही इन्द्र पुत्र का सवम्पेष्टत्व, एवं सर्वश्रेष्ठत्व है इसी अमिमाय से महामायाय श्रुति कहती है—

“स (पोद्गीमजापतिश्चिदात्मा) ऽकामयतेऽन्यो मे प्रजार्था श्रेष्ठः स्यान्निति । तामस्मै स्रज (विजयमाला) प्रजमुञ्चत् । ततो वा इन्द्राय प्रजाः श्रेष्ठपायातिष्ठन्त-तच्छिष्यं पश्यन्त ” (ता० ब्रा० १६ अ० ११) । “इन्द्रो वै वेवानामोमिष्टो, वमिष्टः, सहिष्टः सजमः पारयिष्युदमः” (ऐ० ब्रा० ७१६) । सर्व वाऽ इदमिन्द्राय तवस्थानमास यन्दिं किञ्च” (शत १।६।१।१४) । “हृदयमनेन्द्र” (शत० १२।६।१।१५) ।

श्रेष्ठोप क्या है, किसी अनुर शिष्यी का सर्वोत्कृष्ट शिष्य ( करीमती ) है । वह शिष्यी नहीं इन्द्र है । अपने इन्द्रपुत्र के इस उत्कृष्ट शिष्य पर प्रसन्न होकर ही तो प्रजापतिने इसके गले में विजयमाला टाँकी है । इसके इसी शिष्य से प्रभावित होकर (इसका श्रेष्ठ मन्त्र देकर) ही तो प्रजाने इसे श्रेष्ठ माना है—‘प्रजाः श्रेष्ठपायातिष्ठन्त-तच्छिष्यं पश्यन्त ” । (१६।१।११) । सचमुच इन्द्र ऐसी ही बलु है । साथ विष इन्द्र से पूरा है । बलोक्य में ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ ‘शुन’ नाम से प्रसिद्ध इन्द्र का साम्राज्य न हो । जिसने मण्यन्दिहू बने पहिचान दिया, उसने सब कुछ समझ लिया । इसी लिए काशिरामप्रतदन को इन्द्र के अमिमामी देवताने कहा है—‘पतदबाह मनुष्याय हिततमं मन्ये यन्मां विजानीयात्” (मे मनुष्य के लिए यही परम हित समझू जो कि वह मुझ (इन्द्र को) समझ जाय) (कोट १।१) । इन्द्र की इसी सर्व-व्यवस्था, एवं सर्वोत्कृष्टता का दिग्दर्शन कराती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

१—पद्या इन्द्रं शतं ते शतं भूमिरुत स्युः ।

न ता वमिस्मरन् वृषा अनु न जानमष्ट रोदसी ॥ (श्रु० ८००।१५) ।

२—सूर्यस्येव ररमयो द्रावयित्वा मत्सरासः प्रमुप साकमीरते ।

वन्तु तव परिसर्गास आगयो नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन ॥ (श्रु ६।६-६।६)

३—इन्द्रो दिव इद्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इव पर्वतानाम् ।

इन्द्रो दृषामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्र क्षेपे योगे इम्य इन्द्रः ॥ (श्रु १०।८६।१०।)

४—नकिरेन्द्र तदुचरो न जयायां अस्ति वृषहन् ।

नकिरेव यथा त्वम् (श्रु० ६।१०।१।) ।

प्रकृत्यन्तर से इन्द्र की श्रेष्ठता का विचार कीजिए । अम्यय-अक्षर-क्षर की समष्टि पोटगीपुरुष है । इनमें अम्यय ज्ञानप्रधान है, अक्षर क्रियाप्रधान है, क्षर अर्थप्रधान है । ज्ञान प्रधान अम्यय, अर्थप्रधान क्षर दोनों का सम्मिश्रित क्रियाप्रधान अक्षर के साथ सम्बन्ध है । अतः अक्षर ज्ञान-क्रिया-अर्थ तीनों विमूर्तियों से युक्त होजाता है । पर नाम से प्रसिद्ध अम्यय केवल ज्ञानप्रधान ही है, ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध क्षर केवल अर्थप्रधान ही है परन्तु मध्यस्थ अक्षर ज्ञान-अर्थ के सदृश में पतित होता हुआ विमूर्तिप्रधान है, जैसा कि कट्यमुक्ति कहती है—

एतद्वेदेनाक्षरं ब्रह्म (क्षरं) एतद्वेदेनाक्षर परम् (अम्ययं) ।

एतद्वेदेनाक्षरं ज्ञात्वा यो यद्विच्छति तस्य तव ॥ (कठ० १।२।१६) ।

सूर्यम् परमेष्ठी अम्ययप्रधान है, चन्द्रमा पृथिवी क्षरप्रधान है, किन्तु मध्यस्थ सूर्य अक्षरप्रधान बनता हुआ परमधाम में प्रतिष्ठित अम्यय, अक्षरमधाम में प्रतिष्ठित क्षर दोनों का समाह्वक बनता हुआ पोटगी बन रहा है । केवल अम्यय की दृष्टि से विचार कीजिए । अम्यय का विधामाग प्रभूत है, सूर्य के ऊपर इस की प्रधानता है । कर्ममाग मूल्य है, सूर्य से नीचे इस की प्रधानता है । परन्तु मध्यस्थ सूर्य में दोनों का सम्बन्ध है । विद्या-अविद्या दोनों के यदि आपको एक साथ दर्शन करने हैं तो इसके लिए विज्ञानयन सूर्य की ही शरण में जाना पड़ेगा । सौर कर्ममाग ही आगे जाकर आशरणरूप में परिणत होता हुआ धाम

पुत्र बनकर 'अर्थ' नाम से व्यवहृत होने लगता है । इस प्रकार सूर्य में ज्ञान (विद्या), क्रिया (कर्म), अर्थ तीनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है । तीनों शक्तियों का सूर्य में पूर्ण विकास है । ज्ञानशक्तिमय होने से—'पियो योनः प्रबोधयात्' (पञ्च. २.२।२) यह कहा जाता है । क्रिया शक्तिमय होने से—'प्राणाः प्रमानामुद्यमेष स्याः (प्र उ १।८) यह कहा जाता है । एव अर्थशक्तिमय होने से इस के लिए—'नूनं जनाः सूर्येण प्रमृताः अयमर्पानि कृषवमर्पासि' (श्रु. ७.६.३।४) यह कहा जाता है । इन तीनों में अर्थ का कर्म में अन्तर्भाव है, अतः परमार्थ में ज्ञान—कर्म मेद से दो भाग हो रह जाते हैं । सत्तार के चित्त में भी कर्म हैं, सब सूर्य के कर्म भाग से सम्बन्ध रखते हैं । एक सत्तार में जिनकी भी ज्ञानशक्ति है, वे सब सौराज्य के अन्वय से सम्बन्धित हैं । इस प्रकार त्रैलोक्य विद्या, सहस्रांशु, विद्या—अविद्यालोक सूर्य भगवान् विद्या के मध्य में प्रतिष्ठित होकर प्रजापति का यश फैला रहे हैं । जिस दिन इन का वय होया पण, उस दिन सब कुछ अनुपादुपगत के गर्भ में विखीन होजायगा । सूर्योदयान्त एवम् गम (प्रत्यागम) है, सूर्यसत्ता अग्रभाग (सुग्रभाग) है । यही प्रजापति का पुत्रकह है । सर्वशक्त्य सूर्य उत्पन्न कैसे हुआ ? यह प्रश्न बन जाता है । इस के समाधान के लिए निम्न लिखित संवत्सरविद्या प्रकरण पर ध्यान डालनी चाहिए ।

स्मरन् कीर्त्तये उत निश्चिन्तां का ज्ञेयं किं न पृथिवी या न जम्भया या, न सूर्य या ।  
उत समय पति या तो क्या या ? इस प्रश्न का समाधान करती हुई मातृशक्ति कहती है—

'प्रापो वा इदमग्रे ससिसमेवास । वा अकाम्यपन्थ—कर्म तु ममाधेमहीति ।  
वा अमार्ग्यस्तास्तपोऽतप्यन्त । तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्यमपायहं सम्भूय ।  
भजातो ह तर्हि संवत्सर आस । तर्हि हिरण्यपायहं यावत् संवत्सरस्य  
मेमा, तावत् पर्यगच्छत । ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत् । + + + । स इह  
हिरण्यपायहं व्यहजत् । नाह तर्हि काचन प्रतिष्ठा—आस । तदेनमिदमेव हिर  
ण्यपायहं यावत् संवत्सरस्य मेमासीद्यादृविभ्रत पर्यगच्छत् । तानि वा एतानि

पश्चाद्वराणि तान् पञ्चवर्तनकुर्वत, तऽहम् पञ्चवर्तय\* । स पञ्चमिमौल्लोकान् जावान्  
सर्वत्सरे प्रजापतिरभ्युदतिष्ठत् । स सहस्रायुर्जज्ञे । + + + । स आत्मन्येव प्रजा-  
तिमपत् । + + + । स ऐदत् प्रजापतिः-सर्वं याऽमरसारिपं-य इमा देवता  
अध्वनीति-स सर्वत्सरोऽभवत् । सर्वत्सरो इ नै नामीतत्-यत् सर्वत्सर इति”

( शत० ११ का० १।६ ) ।

“पृथिवी-चन्द्रमा-सूयादि की उत्पत्ति-से पहिले ससिद्ध (नाम से मसिद्ध) पानी  
ही था । पानियों ने इच्छा की कि अपने कैसे उत्पन्न होंगे । इच्छानुसार  
उन पानियों ने तप किया, अन्न किया । इस तप-अन्न से तप्यमान पानियों  
में सुनहरी अण्डा उत्पन्न हुआ । उस समय तक सर्वत्सर उत्पन्न न हुआ था ।  
उस समय वह हिरण्यमाण्ड वह। तब व्याप्त, जहाँ तक कि आज सर्वत्सरचक्र  
की सीमा है । एक वर्ष में वह (पुरमार से युक्त होता हुआ) पुरुष बन गया ।  
उस ( आपोमय प्रजापति ) ने हिरण्यमाण्ड की ओर दृष्टि डाली । उस समय  
( उस अण्ड में ) कोई प्रतिष्ठा न थी । केवल सर्वत्सर की सीमातक प्रजापति  
उस हिरण्यमाण्ड को लिए हुए फिरता रहा । आगे जाकर पाँच अध्वरों से  
अध्वर्ष उत्पन्न की । इन अध्वरुओं के सहारे आपोमय प्रजापति एक वर्ष में उठ  
सुड़ा हुआ । आगे जाकर उसने अपनी आपु के हजार बप तक यज्ञ किया ।  
( इस से प्रजा उत्पन्न हुए ) प्रजाति नाम से मसिद्ध उस प्रजा को प्रजापति ने  
अपने ही शरीर पर प्रतिष्ठित किया । आगे जाकर प्रजापति ने विचार किया  
कि अरे ! इस प्रजनन क्रम में ) अपने तो अपना सब कुछ खो बैठे । प्रजा-  
पति के इसी माधनमय मण्डल का नाम “ सर्वत्सर ” हुआ । यह सर्वत्सर  
ही आज “ सर्वत्सर ” नाम से मसिद्ध है ” ।

सर्वत्र आपोमय पानी का साधाम्य है । उस को “ ईरा ” कहा जाता है । यह ईरा नाम  
का रस ही अग्नि सम्पन्न से बन बन जाता है । अग्नी प्रतिष्ठति उत्पन्न नहीं हुआ है, किन्तु

प्राकृतमूर्ति ब्रह्माग्नि का साम्राज्य है। उस समय पानी का रस भाग सर्वथा भवइच्छाशील है, मनप्रतिष्ठा का अभाव है। अतएव 'सरिदुभाषमयी-(प्रसन्नवर्णशीला) इरा -(रसभागा) यस्या' " इस निर्वचन से पानी की वह प्रापमिष-अवस्था "सरिर" नाम से प्रसिद्ध थी। पानी उस समय "ससिस्त" था इसका तात्पर्य यही है कि उस समय पानी का रस भाग सरिर था। सरिर ही सन्निध का चेतक है। इधर उधर भाँते रहना, यह अतृप्तता का सामा-जिक धर्म है। आपोमय परमेष्ठो स्वयं अतृप्त है अतः इसे न्यायतः सन्निध ही माना जासकता है। अग्नी "नह आप सबया शून है, सय (विषय -भाव का उदय अग्नी नहीं हुआ है" यही कलाने के लिए- 'आपो वा इदमग्रे सन्निधमेवास' यह कहा गया है। इस आपोमय महाद्वन्द्व के गम में मनप्राकृतवाक्यमय सृष्टिसाक्षी अभ्यय गर्मी बन रहा रहा है। का मना इस का निम्नधर्म है। इसी की क्रमना से मातरिका की कृपा से वायुरूप पानी में संचय होता है। बात यह है कि अतृप्त परमेष्ठो का पानी वायुरूप है। यह अचवापु स्तिर मातरिका वायु से घिरा हुआ है। इस स्तिर वेष्टन के भीतर गतिधर्मी वायु अग्न्यापार करता रहता है। मातरिका की सीमा तक आकर वह वापस छीटता है। यदि सीमा न होती तो वायु को इधर उधर निकल जाने के लिए पर्याप्त अवसर मिल जाता। उस समय संचय का अवसर न आता। परन्तु पिण्डरूपसमर्पक मातरिका के वेष्टन से वायु को निकलने का अवसर नहीं मिलता। वह अपने गतिधर्मात् से परस्पर में टकरा जाता है। वायु के इसी संघर्ष से अग्नेय परमाणु उत्पन्न होजाते हैं। वायु का संचयन वस्तुप्रयोग ही-'सहोवस' नाम से प्रसिद्ध है। यह अग्नि इसी वस्तु से उत्पन्न हुआ है अतएव इसे 'सहोवा' कहा जाता है। इसी सहोवा अग्नि की बीजा-वस्था 'वाक्' नाम की तीसरी प्रकृति है। यह वाक्त्व नही आपका सुप्रविष्ट, सूर्यस्वरूप-समर्पक गायत्रीमात्रिकवेत् है। इसी वाक्त्व की उस आपोयोनि में आहुति होने से उक्त सहोवा अग्नि उत्पन्न हुआ है। 'अप एव सप्तर्षिर्वा तासु बीजमवाप्तमव' इत्यादिरूप से मनुने जिस बीज का उल्लेख किया है, वह यही वाक्त्व है। बीजावस्थापन्न अग्नेय आप में आहुत होकर संघर्ष से अक्षिरूप से निवसित हुआ। सारे पारमेष्ठय समुद्र में अग्नि परमाणुरूप

से व्याप्त होगया । मातरिका द्वारा अण्ड का स्वरूप बन चुका था । इस आपोमय अण्ड में चारों ओर अग्नि अतकृत से भरगया । यही पियड यही बना, वेदक अग्निपरमाष्टुओं का उदय हुआ, यही हिरण्यमायक कहलाया । यही अग्निपुत्र 'धूमकेतु' नाम से प्रसिद्ध हैं । यही धूमकेतु सूर्यपिड के जनक हैं । इसी धूमकेतु का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

( १ )—हरयो धूमकेतवो वातजूता वयं यवि ।

यतन्ते ह्यगगनयः ॥ ( श्रुत् सं० पा४१।४ ) ।

( २ )—एतेत्ये ह्यगगनय इदासः सहस्रत ।

उपसायिष केतवः ॥ ( श्रुत् सं० पा४१।५ ) ।

( ३ )—अणवधे साविष्ट सौपधीरजुर्ध्वसे ।

गमे सधायसे पुनः ॥ ( श्रुत् सं० पा४१।६ ) ।

( ४ )—यदधे दिविना अग्निः अप्सुजा सहस्रत ।

त त्वा गीमिर्बापहे ॥ ( श्रुत् सं० पा४१।७ ) ।

( ५ )—स नो माहो अनिमानो धूमकेतुः पुरुषन्ध्रः ।

धिषे बाभाय रिन्वतु ॥ ( श्रुत् सं० १।७।११ ) ।

( ६ )—यदपुनया अरुणा रोहिता रये वातजूता ह्यमस्पेध ते रवः ।

आदिन्वसि वनिनो धूमकेतुनामे सकये मा रिरपामा वयं तव ॥ ( श्रुत् १।६।११ ) ।

● ( १ )—बापु से प्रेरित धूमकेतुअग्नि अन्तरिक्ष में पुषट् पुषट् गर्ग से आ रहे हैं ।

( २ )—पुषट् पुषट् मिथरण करने वाले बह ( धूमकेतुअग्नि ) अग्निप इक्ष्मणे द्वारा छविद बनकर ( यज मं, प्रकट हो रहे हैं ) ।

( ३ )—हे अण ! आप का निवासस्थान यानी मे है । ऐसे आप ओषधिका पर अनुग्रह पर उनके गर्भ व प्रसिद्ध होकर ( ओषधिकप से ) उत्पन्न होने हैं ।

( ४ )—हे अण ! आप सुहोत में, एवं यजिषो में उत्पन्न होने वाली हैं । सहस्रत से आप ( निरव ) मुक्त हैं । ऐसे आप भी हम मारुति से स्तुति कर रहे हैं ।

( ५ )—( सियदमक न होने से अनिमान—धीर्यकेदारहित—अतकृत—हलका: व्याध), अन्ध्रधन्ति के समान प्रकटित वह धूमकेतु नाम का अग्नि हमजी मुक्ति एवं कर्म ( हल-वर्ग के विर प्रसन्न करने ) ।



धैरिक वैज्ञानिक तथ्यों का बही ही प्रसाद माया में स्पष्टीकरण करने वाले अपान्तरतमा मर्षि के अवतार भगवान् कृष्णद्रोणायन (वेदव्यास) ने अपने सुप्रसिद्ध महाभारत ग्रन्थ में उक्त घमकेतुओं की उत्पत्ति का बड़ा स्पष्ट प्रतिपादन किया है, जिससे कि निम्न लिखित बच्चों से स्पष्ट है—

पुरास्ति मित्रमाकशममतमचसोयमम् ॥

तद्वचः श्राव्यमानं प्रसूतमिव संवमौ ॥१७॥

तन् सपिप्तमुदन्नं तपसीशपरं तम ॥

तस्माच्च सविसेयीशदुर्विष्ठं यावत् ॥२॥

यथा भावनमभिद्र निःशब्दमिव लक्ष्यते ॥

तथागमसापूर्वमाख सद्यम्द कुरुतेऽनित ॥१॥

तथा सल्लिखसद्धे नमसोऽन्ते निरन्तरे ॥

मिश्ररक्तस्य वायुः समुत्पन्ति षोडशम् ॥४॥

स एव चरते अपुरार्थोऽपीदसम्भव ।

आकशस्थानमासाद्य प्रशान्तिं नाधिगच्छति ॥१॥

तस्मिन् पाण्डुरम्बुमर्षे दीप्तवेगा महाबलः ॥

प्रादुःपुद्गलिम् कृष्य निस्तिनिर नम ॥१॥

(९) — हे जगद ! त्रिगुणमय जगत् शान्तिमय (वानुजय ही) दीर्घो से युक्त रथ पर तबल रीति से बनी की जलाने हुए मित्ररूप है उस समय जगत् का अन्त एक महा बलिष्ठ वृद्धमर्त्य त्रिगुणमय है। अन्तमय जगत् वानुजय सारं ब्रह्मणे (बृहस्पति में) अपने पुत्रदेवता जगत् से रथ रीति है। हे जगत् ! जगत् का जगत् मित्रा होवने पर हम करीब हुआ न बने। 'हम सदा जगत् के हैं' (जगत् का जगत् रथ पर सदा हमारी रथ बनी करीब)।

[illegible]

अग्निं पवनसमुक्तं रथं सन्नाक्षिपते असम् ॥  
 सोऽग्निर्मांससयोगाद् धनस्यमुपपद्यते ॥७॥  
 तस्याकाशं निपतितं रनेह्स्तिष्ठति यो पर ॥  
 स संघातत्वापम्नो भूमिन्बभूवुगच्छति ॥८॥  
 रसानां सर्वाण्यन्नानां स्नेहानां प्राणिनां तृषा ॥  
 भूमियोनिरिह देवा यस्यां सर्वं प्रसूयते ॥९॥

(महा० शान्तिप० मोक्षव० १८३ अ०।६रखो १७रखो पर्यन्त)

उक्त मन्त्रवर्णन एवं व्यासवचन से पाठकों को विदित होगा कि आपोमस्य (बाधुमस्य) महासमुद्र में इतखत दोषात्मान प्रदीप्त, सौरप्रकाशवत् प्रकाशमान अन्नाग्निपुञ्ज ही धूमकेतु है। 'धूमकेतुनामेकसहस्रसंख्येति-शशिनवज्रासमानरक्षीमाः' के अनुसार धूमकेतु संख्या में एक-सहस्र माने जाते हैं। यही सहस्र धूमकेतु पृथक्पृथक्-स सहस्रायुज्ज्वे' प्रजापति की आशु के सहस्र विभाग हैं। यही अग्निपुञ्ज सूर्यविण्ड के उत्पादक हैं। कोई एकसा धूमकेतु (शशिमत्त अग्नि) क्रमशः केन्द्र में संघातमात्र को प्राप्त होता हुआ सूर्यविण्डरूप में परिणत होगया है। यह अग्निपुञ्ज परिभ्रमणशील था अतएव तदुत्पन्न सूर्य भी रक्षस्थान पर घूमता हुआ अपने प्रथम परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लग्न रहा है, अब शर धूमकेतु सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लग्न रहे हैं। उल्कावच स्थान मद्र से इन की परिक्रमा का कास अनन्तवर्षों में विभक्त है। धूमते धूमते धूमकेतु अब सूर्य के समीप जाता है, तभी वह हमारे दृष्टिपथ में आता है। यही इस का उदय वज्र माना जाता है। परिभ्रमणशील धूमकेतु से उत्पन्न सूर्य के परिभ्रमण से ही प्रकर्मियों से आगे आकर शनि-मंगल-बृहस्पति-देवसेना-पृथिवी-भुव-मा-उर-कपिल-उरुह-आदि पृथक् पृथक् अनेक अद्विगोच उत्पन्न हुए हैं। यह सब सूर्य के हैं। सूर्य पौमी के गर्भ में उत्पन्न हुआ है, अतएव इन गोष्ठों में केन्द्र में अग्नि है, बाहर

पानी है । केन्द्रस्थ अग्नि प्रजापति है । यह अस्मदादि प्रजानिर्माण में क्रमशः निःसृत (सर्प) होता हुआ कम हो रहा है । जिस दिन अग्नि निःशेष होजायगा, इन गोशों का वायु समाप्त होजायगा । इसी क्रम से एक दिन सूर्य भी मल होजायगा, रह जायगा नहीं सत्सिद्धावस्थापन केवल आपोमय समुद्र । घूमकेन्द्र उत्पन्न होग्य, फिर नया सूर्य, नया विश्व बनेगा । निरखेयर के इस विश्वचक्र के अन्तःफलगत प्रवाह को जीवन जानसकता है ।

सृष्टि की उत्पत्ति क सम्बन्ध में पाश्चात्य जगत्ने " तेजोमेघविचार " ( Nebular Hypothesis ) को प्रचामता दी है । इस सिद्धान्त के आविष्कर्ता केन्ट और लानाप्स का कहना है कि " किसी समय साग विश्व चम्प्य वायुमय था । उस समय वायु रूप विश्व चक्र की तरह चारों ओर घूम रहा था । आगे जाकर क्रमशः मध्य भाग में घनमात्र का उदय होने लगा । बाहर के भाग के सम्बन्ध बिच्छेद होमानों के कारण ज्योतिर्गोस टूट टूट कर पृथक् पृथक् होग्य । ये तप्त गोसे जैसे जैसे ठडे होते गय, जैसे जैसे पिप्सते गय, आगे जाकर यह घन बनगय । इनका बाह्यभाग तो कठिन होगया, एवं भीतर का भाग चम्प्यवस्था में रहा । इस प्रकार अन्तरिक्ष में भूगोशों की उत्पत्ति हुई " ।

तुलना करिए पूर्व—पश्चिम विज्ञान की । दोनों में से कौन पथार्थ में प्रथम द्रष्टा है । " पहिले वायु था, वह पिण्ड बना, पिण्ड पिप्स गया, फिर कठिन होगया " इस रहस्य का क्रमिक निरखेयण किसने सब से पहिले ससार के सामने रक्खा ! उन्हीं वेद महर्षियोंने । आकाश से वायु, वायु से घन अग्नि, घन अग्नि से तरस पानी, तरस पानी से पुनः घन ( पृथिवी ) मात्र— इस क्रम के ( तत्मादृशा एतत्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अपोभूम्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिम्योऽर्भः, अर्भात् पुत्रपः ) प्रथम आविष्कर्ता हैं, इन कृत्यों के पिता पितामह । जिन की कि स्रष्टाने वेद का शिखर कर आद्य के विज्ञान युग में सन सिद्धान्ताधिपतिशों से पर दक्षित हो रही है । व्याकरण—न्याय—आप का उद्धार नहीं कर सकते उद्धारक है—एक मात्र वेद ! बहिर विज्ञान !! 'वेद एव द्विजातीनां निम्नेयसकरा परा' ।

प्रकृत का अनुसरण कीजिए। आपोमय (वायुमय) प्रभापति के गर्भ में घूमते-घूमते हिरण्यमाण्ड से आगे जाकर पिण्डरूपक सूर्य का जन्म हुआ, अतुलों का विकास हुआ, प्रभापति प्रभानिर्मल्य में युक्त होकर 'सर्वस्वर' रूप संस्वररूप में परिणत होगे। गायत्रीमात्रिक-वेदघन, प्रकृतिवाक्य, इन्द्रायमय संस्वरभिद्यता यही सूर्य सत्य का अवतार है। विषाग्नि यम होने से ही यह सत्य है। आपोमय परमेष्ठी सूर्यत्रयम इसी सत्य को अपने गम में धारण करता है। सूर्य पानी की गहराई में प्रतिष्ठित है—“अपां गमन्त्सीद्” ( शत० ७।५।१।= )। इसी सत्य सूर्य का निरूपण करते हुए निम्न लिखित श्रौतवचन हमारे सामने आते हैं—

१—“तद्यत् तत् सर्वं त्रयी सा विद्या” ( शत० १।५।१।१= )।

२—“तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म” ( शत० २।१।१।१० )।

३—“सत्यमेव य एष तपति” ( शत० १।१।१।२ )।

४—“आपो वै ( सौर )—वेदानां मियं धाम” ( त० ब्रा० १।२.१।२ )।

उत्पन्न होकर यह हिरण्यमाण्ड चारों ओर समुद्र में घूमने लग्य। आगे क्या हुआ ? सुनिए। अजद्विन 'सर्वस्वर' शब्द को कायवाचक समझ आ रहा है। यदि किसी विद्वान् से 'सर्वस्वर' शब्द अर्थ पूछा जाता है तो वह उत्तर में ३६० दिन के वाचक 'वर्ष' शब्द को प्रसक्त्य के सामने रख देता है। वस्तुतः संस्वर शब्द काय का वाचक नहीं है, अपि तु अग्नि का वाचक है। इस संस्वरभि के ही पञ्चसुक्ष्म णव निरूप हैं। जिस मार्ग पर पृथिवी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है, वह मार्ग क्रान्तिवृत्त नाम से प्रसिद्ध है। इस क्रान्ति-मण्डल में व्याप्त जो सौर अग्नि है, उसी का नाम संस्वर है। यह क्रान्तिवृत्त ही संस्वर की वैसा ( परिधि—तन्—अन्तिम सीमा ) है। सूर्य से पृथिवी उदात्त होती है। उत्पन्न होकर सूर्य के चारों ओर घूमने लगती है। ऐसी परिस्थिति में अग्नि उत्पन्न हो तब तो सूर्य का लक्ष्य सम्भ्रम हो, सूर्य हो तब पृथिवी बनें, पृथिवी हो तब संस्वरभि की सीमा हो। इसी अभिप्राय से सूर्योत्पत्तिकाल की स्थिति को ज्ञान में रखकर पृथगुक्ति ने “उस समय सर्वस्वर न था,

भान जो तुम सबस्मर की बेसी देख रहे हो, वहाँ तक केवल अधि भरा हुआ था, परं पद बढ़े वेग से घूम रहा था" यह कहा है। पृथिवी एक वर्ष में इस अग्न्यात्मक सबस्मर के चारों ओर घूम आती है इसलिये सबस्मर शुद्ध वर्ष का वाचक बनता हुआ ब्रह्म का वाचक बन गया है। वस्तुतः सबस्मर अधि का ही वाचक है।

सूय का जन्म हुआ, विद्या-कर्ममय विद्याका का विकास हुआ। साए विद्य अलोकेत एवं पुनर्जित होगया। सूय में जो इन्द्रभाग है वह तो कृम है, एवं चेतना भाग विद्या है। सौर इन्द्र रूपगोनि का (प्रत्यक्ष का) अधिष्ठिता है। इसी ज्योति को भूतगोति कहते हैं। विद्यामाग ज्ञानगोति है। दोनों में अनुप्राप्ति-अनुप्राहक सम्पन्न है। भूतगोति ज्ञानगोति पर प्रतिष्ठित है, ज्ञानगोति भूतगोति के आधार पर विकसित है।

हमारी बुद्धि जैसे अग्न्यात्मसंस्था को प्रकाशित करने वाला मूर्ध है एवमेव वह सूय आभिद्विकसंस्था को प्रकाशित करने वाली (इधर की) बुद्धि है। इसमें अविद्या-विद्या दोनों भागों का साम्राज्य है, अत एव इस में उपाति और तम का उन्म होनात्त है। दोनों भाग (प्रत्येक) चार चार भागों में विभक्त हैं। ज्योतिषशय विद्या भाग धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य इन चार भागों में विभक्त है, एवं तनेष्टवस अधिष्ठाभाग अरम-मज्जन-आसक्ति-धर्मवप इन चार भागों में विभक्त है। यही साम्प्रदायिक 'अष्टौ बुद्धयः' है। विद्या का चतुर्धा विभक्त ज्योतिमाग अम्यव के विद्याभाग का, एवं अविद्या का चतुर्धा विभक्त लोभमाग अम्यव के अधिष्ठाभाग का अनुप्राहक है।

प्राकृतिक निम्न निष्पत्ति का ही नाम धर्म है, जैसा कि पुरुषात्माधिकरण में विस्तार से बताया जा चुका है—( एगिर ई० वि० भा० पृ० --- ) प्राकृतिक विद्य को प्रत्यक्ष रूप से जानने वाली शक्त का ज्ञान है। उस विद्यगोति का सारे भूतों के रूप में प्रतीय रहता हुआ ही भूतज में जाता है, यही वैराग्य है। मयत्र, अशिक्षा से निश्चित रहने वाली नाम का

की समष्टि 'देवैर्य' है। नियतधर्म को आधृत करने वाला पाप्मा 'अशम' है। ज्ञानज्योति को आधृत करने वाला पाप्मा अज्ञान है। पण्यो में प्रस्थितधन डालने वाला, रागद्वेष उत्पन्न करने वाला पाप्मा आसक्ति है। आत्मज्योति को आधृत कर उसे जड़रूप में परिणत कर देने वाला पाप्मा 'अनैश्वर्य' है। ईश्वर के शरीर में (सूय के सम्बन्ध से) दोनों का सम्बन्ध है। सूय अपने प्राक्प्राण से निषाधनुष्णीक्य ईश्वीसम्पत् पर प्रवर्तक बनता है, एवं अवाहनाण से अविषाधनुष्णीक्य आधुरीसंपत् का जनक बनता है, असा कि वामसनेय श्रुति कहती है,

“स आस्येनेत्र (मुख्यमाणात्मकपाह्वाणेनच) देवा रक्षन्त । ते देवा दिवमभि-  
पय-अयश्च, तदेवानी देवस्य-यदिवमभिषाद्यश्च । तस्मै ह्यमानाय  
दिवेशस । + + + + । अथ योऽयमवाह माण -तेनाधुरानय्यत । त इवा  
मेर पृथिवीमभिषाद्यश्चन्त । तस्मै ह्यमानाय तम ईश स” । + + + + ।  
सामदेतदृष्टुपिणाऽम्यनुत्—

‘न त्वं युयुत्से कनमचनाहनतेऽपिषा मरान कथ नास्ति ।

मायेन मा ते यानि युद्धायादुर्मयि शत्रु न नु पुरा युयुत्से ॥”

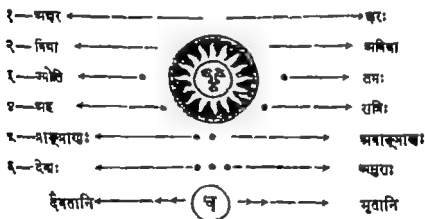
(शत० ११ वं० । १।१७-८) ।

उक्त ऋषी इन्द्राश्व सूय प्रसापति से ही जेव-अमुर सृष्टि की प्रवृत्ति बता रही है। 'दन्वा और अमुर दोनों सूय (इन्द्र) की सन्तान हैं। वही अश्वत्थ में जो इन्द्र का अमुरों के साथ युद्ध काकाया जाया है, वह अश्वत्थ है' उक्त मन्त्रधुनिने इसी अर्थ का स्पष्टीकरण किया है। पृथिवी के सम्बन्ध से सूय में अश्वोपप्रमाण का उल्लेख होता है। अश्व वज्र में और प्राण नामक प्राण की प्रधानता रहती है। रात्रि में पार्थिव अमाननाण की प्रधानता रहती है, इसी को अवाहनाण कहा जाता है। पृथिवी सूय का ही उत्पन्न है, अतः पार्थिव अमहमात्र को

१—रात्रिपत्त का निन्दित विषय अमरक के नाममात्र २ अश्वत्थ इत्यत्रा निरूपण इत्यादि ३ साम  
इत्यत्राप्रमाण म दत्तम अत्रिह ।

सूर्य का ही अक्षरप्राण मान लिया जाता है। पृथिवी में अग्निचारुप अक्षरप्राण की प्रधानता है, वह पार्थिवप्राण अक्षरप्रधान बनता हुआ मृतप्रधान है। सूय में विद्यारुप अक्षरप्राण की प्रधानता है। यह सौरप्राण अक्षरप्रधान बनता हुआ प्राणप्रधान है। मृतमयी पृथिवी की परिक्रमा से प्राणप्रधान सूर्य तमोमय आसुरीनिर्मूति का अक्षरमयक बनता है। संकसरामय ओक्तिर्मय प्राणप्राण से भी सूर्य देवीनिर्मूति का स्वरूप समर्पक बनता है। दिन में सूर्य की देवीनिर्मूति का, एवं रात्रि में आसुरीनिर्मूति का साम्राज्य है, जैसा कि श्रुतिमें—“स यद्रूपं देवान् सद्यमानाय दिवेवास, तदहरकुरुत । अथ यदस्या असुरान् सद्यमानाय तम इवास, तां रात्रिमकुरुत । तेऽग्रहो गे” इसादि रूप से व्यंग्य आकर स्पष्ट कर दिया है।

## सम्पत्परिलेख —



देवीसम्पत् विद्याचतुष्टयी	देवध ना आसुरध तमो प्राणपञ्चाः	आसुरीसम्पत् अग्निचाचतुष्टयी
------------------------------	----------------------------------	--------------------------------

सुपगत विद्या (ज्ञान)—भाग स्वरूप से एकरूप ही है । केवल पार्थिवभूत के सम्बन्ध से ही इसके चार विरक्त होजाने हैं । पार्थिवभूत पाप्मारूप होने से अभिधाप्रधान है । यह भूतभाग ही आत्मा परे निरक्ति से प्युत करता इष्टम अघर्म का कारण बनता है । वही विस्फोटी का आवरण बनता हुआ अज्ञान का राग-द्वेष का भूत बनता हुआ आत्मिकता का, एवं आत्मविकास का प्रतिद्वन्द्वी होता हुआ अनैश्वर्य का प्रवक्तृ बनता है । सत्तार में जितने अघर्म होते हैं, जितना अज्ञान है, जितनी आत्मिकता है, जितना विकासभाव है, उन सब की जड़ सांसारिक अघसम्पत्ति ही है । इन चार उपाधियों के कारण क्लृप्तकृत से सर्वथा निरुपाधिक वह विद्याभाग भी चार भागों में विभक्त होजाता है । इस प्रकार केवल भूत की दृष्टि से एक ही मुक्ति काठ स्वरूप धारण कर लेती है ।

### विद्याबुद्धय

### अविद्याबुद्धय

१—अघ → → → १ अघर्म

२—ज्ञान → → → २ अज्ञान

३—वैराग्य → → → ३ आत्मिकता

४—प्रेमव्य → → → ४ अनैश्वर्य



चार अभिधा विषयों के मूल पाँच हैं । अभिविषय से अघर्म का उदय होता है । त्रिसे हन-दुराह्वर बढ़ा जाता है, वही अभिविषय है । 'गुरुपदेष्टु-शास्त्र-सौकर्मपरिहृ-आदि' पुष्ट मदी है । जो पुष्ट हम समझते हैं, वही ठीक है । हम भी समझते हैं । हम अपना अपना दुष्ट रूप समझ सकते हैं" । इस प्रकार जाने-आपने सब सर्वा समझ कर बन्धित मिदगत बनाकर उपाध ग्रन्थ काया अभिविषय है । सत्तार में और सब देखें की विविधता समझ है, पाण्डु 'हम नहीं जानते' कहने वसों की विविधता व्यक्त मन्त्र भी नहीं कर सकते 'न तु मनिनिविष्टमूर्धनविषयसाधनपदे' । अज्ञान ही अभिविषय का जनक है ।



सर्वपा मूर्त को समझना जासकता है, विद्वान् सरलता से मुक्तिसंगत बात को मान लेता है । परन्तु अर्द्धविद्वितों का अनुरोध असम्भव है । ज्ञानसप्तवृषिद्वय अभिहितस्वप । भाव भरतर्षे में इसी अभिनिवेश का सम्भाव्य है । सभी शिषित माने जाते हैं, परन्तु सभी पूर्य अभिनिवेश हैं । शास्त्र की मर्यादा भी यही समझते हैं । शास्त्रों में क्या है ? इस के निर्धारक भी यही हैं, फिर चाहे सत्सत्तवात्म्य शास्त्र में इनका चन्द्रप्रवेश भी न हो । दुर्गम के रहस्य वेत्ता भी यही हैं । तभी तो देश कमश सञ्चति करता आरहा है । कहना यह है कि अभिनिवेश अन्तर्मुख का जनक है, अन्तर्भाव का कारण है । शिक्षा का अन्तर्भाव अज्ञान का कारण है । निरा शास्त्राध्यय के ज्ञान का आग्रह नहीं होता । रागद्वेष आसक्ति के जनक हैं, अस्मिता अनैश्वर्य की माता है । जो व्यक्ति निरन्तर 'हमारे पास कुछ नहीं है'—'कुछ नहीं है' करता रहता है, वह शीघ्र ही सारी विमूर्ति को बैठता है । निरन्तर रिक्त (स्तिवता) भाव है । अपने आत्मा में सब कुछ विमूर्ति समझना रिक्तबुद्धि ऐश्वर्य का कारण है । प्रत्येक दशा में अन्तर्भाव का अनुभव करना अस्मिता खण्ड्य अनैश्वर्य है ।

१—अभिनिवेश से—अन्तर्भाव

२—अभिधा से —अज्ञान

३—रागद्वेष से —आसक्ति

४—अस्मिता से —अनैश्वर्य

पूर्व कथनानुसार ईश्वर के शरीर में पूर्णतः अष्ट विवर्त हैं । उस में द्वीरीसपद भी है, आसुरीसपद भी है । तथैव वह कालरूप से सदा निरक्षित रहता है । कारण इस का यही है कि वह समत्वयोग का अभिधायक बना हुआ है । उसमें अभिधा है अन्तर्भाव, अन्यथा यदि आत्मरूप सत्ता कैसे निरक्षित उत्पन्न होता । परन्तु समत्वयोग के प्रभाव से वह कर्ममय निवृत्ति होता हुआ भी अक्षिप्त है । अभिधापुक्त होता हुआ भी अभिधासे अपराध (असंग) है—  
“केशकर्मविपाकायैरपराधः पुरुषविशेष ईश्वरः” (पातञ्जल-योगदर्शन) ।

“सप्त वै देवस्वगाः” के अनुसार देवस्वग सात भागों में विभक्त हैं। इन सातों देवस्वगों की प्रतिष्ठा सूच्य ही है अथवा सूच्य के लिए—‘मध्ये इ संवत्सरस्य स्वर्गो लोकाः’ (शत १।७।४-११)। ‘स्वर्गो लोकाः सूच्यो ज्योतिरुत्तमम्’ (यजु सं २०।२१-शत १२।१।२६) इत्यादि कहा जाता है। इन सात देवस्वगों के अतिरिक्त तीन विष्टपस्वग और हैं। यह तीनों क्रमशः ब्रह्मविष्टप, विष्णुविष्टप इन्द्रविष्टप नामों से प्रसिद्ध हैं। तीनों की समष्टि त्रिविष्टपस्वग है। पृथ्वी के १७ वें अर्धरात्रि से आरम्भ कर २५ वें अर्धरात्रि तक जो एक प्राकृतिक चक्र होता है, वही नवाहयज्ञ (१-२-३-४-५-६-७-८-९-१०-११-१२-१३-१४-१५-१६-१७) इन अर्धरात्रियों की समष्टिरूप) नाम से प्रसिद्ध है। इस नवाहयज्ञ के केन्द्र में (२१ वें अर्धरात्रि में) अथाहयज्ञविष्टपता सूर्य प्रतिष्ठित है। पृथिवी के ३३ अर्धरात्रियों में से निम्न अर्धरात्रि पर सूर्य प्रतिष्ठित है। इस प्रश्न का सम्प्रधान करते हुए निम्नलिखित श्रुति बचन हमारे सामने आते हैं—

१—“एकविंशो वै स्वर्गो लोकाः” (शत० १।७।४।६)।

२—“एकविंशो वै इवः स्वर्गो लोकाः” (तै० ब्रा० ३।१२।५।७)

३—“एव एकविंशो य एव (सूर्यः) तपति” (शत० ५।३।२।४)।

संक्रयणत्मक सूच्य की प्रतिष्ठा यही नवाहयज्ञ है। १७ तक पृथिवी का अपमान प्रायः है, १७-से २५ तक सौर संक्रयण का सामूहिक है, इसी आधार पर—‘नवाहो वै संवत्सरस्य प्रतिमा’ (पर्वणि ब्रा ३।१२।) यह कहा जाता है। १७ अर्धरात्रि सूच्य से ऊपर हैं। इन दोनों चतुष्टोमों की प्रतिष्ठा एकविंशस्तोमात्मक सूच्य ही है—“एकविंशो वै चतुष्टोमः स्तोमानां परमः” (कौ० ब्रा० १।१।६) “प्रतिष्ठा वा एकविंशः स्तोमानाम्” (सं० ब्रा० ३।७।२)। इन में १७ वाँ स्तोम ब्रह्मविष्टप कहा जाता है। यहाँ तक पार्थिव अग्निप्रभापति की प्रधानता रहती है। यही सप्तशस्तोमस्य अग्नि—‘प्रभापतिः सप्तदश’ (ऐ० ब्रा० ८।४) के अनुसार प्रभापति कहा जाता है। यही अग्नि ‘आहवनीय’ नाम से प्रसिद्ध है—(देखिए ऐ० ब्रा० ३।२४-२६)। सप्तदशस्तोमस्य इस आहवनीय अग्नि में सोम

की आहुति होती है । इस आहुति से यह अग्नि प्रग्वलित होकर २१ एकविंश स्तोम तक व्याप्त हो जाता है । इसी सोमाहुति के प्रभाव से पार्ष्णि यज्ञ की एकविंश तक व्याप्ति मानी जाती है । इस यज्ञात्मक मिष्णु के-विष्टु (६), पञ्चम्य (१५), एकविंश (२१) यह तीन विष्टम हैं । इन्हीं तीनों विष्टमों से ( यज्ञस्थलों से ) ब्रह्मन्विष्टु १-१५-२१ रूप पृथिवी-अन्तरिक्ष-वायु इन तीनों लोकों में व्याप्त हो जाते हैं । २१ पर मिष्णु की व्याप्ति समान है । यही २१ वां स्तोम 'विष्णुविष्टप' कहा जाता है—“तान् विष्णुर्देवर्षिर्देवस्तोमेनाप्नोत्” ( तै० ब्र० २।७।११।२ ) । इसी मिष्णुविष्टप को प्रचक्षयविष्टप स्वराराज्ययज्ञ अग्नि नामों से भी व्यवहृत किया जाता है—( देखिए तै० ब्र० ३।१।१३ ) । यही अर्ग-नाक्षत्रय नाम से भी प्रसिद्ध है । २१ से २५ तक इन्द्र विष्टु का सामान्य है । इसी को सौम्यविष्टु कहा जाता है । यही सौम्यविष्टु उपनिषदों में—‘अमानवपुरुष’ नाम से प्रसिद्ध है । यही तीसरा इन्द्रविष्टप है । दूसरे शब्दों में यों समझिए कि २५ से २१ तक इन्द्र की प्रधानता है, २१ से १७ तक मिष्णु की प्रधानता है, एवं १७ से १ तक पार्ष्णि कहा की प्रधानता है । पार्ष्णि ब्रह्मा की मूलप्रतिष्ठा १७ वां स्तोम है मिष्णु की मूलप्रतिष्ठा २१ वां स्तोम है, एवं सौम्यविष्टुरूप इन्द्र की प्रतिष्ठा पञ्चविंशस्तोम है । इस प्रकार १७ से २५ तक के स्तोमों में से—१७-२१-२५ तीन तो विष्टपक्रमों में समाविष्ट हो जाते हैं । शेष रह जाते हैं—१-५-१०-१५-२० यह ५ स्तोम । इन के साथ में २१ के का सम्बन्ध माना जाता है । यह २१ वां स्तोम है, मिष्णुविष्टप कहा २१ वां स्तोम है । इस विष्टप का कारण अग्नि और मिष्णु है । १० से २० तक स्वर्ग्याधिपत्य से प्रसिद्ध नाचिकेताग्नि का सामान्य है । सुतरां सम्पत्ति २१ के स्तोम में भी नाचिकेताग्नि की सत्ता सिद्ध हो जाती है । इस नाचिकेताग्नि के सम्बन्ध से २१ वां अर्गस्य देवस्यार्ग्ये में प्रसिद्ध है । उक्त २१ पर मिष्णु का भी प्रसक्त है । मिष्णु के सम्बन्ध से यह २१ वां विष्टप अर्गस्यार्ग्ये में भी प्रसिद्ध है । इस प्रकार २१ के दो स्वरूप हो जाते हैं । यही सात देवसर्गा की मूलप्रतिष्ठा है । १-१५-२० यह तीन देवसर्ग २१ से इतर हैं २५-२५-२५ यह तीन देवसर्ग २१ से उक्त हैं, अर्थात् २१ वां सातवां देवसर्ग है । यही तीन-म

अनुसार 'स्वरसाय' नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी के कारण सूर्यग्रहण होता है, ऐसा कि अन्य प्रयोगों में स्पष्ट है। यही सप्त स्थासनादि 'भियाचिकेतस्वर्ग' नाम से प्रसिद्ध है। यह सातों स्त्री क्रमशः अपोदक, धृतभावा, अपरामित, नाक, अपिषी, प्रथी, रोचन, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। १० से १४ तक व्यक्त रहने वाले एक ही अग्नि की सात भिन्न भिन्न अवस्थाएं हो जाती हैं। अग्नि की ये ही सातों अवस्थाएं क्रमशः—अग्नि, वायु, इन्द्र, आदित्य, वरुण, मृत्यु, प्रजा, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार सप्तदेवस्त्री—तीन विद्यप स्त्री—इन सब की समष्टिकर महादेव की प्रतिमा रूप सौराग्निमय सक्सर अवसरूप से खड़ा हुआ है। इस संवत्सर में सभी स्त्रियों का समावेश है। दूसरे शब्दों में यह स्त्रियों का टीका (पर्वत) है। अतएव इसे स्वर्गपर्वत कहा जाता है। बिही पावाय आदि का जो एक उन्नत समूह होता है, उसे प्रान्तीय भाषा में टीका कहा जाता है। इसी के लिए वेद भाषा में 'वरुण' शब्द प्रयुक्त हुआ है। सक्सर क्या है, स्त्री का वरुण है। प्रतिष्ठातृत्व को ही वरुण कहा जाता है। सौर सक्सर ही श्रेष्ठोन्नत की प्रतिष्ठा है। इस प्रतिष्ठा की भी वृक्षप्रतिष्ठा एकविंशत्य आदित्य है, अतएव इसे भी 'वरुण' शब्द से व्यवहृत किया जाता है, ऐसा कि अत्रिमुक्ति कहती है—

“मसावेवादिस्तो वरुण एकविंशः। तथचमाह वरुणमिति, यदावेवैपो-  
ऽस्त्वमेति—अयेर्द्धं सर्षं त्रियते” (शत० २।४।१।१२)। “प्रतिष्ठा वै  
वरुणम्” (शत० ७।४।१।५)।

सक्सर स्त्रीरूप वरुण (प्रतिष्ठा) है, इसलिये भी इसे स्वर्गपर्वत कहा जा सकता है। यही स्त्रीवरुण अपरविन्द में 'स्कम्' (पम्मा) नाम से व्यवहृत हुआ है—“स्कम्मे सप्त मति  
पुति,” (अपर्व स० १०।४।७।३०)। यह अग्निस्कम् (सक्सर, अविवाही रूप में खड़ा है। यही वावा—पृथिवी का आत्मन्व है। इस स्कम्मरूप सगवर्ण के ऊपर (केन्द्र में) विपारूप से सूर्य तप रहा है। सक्सरवर्ण आग्नेय है। यही एकवक्त्रात्मक (एक पहिए वाला) अग्निमय

मण्डल सूर्य का सुनहरी रंग है । गायत्री-उष्णिक्-प्रनुष्टुप्-पृथ्वी-पङ्क्ति-प्रिष्टुप्-म  
गती नाम से प्रसिद्ध सात छन्द (सात पूर्वापरवृत्त, किंवा आहोरात्रवृत्त) रंग के सात मोटे हैं ।  
इन मोटों पर सूर्य सवार है । इस प्रकार नीचे स्वर्गभरणरूप स्तम्भ, उस पर मोटे, उस पर  
सूर्य प्रतिष्ठित है । इसी सूर्य को-‘अरमापृथि’ कहा जाता है । अरमा नाम के मृग सोम की  
आहुति से ही सूप ज्योतिर्मय बन रहा है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

महत्तद सोमो महिष्यकारापां यद्गर्भोऽदृशीत दवान् ।

अदपादिन्द्रे पवमान भोजोऽजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दु ॥

( अक् स० ६ ६७।११ ) ।

इसी सोमज्योति से सूप में सप्तवर्णात्मिका रश्मियों का उदय होता है । सप्तवृक्ष समष्टि ही  
(वित्र विवित्र बर्णा का समुच्चय ही) पृथिन है । इसी अरमा और पृथिन मान के कारण सूर्य  
को ‘अरमापृथि’ कहा जाता है । अथि च विप्र प्रकार एक अरमा (पत्थर) स्थिर होता है,  
इसी प्रकार सूप खलरूप से अरमाखल (पापाखलोष्ठ) की तरह स्थिर है, सूर्य का रश्मि-  
मण्डल पृथिन है । निवहापेक्षया सूप अरमा है, मण्डलापेक्षया पृथिन है । इस अरमापृथिन  
सौरमण्डल के साथ चन्द्रा, समुद्र, अरुण, सुषण इन चार भागों का सम्बन्ध है । उच्चा शब्द  
वृषम (बैल) का वाचक है, समुद्र शब्द पानी का वाचक है, अरुण शब्द पुरुष का वाचक है, एष  
सुषण शब्द पत्नी का वाचक है । सूप साक्षात् वृषम है—‘वृषमो रोरवीति । रस-अपरस  
घातु-अपघातु-विष-अपविषादि की वृद्धि सूप से ही होती है, इसी वषण कर्म से इसे  
‘वृषम’ कहा जाता है । अथि च यही गीप्राण गीपशु का आरम्भक है । तात्पर्य यह है कि  
केवल वर्षणशील होने से ही सूर्य वृषम नहीं है, अथि तु गीप्राणवच्छेदेन सप्तमुष वृषम (गो)  
रूप है । सौर रश्मियों के संपर्क से गरीभि नाम का पानी उत्पन्न होता है । सात रोश्वती ब्रह्मोन्म  
इस पानी से व्यस्त है । जैसे पारमेष्ठिन समुद्र सरसात् कहा जाता है, तथैव संश्रसारभिष्टेय्य का  
सौर रोश्वती समुद्र अर्थात् नाम से प्रसिद्ध है—‘ततः समुद्रो अर्थात् समुद्रार्द्धाद्वापि सप्त’

ससरो अमायत' (अ. १०।१६०।१२)। अथि य वज्र का अधिष्ठाता होने से भी आदित्य समुद्र-  
स्पक है। सूर्य ही एकमात्र वृष्टि का अधिष्ठाता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

कृष्यं नियान हरयः सुपर्णा अपो मसाना दिवमुत्पतन्ति ।

य आपवृषन्तसदनाहनस्यादिद् वृत्रेण वृथिवी व्युद्यते ॥

(अ. १०।१६४ अस्पृशामीम सूत्र ४७ मं०)

‘यद्वा स्वस्वसावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्षावतने—मय वर्पति’ इत्यादि आसन्नश्रुति, एवं  
‘आदित्याज्जायते वृष्टिः’ इत्यादि स्मृति भी उक्त अर्थ का ही स्पष्टीकरण करती है। पुरुष  
शब्द षोडशी आत्मा का वाचक है। पूर्व में बताया जा चुका है कि विश्वकेन्द्रभूत सूर्य में ही  
पुरुष का निवास होता है। इसी आत्मपुरुष को सद्य में रखकर ‘षोडसावादित्ये पुरुषः  
सोऽहम्’ यह कहा जाता है। वैश्वोक्त्य में जितना भी पुरुष (आत्म) विवक्षित है, सब का  
अधिष्ठाता पुरुषावच्छिन्न सूर्य ही है। गरुड़ पक्षी का जैसा आकार होता है वीक जैसा ही  
आकार सौर सक्षर का है। अतएव पूर्व में सक्षर को—‘महामुपर्य’ (वैश्वोक्त्य व्याप्त गरुड़  
पक्षी) कहा गया है। आत्मा इसी सुपर्ण का अंग है, अतएव प्रयाणकाल में आत्मा भी  
सुपर्ण नाम से ही व्यवहृत होता है। यह भेदरूप सुपर्ण (जीवात्मा) लोकान्तर में पश्चिम्ब  
सेवर्ण करता है। सुवसिष्ठ गरुड़पुराण इसी आत्मगति रहस्य का निरूपण करता है। इस  
प्रकार उद्या—(हृष्य), समुद्र (अर्द्ध), अरुण (पुरुष) सुपर्ण—(संक्षर) इन चार भावों  
से निम्न आक्रान्त वह अरमावृष्टि सूत्र पुस्तक में उसी प्रकार खड़ा हुआ है, जैसे कि आकाश  
में निधवार (किन्तु स्वच्छ से आवायुक्त) विमान (वायुधान) खड़ा रहता है। ऐदंसी  
वैश्वोक्त्य में व्याप्त इसी विमान का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

विमान एव दिवो मय्य आन्ते आ मयिवात्र रोदसी अन्तरितम् ।

स विवापीरमिषेष्ट धृतापीरन्तरा पूर्वमपर च केतुम् ॥ (पठ सं६ १०।१६२)।

उद्या समुद्रो अरुणः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविरेण ।

मय्ये दिवो निहिः पृथिरस्या वि चक्रथे रजसपान्यन्ती ॥ (अ. १०।१६३।१)।

“यसौ वा आदित्योऽथ्मा पृथिवी । रश्मिभिर्हि मण्डलं पृथिवी । एष इमौ लोका-  
न्तरेण तपति । स्थिरो वा ऊरुमा पृथिवी, अन्तरेण च सोऽयमुष । विष्णु-  
मायो वा एष एषां लोकानामन्तात् पति” ( शत० ६।२।१७ ) ।

उपर्युक्त आधिदैविक स्वर्गपरक केवल ज्ञानगम्य है, मन से उपास्य है । बर्मबहु से  
अस्मापृथिवीरूप सूर्य के अतिरिक्त आप स्वर्गजल के और किसी अवयव को नहीं देख सकते ।  
त्रिप्त समय भूमण्डल पर वेद्युग का साम्राज्य था, उस समय देवताओं ने ( मनुष्यविष भौम-  
देवताओं ने—त्रिमूर्ति कि सत्ता आज सर्वथा उच्छिन्न हो चुकी है ) भीमस्वर्ग प्रदेश में उस  
प्राकृतिक ( आधिदैविक ) स्वर्गपरक की नकल में टीक बैठा ही एक स्वर्गजल बनाया था ।  
इसी प्रकार विज्ञानतज्ञों की परीक्षा के लिए सिन्धु नदी के उस पार सरस्वती नदी के समीप  
के टीके पर ( जहाँ पर कि बसिष्ठ महर्षि का आश्रम था ) एक विज्ञानमयन बनाया था ।  
यही विज्ञानमयन ‘स्यसन्न’ नाम से प्रसिद्ध हुआ है । द्वेते चके सूर्ये ब्रह्माय श्रुतुवा विदुः  
( श्रु० १०।१५।१६ ) इत्यादि रूपसे श्रुति में इसका बड़ा विशद निरूपण है । यह भी  
प्रकृति की नकल पर ही बनाया गया था । विस्तारमय से हा का निकषण प्रकृत में अनपेक्षित  
है । इस प्रकार उस समय की ब्रह्मात्मों में स्वर्गपरक और सूर्यमयन को सर्वोच्च स्थान दिया  
जाता था । दुष्टदुष्टि असुरों की हता से आज भूमण्डल वल दोनों विभूतियों से वञ्चित हो  
गया है । दोनों से शब्दों में स्वर्गजल की भी राधा सुन लीमिए ।

जिस प्रकार प्रकृति में मिथ्यादि लग बतलाए गए हैं इसी प्रकार भौम ब्रह्मा हर इस  
भूमि पर मिथ्यादि स्वर्ग व्यवस्था व्यनस्थित हुई थी । ईशानकोश में सौवीरराष्ट्र के अधि-  
पता भीम इन्द्र का साम्राज्य था । जो भाग आज साइबीरिया ( Siberia ) नाम से  
प्रसिद्ध है, जिस भाग में आज तुपार बर्षा का ( एक का ) साम्राज्य है जहाँ नरसिंहक मित्याय  
असम्प कुछ एक जगती मनुष्य, एक कुछ एक बर्षाते पशु पक्षियों को कोकर कुछ नहीं है,  
यही का मध्य भाग किसी समय ‘अमरावती’ नाम से प्रसिद्ध था । यही वेद्यविधि इन्द्र अपनी

सुधर्मासिमा में निर्णय किया करते थे । यही मेहरारू नाम का दो मस्तक, एक ग्रीवा वाला अर्द्ध-  
सुत स्वर्गीय पक्षी था, यही सनातन हाथ वाले 'मेमाय' नाम के हाथी होते थे । इस प्रकार  
देवयुग में उक्त स्थान मानवसम्पत्ता का सर्वोत्तम स्थान बना हुआ था । ओर ओर सब देव स्थानों  
पर अविकर कर लेने पर भी असुर इस दिशा में आक्रमण न कर सके । अतः यह 'अपरामि-  
तादिक्' नाम से प्रसिद्ध हुई । यही एन्द्रायाम पुरयुग में 'इन्द्रविष्टप' था । प्राग्नेय ( पामीर )  
पर कान्तिमतीसमा युक्त प्राग्ज्योतिष भग्न में ब्रह्मविष्टप था । एव उत्तर दिशा में इन्द्र-  
ब्रह्म के मध्य में ध्रुव से नीचे के प्रदेश में मद्रगिरि-चन्द्रगिरि नाम से प्रसिद्ध दोनों पर्वतों  
के मध्य में विष्णुविष्टप था । इन तीनों की समष्टि ही उस समय 'त्रिविष्टपस्वर्ग' नाम से  
प्रसिद्ध थी । इनमें ब्रह्म और विष्णुविष्टप के मध्य में मेरु से उत्तर १७ अंग पर चौथा ब्रह्मन्म-  
विष्टप था । यही देवजाओं की देवयजन भूमि थी । देवता यही यज्ञ किया करते थे । उत्तर  
दूस में जो म्लिच्छ आज के मुक्ककोप ( मुगोच ) में 'वासकश' नाम से प्रसिद्ध है, यही देव  
युग में प्राची सरस्वती नाम से प्रसिद्ध थी । देवतासोम इसी नदी में अवभृथस्नान (व्या-  
स्तस्नान) किया करते थे, यही स्थान ब्रह्मन्मविष्टप था, यही स्वर्गधरुष था । यही स्वर्ग का  
परिचायक था । यहां से चारों ओर रास्ता जाता था । ईशान की ओर इन्द्रविष्टप का मार्ग,  
उत्तर की ओर विष्णुविष्टप का मार्ग, पश्चिम की ओर ब्रह्मविष्टप का मार्ग, एवं दक्षिण की ओर  
पितृमार्ग था । जिसे आज 'मगोसिया' कहा जाता है, यही हमारा 'मराठी' नाम का पितृलोक  
था । इस प्रकार चारों ओर गमन के मार्गों से युक्त इसी (चतुष्पथ-बीराहा) में स्वर्गवरुण खड़ा  
था । चतुष्पथ के ठीक बीच में एक चौकोर ऊंचा चतुर्गुण बनाया गया इस पर बड़े शिल्प से  
( नीचे से बड़ा, ऊपर से क्रमशः छोटा ) एक पावर का स्तम्भ खड़ा किया गया, यही अग्रया  
था । इस अग्रया के सर्वोच्च परातल पर प्रहस्तिष ( एको अग्रतो बहति सप्तनाम्न-अर्कः  
१ १६४।१।) पात का एक अग्र बनाकर उसके मुख के सात मस्तक बनाए गए ।

इस सप्तमुख अग्र के पृष्ठ पर एक दण्ड खड़ा कर उस पर चमकता हुआ रश्मियुक्त सूर्य  
प्रतिष्ठित किया गया । रश्मिप्रसार के कारण ही इस का पृष्ठि नाम रखा गया । यह बनाकती



सुप्त दिन-रात समान रूप से प्रकाशित रहता था। चारों भागों के पथिकों को माग मत-  
चामा इसका मुख्य कर्म था। सब से नीचे चतुर्दश के चारों ओर एक चतुर्भुज मण्डल बनाया  
गया था। इस मण्डल के चारों कोणों में क्रमशः उदात्त-समुद्र मण्डप सुपर्ण यह चार बस्ये प्रतिष्ठित  
की गई थी। एक कोण में पापाय का वृषभ (बैल) सजा दिया गया था। दूसरे कोण में बैल से  
टीक नीचे एक गड़ब पड़ी थी। इस की आकृति ऐसी बनाई गई थी, जैसे सोमापहरण के लिए  
यह भगाव मार रहा हो। तीसरे कोणमें अरब पर एक मनुष्य बनाया गया था। उस के हाथ  
में एक माछ था, और वह माछ मूत्र में प्रविष्ट था। जिस स्थान पर माछ गड़ा हुआ था,  
वहाँ से पानी निकल कर चौथे कोण में बने हुए समुद्र (सगेवर) में निरन्तर जाता रहता था।  
इसी पानी से वह ताकानं सत्ता मरा रहता था। आशय यह था कि भास्कर से निकल हुए पानी  
के निरन्तर बाने पर भी उस ताकान में से (और किसी मार्ग से पानी के बाहर निकलने का  
द्वार न होते हुए भी) पानी अपनी नियत सीमा का उल्लंघन नहीं करता था। वैश्वविष्टि  
इन्द्र के इस स्थिति से उस समय सात विश्व अभित था। अर्थात् वैश्विक वर्गधर्म की इस प्रतिमा  
से इन्द्र का अथ सर्वत्र व्याप्त हो गया था। इसी प्रतिमाका मूर्तिक चरित्र का निरूपण करते  
हुए श्रुति कहते हैं—

इमं दीर्घाय चतुसे आमूर्य रोहयद्विषि ।

वि गोभिरद्विषैत्यमत् । ( ऋक्स० १०।३ ) ।

इन्द्रो विषः प्रतिमानं पृथिव्या विरवा वेद सवना इति शुष्णम् ।

मरी चिद्रूपामनोव मूर्त्येय वात्कम्भ भिक्कम्भनेन स्कम्भनीयान् ॥

( ऋक्स० सं० १०।११।३ ) ।

भागों के परिसेल से स्वगणधर्म की प्रतिमा का सत्त रूप सौंद हो जाते हैं। इन्द्र के  
प्रतिमा स्थिर से तत्कालीन प्रमाणों इन्हें सर्वश्रेष्ठ माना था, जैसा कि 'सतो वा इन्द्राय वर्ता  
अनुधापातिष्ठन्त-सन्निधौ परयन्तः' इत्यादि रूप से पूर्व में कहा जा चुका है।

विज्ञानधनसूपप्रकरण के सम्बन्ध से तत् सम्बन्धी संश्लेषणका स्वगणधर्म का निरूपण

कराया गया, अब पुनः प्रकृति का अनुसरण करते हैं। यद्यपि विश्व की योनि महद्ब्रह्म ही है, तथापि जब तक बाह्यमय सूत्र का इस के साथ सम्बन्ध नहीं हो जाता, तब तक यह सृष्टि करने में असमर्थ ही रहता है। कारण इसका यही है कि सृष्टि की प्रवृत्ति सम्बन्ध-रम-रम इन गुणों के व्यापार पर होती है। हम तीनों में भी सृष्टि का प्रधान मूल रजोगुण ही है। ज्ञानमयान सत्त्वगुण निष्क्रिय होने से, अत्यन्तान तमोगुण जब होने से व्यापारमूला सक्रियसृष्टि में असमर्थ है। समर्थ है एकमात्र मध्यमविवृत्त क्रियामयान रजोगुण। विश्व का मूल रज है। इस रज के साथ यदि सत्त्व की प्रधानता रहती है तो सात्त्विकी सृष्टि होती है, तम की प्रधानता से तामसी सृष्टि होती है, स्वयं रज की प्रधानता से रजोमयी सृष्टि होती है। ज्ञानरज ग्यानिर्मय होने से शुद्ध (शुक्ल) माना जाता है, तम आवरणरूप होने से कृष्ण माना जाता है, रज मध्यमविवृत्त रज 'रक्त' है। यही सृष्टि में प्रधानरूप से अनुगुक्त है—'रजोऽपि जन्मनि सत्त्ववृत्तये'। महद् प्रवृत्ति इन शुक्ल-रक्त-कृष्ण भावों से शुद्ध अज्ञ पुरुष की प्रजा है। दूसरे शब्दों में 'मम योनिर्निर्गुणः प्राज्ञ तस्मिन् गर्भे दधान्यहम्' के अनुसार स्वप्रवृत्तिमूर्त, अतएव 'अज्ञा' नाम से प्रसिद्ध इस महद् प्रवृत्ति से शुद्ध होकर ही अज्ञपुरुष सृष्टि किया करता है। ऐसा कि—'अज्ञायेकां सोदितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः समपानाः सरूपाः' (खेता० ४।५) इत्यादि से स्पष्ट है। मतसार्थ यह है कि सृष्टि महद्ब्रह्म के त्रैगुण्यमात्र पर निर्भर है, एवं यह त्रैगुण्यत्व सूत्र के वर्षपूर्वमास यज्ञ से उत्पन्न होती है, जैसा कि पूर्व के महाद्वारा विकारण में विलीन हो जाता था। सूत्र ज्ञान-क्रिया-अप-मूर्ति है। यही तीनों, मात्र महद्ब्रह्म में सत्त्व-रज-तम रूप से विकसित होने हैं। सत्त्व-रज-तम तीनों ही गुण हैं, निर्माकरणा में जाते हुए तीनों ही गेय हैं। सत्त्व ज्ञानभाग को विकसित करता है, इससे (ज्ञानोदय से) आनन्द आता है। सत्त्व का प्रवक्तृ सूर्य ही है, अतएव—'सस्तादधि मद्यनात्मा' इत्यादि रूप से युक्तिगुण सूत्र को, किंवा सूर्यरूप बुद्धि को 'सत्त्व कहा जाता है—(द्विचि० प्रश्नो० ६।७)। जिस बीजाणा में सत्त्व की प्रधानता रहती है, उसमें ज्ञान कीर्तमानन्द (आत्मनन्द) बलों का विकास रहता है। सत्त्व (विद्यामय) अभ्यास के विचारों आनन्द

विद्याम को विकसित करता है। जो चीर सदा प्रसन्न रहते हैं, निषारशील हैं, बुद्धिमान् हैं उनमें सत्य की ही प्रधानता है। यह सदा काम से ही परिभ्रम करते हैं। इनसे शरीरायास नहीं हो सकता। जिस में कमप्रवृत्तता अधिक है, काम्य कर्मों में, सांसारिक धर्मों में जो रात दिन प्रवृत्त रहता है, उस में रजोगुण की प्रधानता समझिए। एव जमाद्-मासम्भ-अतिनिद्रा-अतिमोहन-निरर्षक क्लान्तपापन-यः सब तमोगुण का चमत्कार है। (देखिए गीता० १४ अ० १६, ७, ८ श्लो०)। इस प्रकार उक्त तीनों गुण प्रकृति से (और दूर्य्यूषमास द्वारा) उत्पन्न होकर देहस्थित जीवात्म्य को केवल में डाल देते हैं, जिसांकि स्मृति कहती है—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंमवाः ।

निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ (गीता० १४।२५) ।

इस प्रकार आपोष्येति में जग्रेष्ठ से उत्पन्न, मूढदमक में त्रैगुण्य का उदय करने वाला, अक्षररूप, अव्यय—हर के विद्या-अविद्या से समरूप बने हुए लोकद्रष्टा सहस्रांशु भगवान् विश्व के केन्द्र में प्रतिष्ठित हो रहे हैं। अव्यात्मसस्या में आने वाला वही और माग 'विज्ञानात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। आर्कितिक विज्ञानात्मा (सूय) का निरूपण समाप्त हुआ, अब अव्यय त्मिक सूर्य (विज्ञानात्मा) का विगूहन करवाया जात है।

विद्या-अविद्यात्मक यह सूर्य अव्यात्मजगत् में—'विज्ञानात्मा' 'बुद्धि' 'बाह्यपुरुष' 'सिद्धात्मा' यदि विविध नामों से प्रसिद्ध है। प्रत्येक आत्मा के साथ प्रभव, प्रतिष्ठा, धोनि, आशय, इन चार चार भागों का सम्बन्ध है। अव्यात्मसस्या में जिसमें भी अन्तर्निहित हैं, सब के प्रमथति निम्न निम्न हैं। व्याप्यत्मिक आत्माओं का उत्पत्तिस्थान प्रभव कहलाता है। जिस द्वार से यह शरीर में प्रविष्ट होते हैं, वह द्वार ही धोनि है। बाहर शरीर के जिस स्थान में यह अव्ययत्प से प्रतिष्ठित होते हैं, वही प्रतिष्ठा है। एवं-अर्थ रूप से बाह्य- यह





पोष्यी पुरुष का प्रमथ सर्वव्यापक ईश्वर का पोष्यी पुरुष (स्व पर सू च धृ इति त्रैलोक्य-  
रूप एक कर्म्या का अधिष्ठाता पोष्यी पुरुष) है। यह उसी का कथ है। कही कही शुक्र  
को भी इस का प्रमथ माना गया है। शुक्र का निकृष्टता पूर्व प्रकरण में विस्तार से किया जा  
चुका है। अतः इस सम्बन्ध में केवल यही समझ लेना पयाप्त होगा कि ब्रह्म सुमन की समष्टि  
रूपा विद्या-कर्म-कर्मययी अधिष्ठा ही शुक्र है, यही वेद है। अग्न्यात्म में पहिले वेद का जन्म  
होता है, वेद से योगमाया प्रादुर्भूत होती है, योगमाया से जीवमय प्रकट होता है। वेदमयी  
शुक्ररूपा योगमाया ही व्यापक पोष्यी को परिच्छिन्न जीवपोष्यी का प्रमथ कलानि में समर्थ  
बनती है। ऐसी परिस्थिति में शुक्र योगमाया ईश्वरात्म्य तीनों को ही जीवपोष्यी का  
प्रमथ माना जा सकता है। महानात्मा इस की योनि है। महत्सोम के द्वारा ही यह अग्न्यात्म-  
संस्था में प्रविष्ट होता है। परमाकाश सर्वोपरि है, इस के भीतर पुराणाकाश, इस में बहिरा  
काश, इस में शरीराकाश, इस में हृदयाकाश, सर्वेन्ततम दहराकाश (दन्नाकाश) है। यही  
सब्यरूप से आत्मा प्रतिष्ठित रहता है। अर्क रूप से यह सोम-नस्त्राओं को छोड़कर सर्वा  
हृशरीर में व्याप्त है। इस प्रकार सम्पूर्ण शरीर इस का आशय है।

इसका है शान्तात्मा नाम से प्रसिद्ध 'अग्न्यात्मा'। स्वयम्भू इस का प्रमथ है, शिरोमुद्रा  
योनि है, प्रतिष्ठा हृदय है, आशय है सर्वाहृशरीर। तीसरा महानात्मा है। इस का प्रमथ  
परमेष्ठी है, योनि शुक्र है, प्रतिष्ठा हृदय है, आशय सर्वाहृशरीर है। चौथा विज्ञानात्मा  
है। इस का प्रमथ सूय है, योनि केरान्त नाम से प्रसिद्ध प्रभार-ध है। यही 'नान्दनद्वा'  
(नान्दनद्वार) नाम से प्रसिद्ध है। प्रतिष्ठा हृदय है। आशय सर्वाहृशरीर है। पाँचवां  
महानात्मा (सर्वेन्द्रियमन) है। इस का प्रमथ पार्ष्णिश्रमगमित नान्द्र सोम है, योनि शुक्र  
है, प्रतिष्ठा हृदय है, आशय सर्वाहृशरीर है। ६ वा इन्द्रियमन है। इस में वाक्-वाण-  
घन्तु-श्रोत्र-मन पाँचों के क्रमशः अधि, वायु आन्तित्य, दिक्मोम, मास्वरसोम यह पाँच  
देवता प्रमथ है। महा वाणावच्छिन्न महानमन योनि है। मुखगोम-नासिकागोम-घन्तु  
गोम-श्रोत्रगोम-महाराध यह पाँच रणम इन पाँचों की प्रतिष्ठा हैं। एवं यही नियत स्थान

इन के आशय हैं । सातवां शरीर है । पञ्चमीतिक शरीर के पाँचों मृत प्रमथ हैं, उत्पत्तिकाल में शुक्र शोणित इन मूलों की योनि हैं । उत्पत्त्यन्तर पञ्चमृतसमष्टिरूप पञ्चविध अन्न (अन्न-जल-गर्मी-वायु-शब्द) योनि हैं, इन्हीं के द्वारा मूलों का आगमन होता है । आशय सर्वाङ्गशरीर है । आठवां प्राणात्मा नाम से प्रसिद्ध कर्मात्मा है । इस की वैश्वानर तैजस प्राज्ञ यह तीन कक्षाएँ हैं । इन में वैश्वानर का प्रमथ भिन्नतस्तोमस्यानीय पार्थिव चित्ति-धेयादि है, योनि नामि है, प्रतिष्ठा इन्द्रियापांश है, आशय सर्वाङ्गशरीर है । आन्तरि-क्य पञ्चदशस्तोमस्यानीय वायु तैजसात्मा का प्रमथ है, हृदय से निकल कर कण्ठ तक व्यक्त रहने वाली तेजोनाडी योनि है, हृदय प्रतिष्ठा है, आशय सर्वाङ्गशरीर है । एक विंशस्तोमावच्छिन्न दिव्य आदिर (इन्द्र) प्राज्ञ का प्रमथ है, सुषुम्णानाडी योनि है, मूलसंधि प्रतिष्ठा है, आशय सर्वाङ्गशरीर है । इन सब में प्रतिष्ठा जिस भिन्न बतलवाई गई है, परन्तु अन्त इन सब की सामान्य प्रतिष्ठा है, 'सर्वप्रथम प्रतिष्ठितम्' । कारण इस का यही है कि जब तक अस्माद्वृत्ति होती रहती है, तभी तक यक्षतया है, यक्षतया पर अग्न्यात्मजगत् की सत्य है—“अभियज्ञोऽहनेनाम देवे देहसुता वर” (श्रिष्ट ८।१) । ८

तद्विदः सर्वम्	पोषणीयुरूप — पुरूप — पोषणी		
	१ —	२ —	३ —
	१ — अभ्यासत्मा — अभ्यासः —	२ — महात्मा — महान् —	३ — सत्यम्
	४ — मित्रात्मा — मित्रः —	५ — प्रज्ञात्मा — ज्ञान —	६ — सूर्य
	७ — कर्मात्मा — मोक्षात्म्य	८ — हृदिपाणि — योगसाधनम्	९ — शरीरम् — योगधनम्
	१० — शक्तिरूपः परार्थः, सर्वस्य परं मतः । ११ — अस्तसु परा बुद्धिर्बुद्धेरत्मा यशस् परः ॥ १२ — महाः परमव्यक्तं, अभ्युक्तं पुरुष परः । १३ — पुरुष परं विविध साक्षा सा परामर्शः । (कठोपनिषत् १ अ । ३ प. १०-११)		





प्राची का स्वर्गोत्तम एवं भूगोत्तम निष्पन्न है। सम निकट भागों के त्यों से ही तत्तत् प्राणियों के प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। इसी स्वस्तिकारम्भा के लिए भारतीय देशधर्म में स्वस्तिक का पूजन किया जाता है। स्वस्तिक एक नहीं, दो बनाए जाते हैं। द्वार के दक्षिणोत्तर पार्यों में दोनों स्वस्तिक चित्र स्थापित किए जाते हैं। इनमें दक्षिण स्वस्तिक अथ स्वस्तिक की, एवं उत्तर स्वस्तिक अस्वस्तिक की प्रतिमा है। इस से कहना यही है कि हृदय से नीचे रहने वासा, ब्रह्मप्रपिच (सूक्ष्मद्वार) से प्रविष्ट होने वासा पार्थिव अथानमाया अथ स्वस्तिक की प्रतिष्ठाभूत भूकेन्द्र से निम्न बद्ध रहता है। एवमेव हृदय से ऊपर रहने वासा, अक्षरम्भ से प्रविष्ट होने वासा सौरमाया (विज्ञानारम्भा) अस्वस्तिक की प्रतिष्ठाभूत सूर्यकेन्द्र से निम्न बद्ध रहता है। जैसे निम्न स्थान पर जानें के लिए निम्न मार्ग बना रहता है, एवमेव प्रत्येक प्राणी के हृदय से आरम्भकर सूर्य-केन्द्र तक अस्वस्तिकरूप स्वतन्त्र मार्ग बने हुए हैं। यही मार्ग उपनिषदों में 'महापथ' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। प्रत्येक प्राणी का विज्ञानात्मा अपने अपने अस्वस्तिकरूप निम्न महापथों से प्रतिष्ठित सूर्य में जाया करता है, एवं जाया करता है। एक निम्न (पक्षक) में यह विष्णुमय विज्ञानप्राण सूर्य में तीन बार जाकर लौट आता है। इस महापथ में विविचर्णपुरुष सौररश्मिर्न न्यात रहती हैं। दूसरे शब्दों में इस मार्ग का स्वरूप सूर्यरश्मिर्न ही है। व्यक्तिकेन्द्र से सर्वथा निम्न इसी सुसूक्ष्म महापथ का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

“अणुः पन्था निततः पुराको मां स्पृष्टो शत्रुविचो ययैव ।

तन पीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गलोकमित ऊर्ध्व विमुक्ता ॥ १ ॥

तस्मिन् शुभसमुत्त नीममाहुः पिङ्गसं हरितं सोहितं च ।

एष पन्था ब्रह्मणा शत्रुविचन्तेनैति ब्रह्मविद् पुण्यकृत् तजसम् ॥ २ ॥

(शत १४।७।१) ।

हृदप्रतिष्ठ प्रज्ञान (मन) को आध्यात्मिक अग्रगण्य समझिए, तत्प्रतिष्ठ विज्ञान (बुद्धि) को सूर्य समझिए। विज्ञानात्मा की प्रतिष्ठा हृदयस्थ प्रज्ञान मन ही है। जिस प्रकार प्रकृति में

# १-प्रमव-योनि-प्रतिष्ठा-आशय-परिलेख

- १-प्रमव -(तत्पविस्थानम्)-ईश्वरात्मा,शुक्र-योगमायाय } "पुरुषात् परं किञ्चित्, सा-  
 २-योनि -(प्रवेशद्वारम्)-महानात्मा (महत्तमोम ) } काष्ठा सा परा गति"  
 ३-प्रतिष्ठा-(स्थितिस्थानम्)-सुखान्तरतमो दहाराकाश } पुरुषोत्तमपुरुष-अवतारमा  
 ४-आशय -(व्याप्तिस्थानम्)-शरीरम् } (अव्यक्तात् पुरुष पर )

- २-प्रमव —स्वयम्भू  
 २-योनि —शिरोगुहा  
 ३-प्रतिष्ठा —हृदयम्  
 ४-आशय —शरीरम्
- अव्यक्तात्मा-(प्राकृतात्मा) १-अव्यक्तम्) ब्रह्मसत्त्वात्मा  
 (महत् परं → → → → →)

- ३-प्रमव —परमेष्ठी  
 २-योनि —शुक्रम्  
 ३-प्रतिष्ठा —हृदयम्  
 ४-आशय —शरीरम्
- महानात्मा (प्राकृतात्मा) २-महान् ) ब्रह्मसत्त्वात्मा  
 (सुखेयत्मा परा) → → → → →

- ४-प्रमव —सूर्य  
 २-योनि —नाभ्यन्तम्  
 ३-प्रतिष्ठा —हृदयम्  
 ४-आशय —शरीरम्
- विज्ञानात्मा (प्राकृतात्मा) ३-बुद्धिः) ब्रह्मसत्त्वात्मा  
 (मनसस्तु परा) → → → → →

- ५-प्रमव —चन्द्रमाः (अक्षम्)  
 २-योनि —शुक्रम्  
 ३-प्रतिष्ठा —हृदयम्  
 ४-आशय —शरीरम्
- प्रज्ञानात्मा (प्राकृतात्मा) ४-मनः) ब्रह्मसत्त्वात्मा  
 (शक्तिर्येभ्यः परं → → → → →)



१-प्रमथ — साक्षरसोमः	} ( इन्द्रियाणि ( कर्मावच्छिन्न- शरीरत ) पराण्याहुः ) संकल्पविकल्पात्मकमिन्द्रिय-	} मनः-१
२-योनि — प्रज्ञानम्		
३-प्रतिष्ठा — ब्रह्मरूपम्		
४-आशय — प्रोक्षिन्द्रियाणि		

— ० —

१-प्रमथ — दिक्सोम	} प्रोक्षे २
२-योनि — प्रज्ञानम्	
३-प्रतिष्ठा — प्रोक्षविभरे	
४-आशय — मन (प्रज्ञानम्)	

— ० —

१-प्रमथ — आदित्यः	} चक्षुषी ३
२-योनिः — प्रज्ञानम्	
३-प्रतिष्ठा — चक्षुषिभरे	
४-आशय — मनः (प्रज्ञानम्)	

— ० —

१-प्रमथः — वायु	} नासिके (प्राणः) ४
२-योनिः — प्रज्ञानम्	
३-प्रतिष्ठा — नासाविभरे	
४-आशयः — मन (प्रज्ञानम्)	

— ० —

१-प्रमथः — अग्नि	} वाक् ५
२-योनिः — प्रज्ञानम्	
३-प्रतिष्ठा — विद्वा	
४-आशय — मनः (प्रज्ञानम्)	

वि  
या  
न्द्रि  
नि-१  
पराण्याहुः  
—  
मिन्द्रियाणि  
वा  
वा  
२  
५



# वैश्वानरतैजसप्राज्ञमूर्ति —

अग्निर्वायुश्चन्द्रकृतस्त्मा प्राणात्मा वा

कर्मात्मा देवसत्यः ॥

१—प्रमथ — एकविंश आदित्य

२—योनि — सुवृष्णनाडी

३—प्रतिष्ठा— इदमम्

४—आशय — शरीरम्

प्राणात्मा—आदित्ये ॥ —देवसत्य — १ प्राज्ञ



१—प्रमथ — पञ्चदशो वायुः

२—योनि — तेजोनाडी

३—प्रतिष्ठा— इदमम्

४—आशय — शरीरम्

तैजसात्मा—वायु —देवसत्य — २ तैजस



१—प्रमथ — त्रिदशतिष्ठतिभिर्देव

२—योनि — नाभि

३—प्रतिष्ठा— आठराभि

४—आशय — शरीरम्

वैश्वानरात्मा—आग्नि —देवसत्य — ३ विश्वानर



पिक्कलः—कर्मात्मा देवसत्यः



- १-प्रमव — पञ्चीकृता मृद  
२-पोनि — शुक्रशोषिने-ममज  
३-प्रतिष्ठा — ममिधिल  
४-आशप — शरीरम्

अरिषत्सादयो एनरगर्भा १

- १-प्रमव — गार्धिकार पञ्चीकृता  
२-पोनि — शुक्रशोषिने-आशप  
३-प्रतिष्ठा — आश  
४-आशप — शरीरम्

असृग्सादवत्तरगर्भा

- १-प्रमव — पञ्चीकृतोऽग्नि गार्धिक  
२-पोनि — शुक्रशोषिने-नज  
३-प्रतिष्ठा — नज  
४-आशप — शरीरम्

ऊष्मा ३

- १-प्रमव — पञ्चीकृतो वायु गार्धिक  
२-पोनि — शुक्रशोषिने-वायुध  
३-प्रतिष्ठा — वायु  
४-आशप — शरीरम्

अमस्यो वायुवादिष्य ४

- १-प्रमव — पञ्चीकृतो वायु गार्धिक  
२-पोनि — शुक्रशोषिने-शम्भ  
३-प्रतिष्ठा — आकाश  
४-आशप — शरीरम्

सुधिराणि ५

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

शरीर — मूलप्रतिष्ठा





चन्द्रमा सूर्य से प्रकाशित रहता है, एव इसी प्रकाश के तारतम्य से जैसे वह अमावास्या, पूर्णिमा, कृष्णाष्टमी, शुक्लाष्टमी आदि मास उत्पन्न होते हैं, ठीक इसी तरह वह प्रज्ञानचन्द्र विज्ञानसूर्य से प्रकाशित रहता है, एव प्रकृतिकर अण्वात्मसंस्था में भी अमा-पूर्णिमा आदि भावों का उदय होना है। अन्तर दोनों में केवल इतना ही है कि प्रकृति का मास (महिमा) ३० दिन का होता है, एव आण्वात्मिक मास एक आहोरात्र का है। यह कास शुक्लपक्ष है, रात्रि कास कृष्णपक्ष है। प्रकृति में क्या होता है ? पहिले इस का विचार कीजिए। सूर्य विषयेन्द्र में प्रतिष्ठित है। चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर परिक्रमण करता है। जब चन्द्रमा परिक्रमा लगाते लगाते पृथिवी के इस ओर आजाता है तो सूर्य का पूरा प्रकाश इस पर पड़ता है, इसी का नाम पूर्णिमा है। घूमते घूमते जब वह पृथिवी के उस ओर (सूर्य की ओर) चला जाता है तो चन्द्रमा का हरय भाग (पृथिवी की ओर का भाग) सौरप्रकाश से बलित होजाता है। इस प्रकार सूर्यचन्द्रमा के संगम से दश (अमावास्या) का जन्म होता है—‘दशः सूर्येन्दुसङ्गमा’। पृथिवी के केन्द्र से कटते हुए दक्षिणोत्तर एक रेखा होजाए। इन रेखाओं के प्रान्तभाग में जब चन्द्रमा आता है तो क्रमशः शुक्लाष्टमी, कृष्णाष्टमी का जन्म होजाता है। शुक्लाष्टमी में सायंकाल आभा (चतुर्ध) चन्द्रमा प्रकाशित रहता है, एव कृष्णाष्टमी में रात्रि के १२ बजे आभा चन्द्रमा प्रकाशित रहता है। पूर्णिमा में सारा चन्द्रमा प्रकाशित नहीं रहता, एव न अमावास्या में पूरा चन्द्रमा काका रहता। अपि तु प्राकृतिक स्थिति के अनुसार आभा चन्द्रमा ही प्रकाशित-अप्रकाशित रहता है। पूर्णिमा में हरय आभा भाग प्रकाशित है, अहरय आभा भाग अप्रकाशित है। अमा में पृष्ठभाग प्रकाशित है पृथिवी की ओर का आभा भाग अप्रकाशित है, अतएव यह नहीं दीक्षता। इस स्थिति के अनुसार आष्टमी में चतुर्ध भाग का ही प्रकाशित अप्रकाशित मानना पड़ता है। वास्तव्य सभी स्थितियों में सदा ही आभा भाग प्रकाशित, एव आभा भाग अप्रकाशित रहता है। हमारी धरमस्थिति के अनुसार हम एक कला-दो कला-तीन कला-इस प्रकार कलाविभाग मान लेते हैं। यह है आधेदक्षिण अगत की परिस्थिति।

अथ अप्यात्मिकसंस्था का निष्कार कश्चित् । इदं से अक्षरान्ध पश्यन्त त्रैलोक्य की सदा सममिह । इस त्रैलोक्य का अविद्याता इत्यस्य निश्चयस्य है । इदं पर मनस्य चक्षुष्य प्रतिष्ठित है । इदं विदुः सं आरम्भ कर अक्षरान्ध पश्यन्त सोमवरातस्य है । इसी को 'मातृ' (मिथ्या) कहा जाता है—( देखिए प्रमोदनिषत् २ । २ । ) मुखस्थान अग्निप्रधान पुष्टिस्थितोक्त है । नासिकास्थान अनुप्रधान अन्तरिक्षोक्त है । वायुस्थान आदित्यप्रधान पुष्टोक्त है । श्रोत्रस्थान सितसोमप्रधान बोधा आपोबोक्त है । स्वयं अक्षरान्ध मन की अन्तित्व प्रतिष्ठा है । इस प्रकार इस सोमवरातस्य पर इन्द्रियरूप त्रैलोक्य किंवा चारों ओर प्रतिष्ठित हैं । कण्ठस्थान में एक मंसपेठी अथ वटकी रहती है, इसी के लिए—'एतन् इवासासम्भवे' यह कहा जाता है । यही गलतज्ञ लोकमाया में 'कागली' नाम से प्रसिद्ध है । उपनिषद्भाषा में यही 'इन्द्रयोनि' नाम से व्यवहृत हुई है । इस की स्थिति नाक (मुख) इन्द्रिय के समवरातस्य पर है । यही वास्तविक सुप्तोक्त है । अक्षरान्ध से एक प्रादेश पर यह कण्ठस्थित है, कण्ठ से एक प्रादेश पर हृदयस्थित है । यही से मन ऊपर की ओर चलाता है । चले २ वाक् रूप पृथिवी लोक को पार कर जब यह अग्नी अन्तित्व सीमाकूप अक्षरान्ध पर पहुँच जाता है तो इसी अवस्था में इस पर हृदयस्थ निश्चयस्य का पूरा प्रकाश पड़ता है । यही इस की पूर्णिमा है । इन्द्रिय इस समय प्रकाशित मन से नीचे हैं, अक्षरान्ध मन के प्रकाश से सारी इन्द्रिय प्रकाशित हो पड़ती हैं । मनस्य प्रकाश को प्राप्त करते ही इन्द्रिय अपना कार्य आरम्भ कर देती हैं । इसी पूर्णिमाकाल का नाम 'जाग्रदवस्था' है । यहाँ से मन क्रमशः नीचे उतरता है । जब वाक्स्थान पर जाता है तो ऊपर की इन्द्रियों में अन्धकार हो जाता है । श्रोत्र का अन्धकार, वायु का रूपदर्शन, रसना का स्वादमहेश सब अन्धकार हो जाते हैं । हाँ मुख्य (वाचा)-माय इस समय भी, इस समय भी क्या 'मावाद्यं पश्यन्स्मिन् पुरे जाग्रति' (प्रमोद० ४ । १ । ) के अनुसार सदा ही जाग्रता रहता है । आस-प्रवास और सुषुप्तिस्थान में भी यथावत् चलते रहते हैं । वाक् सम्प्रधान है यही अग्नी है "वागपृथी ब्रह्मया संविदाना" (शत० १४ । २ । ४ । ) यही मन्य की सुप्तिस्थानीया 'स्वप्नावस्था' है । इस में भीर किसी इन्द्रिय पर तो प्रकाश नहीं रहता, परन्तु

वाक् पर बोधा सा प्रकाश रहता है। यही कारण है कि सप्ताबला में मनुष्य न देख सकता, न सुन सकता, न सूँघ सकता, न स्वाद ले सकता, परन्तु बाग्म्यापार करता रहता है। चूँकि पर्याप्त प्रकाश नहीं है, अतएव यह सप्ताबाक् अनर्मल होती है "सुप्तोऽहं किं विललाप" (उदयमाचार्य कृत् कुसुमाञ्जलि)। सप्तावरण में मनुष्य व्यर्थ वाक् का प्रयोग करता हुआ देखा जाता है। मन क्रमशः नीचे उतरता हुआ जब हृदयस्थ विज्ञान सूय के समघटल पर आजाता है तो ऊपर के त्रैलोक्य मण्डल में घोर अन्धकार हो जाता है। यही सूर्येन्दुसमलक्षणा अमावास्या है, यही 'सुप्तिकास' है। यहाँ बाग्म्यापार भी बंद हो जाता है। घोर निद्रा में सारी इन्द्रिय (मुख्य प्राण को छोड़ कर) सर्वथा स्तम्भ बन जाती हैं। इस प्रकार चान्द्र मन की परिणाम से आप्यात्मवृत्त में भी दशादि का सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है।

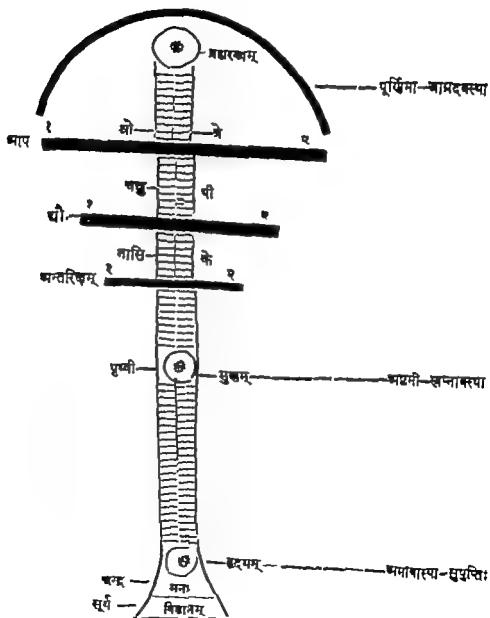
उक्त प्रकरण से पाठकों को यह निश्चित होगया होगा कि मन में जो प्रकाश है, वह विज्ञानसूर्य की ही महिमा है। साय ही में यह भी सिद्ध विषय है कि अमप्रधान आप्यात्मिक अवस्था में प्रधानता 'मन' की ही रहती है। मन ही विज्ञान की प्रतिष्ठा है। जिस का मन मर जाता है उसकी बुद्धि भी मर हो जाती है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि मन पार्थिव अमावृत्ति से बनता है "अममयं हि सोम्य मनः"। यदि दो चार दिन अन्न नहीं खाया जाता है तो मन निवस हो जाता है, क्षीणकाय बन जाता है। उसी समय मन पर प्रतिष्ठित रहने वाला विज्ञान भी निर्वस हो जाता है, विचार शक्ति नष्ट हो जाती है "बुभुक्षित न प्रतिमासि किंचित्" \* "स्वत्ये चित्ते बुद्ध्याः संस्फुरन्ति"। विज्ञान-प्रधान दोनों सपरिष्कृत (एक दूसरे से मिले हुए) रहते हैं। विज्ञानतत्त्व महद्गर्भित विज्योति (आत्मज्योति) से प्रकाशित है, प्रधान चिद्मन विज्ञान से प्रकाशित है। इन्द्रिय विज्ञानज्योतिमय प्रज्ञानज्योति से प्रकाशित हैं। निषमवात (भौतिक प्रपञ्च) प्रज्ञानज्योतिर्मय इन्द्रियज्योति से प्रकाशित हैं। इस प्रकार आत्म-ज्योति का भूतपदार्थों तक विताप करना विज्ञानपञ्चाधिष्ठाता एक मात्र विज्ञान का ही कार्य है।

उपनिषद् प्रेम्षियों को विज्ञानात्मा के सम्बन्ध में आज एक आश्चर्यमयी स्थिति बतलाते हैं। विज्ञानात्मा को तत्त्वरूप से जहाँ हमने द्वार बतलाया है, वहाँ अर्कत्त्व से उसे सबाह्यरीर

में व्याप्त बतलाया है। इस की व्याप्ति का पूर्ण विकास केवल दक्षिण चक्षु (दक्षिणी आंख) में ही होता है, क्या यह कम आश्चर्य है। हृदय से मिलित विज्ञान दक्षिण आंख पर आकर आंख से बाहर निकलता है। बाहर एक प्रादेश तक ही इस की गति होती है। दृष्टि के अनूक ओर प्रतीक यह दो मेद हैं। सीधी दृष्टि अनूकदृष्टि कहलाती है, तिरछी दृष्टि प्रतीकदृष्टि कहलाती है। व्याप प्रतीकदृष्टि से इस बाह्यपुरुष को देख सकते हैं। इस के विविध प्रकार के २१ रूप होते हैं। यह सृज का अंग है, सूर्य स्वयं एकविध है, अत एव तदश्मृत विज्ञानात्मा के २१ ही रूप हो जाते हैं। इस पर व्याप दृष्टि नहीं कर सकते। दक्षिण आंख के प्रतीकत्वात् से व्याप ओं ओं इसे देखते जाफों, त्यों त्यों यह एकर उच्चर दौड़ता हुआ दिखाई देगा। इसे देखना विज्ञानात्मा की सर्वोत्कृष्ट उपासना है। यह ह्यात्मक है, पुरुष रूप है। दक्षिणाग्र पुरुष प्रधान है, अतएव दक्षिणचक्षु में ही इस का विकास होता है। बायचक्षु में भी प्रतीकदृष्टि से व्यापको एक बिन्दु के दर्शन होंगे, परन्तु यह इन्द्रपत्नी है। बायाग्र की प्रधान है, अत इन्द्रपत्नी का विकास बायचक्षु में ही होता है। उक्त विज्ञान को व्याप सर्पप (सरसों) के आकार में देखेंगे। मछिका (मन्थी) के पर में जैसा विविध वर्ण (रंग) है, इस का ठीक वैसा ही रंग है। परन्तु इतना ध्यान रखिए कि व्याप इसे सूर्यप्रकाश (धूर) में न देख सकेंगे। यह जब भी दीक्षेण, पार्विण तमोमप पूषात्राण के गर्भ में (काय में) ही दीक्षेण, जैसा कि आने आने वाले 'हिरण्यमेव पात्रेण'० इत्यादि मन्त्रमात्र में स्पष्ट होने वाला है। इस का चक्षु से प्रादेश मात्र (१०॥ अनुब्रु) बाहर निकलना बतलाया गया है। वस्तुतः यह चक्षु से बाहर नहीं निकलता, केवल बाहर निकला हुआ दिखाई देता है। आद्य (काय—आत्मा) में व्याप अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं। यदि व्याप आदर्श से दूर हटते जाते हैं तो व्यापको अपना प्रतिबिम्ब भी काय के भीतर पीछे हटा हुआ प्रतीत होता है, ज्यों ज्यों व्याप काय के समीप आते जाते हैं, त्यों त्यों ऐसा प्रतीत होता है, यानि व्यापक प्रतिबिम्ब समीप आता जाता है। वस्तुतः काय एक मग पदार्थ है, न उस में पीछे हटने के क्षिप्त स्थान है, न आगे आने के स्थिर स्थान है। प्रतिबिम्ब एक ही भरातक पर प्रतिष्ठित है। केवल काय की

# आध्यात्मिक अवस्थात्रयी-परिलेखः

चन्द्रमा ————— मन





बीजता ही आगति-गतिमात्र उत्पन्न कर देती है। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। चतुःपदस एक प्रकार का कण है। इस पर हृदयस्थ विज्ञान का संज्ञोनादी द्वारा प्रतिबिम्ब पड़ता है। वह जब रश्मिरूप से कणस्थान में स्थित स्वयोनि (हृदयोनि) पर आता है तो चतु के बाहर एक प्रादेश हटा हुआ मालूम होता है, क्योंकि हृदयोनि हृदय से एक प्रादेश पर है। स्थान पर छोट आने से केवल चतु पर ही प्रतिबिम्बित रहता है। इस प्रकार अनेक रूप धारण करने वाला, इन्द्रमूर्ति यह विज्ञानात्मा चतु सम्बन्ध से—‘चातुष्पुरुष’, दक्षिणाक्षि सम्बन्ध से ‘दक्षिणाक्षिपुरुष’ नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। सौर विज्ञानपुरुष की उपनिषत् (प्रतिष्ठा) ‘ग्रहः’ (प्रकाशमण्डल) है, इस चातुष्पुरुष की उपनिषत् ‘ग्रहम्’ (किङ्कर्तृ महान्) है। दोनों का परस्पर में अनिष्ट सम्बन्ध है। आदित्यपुरुष रश्मिरूप प्राणों से इसके साथ, विज्ञानपुरुष प्राणरूप रश्मियों के साथ उसी पूर्णतः महापथ में सङ्ग हो रहे हैं। इसी विज्ञान को स्वयं में रखकर मुक्ति कहती है—

“तथैव तव सत्यमसौ स आदित्यः। य एष एतस्मिन् दग्धसे पुरुषः,  
यश्चायं दक्षिणोऽत्तन् पुरुषः, तावेताव्योऽप्यदिन् प्रतिष्ठितौ।  
रश्मिरेपोऽस्मिन् प्रतिष्ठित, माणेरयममुष्मिन् (प्रतिष्ठितः)।”

(तृहदा० उप० १४) इति।

इस की प्रतिष्ठाभूमि हृदयस्थ है। जिस प्रकार एक दीपशिरा स्थिररूप से प्रकाशित रहती है एवमेव हृदय के अग्रभाग में दीपार्थिरूप विज्ञानप्रसू प्रकाशित हो रहा है, जैसा कि योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं—

अनन्ता रश्मयस्त्वस्य दीपमथः स्थितो हृदि।

सितासिता कर्तृरूपाः कपिसा नीलसोहिताः ॥ १ ॥

ऊर्ध्वमेक स्थितस्तेषां यो मित्रा सूर्यमण्डलम्।

ब्रह्मसोऽस्मिन् गतिः तेन याति-परां गतिम् ॥ २ ॥

(याज्ञ० स्मृ. प्रा अ प्रतिषर्गप्रकरण १६१-१६३ श्लो)।



यह बाहुयपुरुष सौर होने से असंग है, उधर प्रज्ञानात्मा चांद्र होने से ससंग है। सौर अग्नि जहां तेजःप्रधान बनता हुआ असंगमाय का प्रवक्तृ है, वहां चांद्रसोम नेत्र प्रधान बनता हुआ ससंगमाय का प्रवक्तृ है। बाहुयपुरुष विद्या-अविद्यात्मक सुख का अंग है पसत इसमें भी विद्या-अविद्या दोनों मार्गों की सच्चा सिद्ध हो जाती है। यदि यह विद्यानात्मा प्रज्ञान मन की ओर मुक्त जाता है तो इस का अविद्यामाय विकसित हो जाता है। कारण इस का यही है कि मौलिक नियम आधाररूप हैं, जब हैं। इन नियमों में इन्द्रियों के द्वारा मन व्यासक्त रहता है। मन स्वभाव की ओर अनुगमन करता रहता है—( दोष लगता रहता है )। इस अनुगमन का कारण यही है कि मन की जीवनीय संगति विद्वानन्द है। विद्वान् द्वारा आया हुआ विद्वानन्द (अभ्युपगमन) ही मन का स्वरूपनिर्माता है। एव विद्वानन्द का यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि जिस तत्त्व से जिस वस्तु का उदय होता है, वह वस्तु उस प्रमथ के आगमन से ही जीवन प्राप्त करने में समर्थ होती है। मन का स्वरूपसंपादक बुद्धि आत्मानन्द है, जब मन को स्वरूपसत्ता के लिए प्रत्येक दशा में आनन्द (सुख) अवस्थित है। सुख की चाह करना, सुख प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना मन का सामाजिक धर्म है। मन की इसी सुल्लंघना (सुल्लंघना) का नाम है—'मयनावा', यही बुद्धि है। इसे शान्त करने के लिए मन बाहर निकलता है। इस के निकलने के द्वार इन्द्रिय हैं। इन्द्रियों की गति पराङ् (बाहर की ओर—विषयों की ओर) है। प्रजापति में इन्द्रियों का रुख बाहर की ओर निर्या है। जो बहुत बाहर के रूपों को देख करता है, वह अपने ही स्वरूप देखने में असमर्थ है, फिर हृदय आत्मा पर उस का गमन कैसे समर्थ है। इसी प्रकार सभी इन्द्रिय स्वरूप को देखने में असमर्थ होती हुई, आत्मदर्शन में निरान्त व्यसर्पण बनती हुई, केवल विषयमोग में लीन रहती है, जैसा कि निश्चितित बुद्धि बच्चों से स्पष्ट है—

“पराङ् लानि व्यदृष्टस्वयम्भुस्तस्यान् पराङ् परयति नान्तरात्मन् ।

कश्चिदीरः प्रत्यगात्मानमसदाहृष्यपुनरुपतसमिच्छन् ॥

(कठोपनिषद् २।१।१)।

न तत्र पञ्चगच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो, न विषो, न विभानीमो,

यैतदनुशिष्यादन्येन तद् मिदिसादयो अमिदिसादयि" (कन० १।१।)।

विषयों में जो आनन्द है वह इन्द्रियों से आया हुआ है। विषय आनन्द का कारण नहीं है, अपि तु इन्द्रिए आनन्द का कारण है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जबतक इन्द्रिए खल रहती है, सकल रहती है, तभी तक विषय आनन्दमय मालुम होते हैं। इन्द्रियों के रुग्ण हो जाने पर, निर्बल होजाने पर, अपवा मय होजाने पर वही विषय तु रुद्ध बन आते हैं। इन्द्रियों में जो चिदात्म्य का विकास है, वह भी इन्द्रियों की निजी संपत्ति नहीं है, अपि तु मन के द्वारा वह आनन्द इन में आया है। फलतः इन्द्रिए भी आनन्द का कारण नहीं है, अपि तु मन आनन्द का कारण है। जब तक मन जल दशा में रहता है, तभी तक देखने, सुनने, छाने पीने शोठने में आनन्द आता है। यदि मन किसी कारण से व्याकुल होबता है तो इन्द्रिए सर्वथा खलदशा में रहती हुई भी दुःख का कारण बन जाती है। उस समय कुछ अच्छा नहीं लगता। मन में जो आनन्द है, वह भी मन की प्रास्थिक संपत्ति नहीं है। विज्ञा-मात्मा से ही इस में चिदात्म्य का आगमन हुआ है। कतएव जिसमें विज्ञान (बुद्धि) का विकास रहता है, वही विषयज्ञा से वास्तविक आनन्द उठ सकता है। बुद्धिमान् मनुष्य के लिए जहाँ अन्दमगध आनन्द का कारण है, एक गर्दम के लिए वह अदम सामान्य काष्ठ से अधिक मूल्य नहीं रखता—‘यया सरो चन्दनमारवाही, मास्य बेचा न तु सौरमस्य’। विज्ञान में ही आनन्द है। बुद्धिनाश सर्वनाश का कारण है। जिस की अकल (अकल) मारी गई, वह क्या कर सकता है। इसी प्रकार विज्ञान का आनन्द भी खुद की संपत्ति नहीं है। अपि तु सत्य नाम से प्रसिद्ध, अहमावप्रकृतक महत्त्वर्म में प्रतिष्ठित आत्मानन्द से ही विज्ञान आनन्दमय बना हुआ है। जब तक ‘आहं’ (आत्मा) है, तभी तक विज्ञान है। जब अहमा व (आत्मा) भ्रष्ट हो जाता है, अपवा शरीर से उत्पन्न होजाता है तो सारी अप्याम-सत्वा उच्छिन्न हो जाती है। इस प्रकार अन्ततो गत्वा आत्मानन्द को ही मुख्य आनन्द माना पड़ता है। बात है भी ठीक। जो मन उधार लिया जाता है, उस से वास्तविक आनन्द

नहीं आसक्तता। आनन्द तो दूर रहा, अणुमस्त व्यक्ति तो उसका चिन्ता में पड़ जाता है। आनन्द बस्तु यदि आई है तो—संयोगा विमयोगान्ता । इस सिद्धान्त के अनुसार वह कभी न कभी अक्षय वापस आया। विषय-इन्द्रियवर्ग-प्रज्ञान(मन)-विज्ञान (बुद्धि) इन सबमें हम जो आनन्द भाषा देखते हैं, वह आनन्द है—‘तस्यैव माध्यामुपादाय सर्वे उपजीवन्ति’ । यह आनन्द आनन्द अस्वायी है, अतएव विरामित के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। साथ ही में विषयवत् इन्द्रियवत्, इन्द्रियवत् मन का आनन्द मन से वह बुद्धयानन्द सप हृदयस्थ आत्मानन्द से पराङ्मुख बने हुए हैं। अतएव बुद्धिमान्, मनस्वी, शास्त्री का पारंगत कोई भी नहीं पहुच सकता। इसी स्थिति का बड़े सुन्दर शब्दों में निरूपण करती हुई उपनिष-प्युक्ति कहती है—

नायमात्मा प्रवचनेन सम्यग् न वेदया न बहुना श्रुतेन ।

परमेष्ठे वराहते तेन सम्यक्सत्यैव आत्मा विदुष्यते तन् स्वात् ॥

(कठोपनिषद् १।१।२२ ।

‘सो जानें जेहि देखि जनाइ’ ग्याण्य गुह्यसीदास के इस सिद्धान्त के अनुसार जिस त्रिन् आत्म के ऊपर आया हुआ आनन्द हट जाता है उस दिन आदिस्वयत् सत्। एव वह प्रकाश हो जाता है। जिस प्रकार वायु प्रकाश उत्पन्न नहीं करता केवल मेघावरण हटा देता है, पक्षि से ही विद्यमान सौर प्रकाश बरने का प्रकट हो जाता है तबेव शब्दोपदेश-उपासना-ज्ञानयोगवि आत्मानन्द को उत्पन्न नहीं करते, अपि तु आनन्द मात्र हटा देते हैं। आत्मा तो सत्प्रकाशरूप है, उस के लिए अल्पसाधन सर्वथा अनपेक्षित हैं।

उक्त कथन से यह भी मशीनरित सिद्ध हो जाता है कि विज्ञान आत्मा के समीप है, अतः इस में मन-इन्द्रियादि की अपेक्षा आनन्द की अधिक मात्रा है। तभी तो ‘तद्विज्ञानेन परिपरयन्ति भीराः’ यह कहा जाता है। इन्द्रियादि की अपेक्षा मन में अधिक आनन्द है, क्योंकि मन विज्ञान के समीप है। भौतिक नियमों की अपेक्षा इन्द्रियों में अधिक आनन्द है, क्योंकि

इन्द्रिये मौक्तिक विषयो बही अपेक्षा मन के समीप हैं। इस प्रकार विषयों में जाकर आनन्द  
 अस्वरूप माया में रह जाता है। उधर आनन्द की खोज में मन इन्द्रियों के द्वारा बाहर निकल  
 कर विषयों पर जाता है। परन्तु होता क्या है—सुनिर ! अपनी माया से अधिक आनन्द मिलने  
 पर ही आनन्द आता है—“यो वै भूषा तव सुख, नास्ये सुखमस्ति, भूमानमित्पुषास्व” के  
 अनुसार भूषा (बहुल्य)—माय में आनन्द है। यदि एक लक्षाभिरिति को कहीं से १० रुपयों  
 मिल जाय तो उसे आनन्द नहीं आसकता। दो लक्ष की प्राप्ति में ही वह आनन्द का अनु-  
 भव कर सकता है। जिस एक पैसे से २ रुप का बच्चा प्रसन्न हो जाता है, वही पैसा एक  
 अनुप्य को आनन्द नहीं पहुंचा सकता। यही परिस्थिति यहां होती है। मन महेदय आनन्द  
 की खोज में विषयों पर जाते हैं। परन्तु उन्हें यह वास्तव नहीं है कि विषयों में जितनी सी  
 आनन्द की मात्रा है, वह इन्द्रियों से आइ है, इन्द्रियों में जो आनन्द आया है, वह मुक्त से  
 आया है। भूतापेक्षया इन्द्रियों में अधिक आनन्द है, इन्द्रियापेक्षा स्वयं मुक्त में (मन में)  
 अधिक आनन्द है। इस प्रकार त्रिवेक बुद्धि से वक्षित मन छोके से विषयों पर पहुंच जाता  
 है। वहां जाकर उसे पकड़ना पड़ता है। किसी भी विषय पर मन बिरबराह तक प्रतिष्ठित  
 नहीं रह सकता—‘अतिपरिषयाद्ब्रह्मा’। थोड़े दिन रहता है, अभिर्भवित भूमानन्द मिथता  
 नहीं, दूसरे विषय पर दौड़ता है। वहां भी आनन्द नहीं मिलता, तीसरे पर, चौथे पर, इस प्रकार  
 निरिध विषयों में दौड़ लगता रहता हुआ मन लुप्त हो जाता है। यही लोभ का आह्वय है, यही  
 लोभ है, लोभ अग्रान्ति का कारण है—‘अग्रान्तस्य कुतः सुखम्’। “गए ये चौबेजी बनने,  
 दुम्हे भी रहने में भी सन्देह होगया” ठीक यह लोकशक्ति विषयासक्त मन पर बाधन बोधा  
 पाव रही चरिताव होती है। लने एए ये आनन्द, मिता आनन्दरूप वृत्त, अग्रान्ति, लोभ।  
 आनन्द की व्यय साक्षात्ता से विषयासक्त इस अवस्था की मन को पुनरांतर में विषय संस्कार  
 मिलत हैं। इन संस्कारों की दृष्टा से बचाव आनन्द के इसे भरकर मर्यादु साधन में  
 निमग्न रहना पड़ता है। संस्कार भूतप्रधान होते हुए स्वरूपमय हैं। का अविद्या है। अतएव  
 इस संस्कार भाषि को ‘अविद्या’ कहा गया है। इस अविद्यात्मक कारण से अविद्यामय मन

के सेवक बने हुए विद्यानात्मक की उद्योति मान (विद्या भाग) व्यावृत्त होजाता है, तमोमय मान (अविद्या भाग) प्रकट बन जाता है। प्रवृद्ध अविद्याबुद्धि के योग से व्यक्त का अविद्या मान संप्रकट होता हुआ आत्मा के विद्या भाग को व्यावृत्त कर देता है। सर्वत्र अज्ञानान्धकार का साध्यत्व हो जाता है। यही मोह का जनक है—“अज्ञानेनाहृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः” इस सिद्धान्त को कौन नहीं जानता।

इस प्रकार विद्यासाक्ष मनु से युक्त बुद्धि अपने अविद्या भाग की प्रवृत्तता से मोह की बन्नी बन जाती है। इसी को ‘मोहकक्षिप्त’ बुद्धि कहा जाता है। सारासाराविवेकता, अविप्रेक्ष्यकारिता का नाम ही मोह है। ‘मनसो विपयकाराकारित्वं वासनासंस्कार’ के अनुसार मन का विपयकाररूप में परिणत होना ही वासना संस्कार है। मन वाग्म्य है, वाग्म्यस्त्रेण रतेहकम्प है। इसीलिए चक्षुरा जिस नक्षत्र पर जाता है, वह उसी नक्षत्र का रूप धारण कर लेता है। मनुष्य (सन्नेह) में सदा ही सभी नक्षत्र विद्यमान हैं। परन्तु व्यवहार होता है—भ्रान्त अन्विता है, भ्राम्य भ्रमणी है। इस का तात्पर्य यही है कि व्याप अन्विता का चक्षुरा है, भ्राम्य भ्रमणी का चक्षुरा है। इस से कहना यह है कि चक्षुरा का यह लक्षण है कि वह जिसके साथ मिलता है, तत्प्राकाराकारित बन जाता है। इसी का अर्थ हमारा मन है, जत एव वह भी जिस विषय से संयुक्त होता है, उसी का व्यापार धारण कर लेता है। विप्रेक्ष्य-रुक्तरित मन वासनामय है। संस्काररूप व्यापार ही (यह व्यापार ही) ‘वासयति—आश्रययति—आस्त्यानम्’ के अनुसार ‘वासना’ है। यही संस्कार कक्षास्तर में उक्क बन जाता है। उक्क से तत्प्राप्तनामय रथिमसूत्र—(हृन्नासूत्र) तत्प्राप्तियों के लिए निकला करते हैं। दूसरे उक्क में उक्कमिर्निर्गता एव अर्कों के द्वारा (कामनासूत्रों के द्वारा) मन धार २ उन विषयों की ओर डीका करता है। ‘लज्जनितसंस्काराद्वारा विषयेषु मनसो बन्धनमासक्तिः’ के अनुसार इस विप्रेक्ष्यका नाम ही आसक्ति है। वासना संस्कार ही आसक्ति का जनक है। व्याप मार्ग में चले २ कोई छुट्टर धरम देख लेते हैं, तत्प्राप्त मन पर उस की व्याप (संस्कार-वासना) लग जाती है। यही व्याप व्याप के मन को उस धरम को पुनः २ देखने के लिए व्याकर्षित

करती है यही आसक्ति है। एक बात और। यदि उक्त संस्कार दृढ़ नहीं होता तो आसक्ति भी नहीं होती। संस्कार दृढ़मूल बन कर ही आसक्ति का कारण बनता है। इन संस्कारों को दृढ़ करने वाला है—'चिरकाश का अनुभव'। 'मनसा अनुभवजन्यसंस्काराधानेऽनुभवस्य चिर-काशिकत्वं हेतुः' के अनुसार मन पर जो संस्कार आता है, यदि बार बार उसी की ओर लक्ष्य रखा जाता है तो—'स तु दीर्घकालनैरन्तर्गतसंस्काराऽऽसेनितो दृढमूर्तिः' (योगद० समाधिपाद, १४ सू०) के अनुसार उक्त चिरकाश के अनुष्ठान से वह संस्कार दृढ़मूल बन जाता है। प्रथम-संस्कार आसक्ति का कारण नहीं बनता, अपि तु अनुभव द्वारा दृढ़ बना हुआ संस्कार ही आसक्तिरूप 'संग' का कारण बनता है, जैसा कि 'ध्यायतो विषयान् पुंसः सगस्तेषूपमायते' (गीता २।१२) इत्यादि से स्पष्ट है। निष्कर्ष यही हुआ कि मन संस्कारों के चिरकाशिक सम्बन्ध से विषयों के साथ बद्ध होबोता है। मन को हमने प्रज्ञान कहा है। प्रज्ञान में प्रज्ञा—माया यह दो तत्त्व हैं। प्रज्ञा सोमत्व है, माया इन्द्रित्व है। दोनों का तादात्म्य है। सोम ही विदेश का ग्राहक बनकर ज्ञानमूर्ति बनता हुआ 'प्रज्ञा' नाम से व्यक्त होने लगता है। मन में आप ज्ञान और क्रिया दोनों वर्म देखते हैं। साथ ही में यह मन रूप—रस—गंधादि भूतमात्राओं का भी अनुग्राहक है। सोम—विदेश—माया यही तीनों क्रमशः भूतमात्रा—प्रज्ञामात्रा—मायमात्रा के अनुग्राहक हैं। सोम भूतों का प्रकर्षक है। विदेश प्रज्ञाभाव का जनक है। माया इन्द्रियग्राम का उपकारक है। विदेशयुक्त सोम प्रज्ञामात्र (ज्ञान) है, माया क्रिया मात्र है। इस प्रकार प्रज्ञा—प्रणि मेद से मन उभयोक्तिक बन जाता है—'उभयोक्तिक मनः'। प्रज्ञा—माया के इसी तादात्म्यभाव का निरूपण करते हुए महर्षि कोपीतकि कहते हैं—

“या हि प्रज्ञा स माया, यः मायाः सा प्रज्ञा। सह श्रोतानरिमन् शरीरे वसत,  
सहोषिष्ठतः। माहोऽग्निं वा मायात्मा। तं मायापुरमृतमित्युच्यते। × × ×।  
तस्यैव दृष्टिः, एतद् विज्ञानम्” (कोपी० उप० १।१)।

सोममयी प्रज्ञा के सम्बन्ध से ही प्रज्ञा-प्राणरूप इन्द्र 'भोक्तृसारी' बन जाता है। प्रज्ञान-मन जिस विषय पर जाता है, स्नेहशुष्क सोम के प्रमाण से वह वहीं आसक्त हो जाता है। 'मिस पर पर (विषय पर) गए, वहीं के होगए' यही 'भोक्तृसार' है। भोक्तृ भर का वाचक है—“सृष्टा वा भोक्तृ” (ऐ० ८।२९)। मन रूप प्राण इन्द्र का सामाजिक धर्म (सार) भोक्तृ (विषयों में आसक्त हो जाना) ही है, अतएव इसे भोक्तृसारी कहना न्याय संगत होता है। प्राण इन्द्र के इसी आसक्ति भाव को सदैव में रख कर धृति करती है—

‘भोक्तृसारी वा इन्द्रः, यम वा एष इन्द्रः पूर्वं गच्छति-येव समापर गच्छति’ (ऐ० ६।१७।२२)।

जहाँ एक बार मन किसी विषय पर आसक्त हो जाता है, उस बार २ उसी विषय की ओर होका करता है। ऐसा धर्म एक मात्र प्राण इन्द्र का ही है। विशुद्ध रूप से प्राणमूर्ति इन्द्र अर्त्तम है, किन्तु सोम सम्बन्ध से इसे आसक्तिभाव से आक्रान्त हो जाना पड़ता है।

मन के उक्त आसक्तिभाव के सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। “सकल्प विकल्पात्मक मन को हमने पूर्व में ब्रह्मक कथनाया है, जैसा कि ‘ब्रह्मस हि मनः कृष्ण प्रमाथिसन दृढदमू’ इत्यादि स्मार्त बचनों से स्पष्ट है। ब्रह्म-परित्याग यह मन का सामाजिक धर्म है। वह किसी एक विषय में विरक्तता तक प्रसिद्धि नहीं रह सकता। ऐसी परिस्थिति में मन की विषयों के साथ आसक्ति (विरक्ततात्मिक बन्धन) अनुपपन्न हो जाती है। संस्कारों की विरक्तता बन्धा ही आसक्ति का मूल है, एवं बौद्धिक मन में विरक्ततात्मक का अभाव है। फिर मन को, किन्ना प्रवेन्द्र को भोक्तृसारी (विषयासक्त) कैसे कहनाया गया ?”। इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें चान्दोपपुरुष की शरण में जाना पड़ेगा। विशुद्ध मन वास्तव में अज्ञानात्मक है, अतएव पञ्चल है। परन्तु बुद्धि को साथ लेने से ही मन आसक्ति के बन्ध में पड़ जाता है। दूसरे शब्दों में बुद्धिसहकृत मन ही आसक्ति का कारण है। स्थिर सूर्य से उत्पन्न बुद्धि स्थिर है। तत्सम्बन्ध से अस्थिर मन में स्थिरता का उदय हो जाता है। सांस्कारिकत्व जहाँ मन का बन्ध है वहाँ विरक्ततात्मक बुद्धि का धर्म है। इसी वजह को लेकर मन विषयों में बन्ध हो जाता है।

यदि ऐसा है तो फिर एक प्रश्न उपस्थित होता है। सूर्यरूप विज्ञानात्मा (बुद्धि) को चन्द्ररूप प्रज्ञानात्मा पर (मन पर) प्रतिष्ठित बतलाया गया है। मन और बुद्धि दोनों परस्पर में अविभाज्य हैं। मन कभी बुद्धि से श्रेष्ठ नहीं हो सकता, एक बुद्धि न मन से कभी श्रेष्ठ होती। दोनों नित्य सन्वद्ध हैं, वैसा कि धृति कहती है—

‘कृतम आत्मेति । योऽयं विज्ञानमयः प्रायेण ह्यन्तर्बोधिः पुरुषः ।’

(श्रु. भा. उ. ४।१।७)। ‘तदा अस्मैवन्ति च्छन्वा अपरितपाप्माभयं रूपम् ।

तथा प्रियया ज्ञिया सपरिपक्वो न बाधं किञ्चन वेद-नान्तर, एवमेवायं पुरुष (विज्ञानात्मा-चातुपपुरुषः) प्राज्ञेनात्मना सपरिपक्वः’

(श्रु. भा. उ. ४।१।२१)।

ऐसी दशा में सदा ही सभी विषयों के साथ आसक्ति होनी चाहिए, क्योंकि सत्कारमात्रक मन, एक इदतोत्यादिकबुद्धि दोनों सदा ही सहज हैं। परन्तु हम देखते हैं कि कितने ही विषयों से मन घृणा करता है। उन के स्पर्शमात्र से मन उद्विग्न हो पड़ता है। इस का क्या कारण ? आसक्तिमूला सामग्री के रहते हुए भी कहीं आसक्ति हो, कहीं न हो इस का क्या उत्तर ? ‘बुद्धिर्द्विबिध्यः’। बुद्धितत्त्व अपेक्षा, उपेक्षा भाव से दो भेदों से आकण्ठ रहता है। अपेक्षाबुद्धि से सत्कार एक हो जाता है, उपेक्षाबुद्धि से सत्कार स्थिर नहीं होने पाता। मन को हमने दक्षिण बतलाया है। यदि मन प्रवस है तो स्थिर बुद्धि निर्बल हो जाती है, ऐसी दशा में स्थिरभाव उत्पन्न नहीं होता, उपेक्षामात्र का उदय हो जाता है। यदि बुद्धि प्रवस है तो मन की दक्षिणता निर्बल बन जाती है, उपेक्षा द्वारा स्थिरभाव उत्पन्न हो जाता है। इसी को लोक में—‘गौर करना’ कहा जाता है। ‘गौर करो’ इसका अर्थ है बुद्धि से काम लो, बुद्धिबल बढ़ाओ। इससे सत्कार एक होग्य, अन्यथा सत्कार निबल रहेग्य। इस प्रकार इस अपेक्षा बुद्धि से सत्कार एकमूल बन जाने हैं, यही आसक्ति का मूल है। टीक इस के विपरित उपेक्षाबुद्धि में सत्कारशेषिभ्य है, यही अनासक्ति का मूल है। उदासीनभाव



ही उपेक्षामात्र है । 'मनसा एहीवविषये बुद्धेभिरकासिकरूपमुप्यानय' के अनुसार मन इन्द्रियों के द्वारा जिन विषयों का सत्काररूप से ग्रहण करता है, यदि सत्काररूप से आगस्त विषयों में (अपेक्षामात्र की प्रधानता से) बुद्धि अधिक समय तक टहर जाती है तो वही इन्द्रिय अनुप्याम नाम से व्यक्त होने लगती है । चिन्तन करना अनुप्याम है । इस प्यामरूप बुद्धि के व्यापार से आगस्त विषय का मन के साथ चिरकालिक संयोग हो जाता है, यह संयोग ही संग है, संग ही आसक्ति है ।

'मनसः स्वशरीरविषयस्य बहिषा परिमिष्टा काम' के अनुसार संस्कारात्मक विषय आशङ्कित मन का वह द्विष्य संस्कार जनक तत्त्व विषयों की ओर बार बार दोहरा ही 'काम' है । संगरूपा आसक्ति ही काम की जननी है । यही काम आगे जाकर क्रोध का जनक बन जाता है । 'अनुकूलसयोगसद्यः सुखानुशयी संस्कारो रागः' के अनुसार अमिसमित, अतएव सुख के साधनभूत विषय के साथ ही काम का सम्बन्ध होता है, यही राग है । यह विषयपरिविष्टा 'रागमूला' है । एवं 'प्रतिकूलसयोगसद्यो दुःखानुशयी संस्कारो द्वेषः' के अनुसार मन का अपने अवाञ्छित विषय के साथ (जो कि दुःख का प्रवर्धक है) मुक्तता, द्वेष है । आसक्ति दोनों में है । राग सम्बन्ध से एक मित्र के स्नेहपाश में मन जितना बद्ध रहता है, उस से बड़ी अधिक शत्रु के साथ मन बद्ध रहता है । रागवृद्ध-क्रोध आदि असुर इसी द्वेष बुद्धि से उत्पन्न हुए हैं । काम से ही राग का उदय है, काम से ही द्वेष का उदय है । कामसम्यग् भाविकरण काम ही क्रोध का मूल है । एक वस्तु को आपसी चाहते हैं, उसी को एक दूसरा व्यक्ति भी चाहता है । एक ही स्थान पर दो कामों का सम्बन्ध हो रहा है । दोनों का अविच्छेद एक है । इस सम्यग्भावनिकरणरूप काम से तत्त्वसंश्लेष का उदय हो जाता है । "अमी प्सितविषयेऽप्याक्रमणायङ्गायां तद्भाषितसमावनायां शारीराद्याभुत्याः क्षोमः क्रोधाः" के अनुसार अपने अमिसमित पदार्थ का यदि अन्य व्यक्ति लेने की इच्छा करने लगता है तो उस व्यक्ति को उस की प्राप्ति में आशङ्का हो जाती है । इस से शरीर का अति दुग्ध हो पड़ता है । अति का यह क्षोम ही 'क्रोध' है । राग से ही काम का उदय हुआ है, राग से

ही श्रोत्र का उदय हुआ है। दूसरे शब्दों में कामप्रतिबन्धन ही श्रोत्र का मूल है, यही कामप्रतिबन्धन श्रोत्र का मूल है। काम एक भिन्न संस्कार है, श्रोत्र एक भिन्न संस्कार है। दोनों का मन में सम्मेलन होता है। इन दोनों विजातीय संस्कारों के सघर्ष से एक तीसरा अपूर्व संस्कार उत्पन्न हो जाता है, यही 'समोह' नाम से प्रसिद्ध है। अनुमवाहितसंस्कारबन्धन स्मृति है, स्मृति ही विज्ञान वश को बढ़ाती है। समोह से (चित्तबोम) से स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है। स्मृतिनाशसे बुद्धि (विचारशक्ति) नष्ट हो जाती है। बुद्धिभ्रष्ट ही विनाश का मुख्य कारण है। इसी क्रमिक मनोविज्ञान का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

यदा ते मोक्षसिद्धिं बुद्धिर्भ्रंशितिरिष्यति ।

तदा गन्धासि निर्बेदं श्रोत्रम्यस्य श्रुतस्य च ॥१॥ (गी० २।५२) ।

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।

सङ्गात् समायते कामः कामात् श्रोत्रोऽभिभायते ॥२॥

श्रोत्राद्भवति समोहः समोहात् स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् मय्यश्रयि ॥३॥

(गी० २।५२ ५३) ।

उपर्युक्त मनोविज्ञान से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि यदि विज्ञानात्म्य मन की ओर मुक्त जाता है तो वह मन पर आए हुए अविद्यामय मौलिक विषयसंस्कारों को दृढ़ बनाया हुआ आत्मस्वरूप को बाधित कर देता है। बुद्धि में जो विद्या- (ज्ञान) भाग है, वह मन के साथ युक्त होकर ज्ञानेन्द्रियों का उपकार करता है। इस ज्ञानीय संस्कार को ही 'अनुमवाहितसंस्कार' कहते हैं, यही 'मायना' नाम से प्रसिद्ध है। एव बुद्धि का अविद्या- (कर्म) मग मन द्वारा कर्मेन्द्रियों का उपकारक बनता है। यही कर्मजनित संस्कार 'मायना' नाम से प्रसिद्ध है। ज्ञान- (विद्या) संस्कार, एव कर्म- (अविद्या) संस्कार ही मन की ओर मुक्त हुई उसी बुद्धि की

• इस विषय का भीतर लघुपत्र 'गीताविज्ञानमाध' में दस्ता करिए ।

हुआ से ( अविद्या से ) दृढबन्ध बनते हुए इस कर्मका आसक्ति के जगक बन जाते हैं । अविद्या कर्म है, अविद्या है, दूसरे शब्दों में अज्ञान है । इस की उपासना करने वाले अविद्या में प्रविष्ट होते हैं । परन्तु विद्या की ओर मुक्त होने वाले उस से भी अधिक गहरे अवस्था में जाते हैं । कर्म उठना बुरा असुर नहीं करता, जितना कि अविद्या 'सम्यक्' से होता है । स्वर्ग की कल्पनाएं मनुष्य को पशु बना सकती हैं । निष्काम-मुक्ति से विद्या जाने वाला कर्म दृढ विद्या के प में परिणत होता है, परन्तु सक्रम-विद्या आचरण-प्रवृत्ति कर्म से भी कहीं अधिक अवस्था में जाती है । क्योंकि कमजोरित वासना संस्कार की अपेक्षा ज्ञानजनित माया संस्कार अधिक दृढ होता है । जोर को उठना दण्ड नहीं मिलता, जितना कि जोरी की शक्ति रखने वाले को मिलता है । कर्म ( कर्मजनित वासना संस्कार ) तो मध्य होता है, परन्तु ज्ञान ( ज्ञानजनित माया संस्कार ) सहसा मध्य नहीं होता । आप एक व्यक्ति को बुरे कर्म से शीघ्र रोक सकते हैं, परन्तु उस के बुरे विचार ( माया ) सहसा नहीं बदले जा सकते । स्पष्ट की विद्वत्ता सहज है, सूक्ष्म की विद्वत्ता कठिन है । इन्हीं सारे रहस्यों को स्वरूप में रक्ता हुआ, विज्ञानात्मक स्वरूप में बतलाता हुआ प्रकृत विज्ञानात्मक विद्वत्ता पाठकों के सामने उपस्थित हुआ है ।

विज्ञानतत्त्वप्रतिपादिक तीनों मंत्रों में उपस्थित होने वाली ईशोपनिषद् में आदिनि  
 "अर्थे तपः प्रविशति ०- "अन्येदेवाहुर्विद्यायां" "विद्यां प्राविद्यां च" ० यह कम  
 देना जाना है । परन्तु हमारी दृष्टि से ( विज्ञानदृष्टि से ) इन तीनों मंत्रों का "अन्येदेवाहुर्वि  
 द्याया" ०- 'अर्थे तपः प्रविशति' ०- "विद्यां प्राविद्यां च" ० यह कम होना चाहिए ।  
 समर्थ है संस्कारों की असाधनी से यह विज्ञानकम बन्ध गया हो । पहले व्यापक विज्ञानात्मक  
 का स्वरूप बताना आवश्यक है । आत्मस्वरूप परिज्ञान के अनन्तर "जो आत्मा के यथायथ स्वरूप  
 को नहीं जानने, उन की ऐसी गति होती है" यह बताने का अवसर मिलता है । सर्वगत  
 वे-इसविषये आत्मवेदता की इस तरंग उपासना करो यह बताना व्यापक होता है ।

यही कम वैज्ञानिक है। वैज्ञानिक क्रम का 'अन्यदेवाहुर्विद्यया०' यह प्रथममन्त्र विज्ञानात्मा का स्वरूप बतचाता है। 'अन्य तमः प्रविशन्ति०' इत्यादि मन्त्र आत्मा के प्रतिपादित स्वरूप से विरुद्ध आनेवालों की अवोगति बतचाता है, एव सवान्त में—'विद्यां आविद्यां च' इत्यादि मन्त्र प्रतिपक्ष आत्मतत्त्व का स्पष्टीकरण करता है। इसी क्रम का सवादर करते हुए निम्न सिद्धित मन्त्र की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है—

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुर्विद्यया ॥

इति श्रुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचवत्तिरे ॥१॥

(ई व १० मन्त्र)

“वह आत्मन्त्र विद्या से भी पृथक् कहा जाता है, अविद्या से भी पृथक् कहा जाता है। जिन (पारोक्ष्यवित्) विद्वानों ने हमारे लिए आत्मस्वरूप का निरूपण किया है, उन धीरों के (आत्मा के सम्बन्ध में) ऐसे ही विचार हैं—यह हम सुनते आये हैं, अर्थात् धीर विद्वानों का कहना है कि वह आत्मतत्त्व विद्या-अविद्या दोनों से पृथक् तत्त्व है” यह है मन्त्र का सामान्य अर्थ।

हम विश्व में समष्टि एक व्यष्टिरूप से सर्वत्र विद्या और अविद्या (ज्ञान एव कर्म) का साक्षात्कार कर रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ ज्ञान-कर्ममय है। साप ही में जहाँ ज्ञान है, वहाँ कर्म (विषय) अवश्य है। कर्मसञ्ज्ञातकृप विषय के बिना आप अपने ज्ञान को कभी नहीं देख सकते। प्रत्येक दशा में ज्ञान विषयाकारणकारित बन कर ही भासित होता है। इसी प्रकार प्रत्येक कर्म-ज्ञानमय है। 'ज्ञायते' भी किया ही है। आप किसी वस्तु को जानते हैं, यह जानना भी कर्म है। आप कोई काम कर रहे हैं, उस में भी ज्ञान निम्न सम्बद्ध है। ससार में सतत प्रयास करने पर भी आप विशुद्ध ज्ञान एवं विशुद्ध कर्म का पार्थक्य नहीं देख सकते। इन में ज्ञानभाग अमृत है, कर्मभाग मृत्यु है। ज्ञान आदर्शवत् सदा एक रूप रहता है, यही इस का अमृतमात्र है। ज्ञान में आने वाले कर्मरूप विषय निरन्तर बदलते रहते हैं, यही कर्म का

भूषुमात्र है। ज्ञान विद्या है, कर्म अविद्या है। दोनों का (सोपाधिकरूप से) प्रत्यक्ष हो रहा है। इन दोनों का गूढाधार विज्ञानात्मा (बुद्धि) है। विज्ञानात्मा में प्राण और चित्त यह दो भाग हैं। साय ही में तीसरा सोमकक्ष भी है। प्रज्ञानात्मा (मन) में भी-इमें सोम-चित्त-प्राण-यह तीन ही अवयव बतलाए थे, परन्तु इस में और विज्ञान में बड़ा अन्तर है। विज्ञानात्मा सूर्य की प्रतिकृति होने से चारों ओर से प्रकाशित रहता हुआ स्वयंयोतिर्मयतत्त्व है। प्रज्ञानात्मा चन्द्रमा की प्रतिकृति होने से एक भाग से (चित्त और विज्ञानात्मा का प्रकाश आता है-उस भाग से) प्रकाशित रहता हुआ परज्योतिर्मयतत्त्व है। साय ही में विज्ञानात्मा का सोम पारमेष्ठ्य ब्रह्मरूपसि सोम है प्रज्ञानात्मा का सोम चान्द्रावृत्त सोम है। विज्ञान और प्रज्ञान में बड़ी अन्तर है, जो अन्तर सूर्य और चान्द्रमा में है। विज्ञान अद्वैतब्रह्मज्ञान है, प्रज्ञान सोम तत्त्वज्ञान है। विज्ञान विषयों पर जा सकता है, प्रज्ञान पर विषय आते हैं। महीन रचना में विज्ञानव्यापार की प्रधानता है, किन्ती की बनी रचना की प्रतिकृति करने में प्रज्ञानव्यापार प्रधान है। सोमकक्ष दोनों के प्राण में भी भेद है। विज्ञानप्राण दिव्य है, प्रज्ञानप्राण भ्रान्त रिच्य है। विज्ञानेन्द्र 'मघना' है, प्रज्ञानेन्द्र 'लघना' है। इसी प्रकार विज्ञान का विदरा मन्त्रयुक्त होने से प्रबल है, प्रज्ञान में जो विदरा व्यापक है वह विज्ञान की ही देन है। इन सब कारणों से विज्ञान-प्रज्ञान की सोम-विदरा-प्राण तीनों कक्षाओं का पार्यक्य, एक पृथग्बर्त्तक सिद्ध हो जाता है। विज्ञानात्मा सैवज्ञ है, कारविज्ञा है। प्रज्ञानात्मा कर्त्ता है। इसी कर्त्ता प्रज्ञान की ज्ञान (प्रज्ञा), क्रिया (प्राण) अवयव (भूत) तीनों शक्तियों का सञ्चारक क्षेत्रज्ञ विज्ञानात्मा है। अगनी सोमकक्षा से विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा को भूतमग्न्या (शब्द-रूप-रसादि विषयों) के लिए, चित्तकक्षा को प्रज्ञायात्रा के लिए, एवे प्राणकक्षा को प्राणयात्रा (इन्द्रियवर्ग) के लिए प्रेरित करता है। जब तक विज्ञान है, तभी तक व्याप्यात्मिकतत्त्वा की स्वरूपद्विष्टि है। सोम युक्त विदरा विज्ञान का विद्या (ज्ञान) भाग है, विज्ञानानुमहीव प्राणोन्मत्त कर्मभाग है। इस प्रकार अमृतप्राणमय, दूसरे शब्दों में विद्या-अविद्यामय तीसरे शब्दों में ज्ञान कर्मवय विज्ञानात्मा ही व्याप्यात्मकता का इसी प्रकार प्रकाशक एवं स्वरूपसमर्पक बना हुआ है, जिसे कि सूर्य

आपने अमृतप्राप्त्युपाय से विश्व का प्रकाशक बना हुआ है। जब तक सूर्य है, तभी तक अमृत-रागम है, तभी तक विश्व है। जिस दिन सूर्य न रहेगा, उस दिन रात्र्यागम द्वारा प्रसन्न का साक्षात्प हो जायगा।

“यह विद्या (ज्ञान) है, यह अविद्या (कर्म) है” इस प्रकार से हम सत्तार में समष्टि व्यष्टिरूप से जिस ज्ञान-कर्म का साक्षात्कार कर रहे हैं, वह हमारे विज्ञानक्षेत्र रूप की महिमा है—‘यह सूर्य इन्द्राग्नि’। इस प्रकार अविद्या विद्यारूप से हम विज्ञानात्म्य के साक्षात् दर्शन कर रहे हैं। यही सोपाधिक विद्या-अविद्या विज्ञानात्म्य का स्वरूप है। इस स्वरूप को (ज्ञान कर्म को) स्थिति अस्थिति सभी जानते हैं। ‘हम जानते हैं—हम करते हैं’ यह अक्षर सभी के मुख से निकलते हैं। क्या सर्वविदित यही विद्या-अविद्या (सोपाधिक ज्ञान-कर्म) विज्ञानात्म्य का वास्तविक स्वरूप है? क्या सभी आत्मज्ञानी हैं? फिर तो शास्त्रोपदेश की आवश्यकता ही न रही। इसी सारी जटिल समस्या को सुलभता हुआ—‘अन्यदेवाहुर्विद्यया०’ इत्यादि मन्त्र हमारे सामने आता है। हम सांसारिक पदार्थों में ज्ञानरूप से जिस विद्यामात्र का साक्षात्कार कर रहे हैं, क्या यह प्रापञ्चात्मिक विद्या आत्मविद्या है? अपि कहते हैं—‘अन्यद्-विद्यया’। जिस अविद्यामात्र का हम कर्मरूप से दर्शन कर रहे हैं, क्या वह ‘आत्मविद्या’ है? अपि कहते हैं—‘अन्यद्-अविद्यया’।

यह असत्य में यह है कि धृति को ‘विज्ञानात्म्य’ में जो विशुद्ध आत्मप्राप्त है, उस क्षेत्र पर ज्ञान प्रकाशना है। यद्यपि विश्व में प्रत्यक्ष वह विद्या-अविद्यामात्र उसी का विर्ण है, परन्तु यह दोनों ही भाग मौलिक विश्व से संपरिष्कृत बनकर सोपाधिक बनते हुए स्वस्वरूप से व्युत्पन्न हो रहे हैं। उधर विशुद्ध विद्या अविद्यारूप आत्मतत्त्व केवल स्थापनात्मक है। वहाँ शब्द की गति नहीं है—‘विज्ञानात्मरं’। वाक्येन विप्रानीयात्’। विश्व के प्रत्येक पक्ष के विद्या-अविद्या भाग पर दृष्टि टाकते जाइए, सबय ‘इदं न-इदं न-इदमपि न-इदमपि न’ यही कहना पड़ेगा। इस प्रकार न-न करते जब सारे विश्व प्रपञ्च की समाप्ति होजाय, उस समय जो विशुद्ध-ध्यात्म तत्त्व



भाग है। इन से क्रमशः अभ्ययात्मक के विद्या-अविद्या भाग का उपकार होता है, अतएव इन्हें भी विद्या-अविद्या शब्द से व्यक्त कर दिया जाता है। वस्तुतः विद्या-अविद्यात्मक अभ्ययात्मक सौर विद्या अविद्या से पृथक् तत्त्व है। यह किसने समझा? इसका उत्तर है—“धीरा”। सौर विज्ञान भी भाग है। इस भीतत्त्व के परिज्ञाता विद्वान् धीर हैं। जो धीर (सौरविज्ञान विद्वान्) हैं वे ही यह समझ सकते हैं कि वह इस सौरी अविद्या से भी अन्य है एवं सौरी विद्या से भी भिन्न है। यही मन्त्र का दूसरा अर्थ है।

प्रथमार्ध में जो मात्र प्रकट किए गए हैं, उन्हीं भाषों को ‘विद्यायाः-अविद्यायाः’ इन पद्यवन्त पाठों से भी व्यक्त किया जा सकता है। स्वयं मूलसंहिताने पद्यवन्त पाठ को ही प्रधान माना है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

अपदेवाहुर्विद्याया अभ्यदावुरविद्यायाः।

इति शुभ्रम धीराणां ये नस्तद्विषयश्चिरं ॥ (पद्य सं ३० अ। १३ म)।

सामान्य मनुष्यों में विद्याशब्द का अर्थ ज्ञान, एवं अविद्याशब्द का अर्थ अज्ञान समझ रखा है। इसी अन्तिमे इन्हें आत्मस्वरूप से उचित कर रखा है। उधर आत्मा का स्वरूप भी विद्या-अविद्यात्मक बताया जाता है। क्या आत्मा के विद्या-अविद्यात्मक होकर ज्ञान-अज्ञान ही हैं? इस का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि तुमने विद्या का जो अर्थ (ज्ञान) समझ रखा है तुम्हारे समक्ष हुए विद्यास्वरूप से उस आत्मविद्या का स्वरूप सर्वथा भिन्न है—‘अन्यदेवाहुर्विद्यायाः’ (आत्मविद्या)। एवमेव तुमने अविद्या का जो अर्थ (अज्ञान) समझ रखा है, तुम्हारे समक्ष हुए अविद्यास्वरूप से आत्मा के उस अविद्या का इसका ही तात्पर्य है—‘अन्यदेवाहुर्विद्यायाः’। विद्या से अभ्यस्य की विशुद्ध-विद्या अभिप्रेत

• अन्यदेव तद्विद्याह्यो अविदिताह्यधि।

इति शुभ्रम धीराणां ये नस्तद्विषयश्चिरं” (वेद० ११६)

“अन्यदेव धर्मव्यवसायमस्य” (पद्य ११५)

इत्यादि उपनिषद्ग्रन्थ भी इसी विविधा का स्वीकरण करते हैं।



है, अविद्या से अम्यम का शुद्ध कर्मभाग अभिप्रेत है। अविद्या का अर्थ अज्ञान नहीं, अपि तु कम है। आत्म विद्याविद्यात्मक है—इस का तात्पर्य—‘आत्मा विद्याकर्मभय है’ यही है।

अपि विद्या—अविद्या शब्द से ज्ञान-कर्म का ही ग्रहण करने वाले कुछ एक मनुष्यों का कहना है कि विद्यारूप ज्ञानभाग सर्वथा स्वतन्त्र तत्त्व है यही वास्तव में आत्मा है। कर्मजन्य अज्ञानरूप होता हुआ आत्मा का आवरण है। विद्या कमी अविद्या से, एवं अविद्या कमी विद्या से संयुक्त नहीं होती। दोनों (विपरी-विषय) तम—प्रकाशवत् आत्मत विरुद्ध हैं। इन दोनों विरुद्धों का जो एकत्र समग्रवेश देखा जाता है, वह सर्वथा मिथ्या भाति है। आचरणमूला अविद्या का विद्यारूप आत्मा से क्या सम्बन्ध? इसी भ्रान्तयत्न का निराकरण करती हुईं मुक्ति कहती है कि—यदि तुम विद्या-अविद्या का ऐसा ॥ स्वरूप समझते हो तो विश्वास करो, न तुममें विद्या का यथायै स्वरूप समझ, न अविद्या का। तुम्हारी समझी हुई विद्या का एवं अविद्या का जो स्वरूप है, उस अम्यम विद्या का एवं अविद्या का स्वरूप सर्वथा ‘अन्यत्’ है। जिसे तुम मिथ्या कहने का साहस करते हो वह अविद्या अज्ञान नहीं, अपि तु विद्यागमित कर्म है, एवं जिसे तुम शुद्ध विद्या कहते हो वह कर्मगमिता विद्या है। मूलतः पूर्व की ‘तद्वत्तस्य सर्वस्य तदु सयस्य बाह्यतः’ इस प्रतिष्ठा को। आत्म्य का आभास भाग विद्या है, आभास भाग कम है। दोनों का समन्वितरूप एक आत्मा है। ऐसी स्थिति में केवल ज्ञान के अनुयायी भी उसे नहीं पहचानते एवं केवल कर्म के अनुयायी भी आत्मस्वरूपज्ञान से वञ्चित रहते हैं। तम—प्रकाशवत् दोनों विरुद्ध अवश्य हैं परन्तु दोनों का एकत्र समन्वय मिथ्य नहीं अपि तु—‘अमृतं चैव सुत्युष्य सदसबाह्यमुन’ के अनुसार मितान्त सत्य है। जो आत्मा के इस समन्वितरूप की आराधना न कर केवल ज्ञानभाग अथवा केवल कर्मभाग की उपासना करते हैं, जानते हो उन की क्या दशा होती है? नहीं जानते तो सुनो!

अन्वर्ध तम प्रविशन्ति येऽप्रविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता ॥ २ ॥

( ई. उ. ६ मन्त्र ) ।

पुरुषात्माधिकरण्यान्तर्गत ब्रह्मसम्बन्ध के प्रमानीतिपद में कमप्रपञ्च का दिग्दर्शन कराते हुए कम के रूप-विकल्प-प्रकल्प भेद से तीन प्रधान विवर्त, एवं ५ साधारण विवर्त बतलाए गए हैं—(वेसिण ई वि मा ३खण्ड १२४—१२५ पृ)। कर्मवत् ज्ञान भी ज्ञान-विज्ञान अज्ञान इन तीन भागों में ही विभक्त है। रज्जु को सप समझना अज्ञान है। इसीको भ्रान्ति, मोह मिथ्याज्ञान आदि शब्दों से व्यवहार किया जाता है। दार्शनिक परिभाषानुसार इसी अज्ञानरूप भ्रान्तज्ञान को 'मातिमासिकीदृष्टि' कहा जाता है। यह अज्ञान परमापदृष्टि से भी असत्य है, एवं व्यवहारदृष्टि से भी असत्य है। यही वेदान्तनयनामित 'अव्याप्त' है। रज्जु को रज्जु समझना विज्ञान है। यहाँ विज्ञान शब्द से विरुद्ध ज्ञान ही अभिहित है। रज्जु रज्जु नहीं, साक्षात् ब्रह्म है। परन्तु लौकिक मनुष्यों ने अपने लौकिक व्यवहार की सुविधा के लिए इसे 'रज्जु' नाम से व्यवहार कर रक्खा है। व्यवहारदृष्टि से रज्जु को रज्जु कहना कभी सत्य है, परन्तु परमापदृष्टि से रज्जु को रज्जु समझना विज्ञान (विरुद्धज्ञान) है। इन्द्रियों से जिन विषयों का जैसा ज्ञान हो रहा है वह सब परमापज्ञान से श्रुत होता हुआ विज्ञानकोटि में प्रविष्ट है। इसी को 'व्यावहारिकीदृष्टि' कहा जाता है। एवं रज्जु को आत्म्य समझना ज्ञान है—'ज्ञाना न्मुक्ति'। यही व्याप्यादृष्टि है यही 'पारमार्थिकीदृष्टि' है, यही वास्तविक ज्ञान है। इन में ज्ञान कर्म का उपकार है, विज्ञान विकल्प का उपकारक है, एवं अज्ञान अकर्म का उपकारक है। ६ सरे शब्दों में अज्ञानज्ञान से निवृत्तिवच्छेष आत्मीय (निरात्म) —कर्म का उद्भव होता है। व्यवहारज्ञान से प्रवृत्तिवच्छेष व्यावहारिक कर्मों का संचालन होता है, एवं अज्ञान से पतन मूलक भ्रान्त कर्मों में प्रवृत्ति होती है।

१—ज्ञानम् (आत्मज्ञान—सर्वथा सत्यम्) → → → १—कर्म (आत्मीय कर्म)

२—विज्ञानम् (सो-ज्ञान, परमापन्न असत्य) → → → २—विकल्प (व्यावहारिक कर्म)  
व्यवहारतः सत्यम्)

३—अज्ञानम् (मिथ्याज्ञान भ्रान्ति) → → → ३—अकर्म (निरर्थक कर्म)

- १-विद्या ( ज्ञान )-सापेक्ष प्रवृत्तिकर्म-----सत्कर्म-कर्मकारी  
 २-विद्या ( ज्ञान )-निरपेक्ष प्रवृत्तिकर्म-----सत्कर्म-साधुकारी }-ज्ञानमूलककर्म  
 ३-विद्या ( ज्ञान )-सापेक्ष निवृत्तिकर्म-----निराकामकर्म-कर्मयोगी  
 ४-विद्यानिरपेक्ष विवृत्तिकर्म-----विवर्तकर्म-सौकर्यवर्तिक]-विज्ञानमूलककर्म  
 ५-विद्यानिरपेक्ष निर्वर्तकर्म-----विवर्तकर्म-विवेकावली]-विज्ञानमूलककर्म

इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में ज्ञान और कर्म का साधारण हो रहा है। त्रेधाविभक्त ज्ञान में से ज्ञान, एक त्रेधाविभक्त कर्म में से कर्म प्राप्य है, योग विज्ञान-अज्ञान, एक विकर्म-अकर्म है, यह रहस्यवेत्ताओं का सिद्धान्त है। इस ज्ञान और कर्म के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों ने विरक्तज्ञ से विश्व मिला दो मत पले व्यारे हैं। कर्मज्ञ को ही प्रधानता देने वाले कर्मों का कहना है कि अज्ञान का अन्त्युदय कर्म से ही हो सकता है। कर्म करने में ही कल्याण है। सम्पूर्ण विश्व प्रजापति का कर्म है। उस में कर्म से ही यह विभूति प्राप्त की है। कर्म करते आओ, ज्ञान का उदय अपने आप हो जायगा-‘तत्र स्वयं योगसंसिद्ध कर्म्येनात्मनि विन्दति’। ज्ञान के लिए प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमारा मुख्य ध्येय कर्म (प्रवृत्तिकर्म) होना चाहिए। यही विद्या कर्मठ, कर्मयोगी, कर्मनिष्ठानुयायी आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

दूसरा दल कहता है कि कर्म से कमी अन्त्युदय नहीं हो सकता। दुबारा यह कहना कि प्रजापति में कर्म से यह विश्वविभूति प्राप्त की है, सर्वथा असंगत है। प्रजापति विशुद्ध ज्ञानमूर्ति है। वही कर्म की समाप्ति ही नहीं है। यह तो शिष्यवृद्ध-बुद्ध-मुक्त है। हमें जो कर्म प्रपन्न (विद्य) शिक्षार्थ देखा है, वह ‘रज्जुसर्पवत्’ स्थाणुपुरुषवत्’ शुद्धिरगतवत् सत्त्वाभ्यास है, अग्न्यासमात्र है। सारा विश्व एक माया का मिथ्यावाक्य है। हम मानते हैं कि विचारमुक्ति कर्म से है, जगत्फल देने वाला है। परन्तु वह भी आगे जाकर क्षणिक है।

मिक) सुखकोटि में प्रविष्ट होता हुआ दुःख का ही कारण बन जाता है। 'स्त्रीषु पुरेष मर्त्य-  
लोके वसन्ति' 'पुनराप्ते भवता यद्विरूपाः'। कर्म कर्म है, पाप्मा है, आवरण है। इस से  
ज्ञानमूर्ति आत्मा का निःशेषसमाप्त कथनमपि सम्भव नहीं है। सर्वकर्मपरित्यागसद्वय ज्ञानयो-  
गरूप सन्पास से ही मुक्ति हो सकती है। यही ज्ञानैकवाची 'ज्ञानी' 'ज्ञाननिष्ठानुयायी'  
'सांख्य' आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

एक कहते हैं ज्ञान अष्ट है, दूसरे कहते हैं कर्म अष्ट है। एक कहते हैं साध कर्म छोड़  
छाड़कर ब्रह्म में चले जाओ, दूसरे कहते हैं रात दिन कर्म (प्रवृत्तिकर्म) करते रहो। लोक  
में प्रचलित इन्हीं दो विरुद्ध निष्ठान्तों का निरूपण करते हुए महाबान् कहते हैं—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा मोक्षा मयानघ ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानं कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ (गीता)

उपनिषद् की दृष्टि में उक्त दोनों ही मार्ग पतन के कारण हैं। विद्यामार्ग भी ठीक नहीं,  
अविद्यामार्ग भी ठीक नहीं। ठीक क्या नहीं! सम्भव नहीं। कर्मठ कर्म में प्रवृत्त होते हुए  
पासना संस्कार से आत्मा को बाधित कर रहे हैं। ज्ञानी कहनामों वाले ज्ञान में प्रवृत्त होते हुए  
भावना से आत्मा को बाधित कर रहे हैं। सक्रम ज्ञानयोग, सक्रम कर्मयोग दोनों ही माय-  
मा-वासनासंस्कार के जनक बनते हुए बन्धन के कारण हैं। सर्वकर्मपरित्यागसद्वय सांख्ययोग  
बन ही नहीं सकता। क्योंकि ज्ञानवत् कर्म भी आत्मा का बाध (माय) है, ऐसा कि पूर्व में बत  
चाया गया है। उभर कर्म भी बिना ज्ञान के अपूरा है। जो केवल कर्म के अनुयायी हैं, कुछ  
दिनों के लिए ठन का सांसारिक वैभव अन्वय करता है, परन्तु इस प्रवृत्तिजनक संस्कार से आ  
त्मा बाधित हो जाता है। यही प्रवृत्तिकर्म आगे जाकर अन्धतमरूप पापाचारि स्पर्शयोगियों  
का कारण बनता हुआ आत्मा को सदा के लिए अन्धतम से बाधित कर लेता है—(देखिए ई  
मि भा १ खण्ड आचर्यतन्त्र १९१ से १२३ पर्यन्त)। ऐसी दशा में हम क्या सकते हैं कि जो केवल अवि  
द्यारूप कम की उपासना करते हैं, वे मोक्ष तम में प्रविष्ट होते हैं—“अन्य तयः परिव्रज्य  
येऽविद्यामुपासते”।

यह तो ईश्वर अधिष्ठासकों की कथा , जब विद्यानुपायियों की दशा देखिए । केवल ज्ञान को ही श्रेष्ठ मानने वाले यजानुभाष सांसारिक व्यस्तुदय के मूढभूत कर्म को तो प्रहिले से ही छोड़ बैठते हैं । सब छेड़छाड़ कोपीन सगाकर अरण्य में चले जाते हैं । होता बड़ी है, जो होता होता है । शुद्ध ज्ञान कभी रहता नहीं, कम से कम इस दशा में भी मुक्तिप्रप्त्यना अवरय रहती है । मुक्तिप्रप्त्यना ही क्यों, खागा-पीगा-सोना सभी शारीरिक कर्म तो यहाँ भी साथ रहते हैं । इन्द्रियों के वेग भीतर से उत्पाद म्पाते हैं । बनाष्टी रसांग से वह कस्तूर दान्त रह सकते हैं । तनी तो मगबान् ने ऐसे सग्यास को 'विष्णुधारा' (होंग) कहा है । जब कर्म है तो आसक्ति अवरय है , आसक्ति है तो आबरस भी अवरय है । इस आबरसस्थिति तक तो कर्मठ और ज्ञानी की समान दशा है । अन्तर दोनों की परिस्थिति में केवल यही रह जाता है कि कमानुभाषी जहाँ सांसारिक वैमर्ष का मोहना बनता है, वहाँ यजानुभाषी इस वैमर्ष से भी बचिज हो जाता है । अतएव हम कह सकते हैं कि इन अधिष्ठासकों की दशा अधिष्ठासकों से भी बुरी है । कर्मठ उबर के न सही, इबर के तां हैं । परन्तु यह इबर के रहे , न उबर के रहे, "दुविधा में दोनो गए-माया मित्री न राम" । न सौकिक सुख है, न आत्मनन्द है । इसी अनिप्राय से उपनिषत् में इनके लिए-"ततो ब्रूय इष ते तमो य च विद्यायां रताः" यह कहा है । कहना नहीं होगा कि आज उक्त श्रौत वचन भारतवर्ष में अवररथ चरितार्प हो रहा है । सयकर्मपरिष्यागसङ्गण सम्पास के उपदेष्टा व्याचार्यों की ह्वा से आज भारतवर्ष सारा कर्मकलाप अपने हाथ से खो बैठा है । प्रत्येक कर्म के लिए आज यह परमुखापेक्षी बन रहा है । उबर कर्मठ चिन्नेता लोग प्रतिदिन आगे बढ़न जा रहे हैं । हम बरनें-"ससार मूठा है, आत्मज्ञान ही सच्चा है इस बहुरे व्यालाप में मस्त हैं । यह सच है कि केवल कर्म को अमानने वास कर्मठ भी क्षणिक वैमर्ष के अनन्तर उसी आबरस से आब्रज्ज हो जाने हैं, परन्तु उन्हें ऐहलोकिक सम्पत्ति तो मिस रही है । उबर कस्थित विद्यानुरागी हमारा सम्राज दोनों से बचिज हो रहा है । इस प्रकार प्रकृत मन्त्र विशुद्ध ज्ञानयोग, कर्मयोग दोनों की ही निन्दा करता है , इनमें भी विशुद्ध ज्ञानियों की चिन्नेय निन्दा करता है ।

प्रकारान्तर से मन्त्रार्थ की संगति लगाइए । बिना कर्म की विद्या भी अधूरी है, बिना विद्या के कर्म भी अधूरा है । विद्या-कर्म के समन्वय से ही कर्मता का उदय होता है । एक व्यक्ति विद्या (शास्त्रज्ञान) से सर्वथा शुन्य है, निरक्षर मूर्ख है । यद्यपि वह भी कर्म करता है, परन्तु शास्त्रज्ञान से युक्त बुद्धि के अभाव से इसमें कर्षण्याकर्षम्य का विवेक नहीं रहता । मजदूरी करके अपने कुटुम्ब का भरण पोषण करते हुए पशुपक्ष जीवन व्यतीत कर देना ही इसका परम पुरुषार्थ है । ऐसा मूर्ख (किन्तु भौतिक कर्मों में पटु) मनुष्य सबमुक्त आत्मदृष्टि से गहरे अंधेरे में है । इसे परलोक आत्मा आदि का कुछ ध्यान नहीं है । अन्याय-भोका-आत्मसामी विध्याभाषण आदि से अपने आपको सुचतुर मानने का गर्व रखने वाला यह विद्याशून्य मनुष्य विद्यमोह से मोहित होकर कालक्षेप किया करता है-‘अज्ञानं तस्य शरणम्’ । कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो विद्या पढ़ते हैं, शास्त्रज्ञान सम्पादन करते हैं, इनकी बुद्धि में विवेक भी उत्पन्न हो जाता है, यह आत्म-परमात्म-परलोक का स्वरूप भी समझने लगते हैं । परन्तु यह महानुभाव केवल ‘ममक’ (विद्या) पर ही विश्राम कर लेते हैं । लम्बे चौड़े व्याख्यान दे बालना, बात बात में धर्म की वुहाई देना, इस प्रकार केवल बाणी पर ही इनके कर्म-कलाप का अवसान होगा, कर्म करना इनके लिए एक विषय है-‘वाक्शूरा’ । समझने अक्षर्य हैं, परन्तु स्वयं कुछ नहीं करते । आदर्श हैं, आदिष्ट नहीं हैं । विद्वान् हैं, कर्मठ नहीं हैं । पढ़े हैं, सुने नहीं हैं । करते हैं, करते नहीं हैं । इस प्रकार केवल विद्या का अवनताने वाले यह महानुभाव कर्मपरित्याग से सब कुछ तो रहे हैं । देखिए अपने सामने की । ग्राम इन दोनों दलों की क्या दशा है । देगड़ितेपी कर्म प्रयत्न महानुभाव शास्त्रज्ञान से वञ्चित हो रहे हैं । फल यह होता है कि कर्मठ आत्म दृष्टि आहत होते हुए भी समुद्ध हैं, संप्रतिष्ठाही हैं । परन्तु हमारे विद्वान् आहत होने के साथ साथ ही संप्रति से भी वञ्चित हो रहे हैं । कोई सा ही संस्कृत विद्वान् आपको

सम्पत्ति से युक्त भिक्षुगा। अन्यथा सभी विद्वानों पर निर्भरि (वरिष्ठ) देवता की विशेष कृपा मिलेगी। क्या इसी का नाम अम्युदय है? क्या धर्म से यही फल मिलता है? क्या इसी आधार पर—‘यतोऽम्युदयनि भयससिद्धि स धर्मः’ यह कहा जाता है? आनन्दकृष्ण है आज दोनों को दोनों धर्मों के अपनाने की। विद्वान् उन कर्मों से कर्म करना सीखें, कर्म इन विद्वानों से विद्याग्रहण करें, सभी राष्ट्र का अम्युदय सम्भव है। केवल ब्रह्मवत् ( विद्यावत् ) भी कुछ नहीं करसकता, केवल क्षत्रवत् ( कर्मवत् ) भी कर्ष है। ब्रह्म-क्षत्र के समन्वय में राष्ट्र का कल्याण है। सिविल ( Civil ) और मिलिट्री ( Military ) के समन्वय से ही राष्ट्र का अम्युदय है। विद्या-कर्मरूप ब्रह्म—क्षत्रवत् के समन्वय से ही ईश्वरमनापति विश्वसाम्राज्य का उपमोक्षा बन रहा है। इसी मरुतिसिद्ध विज्ञान का निकषण करते हुए श्रुति करते हैं—

“ब्रह्मैव मित्र , क्षत्रं वरुणः । अभिगन्तैव ब्रह्म, कर्त्ता क्षत्रिय । ते ह्येतेऽश्रमे नानेवासतुर्ब्रह्म च क्षत्रं च । ततः शशकैव ब्रह्म मित्र श्रुते क्षत्रादरुणात् स्यातुम्, न क्षत्रं वरुण -श्रुते ब्रह्मणो मित्रात् । यद्ध किञ्च वरुण कर्म चक्रेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न देवास्मे तत् समानुधे । स क्षत्र वरुण -ब्रह्ममित्रमुपमन्त्रयाञ्चक्रे-उप भावसम्ब, ससृजावद्दे, पुरस्त्वा करवे, त्वदप्रसूतः कर्म करवा इति । तथेति । तौ समसृजेतां, तत एव मैत्रावरुणो ग्रहोऽभवत् । ×+++। तसदवत्समेव-यद्-ब्राह्मणोऽराजन्य स्यात्, यद्यु राजनं लभेत समृद्धं तत् ।

एतद्ध त्वेवानवकल्लसं यत् क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति । य-  
द्ध किञ्च कर्म कुरुतेऽप्रसूत ब्रह्मणा मित्रेण, न हेवास्मै  
तत् समृध्यते । तस्माद् क्षत्रियेण कर्मकरिष्यमाणेनो  
पसर्त्तव्य एव ब्राह्मण । स हेवास्मै तद् ब्रह्म प्रसूतं  
कर्मऽर्च्यते” इति — (शत० ब्रा० ४ क० ११ अ० १४ ब्रा०) ।

ब्रह्म मित्र है, क्षत्र वरुण है । आगे आगे चलते जाता ही ( अनुमति प्रदान करने वाला ही ) ब्रह्म है, कृपा क्षत्रिय है । यह दोनों ( ब्रह्म-क्षत्र ) पहले पृथक् पृथक् से ही थे, अर्थात् छट्टि से पहिले इन की सहचर अवस्था थी, प्रत्येक-पनमात्र न था । उस समय ( छट्टि से पहिले ) ब्रह्म मित्र वो क्षत्र वरुण के बिना ( स्वस्व रूप से ) प्रतिष्ठित रहने के लिए समय होगया, परन्तु क्षत्र वरुण ब्रह्म मित्र के बिना स्व-तन्त्र रूप से प्रतिष्ठित रहने के लिए समय न हो सका । उस (एकाकी दशा में) ब्रह्म मित्र की अनुज्ञा के(सहयोग के)बिना वरुणनें जो कुछ कर्म किया,वह कर्म इस वरुणक्षत्र के लिए समृद्धि का कारण न बना । ( अपने कर्म को व्यर्थ होता देख कर ) क्षत्र वरुण ने ब्रह्ममित्र से प्रार्थना की कि ( हे ब्रह्म ! ) आप मेरे ऊपर कृपा करें, आप मेरे पास सौत्र आँ । अपने दोनों मित्रजाय, मैं सदा आप को आगे रखूँगा, आप जैसे आशा देंगे तदनुकूल ही कर्म करूँगा । ब्रह्मनें 'तथास्तु' कह दिया, दोनों मिल गए । ( इन दोनों के सम्बन्ध से )-( सुप्रसिद्ध अश्वराधक ) यह मैत्रावरुणग्रह संयन्त्र होगया । + + × + + । यह बात तो फिर भी बन सकती है कि ब्राह्मण बिना राजा क रह जाय । यदि ब्राह्मण राजा को प्राप्त कर लेगा तो यह उस ब्राह्मण की समृद्धि होगी । परन्तु यह बात तो किसी भी अर-या में संभव नहीं है कि क्षत्रिय बिना ब्राह्मण के ( क्षणमात्र भी ) रह जाय । बिना ब्राह्मण की आज्ञा के क्षत्रिय जो भी



कर्म करता है, का कर्म कभी समृद्धि का कारण नहीं बन सकता। इस लिए कर्म करने की इच्छा रखने वाले क्षत्रिय को अवश्य ब्राह्मण का सहारा लेना चाहिए। ब्रह्म से आदिष्ट कर्म इस क्षत्रिय के लिए अवश्य ही समृद्ध बन जाता है”।

मक्ष ज्ञान है, वष कर्म है। ज्ञान मनोबल है, कर्म प्राणबल है। माष आपोमय है, इन्द्रियमयी है। आपोमय पारमेष्ठ्य परब्रह्म चक्षुः है, विज्ञान मय धर्म मित्र है। दोनों के समन्वय से मैत्रावरुण रूप अक्षोरात्रमह चक्षुः है। रात्रि के १२ बजे से मध्याह्न के १२ बजे तक अर्द्धस्वर्ग (पूर्वकपाल) मित्र है। इस में धर्म की प्रधानता रहती है—‘मैत्रमह’। दिन के १२ बजे से रात्रि के १२ बजे तक का अर्द्धस्वर्ग (पश्चिमकपाल) वरुण है। इस में पारमेष्ठ्य सोम की प्रधानता रहती है—‘रात्रिर्वरुणी’। अक्षोरात्र का परिप्लव ही विश्व का रूप है। इस प्रकार ब्रह्म-क्षत्र के समन्वय से विश्व प्रकाशित हो रहा है। यह विश्व तीसरा वाग्बल है। इस प्रकार मन (मक्ष), प्राण (वष), वाक् (विन्द्र) की समष्टि ‘इन्द्र सर्वम्’ है। यदि ब्रह्म-क्षत्र का समन्वय बिच्छिन्न हो जाता है तो बिन्दुरूप अर्थभूति विश्व सत्तात्वा में परिणत हो जाता है। यद्यपि ज्ञान-धर्म दोनों को दोनों को छोड़ा है। परन्तु प्रधानता ज्ञान की ही है। कारण ज्ञान व्यापक है, मूलधरातल है। जब क्षत्रिय समृद्धि नहीं रहती, तब कर्म का तो विसर्जन हो जाता है परन्तु ज्ञान स्वस्वरूप से ज्यों का सो गतिप्रिय रहता है। हाँ यदि ज्ञान का क्रम के साथ समन्वय हो जाता है तो विश्वरूप से उस की समृद्धि अवश्य हो जाती है। परन्तु कर्म यदि ज्ञान का आश्रय छोड़ देता है तो वह अपना स्वरूप ही खो बैठता है। इसी रहस्य को बतसाने के लिए श्रुति ने—क्षत्रवरुण द्वारा मक्ष मित्र की

मार्गना करवाई है। इस ही धर्म की योनि है—(देखिए ई वि भा १२५६ कर्म-  
तन्त्र)। प्रत्येक कर्म में ज्ञान पहिले है, कर्म अनन्तरमात्री है। तत्त्वकर्मों का ज्ञान ही  
तत्त्व कर्मों की प्रवृत्ति का कारण बनता है।

इसी ज्ञानबल के उपासक को ब्राह्मण कहा जाता है, धर्मबल के उपासक को  
क्षत्रिय कहा जाता है, एव धर्मशक्तिरूप वाक्यत्व के उपासक को (विद्वत्कीर्त्य के उ-  
पासक को) वैश्य कहा जाता है। प्रकृतिसिद्ध निम्न ब्रह्म-क्षत्र-विद्वत् वीर्यों के  
आधारपर ही भारतीयवर्णव्यवस्थासूत्र सम्पादित है। प्रकृतिकर्तृ प्रत्येक राजा एक एक  
ब्राह्मण पुरोहित। प्रत्येक रत्नना चाहिए, एव इसी के आदेशानुसार इसे कर्म में प्रवृत्त होना  
चाहिए। चाणक्यपुरोधाने चन्द्रगुप्त को उन्नति के किस शिल्लर पर पहुँचा दिया  
था यह सर्वविदित है। यदि ब्राह्मण को राजा का आश्रय न मिलेगा तो ब्राह्मण ध-  
नी विधा का विकास न कर सकेगा, परन्तु उस के स्वरूप की कोई हानि न होगी।  
उपर मन्त्रोक्त राजा यदि ब्राह्मण को पुरोधा न बनाएगा तो वह स्वयं भी नष्ट हो-  
जाएगा एव विद्वत्कीर्त्यरूप राष्ट्र की धर्मशक्ति भी खो बैठेगा।

ऐसी त्या में हमारे दृष्टांतियों का क्या कथक्य होजाता है! इस का विचार के  
स्वयं करें। पञ्चाप क्षत्र है बंगाल ब्रह्म है, आर्यसमाज क्षत्र है, सना-  
तनधर्म ब्रह्म है। राष्ट्रीयदल क्षत्र है, विद्वन्मण्डली ब्रह्म है। आज  
आवश्यकता है लोगों के समन्वय की। नभ तक ऐसा न होगा, तब तक किसी भी  
कर्म की सिद्धि न होगी। एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। यद्यपि गतती लोगों की है  
परन्तु प्रधानता विद्योपासकों की ही है। यत्किमपि गतती करता है तो विद्वान् का दो  
पड़। सब में पहिले वेद का आश्रयण धर्म के शास्त्र से ध्युत हुआ है। पहली भू

स विद्योपात्मको की है। इसी मूल में धर्माध्यवस्था का प्रबन्ध नष्ट किया है। मूल का अपराध स्वयं है, परन्तु निदान यदि गसती करता है, यह यदि कर्माभ्युपक्रम से विमुक्त होता है तो उसका अपराध मग्न है—'ततो भूय इव ते तमो य उ वि धार्या रता'। अविद्या के उपासक तो अन्धकार में हैं ही, परन्तु उन से भी अधिक अन्धकार में वे हैं, जो रात दिन विद्या की उपासना करते हुए भी कर्मपारी से बन्धित हैं। इस प्रकार आत्मा के अज्ञान की उपासना करने वाले दोनों ही दल सत्य-रूप में होते हैं।

कभी अद्विष्ट समस्या है। केवल काम ही भूरा, केवल ज्ञान उस से भी भूरा। एव ज्ञान कर्म मार्ग से अद्विष्ट को ही तीव्रता प्राप्त है नहीं। ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय, नि-स माग कर अवलम्बन किया जाय। इसी प्रश्न का समाधान करती हुई आत्मा जाकर मुक्ति कराती है—

विद्या चानिद्यां च यस्तदेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥३॥

( ई ४ ११ म )

राजपिबिद्या नाम से प्रसिद्ध वैराग्यबुद्धियोगविद्या नाम की प्रथमा विद्या के अन्त-र्गत प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में मगधान् में बड़े विस्तार के साथ ज्ञानयोगनिष्ठा, एवं कर्म योगनिष्ठा का निरूपण किया। साथ ही में 'नास्ति बुद्धिरप्युच्छेद्यः' ( भगवद्गीता ) शब्दों के रूप से अज्ञान को बुद्धियोग मयी समझना। मगधान्मतिपादित बुद्धियोग का अधिप्राय अनुत्तर में यह समझ कि मगधान् कर्म की अपेक्षा ज्ञानमार्ग को श्रेष्ठ बतला रहे हैं। 'बुद्धि विद्यात है विद्यात ज्ञान है' इस सार्वभौमिक प्रणय के अनुसार बुद्धियोग को ज्ञानयोग समझ लिया गया। तब मगधान् में ज्ञाननिष्ठा-कर्मनिष्ठा का निरूपण कर बुद्धियोगनिष्ठा पर प्रकाश का-उपलब्ध कर दिया, बुद्धियोग को ही श्रेष्ठ बतलाया जा, साथ ही में 'कुड

कर्म स्व०' इत्यादि रूप से अर्जुन को वृद्धोक्त कर्म करने के लिए बाध्य किया था। कृष्णार्जुनसंवाद क्या था, ब्रह्म ब्रह्म का समन्वय था। भगवान् कृष्ण धर्मिगन्ता ब्रह्म थे, अर्जुन कर्त्ता त्रिविध था। ज्ञान-कर्म का एकीकरण था। इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन को जो कुछ कहा था, वह ठीक था। परन्तु इन उम्मुग्ध अक्षरों के वास्तविक तात्पर्य को न समझता कृष्ण अर्जुन प्रश्न कर बैठे—

व्यायसी चेत् कर्मण्यस्ते यता बुद्धिर्भनादेन ।

तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ (गीता २।१) ।

इस प्रश्न के उत्तर में तीसरे अध्यायमें भगवान् ने उसी उम्मुग्ध अर्थ को स्पष्ट किया। भगवान् ने बतसाया कि बुद्धियोग वास्तव में न कर्मयोग है, न ज्ञानयोग है, अपितु दोनों के समन्वितरूप का ही नाम बुद्धियोग है। बुद्धि में ज्ञान कर्म दोनों हैं। बुद्धि का ज्ञानभाग विद्या है, कर्मभाग अविद्या है। मिन दो निष्ठाओं का हमने उल्लेख किया है, परमार्थदृष्टि से वे दो निष्ठा नहीं, अपितु बुद्धियोग नाम की एक निष्ठा है। जो सांख्य है, वही योग है। जो योग है, वही सांख्य है—'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'। इस पर यदि व प्रश्न करे कि भगवन् ! कर्म कर्म है, आवश्यक है। वह आवश्यक किए बिना नहीं रह सकता, ऐसी दशा में आप मुक्त कर्मयोग में क्यों प्रवृत्त कर रहे हैं ? इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि कर्मपरित्याग सर्वथा असम्भव है। कितने ॥ कर्म (बालीयकर्म) ऐसे हैं, जो किसी भी दशा में छोड़े नहीं जा सकते। वैसी परिस्थिति में कर्मपरित्याग का ढोंग करना अपने आपको भोका देता है। हम मानते हैं कि कितने ही कर्म आवश्यक ऐसे हैं जो बधन में बाध देते हैं, परन्तु कितने ही ऐसे भी हैं जो बधन के स्थान में बधनमुक्ति का कारण बनते हैं। क्या इन अर्बधन कर्मा को छोड़ने में बुद्धिमानी है ? नियत कर्म छोड़े नहीं जा सकते, अर्बधन कर्मा को छोड़ना भुग्न है, फलतः सर्वकर्मपरित्यागसत्त्वशासन्यास का कोई मूल्य नहीं रहता। कर्म क्यों नहीं छोड़े जा सकते, इस कर्मानिवार्यता के सात कारण हैं।

१— अम्युपगमवाद् का आश्रय सेते हुए हम घोड़ी देर के लिए यह मान सेते हैं कि सचमुच कम आवश्यक हैं। अथवा उन्हें छोड़दीमिण। ऐसा करने से भविष्य के लिए आवश्यक बंध होजायगा। परन्तु ऐसी दशा में सखित ( सत्काररूप ) कर्मों को इनमें का आप के पास क्या साधन है ? ज्ञान निष्क्रिय तत्त्व है, अतः यह आवश्यक को इनमें में असमर्थ है। इस के लिए आप को धार्य होकर नैष्कर्म्यकर्म का आश्रय सेना आवश्यक हो जायगा। नैष्कर्म्यसिद्धि कमा रन्म के बिना सरया असम्भव है। कर्मावरणनिवृत्त्यर्थं नैष्कर्म्यकर्मनुष्ठान अ आवश्यक है। कम की नैष्कर्म्यरूपा पहिली यही अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने — 'न कर्मणामनारम्भान्नेष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' यह कहा है।

२— उपर कर्मसंन्यास सर्वथा व्यर्थ है। जिस प्रयोजन के लिए ( आवश्यक के आसन्निक निराकरण के लिए ) कर्मसंन्यास किया गया, वह प्रयोजन तो सिद्ध हुआ नहीं, कर्म जोर छोड़ दिया, प्राप्तसी और बन गए, इस व्यर्थ के मार्ग से मुक्त अपना क्या हित समझ रखता है ? कर्मसंन्यासवैयर्थ्य रूपा यही दूसरी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने 'न च स न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति' यह कहा है।

३— अस्त-मूत्रपरित्याग, गमन, भोजन आदि नियत शारीरिक कर्मों को कभी छोड़ा भी नहीं जासकता। मुझे परबन्ध होकर यह सारे कर्म करने ही पड़ते हैं। जब कर्मसाग असम्भव है तो फिर कर्म परित्याग कस्ता ? यही कर्मपरित्यागाशङ्कररूपा तीसरी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने—'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' यह कहा है।

४— साय ही में क्षिप्ता (छींक) जन्मा (जन्माई-उबासी), आसनिआस, बुमुत्ता आदि कितने ही प्रकृतिसिद्ध कर्म हैं। तुम निश्चय करसो कि आज से हम न क्षिप्ता बेंगे, न जमाई बेंगे, न भूख लगेगी। परन्तु तुम्हारे इस निश्चय से होगा क्या। तुम्हारी इच्छा यहाँ अवच्छेद है। इन कर्मों में प्रकृति का हाथ है। वह अवश्य तुम को इन कर्मों में मग्न कर देगी। अपने समय पर तुम्हारी इच्छा की कोई अपेक्षा न रखते हुए यह माहृतिक कर्म हो ही पड़ेंगे। यही प्रकृतिसिद्धलक्षण चौथी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने— 'कार्यते ह्यवश कर्मसर्वे प्रकृतिर्जैष्ठ्ये' यह कहा है।

५— आसक्ति पैदा न करने वाले अनासक्तकर्म विशिष्टकर्म हैं। बसावकार से इन कर्मों का निरोध किया, इन्द्रियों का समय किया, परन्तु मन वश में नहीं है। इन्द्रियसंयम होने पर भी मन अन्तर्जगत् में इधर उधर विषयसौलुष बनता हुआ मटकता फिरता है। यही मिथ्याचार है। इससे तो अच्छा यही है कि इन्द्रियों को अपना अपना कर्म करने दो, मन को वश में रखो। कर्म करो, आसक्ति मत रखो। कर्म का परित्याग मत करो, कामना का परित्याग करो। इन अनासक्त कर्मों से इन्द्रियें अपने आप संयत बन जावगीं। यही तो इस अनासक्त कर्मयोग की विशेषता है। कर्म की यही पक्षी अनिवार्यता है। मन को इन्द्रियों के आधीन मत बनाओ इन्द्रियों को मन के आधीन बनाओ, यही अनासक्त कर्मयोग है। इसी के लिए— 'यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारमतेऽधुन। कर्मेन्द्रिये कर्मयोगमसक्त सविशिष्यते' यह कहा है।

०-कर्मों द्वारा ही सब कुछ व आसक्त मनसा हम सब ।

इन्द्रियाणां नियम्यमाना मिथ्याचारः च उच्यते ॥ (गीता ३६)

६— नियतकर्मारम्भ से आवरण इत्या है अनारम्भ से आवरण बना रहता है। इसलिये नियत कर्मों का आरम्भ ही अच्छा है। इस प्रकार कमारम्भ-एवं कर्मसम्प्राप्त दोनों में नियतकर्म का आरम्भ ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। यही कथ की द ती अनिवार्यता है। इसी के लिये भगवान् ने—  
'नियत कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' यह कहा है।

७— सबसे आवश्यक बात तो यह है कि कर्मपथ की रक्षा से ही ईश्वर की विश्वविभूति की रक्षा है। 'मूढ मुढाय भये सन्यासी' के अनुसार समी कम छोड़ बैठें तो सारा विश्व ही लुप्त हो जाय। फिर तो शास्त्रोप देव के श्रोता ही न रहें, जीवनयात्रा का निवाह ही असम्भन हो जाय—  
'न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः'। जब कर्म से जीवनयात्रा का भुगमना से निवाह होता है, एव बंधन होता नहीं, अपितु बंधन विमोक्त होता है तो ऐसी दशा में कौन बुद्धिमान् कर्मपरित्याग को उचित कहेगा। कर्म की यही मागधी अनिवार्यता है। इसी के लिये भगवान् ने—  
'शरीस्यात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः' कहा है। इस प्रकार सात तरह से जब कर्म की अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है तो ऐसी स्थिति में कर्मपरित्याग कैसे बन सकता है।

## सप्तधा विमक्ता-कर्मनिवार्यता

- |   |  |
|---|--|
| १-नेष्कर्मोपायवादिनिषादकथम्             | → — → "न कर्मणा मनारम्भात्तैष्कर्म्यं पुरुषोऽनुवृत्तं" |
| २-कर्मसम्प्राप्तयेवमर्थादनिषादकथम्      | → — → "न च सम्पत्सनाद्येव सिद्धिं समधिगच्छति"          |
| ३-कर्मपरित्यागप्रशङ्कपक्षान्निवार्यकथम् | → — → "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्"     |
| ४-प्रवृत्तिरित्यादिनिषादकथम्            | → — → "कश्चित् ह्यवशः कर्म सर्वं प्रकृतिर्नैवमुच्यते"  |

- ५-अनासक्तकर्मयोगवैशेष्यादनि० → "कर्मैन्द्रियैः कर्मयोगपसक्तः स विशिष्यते"
- ६-अनात्म-कर्मयोगस्यो कर्मो-  
रममैष्ट्यादनिर्वायत्वम् } → "नियते कुरु कर्म त्व कर्म उपायो अकर्मणः"
- ७-जीव्याप्राप्तिव्यवहारादनि० → "शरीरयात्रापि च ते न मसिद्येवैवकर्मणः"

यह तो हुआ कर्म की अनिवार्यता का विचार। अब कर्म के अवधानमात्र पर इष्टि अ-  
स्ति। यीतायात्मने अवधान कर्मों को १-यज्ञार्थकर्म, २-भोक्तृस्थितिनिर्वाहकर्म, ३-वैप-  
द्याकृतकर्म, ४-स्वभावसिद्धसहजकर्म इन चार भागों में विभक्त किया है। नियम आभ्य-  
स्ता से अधिक विस्तृत होता जा रहा है। अतः प्रकृत में केवल यज्ञार्थकर्म का दिग्दर्शन कर  
के इस अधिकरण को समाप्त किया जाता है।

## यज्ञार्थकर्म (अवन्धेन)

आज दिन यज्ञ शब्द का केवल अग्निहोम-दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्य-पशुबंध-सोम-  
याग-चयन आदि मनुष्ययज्ञ यज्ञों के साथ ही सम्यग् समझा जाता है। यज्ञकर्म से केवल  
वेदविहित यज्ञ का ही प्रत्यक्ष किया जाता है। किसी अर्थ में ऐसा समझना ठीक भी है।  
परन्तु इन्हीं को यज्ञ समझना सर्वथा गलत है। यज्ञ प्राकृत-विधेयभेद से दो भागों में विभक्त  
है। नित्ययज्ञ प्राकृतयज्ञ कहलाता है। यह अर्चिर्देवत्व-अध्यात्म-अधिभूत इन तीन भागों  
में विभक्त है। विधेययज्ञ मनुष्ययज्ञ कहलाता है। अग्निहोत्रादि सारे यज्ञ प्रकृति में हो रहे  
हैं। प्रकृतियज्ञ से (जो कि अभिदेष्टित्व नाम से प्रसिद्ध है) अध्यात्म और अधिभूत जगत्  
का निर्माण हुआ है। एव उस नित्य प्राकृतयज्ञ की प्रतिकृति पर अभियों ने वैच श्रौत यज्ञों  
का आविष्कार किया है। हम जो यज्ञ करते हैं, वह ठीक उस प्रकृतियज्ञ की नकल है। इसी  
आधार पर 'देवाननुमिषा मे मनुष्याः'—'यद्देवेषा मकुर्वन्तस्तव करवाणि' इत्यादि निगम

१ इन विषयों का सिद्ध विवेचन गीताविद्यालयाध्यक्ष के अवधनकर्मरयागानौचित्योपनिषत्  
नाम के प्रकरण में देखना चाहिए।



प्रकृतित है। प्रकृतिपञ्च में जैसा हो रहा है, यदि तत्प्रकृतिसमूह मनुष्यपञ्च में उससे जरा भी किराह किया जाता है तो इसका स्वरूप बिगड़ जाता है। प्राकृत-त्रिवेद्य भेद से वेद्या विभक्त इन पाँचों में से प्रकृत में सुविप्रवर्तक प्राकृत पञ्च का ही प्रकृत है। 'अग्नि में सोमाहुति' होना ही यह है। जिसमें अन्य वस्तु आहुत होती है, वही अग्नि है। आहुत होने वाली वस्तु सोम है। सब में सब आहुत हो रहे हैं। सब अन्नाद हैं, सब अन्न हैं। इसी अग्नीषो मात्यक पञ्च से किस स्वरूप में प्रतिष्ठित हो रहा है। परात्पर-अक्षय-अक्षर-क्षरसमष्टि को हमने पोषणी-प्रजापति कहा है। इस पोषणी प्रजापति का अक्षर भाग अन्ना-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम-इन पाँच वस्तुओं में विभक्त है। इनमें अन्ना का जो बीरुप है, वही त्रयी-वदरूप में परिणित होता है। इस वेदोत्पत्ति में इन्द्राविष्णु की स्पष्टा ही मुख्य करण है। इस प्रकार अन्ना विष्णु इन्द्र से उत्पन्न वेदत्रयी के कारण यह पोषणी वेदमूर्ति बन जाता है। इसी आधार पर पूर्व के प्रकरणों में हमने ईश्वर को वेदमूर्ति कहा है। वेदत्रयी का पञ्चमाग अस्माभिः है। अस्माभिरूप पोषणी पुरुष में मातृ, आप, वाक्, अन्न, अन्नाद् इन पाँचों प्रकृतियों की आहुति होती है। यह पाँचों आहुति द्रव्य हैं। अतएव इन पाँचों की समष्टि को हम अन्नरूप ही—'सोम' कहने के लिए तत्पर्य हैं। उस अस्माभिर्मय पुरुष में प्राणसोम की आहुति होने से स्क्यम्नू प्रकट होता है। आपसोम की आहुति होने से परमेष्ठी उत्पन्न होता है। वाक्सोम की आहुति होने से सूर्य उत्पन्न होता है। अन्नादसोम की आहुति होने से पृथिवी उत्पन्न होती है। एवं अन्नसोम की आहुति होने से अन्नमा उत्पन्न होता है। स्क्यम्नू प्राणयज्ञ है। परमेष्ठी आपोयज्ञ है। सूर्य वाग्यज्ञ है। पृथिवी अन्नाद्यज्ञ है। अन्नमा अन्नयज्ञ है। इस प्रकार पञ्चधा विभक्त सोमरूपा प्रकृति का पुरुषाग्नि के साथ सम्मिल्य होने से पञ्चावयव विश्वयज्ञ उत्पन्न हो जाता है। इसी आधार पर—'पावक्तो वै यज्ञः' यह कहा जाता है। यह अनुगम सुनि है, अतएव इसके अनेक अर्थ होते हैं। निश्चय कि आगे के उपनिषदों में समय समय पर निकलण होता रहेगा। अभी केवल इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि प्रकृति एक पुरुष के सम्मिल्य से पञ्चावयव विश्वयज्ञ उत्पन्न होता है। पाँचों में प्राणादि पाँच

देवता अधिष्ठित हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में एक आख्यान आता है कि—“प्रजापति ने यह द्वारा देवताओं को उत्पन्न किया। उत्पन्न देवताओं ने प्रभु किया कि हे प्रजापति ! हम आपके यह से उत्पन्न हुए हैं। अब हमें क्या आज्ञा होती है ! उत्तर में प्रजापति ने कहा कि ओ कर्म मैंने किया है वही तुम करो। मैंने यह द्वारा सृष्टि उत्पन्न किया है, तुम भी यह द्वारा नई नई प्रजाएं उत्पन्न करो। बस उसी आदेश के अनुसार देवताओं ने उस मानापत्य विश्वयज्ञ से पुनः यह किया, एवं उसके द्वारा पाँचों लोकों में (स्वयम्भू आदि में) रहने वाली प्रजाओं को उत्पन्न किया। एवं देवयज्ञ से उत्पन्न हम भी आज यज्ञद्वारा ही प्रजोत्पत्ति में समर्थ होने हैं”। तात्पर्य इस आख्यान का यही है कि विश्वयज्ञ के देवताओं का फिर परस्पर सगम होता है। इससे आगे की सारी प्रजाएं उत्पन्न होती हैं। इसी विज्ञान को ब्रह्म में रखकर—‘यज्ञेन यज्ञमयनन्त देवाः’—इत्यादि कहा जाता है। यज्ञकर्म से ही सारा विश्व उत्पन्न हुआ है, इसी से सारी प्रजाएं उत्पन्न हो रही हैं, एवं इसी से आगे आगे नई नई प्रजाएं उत्पन्न होती रहती हैं। इसी प्राकृतिक नित्यसिद्ध यज्ञविज्ञान को ब्रह्म में रख कर मग्नान् कहते हैं—

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन मत्सर्विष्यम्यमप वोऽस्त्विष्टकामधुम् ॥ ( गीता २।१० ) ।

एक को दूसरे के साथ मिलाना यत्न है। इसी मेघ से संसार में नए नए आविष्कार होते रहते हैं। इसी से संसार के पदार्थमात्र उत्पन्न हुए हैं। इसी से हम चाहें वो कर्मना सिद्ध कर सकते हैं। संसार में जब बेतन ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है ओ यह न करता हो। जिस पदार्थ का यह मद हो जाता है, वह नष्ट हो जाता है। पूर्वोक्त प्रकटण से यह महीमांत सिद्ध हो जाता है कि सृष्ट्युपाध प्रजा शब्द ब्रह्ममात्र का वाचक है। अब जरा व्याख्याताओं की सीखा देखिए। उनकी दृष्टि में “ब्रा० सू० वैश्व सीन ही प्रजा हैं। प्रजापति ने यह द्वारा इन तीन वर्णों को उत्पन्न किया” यह है प्रजा शब्द का अर्थ। प्रजापति जो कुछ उत्पन्न करते हैं, उस का यह यज्ञ ही है। यह यज्ञसृष्टि बार वर्णों में विभक्त है।

मनुष्यों में ॥ यह कर्ण विभाग नहीं है, अपितु पदार्थमात्र में आतुर्यर्ष का समावेश है। इसी अभिप्राय से सामान्यरूप से ब्रह्मसृष्टि का निरूपण करते हुए मगधन् कहते हैं—

आतुर्यर्ष मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कथारपि मां विदुषकर्तारमव्ययम् ॥ ( गीता )

मगधन् कहते हैं—मैंने चार प्रकार की प्रजासृष्टि की। इधर टीकाकार “तीन बर्यों को (ये भी मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाले प्राण्य-क्षत्रिय-वैश्यों को) ही उत्पन्न किया” यह अव्यय करते हैं। किन्तु मूल है। इस मूल का कारण यज्ञ का स्वरूप न समझना ही है। उन्होंने यह को हफनादि प्रसिद्ध पद समझ रक्खा है। किसी विरोध कारण से यह कैव यज्ञ मनुष्य ही कर सकते हैं। इन में भी प्राण्य-क्षत्रिय-वैश्य को ही अधिकार है। यह अव्यय होने से यज्ञ में अभिहित है। उन्होंने समझ कि इस यज्ञ से प्रभोत्पत्ति होती है। चूंकि यज्ञ करने का विधान तीन के लिए ही पाया जाता है। अतः यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाला यहाँ का प्रजा शब्द तीन बर्यों का ही वाचक हो सकता है। अस्तु पशुविकार वर्णा का हमें कोई अधिकार नहीं। यहाँ हमें केवल मयना मन्त्रमय प्रकाशित करने का अधिकार है। हम यज्ञ को सृष्टि का प्रवर्तक समझते हैं। एक प्रजा से सारे विश्व का प्रवण करते हैं, साथ ही मैं उस विश्वप्रजा की सृष्टा इसी यज्ञ-कर्मान्नक समझते हैं। रासायनिक प्रक्रिया से दो वस्तुओं के मिलने पर जो अमूर्तमात्र उत्पन्न होता है, वही यज्ञसृष्टि कहलाती है। यही सम्बन्ध—‘याग’ कहलाता है। याम्यरूप-संपात्क यह पवन (यज्ञ) देवपूजा, देवसंगमन देवज्ञान मेद से तीन भागों में विभक्त है। यज्ञ भात के तीनों अंग हैं। मृतसम्बन्ध से दानयज्ञ होता है। देवसम्बन्ध से सगमनयज्ञ होता है, एक आत्मसम्बन्ध से पूजायज्ञ होता है। उदाहरण के लिए वैश्वको सीलिए। वैश्व-यज्ञ (मनुष्यहृत अथ यज्ञ) में उन निम्न प्राणदेवताओं के लिए पुरोडाश की व्यावृत्ति दी जाती है। इस पुरोडाश में मृत-वाण दो भाग हैं। इय भाग मौक्तिक है, एक दिश तन्त्र के आ-धार पर पुरोडाश द्रव्य स्वरूप में प्रतिष्ठित है, यह प्राण है, यही देवता है। मृत पथावयव

है। प्राण ३३ अवयव है। पुरोडाश में ३३ देवता हैं, २ भूत हैं। इनमें यजमान जिस देवता की भावना करके पुरोडाश की आहुति देता है, पुरोडाश का वही देवता उन्नयन होकर उस निम्न प्राकृतिक प्राणदेवता के साथ मिस जाता है। 'यानद्विषं तानदात्मा' इस सिद्धान्त के अनुसार यजमान का आत्मा भी पुरोडाश में रहता है। पुरोडाश द्वारा यजमान का आत्मा भी उन प्राणदेवताओं के साथ मिस रहा है। यही उन देवताओं के लिए यजमान का आत्मसमर्पण है, इसी का नाम पूजा है। दूसरे शब्दों में आत्मा को देवलोका में, देवताओं के शासन में प्रतिष्ठित करना ही, अपने आपको उनकी आराधना के लिए भेंट चढ़ाना ही देवपूजा है। एक जो देव मांग है वह उन देवताओं से मिस जाता है। यह संगतिकरण है। बाकी वक्ता है भूतमात्र। उसे देवता छ छते हैं, परन्तु स्वाहा सम्बन्ध से। 'न वै देवा भरनन्ति-न पिबन्ति, एतदेवामृतं इच्छा तृप्यन्ति' के अनुसार दश्या पितरमास्य की तरह अन्तर्याम सम्बन्ध से इस पुरोडाश में प्रमिष्ट नहीं होते, अपितु बाहर व्याप्त होते हैं। अतएव "स्व-अन्होति व्याप्नोति" इस व्युत्पत्ति से देवता 'स्वाहा' नाम से प्रसिद्ध है। स्वाहा बोधकर ही देवताओं के लिए आहुति दी जाती है। इसप्रकार एक पक्ष में तीन विभाग हो जाते हैं। सर्वत्र तीनों हैं। आत्मा कारखारी है, देव सूक्ष्मशरीर है, भूत स्थूलशरीर है। आत्मा मनोमय है, देव प्राणमय है। भूत-नाभमय है। सारी वस्तुएं (प्रजामात्र) मनप्राणवाक्मय हैं। तीनों प्राण अन्त्यके तीनों में आया करते हैं, अन्त्यके तीनों प्राण इसमें आया करते हैं। इसी त्रिविधव्याप्तक आदान विसर्ग से सब प्रजाएं अपने अपने स्वरूप में स्थित हैं।

- १—भूतसम्बन्धात्—दानपक्ष ——— स्थूलशरीरसम्बन्धी—वाक्मय  
 .—देवसम्बन्धात्—सङ्गतिकरणपक्ष ——— सूक्ष्मशरीरसम्बन्धी—प्राणमय  
 ।—आत्मसम्बन्धात्—पूजापक्ष ——— कारखारीसम्बन्धी—मनोमय

स एष मनःप्राणवा-  
 क्मयः, आदानविस-  
 र्गोत्पन्नः स्थितियङ्गः

हमारे अप्रामाणिक प्राण निरन्तर आधिदैविक प्राणदेवताओं में आहुत होते रहते हैं, प्राण ही में वे प्राणदेवता हमारे में आहुत होने रहते हैं। प्रकृतिगुणस्य अपने पदार्थ निरन्तर ह

में देता रहता है, साथ ही में लेता भी रहता है । मैं उससे उत्पन्न हुआ हूँ । उत्पन्न होने के लिये मुझ अन्न को वह खाता है, एवं अन्नरूप मुझे खाते खाते उसे मैं भी खाता रहता हूँ । इसी विषय का निरूपण करते हुए वेण्महर्षि कहते हैं—

“अहमस्मि मयमजा श्रुतस्य पूर्वं देवेभ्योऽसृजस्य नाम ।

यो मा ददाति स इ देवमावत, अहमन्नमन्नमदन्तमदामि”

( ऐतरेयब्राह्मणक— ) ।

इस वेदवाक्य के पारलौकिक सम्योग को ‘अविता संयोग’ कहा जाता है । वे देवता यहाँ आते हैं, महा के बड़ा आते हैं, यह सब निरन्तर चलता रहता है । वस्तु इस प्रकार की सत्ता के लिए जो कर्म अव्यक्त है, वही—‘यज्ञाय’ कर्म कहे जाते हैं । इन उस का उद्दिष्ट आते हैं, यह हमारा उद्दिष्ट आता है । ‘उच्छिष्टात् अग्निरे सर्वम्’ (अर्णव ११।२।११) यह धृष्ट सिद्धि है । उच्छिष्ट को प्रवर्ण्य कहते हैं । इस प्रवर्ण्यविद्या का निरूपण पूर्व के—‘ईशावास्यमिदं सर्वम्’—इत्यादि मन्त्र में किया जा चुका है । यह सब आगे जाकर भूते-देव मेरु से ही भागों में विभक्त हो जाता है । विस्तार मय से इस सब निरूपण नहीं किया जा सकता । यहाँ सारे प्रपञ्च से होने केवल यही बतलाना है कि सबका आत्म्य की स्थिति-रक्षा के लिए विज्ञान सहकृत जो प्राप्ति कर्म है वह वचन का अन्तर ही बनता । उसके न करने से सख्ती क्षति होती है । व्यक्तिस्थिति एवं समाजस्थिति जिन कर्मों से होती है वही पञ्चार्थकर्म हैं । उन के प्रवर्ण्य व्याप नहीं है, प्रकृति है । अतएव उन से संस्कार नहीं होता, सकलपरवर्ण्य होती है । अतः इन्हें कभी नहीं छोड़ना चाहिए । इसी पञ्चार्थकर्म की अवस्थानता बतलाते हुए आशान् कहते हैं—

१. इस विषय का निरूपण श्रीमद्विज्ञानभक्त के — ब्रह्मसमीपस्थमोपनिषत्, नाम के प्रकरण में देखा जाय ।

यज्ञायात् कर्मणोऽन्यत्र लोकेऽयं कर्मवर्धनः ।

तर्ह्य कर्म कौ-तेय मुक्तसङ्गः समाधर ॥ ( गीता ११.१ ) ।

मन की प्रधानता ब्यक्त के लिए ही मगवान् में-‘मुक्तसङ्गः’ कहा है । मन की इच्छा से जो कर्म किया जाता है, वह यज्ञार्थ नहीं है । अपितु बुद्धि की प्रधानता से, दूसरे शब्दों में बुद्धियोग द्वारा जो कर्म किए जाते हैं, वे ही-यज्ञार्थकर्म हैं, एवं वे अवम्बन हैं ।

पूर्व के निरूपण से यह सिद्ध हो जाता है कि कर्मपरित्याग सर्वथा असम्भव है । साथ ही में यह भी मान लेना पड़ता है कि केवल कर्म आवश्यक ही ब्रह्म का कारण है । कर्मपरित्याग-सदृश ज्ञान भी निरर्थक है, कामनामय कर्म भी अनुपादेय है, ‘काम्यानां कर्मणां न्यास सन्यासं कवयो विदुः’ यही बुद्धिमोह है । यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है । मनुष्य तत्त्व कर्मों में तत्त्व फसादा को लेकर ही प्रवृत्त होता है । यदि उसे यह विदित होजाता है कि अमुक कर्म करने से मुझे अमुक फल न मिलेगा तो वह ‘भूल कर भी’ उस निरर्थक कर्म में प्रवृत्त नहीं होता । ऐसी परिस्थिति में मनोविज्ञान सिद्धान्त के अनुसार जो बात बन नहीं सकती, उस के लिए—‘कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन’ यह असम्भव व्याख्या कैसे दी गई ? इस के उत्तर में अभी समझ लेना पड़ा होगा कि मनुष्य की आप्तात्मिकसत्ता एक सीमित सत्ता है । उस में ज्ञान-कर्मशक्ति परिमित हैं । कामारम्भदशा में ही यदि मनुष्य का ज्ञानकर्ममय आत्मा फल की ओर झुक जायगा तो इस की ज्ञान-कर्मशक्ति बन् जायगी । आधा ज्ञानकर्म फल पर चला जायगा, आधा ज्ञानकर्म साध्य कर्म पर रह जायगा । परिणाम इस का यह होगा कि साध्यकर्म की सिद्धि के लिए कितना कर्म अपेक्षित होना चाहिए, उतना ( फलान्न में विमर्श हो जाने के कारण ) न रहेगा , कम अधूरा रह जायगा । इसलिए कर्म-फल में फल की चर्चणा ( अनुमन ) में कर्म को खर्च न कर सहाय्यता कर्म में ही सीन होना मा चाहिए । ऐसा होने से फलारा रक्तमें की दशा में जो कर्मसिद्धि विरक्तास से सम्बन्ध रखती थी, अपराध भिन्न की सिद्धि में सत्यैह पा, फलारापरिज्वाण से वह कर्म शीघ्र एवं आवश्यक ही सफल बन जायगा । कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता । यदि अग्नि पर पानी रक्खा जायगा तो पानी अवरप

गम हो जायगा । आप अनन्यभाष से कर्म करें, और फल न हो यह सबपा असम्भव है । परन्तु फल उत्पन्न करना आप का काम नहीं है । आप कम को सिद्ध कर दीजिए, प्राकृतिक नियम के अनुसार सिद्ध कर्म साथ फल का जनक बन जायगा । फल पर इष्टि रखना अनधिकार वेद्य है । जो वह कर्मसिद्धि को सगादन करने काहा है, उसे निरर्थक खान करना है । आप की व्याख्या से फल उत्पन्न नहीं होता, अपि तु आप के कर्म से फलसिद्धि होती है । इसी अनिष्टाव से महर्षि चरक ने—'हेतावीर्युः एते नेर्युः' ( चरक स सूत्रस्थान—स्मिन्निपोय अ सहस्रोपदेय ) । यह कहा है । अमुक मनुष्य मिथ्यान् है, उस की इस मिथ्या से ईर्ष्या करना बुरा है । अपि तु जिस कर्म से उसे विद्याफल मिला है, उस हेतुमत् कर्म के साथ ईर्ष्या करनी चाहिए । अमुक व्यक्ति बनवान् है, इस प्रत्येक्य से व्याप्तपतन होता है । जिस काम से वह पनिक बना है, उस कर्म के साथ ईर्ष्या करने से अन्तुदय होता है । यही उन्मत्ति का अन्ततम एव सर्वोच्छेद मार्ग है । फल को कर्म सिद्धि का हेतु मत बनाओ, अपि तु कर्म को कम सिद्धि का हेतु समझो, यही कहना है । इस फलालास्य से एक तो कर्म अवरय सिद्ध हो जायगा, फल मिलेगा, उस के आप मोक्ष बनेंगे । इसका जो बड़ा भारी काम होगा उस का तो कहना ही क्या है । उक्त प्रकार से फलालास्यपूर्वक यदि कर्म किया जायगा तो वह कर्म, एव तज्जनितफल आसक्ति के कारण न बनेंगे—'कुर्वन्नपि न सिध्यते' । फल मिला, उस का आपमें भोग किया, परन्तु आसक्ति की जगनी व्याख्या के परिणाम से सब कुछ करते हुए भी आप अकर्षी कहलाए, यही तो निष्कर्मकर्म की विशेषता है । इसी रहस्य को ब्रह्म में रहकर गगनान् कहते हैं कि इसका अपि फल केवल कर्म में है । जब फल इसारे अधिकार में ही नहीं तो फिर व्याख्या ही क्यों करते हो । गगनान् की इस उक्ति का कोई यह अर्थ न समझते कि जब फल की ही व्याख्या नहीं तो कर्म में प्रवृत्ति ही कैसे होगी ? इस लिए आगे जाकर गगनान् कहते हैं—'मा कर्म रेदुर्गुः—मावे समोऽहस्यकर्मणि' । कर्मफल को हेतु मत बनाओ, कर्म को कर्म सिद्धि का हेतु समझो । कभी अकर्म से निजता न करो, फल भी तो अकर्म ही है । उस से संग करना कर्मविमूर्ति से बञ्चित रहना है ।

एक आपत्ति का जैसे तैसे निराकरण किया गया, दूसरी आपत्ति और उपस्थित हो गई ।  
 सुनिए ! फलाश्रय आसक्ति की जननी है, इसलिये भी उसका त्याग करना चाहिए, एवं शक्ति  
 विभाग से यह कर्मसाधक कर्म की शक्ति कम करने के कारण भी बोलने योग्य है । साथ ही  
 मैं फलाश्रय अनधिकार चेष्टा है, कर्मसिद्धि में इस की कोई अपेक्षा नहीं, यहां तक तो सब परि-  
 स्थिति ठीक ठीक हो गई । परन्तु जो कामना कर्म की जननी है, उस के परित्याग का आदेश  
 कैसे संभव हुआ ! । कामना (इच्छा) के बिना चल नहीं हो सकता, फलतः परम्परया कामना का  
 कर्मजनकत्व, किंवा कर्मप्रवृत्तिहेतुत्व सिद्ध होजाता है । उपर फलाश्रयत्वं कामना को आसक्ति  
 की जननी बताया जाता है । ऐसी परिस्थिति में ऐसा कोई कर्म नहीं रहता जो बिना कामना  
 के संपन्न हो जाय । सभी कर्म सक्रम हैं, अतएव कर्ममात्र (सक्रम बनते हुए) आसक्ति के  
 प्रवर्तक बनते हुए अक्षररूप बंधन के कारण हैं । फलतः सन्यास का 'सर्वकर्मपरित्याग-  
 सत्त्वयुक् सन्यास' इस किंवदन्ती पर ही निष्पन्न मानना पड़ता है । ऐसी दशा में 'कामना  
 रहित हो कर कम करो' इस आदेश का कोई मुख्य नहीं है । इस विप्रतिपत्ति के निराकरण  
 के लिए बुद्धि से क्रम सीजिए, विज्ञानात्म्य की शरण में चलिए, समाधान हो जायगा । बुद्धि  
 और मन की प्रधानता अग्रधानता से इच्छा के दो रूप हो जाते हैं । मन की प्रधानता से  
 बुद्धि की स्वतन्त्रता गढ़ हो जाती है, मनोराज्य शेष रह जाता है । मन चान्द्र सोममय होने से  
 स्नेहयुक्त है । फलतः ऐसे मन की कामना अक्षर्य ही स्नेहधर्म के कारण आसक्ति की जननी  
 है । उपर बुद्धि की प्रधानता से मन गौण बन जाता है । ऐसे बुद्धिप्रधान मन की कामना  
 रनेहमयी न रहकर बुद्धिसम्बन्ध से तेजोमयी बन जाती है । तेजतन्त्र असंग है, अतएव तन्मयी  
 कामना असंगमाकमयी बनती हुई आसक्ति की जननी नहीं बनती । यही तो बुद्धियोग है ।  
 कामना है, परन्तु कामना का जो आसक्तिभाव है, वह बुद्धि की दशा से घृतप्राय है । ऐसी



अवस्था में इस कामना का रहना न रहने के समान है, यही निष्कर्मकर्म है।

दार्शनिक परिभाषा के अनुसार विचार कीजिए। दार्शनिकों ने इच्छा के उपायाप्याकांक्षा, प्रतिपत्ताकांक्षा भेद से दो रूप माने हैं। अपने आप उठी हुई इच्छा उद्दिष्टकांक्षा है। प्रयास से उठाई गई इच्छा उपायाप्याकांक्षा है। इन दोनों इच्छाओं का प्रथमसंख्य में निरूपण किया जा चुका है, अतः यहाँ विष्टपेयक की आवश्यकता नहीं है। बुद्धिप्रधाना इच्छा आत्मेच्छा है, ईश्वरेच्छा है, यही उपायाप्याकांक्षा है। मन यदि बुद्धि के अनुगत बन जाता है तो आत्मेच्छा प्रधान बन जाती है, ऐसे मन की कामना आत्मना है। यदि मन विषयों की ओर ही झुका रहता है तो आत्मेच्छा से पराङ्मुख होकर इच्छा, स्वस्वरूप से प्रधान बनता हुआ काममग्न बन जाता है। यही कामना बंधन का कारण है। निष्कर्मकर्म में इसी कामना के परिहाण का आवेग है।

ब्रह्म-कर्म दोनों आत्म के स्वरूप हैं। कर्म करो—ब्रह्माय, कमी बंधन न होगा। निवृत्ति-कर्मरूप अविद्या के द्वारा आत्मा पर आया हुआ मृत्युरूप कर्मसंस्कार हट जाकर, अमृततत्त्वा का साक्षात्कार हो जायगा। मृत्युरूप कर्म—(संस्काररूप कर्म)—समुद्र का तरण निवृत्तिकर्मरूपा अविद्या से ही हो सकता है—‘न कर्मणा न प्रजया बनेन स्यागेनेकेऽमृतत्वमानया’ इत्यादि में कर्म शब्द काम्यकर्म का ही वाचक है। त्याग शब्द से कामना का परिहाण ही अभिप्रेत है। कामना का त्याग ही तो वास्तविक त्याग है। कर्म छोड़ दिया, कामना बनी रही, यह तो परि त्याग नहीं प्रज्ञा है। निष्कर्ष यही हुआ कि मध्यम विद्यानात्मा में विद्या—अविद्या (कर्म) दोनों हैं। दोनों स्वतंत्र होकर चले हैं। मिसकर बंधन को हटाने में समर्थ हैं। हम दोनों के सम्बन्ध से अमृत के दोनों भाग समग्र को प्राप्त हो जाते हैं। यह समग्र ही सत्त्वा बुद्धियोग है, सम्मत् ही शान्ति है, शान्ति ही आत्मानन्द है।

इस प्रकार हमारा यह तीसरा अधिकरण ( विषयकमानुसार चतुर्थ अधिकरण ) विद्या-अविद्यात्मक सूक्ष्म का, एवं तदवस्थित विद्या-अविद्यात्मिक बुद्धि का स्वरूप बतलाता हुआ, दोनों की समष्टिरूप बुद्धियोग का ही उद्देश्य देता है । बुद्धि को अविद्यात्मक-अविदेवत दोनों सत्ताओं का स्वरूप बतलाना अभीष्ट था, अतएव उसने दोनों के ( सूर्य और बुद्धि के ) सामान्यधर्मों से सम्बन्ध रखने वाले 'विद्या-अविद्या' शब्दों का ही प्रयोग किया है । विद्या-अविद्यात्मक विज्ञानात्माधिकरण समाप्त हुआ, अब क्रमवत् संभूति-असंभूत्यात्मक विज्ञानात्माधिकरण की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है । —

**इति-विज्ञानात्माधिकरणम्**

— ३३०६ —

प्रकृतात्माधिकरणे-

विज्ञानात्माधिकरणं समाप्तम्

३



पूर्णमद

पूर्णमिदम्



४-चन्द्रमा

प्रज्ञानवैभव

४-प्रज्ञानात्मा

अविदेवतम्

व्यभ्यात्मम्

ब्रह्मसत्याक्षर —

सम्भूति-असम्भूतिमयः प्राकृतात्मा चन्द्रमाः

प्रज्ञानात्मा

३

चन्द्रमा ← ——— ← ← ← अन्तर्मुख → → → ——— → प्रज्ञानात्मा

( प्राकृतात्माधिकरणे प्रज्ञानात्माधिकरणा चतुर्थम् )

ब्रह्मस्वेदवेदावच्छिन्न -सम्भूति-असम्भूतिमयात्मा

यद्वास्तुवास्तव

१-अन्धतम प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो मूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या रता ॥

२-अन्यदेवाहु सम्भवादन्यदाहुरसंभवात् ।

इति श्रुष्टुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥

३-सम्भूतिं च विनाश च यस्तद्वेदोभय सह ।

विनाशेन मृत्युं तार्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥

( ईशोपनिषत् १२-११-१४-व० )







## प्रज्ञानात्मस्वरूपनिदर्शनम्

- १- यस्मात्प्रबो दूरमुदैति देवं तस्य घृण्यस्य तथैवेति ॥  
दूरद्वयं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (यजु १४।१) ।
- २- यत् प्रज्ञानमुत धेतो घृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतम्यमाद्यु ॥  
यस्मात्तु भूतं किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (१४।२) ।
- ३- येनेन मृतं मुचने मविष्यत्यरिचृहीतममृतेन सर्वम् ।  
येन यद्वस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (१५।१) ।
- ४- अमीय भूत्वा निरितास उवा नक्त दृश्ये कुर विदिषयुः ।  
अवृण्वानि ऋणस्य व्रतानि विषाकञ्चन्द्रमा नक्तमेति ॥ (अश्व १।२१।१०) ।
- ५- चन्द्रमा अष्टान्तरा सुपर्णो पाषते दिशि ॥  
न वो हिरण्यनेमयः पदं निन्दति विष्टुतो विच मे अस्य रोदसी ॥ (१।१०।५।१) ।
- ६- मनो नवो मयति जायमानोऽर्द्धां केतुरूपमामेयश्च ॥  
मार्गं देवेभ्यो विदधासायन् य चन्द्रमा स्तिरते वीषमायुः ॥ (अश्व १०।८५।१६) ।
- ७- चन्द्रमा मनसो जातः (यजुः ११।१२)
- ८- चन्द्रमा मे मनसि स्थितः (तै आ १।१०।८) ।
- ९- तपस्यमनश्चन्द्रमाप्ताः (जै० उ० १।२८।१५) ॥
- १०- मनो मे, रेतो म मशा य पुनः सुम्भृतिम् तन्मेत्वयि (चण्डपति) ॥  
(मै उ १।२७।१४) ।
- ११- यत्तमन आसीत्, स चन्द्रमा यमवत् । (मै० उ० २।३।२५) ।



॥ श्रीः ॥

भ्रुवोर्यध्ये सप्तादे तु नासिकापास्तु मूततः ।  
 बानीयादमृत स्थान तद् घ्राणायतन महत् ॥१॥  
 घ्राणग्रामणदसं हृषी देवताभ्य सदाशिवः ।  
 नादरूप भ्रुवोर्यध्ये मनसो मयदसं विबु ॥२॥  
 त्रिपं वर्पति सूर्योऽसौ स्रवसश्चतमुन्मुसः ।  
 तालुमुसे स्थितमन्द्रः सुषो वर्पसधोमुसः ॥३॥  
 विषे चरति ससारो निश्चसं मोक्ष उष्यते ।  
 तस्माद्विचं शिखरीकुर्वात् मङ्गया परया विषे ॥४॥  
 त्रिचं कारणमर्थानां तस्मिन् सति जगत्प्रपम् ।  
 तस्मिन् धीये जगत् धीयं तच्चिद्विस्त्वं प्रपन्नतः ॥५॥  
 मनोऽह गगनाकार मनोऽहं सर्वतोमुक्षम् ।  
 मनोऽहं सर्वमात्मा च न मनः केवचः पर ॥६॥  
 मनः कर्पाणि प्रायन्ते मनो सिप्यति पातकैः ।  
 मनश्चेदुन्मनीमुपाच पुण्यं न च पातकम् ॥७॥  
 मनसा मन आमोक्य हविष्यन् यदा येवेत् ।  
 सतः परं परब्रह्म हरये च सुदुर्लभम् ॥८॥  
 मन एव हि चिन्मुक्ष उत्पत्ति-स्थितिकारणम् ।  
 मनसोत्पत्ते चिन्दुर्यया धीरं धृतात्मकम् ॥९॥



मैन के सभी कहार नर्मदेवर शङ्कर, शास्त्राम के सभी कहार शास्त्राम । हरी प्रकर ईश्वर प्रजापति के सभी पर्व ईश्वरप्रजापति । समष्टिरूप से भी नहीं सर्वज्ञ, स्वष्टिरूप से भी नहीं सर्वता । भव-भगि दोनों समानभर्मा । 'महो वेद सर्वम्' । ईश्वरप्रजापति का तीसरा पर्व ( सर्व ) बड़ा विद्या-व्यवसायक है, कहा यह बीया पर्व ( ब्रह्मा ) सम्मृति ( उत्पत्ति ) और असम्मृति का

व्यवसाय है । प्रकृत व्यवसाय तीन मन्त्रों से हरी का निरूपण करता है ।



सृष्टिक्रमानुसार सूर्य के अनन्तर पृथिवी है, सञ्ज्ञा में चन्द्रमा है। परन्तु अप्यात्मस्था की दृष्टि से चन्द्रमा सूर्य एवं पृथिवी के मध्य में प्रतिष्ठित है। पार्थिव प्रजा पर सूर्य एवं पृथिवी के मध्य में रहने वाले कृष्णपक्ष के अग्निशक्ती चन्द्रमा का ही अनुसर होता है। जब चन्द्रमा पृथिवी के इस ओर आता है तो ऐसी अवस्था में आन्द्रसोम का सौर इन्द्र के साथ सम्बन्ध होता है। शुक्लपक्ष में, विशेषतः पूर्णिमा में सायं आन्द्रसोम सौर सावित्राग्नि में इत रहता है। इस शुक्लाह्वाग्निम आन्द्रसोम का पृथिवी पर आगमन नहीं होता। पृथिवी के ऊपर ओर घूमने वाला चन्द्रमा जब पृथिवी के उस ओर (सूर्य की ओर) आता है तो चन्द्रमा का हरण भाग पृथिवी की ओर अनुगत रहता है। कदाचित् कदा सौर हरण नहीं पहुँचने पाती। इस क्षण में (हमारा) में, विशेषतः अमावास्या में आन्द्रसोम प्रभूतभावा से पृथिवी पर आकर ओषधि-वनस्पतियों में प्रविष्ट हो जाता है। यों तो पूरे कृष्णपक्ष में ही आन्द्रसोम पृथिवी पर अवतर रहता है, परन्तु जब चन्द्रमा ठीक सूर्य और पृथिवी के मध्य में आता है तो सोम सन्तानमा पृथिवी पर आता है। यही सूर्येन्द्रसोमस्य 'अमावास्या' नाम से प्रसिद्ध है। इस दिन आन्द्रसोम पार्थिव अग्नि के साथ निरास करता है, अतएव वह स्थिति 'अग्निना-अमा (सह) वसति (सोम)' इस न्युक्ति से अमावास्या नाम से प्रसिद्ध है। इस अमासोम में सन्तानसूक्तमर्चक पितरनाथ प्रसूत रहता है, अतएव अमावास्या विनृतियि कहलती है। सोम के साथ पितर प्राण भी ओषधियों में प्रविष्ट होता है। ओषधि ही पुरुषाग्नि में इत होकर शुक्रस्य में परिणत होती है। पितरप्राणाग्निम शुक्र की योनिद्वि में अद्विष्ट होने से प्रबोध्यति होती है। शुक्लपक्ष इसी पितरप्राण के सम्बन्ध के चिर अमावास्या में दर्शेष्टि की जाती है। कहना पड़ी है कि जब चन्द्रमा सूर्य एवं पृथिवी के मध्य में अवतर है, तभी वह अप्यात्मस्था का उपकारक बनता है। कृष्णपक्ष ही सोम का आशानक्षत्र है, इसी रात्रि को रात्रि में रक्त कर वासिष्ठि कहती है—

“इन्द्रो ह यत्र इत्यत्र ब्रह्म प्रजापति-सो असीमाय मयमानो मास्तृपीवीष विन्यमितयाजके। स पराः परावतो अगाम। तमन्वेष्टु दधिरे। अग्निं

यथानां, हिरण्यपातूप अधीष्ठां, वृद्धी छन्दसाय । तमग्निनुविन्द । तेनैतां  
 रात्रिं सहानगाम । ते देवा अमुवन् प्रमा वै नोऽथ वसुर्वसति । + + × + ।  
 ते देवा अमुवन्—न वा इममन्यत् सोमादिनुपात् । सोममेवास्मै सम्मरोमति ।  
 तस्मै सोमं सममरन् । एष न सोमो राजा देवानामन्न् यच्चन्मा । स  
 यमेष एतां रात्रिं न पुरास्ताम पश्चादद्रेष, तदिमं सोकमागच्छति । स ई-  
 वापश्चापपीथं प्रविशति । स वै देवानां वसु, अथ द्वेषाम् । तद्यदेव एतां  
 रात्रिमिहमावसति—तस्माद्मावास्या नाम” ।

( शत० ब्रा० १।६।११-५ ) ।

“जिस समय इन्द्रने वृत्रासुर के लिए (वृत्रासुर पर) बज्र फेंका—(उस समय) इन्द्र अपने  
 आप को (वृत्रवध में असमर्थ समझते हुए) दूर से दूर भाग गए । तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रने  
 आँख मीच कर वृत्रासुर पर बज्र फेंकने को तो फेंक दिया, परन्तु उन्हें यह विश्वास न था कि  
 भरे बज्र से वृत्र मारा ही जायगा । फलतः बज्रप्रहार कर वृत्र के फिर बचकर प्रहार करने के  
 भय से इन्द्र बड़ी दूर निकल गए । (चूंकि इन्द्र देवता अग्नि, छन्द आदि के अपत्य थे,  
 अतः उनके गुण हो जाने पर) इन्द्र (देवताओंने) वृत्रना आरम्भ किया । (वृत्रने के लिए) देव-  
 ताओं की ओर से अग्नि गए, अपियों की ओर से हिरण्यस्तूप गए, एवं छन्दों में वृद्धी  
 गया । अन्ततः अग्निने इन्द्र को दूत निजला । इस अग्नि के साथ यह इन्द्र इस (अग्निवास्या)  
 रात्रि में सोए आए । (अग्नि के साथ इन्द्र को सोट आया देखकर) देवता आपस में बहने  
 लगे कि आज अगला यह (कसु बहुपुत्र्य निधिरूप इन्द्र) अग्नि के साथ निवास कर रहा है । +  
 + + + । [चूंकि वृत्रवधकर्म में इन्द्र की शक्ति सीमा होगई थी इसलिए देवताओंने ब्रह्म  
 प्रदान के लिए यह निश्चय किया कि] सोम के अतिरिक्त दूसरा पदार्थ इन्द्र को दूत नहीं कर  
 सकता । अतः इन्द्र के लिए सोम का ही सम्मरण करें । फलतः देवताओंने इन्द्र के लिए  
 सोम प्रदान किया । यही वह सोमराजा देवताओं का अन्न है, जो कि आकाश में प्रसन्न हुए  
 यह चन्द्रमा है । यह जिस रात में पूर्व दिखलाई देता, न परिश्रम, उस रात्रि में यह इस सोक

[पृथिवी लोक] में जा जाता है। वह यहीं ओषधि एवं पानी में प्रमिष्ट हो जाता है। वह वेद  
 तानों की निधि है, धर्म है। यह इस राशि में इन्द्र के स्वर रहता है, इसलिये (मी) यह त्रिभि  
 “अमात्रास्या” कहा जाती है ॥” ।

हन्दरी (आध्यात्मिकसत्ता की) सम्पत्ति एवं असम्पत्ति का कारण सूर्य-पृथिवीमण्डल  
 कण्ठपद्माविद्यता कन्दमा है, अतएव उपनिषद् में सुष्टिक्रम की उपेक्षा कर उक्त स्थितिक्रम  
 को प्रधान मानते हुए सूयात्मक विज्ञानात्मा के अनन्तर (सुष्टिक्रमप्राप्त पृथिवी का निरूपण  
 न कर) अन्तःस्थ मज्जानात्मा का ही निरूपण किया है।

“गायत्री है पुरुषा” (ऐ० श० ४।१।) इस निम्न श्रुति के अनुसार पुरुष गायत्र है,  
 एवं ‘पुरुष एवेद सर्वम् (यजुः सं० ३१।२) के अनुसार सारा प्रपञ्च पुरुष है। पुरुष के कपसि  
 अनेक विभक्त हैं, तन्मसि प्रकृत में केवल ईश्वरपुरुष, जीवपुरुष (मनुष्यपुरुष) इन दो विभक्तों  
 की प्रधानता समझनी चाहिए। ईश्वरपुरुष मात्सव्य है, उपास्य है। जीवपुरुष मातृकर्त्ता है,  
 उपासक है। यह दोनों ही पुरुष परमेश्वर एक पुरुष है। अष्टाक्षर-विभूति के सम्बन्ध से  
 ईश्वर पुरुष भी गायत्र है, जीवपुरुष भी गायत्र है। शब्दब्रह्म और अर्पणब्रह्म का अने  
 नामासम्बन्ध है। जिस प्रकार निम्न अक्षर-पद-वाक्यों के सम्बन्ध से शब्दब्रह्म का  
 स्वरूप निष्पन्न होता है, एतन्म निम्न पदार्थों के सम्बन्ध से अर्पणब्रह्म का स्वरूप निष्पन्न हो  
 जाता है। पुरुष आठ पदार्थों की समष्टि है। ठहर आठ अक्षर के ब्रह्म का नाम गायत्री है,  
 अतएव आठ पदार्थ स्वरूप आठ अक्षर की समष्टिकरूप इस पुरुष को गायत्री ब्रह्म से कृत्स्न  
 होने के कारण अक्षर ही ‘गायत्र’ कहा जा सकता है। गायत्र पुरुष में सब कुछ अन्तर्भूत  
 है, गायत्र पुरुष साक्षात् ब्रह्म है—(देखिए ब्रा० उ० १ प्र० १११ब) —वे० उ० श०  
 १ अनु० १ ख० १५ क०)।

शास्त्रपुराण का पहिला पर्व रस-वस्तुरूप है यही मूलपर्व है । रस सत् है, वस्तु असत् है । असद्वस्तुमुक्त सदस की समष्टि ही पहिला पर्व है । इसी प्रथमपर्व को परात्पर कहा जाता है (देखिए ई. वि. प्र. सं. २५.१५) । आगे के सात पर्व इसी प्रथम पर्व का विकास हैं । परात्पर का रसमाग मायाकृत अन्तर्लक्षित से आनन्दविज्ञानमनोमय बनता हुआ 'अमृत' नाम से, एवं वस्तुमाग मायाकृत बहिर्लक्षित से मनमागनात्मय बनता हुआ 'मृत्यु' नाम से प्रसिद्ध हो जाता है । रस का प्रथम विकास अमृत है, वस्तु का प्रथम विकास मृत्यु है । रस वस्तुशब्द जहाँ परात्परतत्त्व के लिए नियत हैं, वहाँ अमृत-मृत्युशब्द मायोपाधिक पुरुषविवर्त के लिए नियत हैं । जैसे परात्पर की रस-वस्तु कहा सत्-असत् नाम से प्रसिद्ध हैं, एवमेव पुरुष की उक्त दोनों कलाओं के लिए क्रमशः विद्या-कर्म शब्द निरूपित हैं । अमृत-मृत्युरूप विद्या-कर्म की सम्प्रति यह पुरुष (बोधशीलपुरुष) उस शास्त्रपुराण का दूसरा पर्व, किंवा दूसरा अक्षर है । पुरुष का रसप्रधान विद्यामय अमृत माग ही आगे जाकर 'स्थिति' रूप में परिणत होता है, एवं वस्तुप्रधान कर्ममय मृत्युमाग ही आगे जाकर 'गति' रूप में परिणत होता है । स्थिति गति उस रस-वस्तु का द्वितीय विकास है । यही विकासालम्बा 'वेद' नाम से प्रसिद्ध है, इसे ही 'क्षयम्भू' कहा जाता है । यही शास्त्रपुराण का तीसरा पर्व, किंवा तीसरा अक्षर है । रसमागाना स्थिति, वस्तुप्रधाना गति इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः अनिरुक्त-निरुक्त शब्द निरूपित हैं । अम्यक्त क्षयम्भू का रसप्रधान अनिरुक्त स्थितिमाग ही आगे जाकर स्वहृत् रूप में परिणत होता है, एवं वस्तुप्रधान निरुक्त गतिमाग ही आगे जाकर तेजस् रूप में परिणत होता है । यह स्नेह-तेज उस रस-वस्तु का तृतीय विकास है । यही विकासालम्बा 'सुवेद' नाम से प्रसिद्ध है, यही 'परमेष्ठी' नाम से व्यवहृत होता है । शास्त्रपुराण का यही चौथा पर्व, किंवा चौथा अक्षर है । रसप्रधान स्नेह, वस्तुप्रधान तेज इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः रयि-प्राण शब्द निरूपित हैं । अम्यक्तस्नेह परमेष्ठी का रसप्रधान रयिरूप स्नेहमाग ही आगे जाकर (वेदाति के सम्बन्ध से) विद्यारूप में परिणत होता है, एवं वस्तुप्रधान प्राणरूप तन्त्रमाग ही आगे जाकर अविद्या रूप में परिणत होता है । यह विद्या-अविद्या उस रस-वस्तु का पंचम विकास है । यही

विकासारम्भ 'हिरण्यगर्भ' नाम से प्रसिद्ध है। इसी को सूर्य कहा जाता है। गणपतपुर क यही पाँचवाँ पर्व, किंवा पाँचवाँ अक्षर है। रसप्रधान विद्या, वक्षप्रधान अविद्या इन दोनों शब्दों के लिए कर्मण व्योति-सम शब्द निरूपित है। व्यक्त रूप का रसप्रधान व्योतिर्भव विद्या ही भागे जाकर सम्भूति रूप में परिणत होता है, एवं वक्षप्रधान तन्मय अविद्यामय भागे जाकर असम्भूति (विनाश) रूप में परिणत होता है। यह सम्भूति एवं असम्भूति ठा रस-वक्ष का पाँचवाँ विकास है। यही विकासारम्भ 'विष्वक्' नाम से प्रसिद्ध है, इसी व 'बन्मा' कहा जाता है। गणपतपुर का यही ६४ पर्व, किंवा ६४ अक्षर है। रसप्रधान सम्भूति वक्षप्रधान असम्भूति इन दोनों शब्दों के लिए कर्मण व्योति-सम यह दो शब्द निरूपित हैं। कर्म वक्षप्रधान रसप्रधान व्योतिर्भव सम्भूतिमात्र ही भागे जाकर ज्ञानरूप में परिणत होकर सर्वज्ञ नाम से व्यक्त होता है, एवं वक्षप्रधान अक्षरूप असम्भूतिमय ही भागे जाकर अक्षरूप में परिणत होता हुआ विराट् नाम से प्रसिद्ध होता है। इन दोनों के मध्य में ९ तीसरे क्रियामय हिरण्यगर्भ तत्त्व का विकास और होता है। ज्ञानसूक्ति सर्वज्ञ क्रियामूर्ति हिरण्यगर्भ, अक्षरसूक्ति विराट् की समष्टि ही 'देवसस' नाम से प्रसिद्ध है। इस की प्रति असूता प्रथिनी है। यह उस रसवक्ष का ९ वं विकास है। गणपतपुर का यही ७४ वाँ पर्व, किंवा ७४ अक्षर है। अग्निमूर्ति देवसस के रसप्रधान ज्ञानभाग से भागा जाकर देवता का विकास होता है एवं वक्षप्रधान अक्षरभाग से भूत का विकास होता है। यह 'देवव' (प्राण) 'भूत' उस रस-वक्ष का सातवाँ विकास है। यही विकासारम्भ 'भूतियद' नाम प्रसिद्ध है। गणपत पुर का यही ८४ वाँ पर्व, किंवा ८४ अक्षर है। रसप्रधान देवता, वक्षप्रधान भूत इन दोनों शब्दों के लिए कर्मण व्योति-सम भूत-भूत-शब्द निरूपित हैं। यही व्योति प जीवपुरुष में हैं। केवल जन्म-मृत्यु के नामों में अक्षर है। इस प्रकार एक ही रस-वक्षितिवारम्भ से उक्त आठ रूपों में परिणत होता है। यही तो उस जस का महापद महापद है।

उक्त गवपप्रपुरुष-तात्पिका से पाठकों को विदित हुआ होगा कि चन्द्रमा ही सम्भूति और विनाश का कारण है। चन्द्रमा से पहले सूर्य, सूर्य से पहिले परमेश्वरी की सम्भूति (उत्पत्ति) हो जाती है। भूपिण्ड सूर्य का उपग्रह है। सन्तान में भूपिण्ड से चन्द्रमा का जन्म होता है, अतएव पृथिवी सूर्य का उपग्रह कहलाती है, एवमेव चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह कहलाता है। पृथिवी में रहने वाला सूर्यविरोधी, पारदर्शकता का प्रतिबन्धक वायुच्छेद प्राण 'अग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। यह प्राण वाक्मपान है, एव वाक्मत्व व्यावरण का जनक है। फलतः वाक्मय अग्निप्राण का भी व्यावरकत्व सिद्ध होजाता है। भूपिण्ड अपने अक्ष पर घूमता हुआ इस स्वाक्षपरिभ्रमण से दैनंदिनगति का (अधोत्थन का) स्वरूप संपादन करता हुआ, सूर्य के चारों ओर अपने नियत क्रान्तिवृत्त पर घूमता हुआ संवत्सरगति (वार्षिक गति) का अधिष्ठानता बन रहा है। प्रवसनेग से घूमते हुए भूपिण्ड के साथ सहस्रांश सूर्य के अग्नि का सम्बन्ध होता रहता है। इस सौर अग्नि के साथ से पार्थिव वाक्मय अग्निप्राण (पार्थिववाक्मय अग्निरस) द्रुत होता रहता है। विद्यता हुआ यह अग्निप्राण भूपिण्ड के साथ साथ ही भूपिण्ड से संलग्न रहता हुआ घूमता रहता है। ऐसी तीन परिक्रमणों के अनन्तर यह द्रुत अग्निप्राण (अग्निरस) सोमरूप में परिणत होजाता है। सौर अग्नि से परितन्मयान यह सोममाग अग्नि जेन से बह कर घनीभूत होता हुआ चन्द्रपिण्डरूप में परिणत होजाता है।

बात यह है कि अग्निशरीर का चितमा अथ सोमरूप में परिणत होजाता है, यह उस पार्थिव वाक्मय, अतएव जन अग्नि की अपेक्षा इसका जन जाता है। इसका बनते ही यह पार्थिव अग्नि से पृथक् होकर चारों ओर विशाखों में क्षुत्तरूप से व्याप्त होता हुआ पृथिवी की ओर ही अनुगत होने लगता है। अन्तरिक्ष में हिरण्यमर्गर्भ ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध वायु चन्द्रकक्षा घटतब पर (वायु में इतस्ततः) व्याप्त सोमपरमाणुओं को एककक्षाबन्धुदेन समेट कर उन्हें पुञ्जीभूत बना आसता है। वायु का यह पिण्डसम्पादनव्यापार पृथिवी की २१ परिक्रमा पर समाप्त होता है। अर्थात् भूपिण्ड के चारों ओर घूमते हुए सोमपरमाणु कमश घन होते होते वायुव्यापार से पृथिवी के २१ परिक्रमण के अनन्तर इरयमान चन्द्रपिण्डरूप में परि

यत्न होते हैं। यही पिण्ड पृथिवी के चारों ओर घुमता हुआ दिखलाई दे रहा है। दिन में सूर्यकिरणों द्वारा पारिव पानी वाष्परूप में परिवर्तित होकर अन्तरिक्ष वायुमण्डल में व्याप्त होजाते हैं, यही पानी रात्रि में सुप्त के अभाव से फिर पृथिवी की ओर (ओस रूप से) गिरने लगते हैं। यही अवस्था सोम के सम्बन्ध में समझिए। सोम अन्तरिक्ष में जाकर पुनः पृथिवी पर गिरना चाहता है, परन्तु यज्ञवराह नाम से प्रसिद्ध उसी वायु से (देखिए ई० द्वि० अ० ७० अ० १५) रोधित होकर पिण्डरूप में परिवर्तित होता हुआ मिश्रित होजाता है। जिस प्रकार आकाश में इतस्ततः व्याप्त केतु (आग्निपुच्छ क्रमशः पिण्डीभूत बनकर सूर्यरूप में परिवर्तित हुए हैं—(देखिए ई० द्वि० अ० २३ ई० १५), एवमेव इतस्ततः फैले हुए पारिव सोम अण्ड ही अमरः पिण्डीभूत होकर अण्डरूप में परिवर्तित हुए हैं। इसी अन्तरोत्पत्ति रहस्य को अक्ष में रख कर पुराण कहता है—

पिता सोमस्य वै विना जज्ञेऽनिर्मगन्मानुषिः ।

क्राष्टुक्रुण्ड्यशिमामृत ऊर्ध्वबाहुमहाधुनिः ॥१॥

सुदुर्धरं नाम तपो येन तप्तं भूतं पुरा ।

श्रीगो वर्षसहस्रांगी निध्यानीति इ जः भूतम् ॥२॥

तस्योर्ध्वरितसारतत्र स्थितस्यानिमिषस्य द्विः ।

सोमश्च तनुरापेदे महाबुद्धिः स वै दिवः ॥३॥

ऊर्ध्वमाचक्रमे तस्य सोमर्धं भाषितात्मना ।

नेत्राभ्यामस्रवत् सोमो वरुणा प्योतयन् दिशः ॥४॥

रदा न धारणे गङ्गास्तस्य गर्भस्य वा दिशः ।

ततः सरामिः शीर्तांश्चुर्निपपात वसुन्धराम् ॥५॥

पतन्ते सोमपाप्योक्ष्य ग्रध्या लोक्षपितामहः ।

रथमारोपयामास मोक्षनां दिवकात्मना ॥६॥

# गायत्रपुरुषपरिलेख

अष्टाक्षरावै गायत्री-ईश्वरपुरुषो गायत्रः-ऋषिपुरुषो गायत्रः



१-	१-रस (सत्)	{	परात्पर	परात्पर
२-	२-वसत् (वसत्)			
२-	१-अमृतम् (विद्या)	{	षोडशीपुरुष	षोडशीपुरुष
२-	२-मृतम् (कर्म)			
३-	१-द्विपति (अनिरुक्त)	{	स्वयम्भू	अव्यक्तात्मा
२-	२-रति (निरुक्त)			
४-	१-स्नेह (रसि)	{	परमेष्ठी	महानात्मा
२-	२-तेज (प्राण)			
५-	१-विद्या (ज्योति)	{	सूर्य	विज्ञानात्मा
२-	२-अविद्या (तम)			
६-	१-संमूर्ति (उत्पत्ति)	{	चन्द्रमा	प्रज्ञानात्मा
२-	२-विनाशः (सय)			
७-	१-ज्ञानम् (ब्रह्म)	{	साक्षीसुपर्ण	भोक्तासुपर्ण
२-	२-अर्थ (कर्म)			
८-	१-वसता (अमृतम्)	{	भृषिगडम्	शरीरम्
२-	२-भृगुनि (मृतम्)			



रुत होते हैं। यही पिण्ड पृथिवी के चारों ओर घुमता हुआ दिखलाई दे रहा है।  
दिन में सूर्यकिरणों द्वारा पारिवर्तनीय वायुमण्डल में परिणत होकर अन्तरिक्ष वरतल में व्याप्त  
होमते हैं। यही पानी रात्रि में सूर्य के अभाव से फिर पृथिवी की ओर (ओस रूप से) गिरने  
समर्थ हैं। यही अमृता सोम के सम्बन्ध में समझिए। सोम अन्तरिक्ष में जाकर पुनः पृथिवी  
पर गिरना चाहता है, परन्तु यज्ञवराह नाम से प्रसिद्ध उसी वायु से (वेष्टिर् ई० द्वि० ख० अ०  
काण्डाविक्रम ७४५) वेष्टित होकर पिण्डरूप में परिणत होता हुआ निगूहीत होनाता है। जिस  
प्रकार आकाश में इतस्ततः व्याप्त केतु (अग्निपुङ्ख कथं पिण्डीमृत बनकर सूर्यरूप में परि-  
णत हुए हैं—(वेष्टिर् ई० द्वि० ख० २११५), एवमेव इतस्ततः फैले हुए पारिवर्तनीय सोम खण्ड ॥  
अमराः पिण्डीमृत होकर अन्नरूप में परिणत हुए हैं। इसी अन्नोत्पत्ति रहस्य को सत्य में रख  
कर पुराण कहता है—

पिता सोमस्य वै विधा ऋद्धिर्मगवानृषिः ।

काष्ठकुण्डपरिश्रमाभूत ऊर्ध्वबाहुर्महायुतिः ॥१॥

सुदुश्चरं नाम तपो यन तप्तं मह्यं पुरा ।

त्रीणि वर्षसहस्राणि दिव्यानीति इ नः श्रुतम् ॥२॥

तस्योर्ध्वरेतसातम स्थितस्यानिमिषस्य हि ।

सोमस्य तनुरापेदे महाबुद्धिः स वै द्विजः ॥३॥

ऊर्ध्वबाहुः कमे तस्य सोमस्य मावितात्मनः ।

नेत्राम्यामस्तत्र सोमो वरुणा द्योतयन् दिशः ॥४॥

यदा न पारये शक्तास्तस्य गर्भस्य ता दिशः ।

तदा सहाभिः शीतोऽग्निरुपपात वसुन्धरा ॥५॥

पठन्त सोममासोनय वरुणा सोऽपितामहाः ।

रश्म्यारोपयामास सोऽनार्ता दितकाम्यया ॥६॥

स तेन रथमुत्थेन सागमन्तां वसुधराम् ।  
 त्रि सप्तकृत्वो ऽतिशयशोभाकाराभिपदक्षिणाम् ॥३॥  
 तस्य यद्विहितं तेजः पृथिवीमन्वपद्यत ।  
 ओषध्याम्नाः समुद्रमूनाध्वेनसा ज्वमर्यत्युः ॥४॥  
 तामिः पुष्पात्पर्यं सोमो यजमानां चतुर्विधाः ।  
 पोष्टा हि भगवान् सोमो जगतो हि द्विमोक्षमा ॥५॥  
 सतस्तस्यै वदो राज्यं ब्रह्मा प्रकृतिर्दत्ता वरः ।  
 श्रीमौपवीनां विपत्त्यापनां च द्विमममया ॥६॥

[ ब्रह्माण्डोद्धारः ]

“हे ब्रह्मणो ! एक बार सोम के विषय भगवान् अग्नि अग्निने यह किया । (यज्ञसिद्धि के लिए) पुण्यग में ( चन्द्रसूक्ति के आरम्भकाल में ) महतेबली अग्नि महर्षिने अपने हाथों को ऊंचाकर, शरीर से द्वापर पापाण की प्रतिमा समान बनाकर ‘सुवुम्बर’ नाम का वह वन तप किया । हमने सुना है कि तीन हजार दिव्य वर्ष पर्यंत सौ अग्निने यह वन तप किया । सर्वथा निरन्तर एकत्र रूप से द्वापर ऊंचेरेता उन अग्नि महर्षि का शरीर महासुदृश्यासी ब्राह्मण सोमरूप में परिवर्तित होगया । सोम की प्राप्ति करने वाले अग्नि महर्षि का वह सोम ऊपर की ओर उठ कर नेत्रों से सोमरस वह निकला, उसमें दसों विशाखों को प्रकथित कर दिया । जब दिशाएँ उस गर्भीभूत सोम को धारण करने में समर्थ न होसकीं तो वह शीतोद्यु सोम पृथिवी की ओर गिरने लगा । सोम को पृथिवी कीओर गिरता हुआ देखकर ब्रह्मने उसे लोककल्याण के लिए अपने रथ में बैठा लिया । रथ में बैठा कर ब्रह्मने २१ बार उसे मृषियङ्ग की परिध्या करवाई । गिरते हुए सोम का जो प्रहृष्ट गाण पृथिवी में गिर गया उससे ओषधिरूप उत्पन्न हुए । इन्हीं ओषधियों से अन्धमा चतुर्विध प्रजा का पोषण करता है । हे द्विजश्रेष्ठो ! भगवान् सोम भगवत् के पोषा हैं । वेदविदों में श्रेष्ठ ब्रह्मने अन्धमा को राज्य का अधिकार बनाया, ओषधि और ब्राह्मणों का अधिपति बनाया—‘सोमोऽस्माकं ब्राह्मणां राजा’ ।





उक्त व्याख्यान समानरूप से आधिदैविक (प्राकृतिक) एवं आधिभौतिक (ऐतिहासिक) चरित्र का निरूपण करता है। मौमि ब्रह्मार्पणं भूमि महर्षि के पुत्र चन्द्रमा का राज्यमित्येक कर इन्हें उत्तरविशा का विक्षास बनाया था, एवं सोम और आसुर्यों का लोकपाल बनाया था। अतो आकर शुद्धपत्नी तारा के अपहरण से अद्यपि चन्द्रमा की अदासीनता से अमूर्तों द्वारा ब्रह्मात्मक सोमहव [सोमचक्षु] का समूह बिनाश हुआ। इसप्रकार गन्धर्वनगराधिपता चन्द्रमा की हत्या से मौमिदेवर्षि सदा के लिए उन्मिष हो गया। इसीलिए अमूर्तसम्प्रदाय वाले आज भी अपने पार्थिव रूपों में चन्द्रमा को ही प्रणमता देखे हैं।

इसी प्रकार महाभारत में भी चन्द्ररूप में परिणत अग्नि द्वारा ही अन्धकार की निवृत्ति मानी गई है, जैसा कि आचार्य कहते हैं—

इत्युक्तस्त्वर्जुनस्तप्यवीर्यमद्वायुस्तममधीव ।  
 शृणु मे ह्ययम्रेष । कम्मधिः सुमहत्स्वनः ॥ १ ॥  
 मोरे तपस्यमुष्यन्त सविता देवदानवा ।  
 अविष्यत शरैस्त्वन्वमार्मुः सोममात्करो ॥ २ ॥  
 अथ ते तपसा प्रस्ता निरन्यतेष्व दानवीः ।  
 देवा मृपनिशार्तुः । सहेष वसिमित्वा ॥ ३ ॥  
 असुरैर्बध्यमानास्ते क्षीणमाया दिवौकसः ।  
 अपरयन्त तपस्यन्तमार्त्रि विष तपोधनय ॥ ४ ॥  
 ध्यैनममुष्यन् देवाः शान्तकोषं मितेन्द्रियम् ।  
 असुरैरिषुमिषिदौ चन्द्रादित्यादिमातृभौ ॥ ५ ॥  
 वयं बध्नामहे आपि शत्रुमिस्तपसाहते ।  
 नापिगच्छाम शान्तिं च मयात्पापस्य नः मयोः ॥ ६ ॥

## अत्रिरुवाच

कस्य रक्षामि मन्वन्तस्तेऽमुष्यमन्त्रमा मय ।

विमिरन्मम सविता दम्पुहन्ता च नो मय ॥ ७ ॥

यमुक्तस्तदाभिर्बे तमोनुदभवन्ऋशी ॥

अपरयत् सौम्यभाषाच्च सोमयत् विपदर्शन ॥ ८ ॥

इद्वा नाविमम सोमं तथा सूर्यं च पार्थिव ।

प्रकाशमकरोदभिरापसा स्वेन सयुगे ॥ ९ ॥

जगद्विदिषिर्वा चापि मदीमुपकरोच्छदा ॥ १० ॥

[ महाभारत अनु पर्व ११७ अ ] ।

“यह सुनकर अजगत् पुप होगया । बापु में (पुन) कहा कि हे ईश्वरमय में येष्ठ । तुम (अब) महात्म्यों में सुप्रसिद्ध अग्नि का कर्म (चरित्र) सुनो । ( एकवार ) घोर अन्धकार में देव दानव (देवता और असुर) एक स्थान पर सम्मिश्रित होकर युद्ध करने लगे । ( उस युद्ध में ) स्वर्भानु नाम के राहु में सैकड़ों तीरों से चन्द्रमा और सूर्य का शरीर चकनी बना बाँटा । हे राजाओं में येष्ठ । इस प्रकार उन महा बलवान् दानवों से पीड़ित वे देवता उस घोर अन्धकार से घिर गए । उस समय असुरों से संग्रस्त वे देवता सर्वथा जर्जरित होगए । ( उसी अन्धकार में ) उन क्षीयकाय दैत्यों में ( एक स्थान पर ) तपस्वी अग्नि को तप करते हुए देखा । सर्वथा शान्तमूर्ति एव विठेन्द्रिय अग्नि से देवता (विजय पूर्वक) कहने लगे कि (हे महर्षे ! ) इस युद्ध में सूर्य और चन्द्रमा असुरों द्वारा तीरों से बीध बाँधे गए हैं । ( अथन इम सचसुख ) इस घोर अन्धकार में इन शत्रुओं से नारे जाँपगे । हमें इस समय क्या भी शान्ति नही है । हे प्रभो ! आप (ही इस समय) इस मय से हमारी रक्षा कीजिए । (देवताओं की यह कातर प्रार्थना सुन कर) अग्नि कहने लगे—हे देवताओं ! तुम्हीं बतलाओ, मैं किस उपाय से तुम्हारी रक्षा करूँ ! देवता कहने लगे, हे महर्षे ! आप चन्द्रमा घन जाइए, एव अन्धकार का नाश करने वाले सूर्य

बन जाय। इस प्रकार सूर्य चन्द्रमा बन कर आप इन दस्तुओं के माथ पर बैठकर रहें।  
देवताओं से यह सुनकर अग्नि (तत्त्वज्ञ) सम्भवतः दूर करने वाले चन्द्रमा बन गए। एक सोम-  
मासवत् सुन्दर बन्धे की तरह दीर्घमें ये सुन्दर उस चन्द्रमा को अग्नि देखा। इतना  
उस चन्द्रमा और सूर्य को अधिक प्रकाशयुक्त न देख कर उस युद्ध में अपने तपोवत् से अग्नि में उन  
दोनों में अधिक प्रकाश कर दिया। इस प्रकार अग्नि ने अपने तपोवत् से संसार को सम्भवतः  
रक्षित कर दिया, सर्वत्र उन्नासा कर दिया।”

इतिहास के साथ साथ उक्त पौराणिक आख्यान में गहन विज्ञान भी छिपा हुआ है,  
जिसका कि निरूपण विस्तार भय से प्रकृत में नहीं किया जासकता। इन पौराणिक आख्यानों  
के मूल श्रोत आख्यान ही हैं। प्रायः इसी से निम्नलिखित आख्यान भव्य संहिता में, एवं  
प्राकृत में भी उल्लेख होता है। देखिए—

१-यस्ता सूर्य स्वर्मानुस्तपसाविष्यदासुरः।

अस्तेन विषया सुगो मुनान्पदीषयुः॥

२-स्वर्मानोरपयदिन्द्र माया भवो दिवो वर्तमाना भवाहन्।

एष्वर सूर्य तपसापत्रवेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्दतग्निः॥

३-आम्बो ब्रह्मा सुसुमाना सपर्यन्त कीदृशा देवाभ्यसोपसिञ्चन्।

अग्नि सूर्यस्य दिवि अक्षुरायात् स्वर्मानोरपयाया असुसुत॥

४-यं वै सूर्यं स्वर्मानुस्तपसाविष्यदासुरः

अत्रयस्तमन्विन्दन् नक्षत्रे अश्वजुवन्॥

(अथ सू० २०।४०।२-३-८६)।

१-“स्वर्मानुर्वाऽप्रासुरा सूर्यं तपसा विष्याप। स तपसा विद्वो न व्य-  
रोचत, तस्य सो मासुर्द्वौ-पनेवचमोऽपराहताम्। सपथोऽपराहताप्य तपति”।

(यजु २।३।२।१-२)।

इस प्रकार वाङ्मयशास्त्र में चन्द्रमा की उत्पत्ति पार्थिव अग्नि से मानी गई है, एव चन्द्रमा को सोम का पिण्ड, एव पृथिवी का उपग्रह माना गया है। इधर वर्तमान विज्ञान के अनुसार चन्द्रमा किसी समय का एक स्वतन्त्र सूर्य है। पश्चिमी विद्वानों का कहना है कि—“किसी समय चन्द्रमा धीरे धीरे या, दूसरा सूर्य था। वह धीरे धीरे ठंडा होने लगा, कालान्तर में बाहर का स्तर ठंडा हो गया, गर्म में अग्नि रह गया, इसी अवस्था का नाम पृथिवी हुआ। पृथिवी का वह भाग जो सर्वथा अग्निशून्य बनता हुआ पृथिवी की पकड़ से बाहर होकर पृथिवी के चारों ओर घूमने लगा, वही चन्द्रमा कहलाया”। अतः इन मतमतान्तरों से हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। यह बात सर्वोत्पत्ता सिद्ध है कि चन्द्रमा पृथिवी के पीछे उत्पन्न हुआ है, एवं यह पृथिवी का उपग्रह है।

जब यह सिद्ध है कि चन्द्रमा सृष्टिकर्म में सब के अन्त में सम्पन्न होने वाला पर्व है तो ऐसी स्थिति में चन्द्रमा को विश्व की सम्पत्ति, एव विनाश का कारण मानना कैसे संगत हो सकता है? हम पार्थिव प्राणियों की उत्पत्ति-नाश का कारण तो फिर भी क्या कल्पित चन्द्रमा माना जा सकता है, परन्तु एकहेतुवा चन्द्रमा को सम्पूर्ण विश्व का उत्पत्ति-परिणाम मान बैठना कैसे संगत हुआ? उक्त प्रश्न का समाधान करें, इस से पहिले संक्षेप से सम्पत्ति, एव विनाश शब्दों का अर्थ जान लेना आवश्यक होगा।

प्रकरण के आरम्भ में ही यह बताया गया है कि रस-वस के अवस्थातारतम्य से विश्व में विविध भाव उत्पन्न हो जाते हैं। रस और वस इन दोनों में रस प्रत्येक दशा में असन्न रहता है एव वस रस की व्यापक अवस्था में असन्न, एव रस की परिच्छिन्न दशा में सन्न बन जाता है। रस की व्यापक एव परिच्छिन्न दशामें वस की भार अवस्था हो जाती है। वे ही चार अवस्थाएँ आविर्भाव, तिरोभाव, सम्पत्ति विनाश इन नामों से प्रसिद्ध हैं। रस व्यापक है। इस व्यापक रससमुद्र में असीकृत वस उदित होते रहते हैं, एव अस्त होते रहते हैं। रस की व्यापकता के कारण इन ससंगर्मी वसों को परस्पर में प्रभिवचन करने का अवसर नहीं मिलता। अतः श्रुति प्रकरण एक असीम समुद्र में बहरे उठती रहती हैं, एवं



बैठती रहती है, इसी प्रकार उच्चारणमाध्यम वह उस रसचरातक में सङ्घट्ट सम्बन्ध से छिन्न सहर्षों के समान उदित होते रहते हैं, एव अस्त होते रहने हैं। वस्तु का यह सम्बन्ध अस्मत्-सम्बन्ध है। आविर्मान-विरोधान्, उद्यम अस्त यही इस सम्बन्ध का स्वरूप है। वस्तु का ऐसा सम्बन्ध संश्लेषित-वृद्धयन्त्रियमूलक सहिसम्बन्ध से सर्वथा बहिर्भूत है। आगे जाकर मध्य की कृपा से रस परिच्छिन्न हो जाता है। इस परिच्छेदमात्र के कारण वृद्धयन्त्रय उत्पन्न हो जाता है। वृद्धयन्त्रय से सर्वप्रथम 'संचारस' का उदय होता है। पुरुषात्माधिकरण की पुरुष निरुक्ति में यह विस्तार से कहा जा चुका है कि वस्तु की धिति से एक ही रसतत्त्व आनन्द-विज्ञान-मन प्राक्-प्राक् भेद से पञ्चकोणरूप में परिणत हो जाता है—( देखिए—ई. अ. वि. सं. २६१ से २८१ पृ. )। इनमें मन-प्राक् प्राक् की समष्टि ही संचारस है। इसी संचारस का नाम 'अस्तित्व' है। यही संचारस सम्भूति का कारण है। यदि वह वृद्धयन्त्रियसम्बन्ध से संचारस के उदर में आजाते हैं तो उस संचायक वस्तुसमुच्चय में अपूर्व नाम-रूप-कर्म का उदय हो जाता है। वस्तु संचारस के अन्विषयन सम्बन्ध में वस्तु का अपूर्व नाम रूप पारण कर लेना ही वस्तु की 'सम्भूति' है। एव अन्विषयन के दृष्ट जाने से उस वस्तुसंचारस का संचारस से वृद्ध होकर वृद्ध नाम रूप का परित्याग कर देना ही 'विनाश' है।

संचारक वृद्धात् से सम्भूति शब्द निम्न है। 'अथ पश्येदस्ति' वट पदार्थ का यह संचारक निर्वचन है। मिट्टी में जो मग्नप्राक्-वृद्धय संचारस था, उसे लेकर वस्तु वट सम्भूति का अभिप्राय बन रहा है। जिस दिन वट में से मिट्टी की सत्ता निकल जायगी, उस दिन वट अपने नामरूप का परित्याग कर देगा। यही वट का विनाशकाल होगा। वस्तु पर संचारस का अनुभव भी दो प्रकार से होता है। आप पृथिवीतल पर प्रतिष्ठित हैं। पृथिवी की पृथिवीतल सत्ता में आपकी पकड़ रहता है। यदि वृद्धयन्त्रय के लिए ही इस पार्थिव सत्ता से व्यपन्न विप्रेषण हो जाता है तो आपका वृद्धयन्त्रय हो जाता है। आप मार्ग में जा रहे हैं। मिट्टी मिट्टी पर पार्थिव सत्ता आपकी अनुमतिवश बन रही है। चलते चलते आपकी दृष्टि किसी

सुन्दर रूप पर जाती है। उसे देखने में आप इतने तल्लीन हो जाते हैं कि आपको मार्ग में जाने वाले गर्त (गड्ढे) का ध्यान नहीं रहता। अकस्मात् पैर फिसल जाता है। उसी समय आत्मा में एक प्रकार का कम्प हो पड़ता है। यह कम्प और कुछ नहीं, केवल व्यग्रमात्र के लिए पृथिवी की प्रतिष्ठास्वरूप सच्चा का वियोग है। यदि आनन्द कर साधनानी से आप तीन फिट के गहरे गर्त में सी पाँच रख देते हैं तो मर नहीं होता, कारण इस समय आप का ध्यान उस सच्चा पर रहता है। परन्तु अज्ञात दशा में यदि आपको पैर कुत्तापं से सड़क पर भी गिर जाता है तो आत्मा कम्पित हो जाता है, क्योंकि वहाँ आपकी दृष्टि सच्चा पर नहीं रहती। इस निदर्शन से बतलाना यही है कि हमारे पर पृथिवी की सच्चा का अनुग्रह रहता है। हम पार्थिव सच्चा के गम में प्रतिष्ठित रहते हैं। एक मिट्टी के डेले को आप कितना ही उछा फेंकिए, उसी पार्थिवसत्ता के आकर्षण से वह तत्काल नीचे आ जाएगा। इस प्रकार लच्छोके की लच्छोप्रजाओं पर लच्छोको की प्रतिष्ठात्मिक सच्चा का अनुग्रह रहता है। परन्तु इस सच्चास का हमारे साथ ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध नहीं है, अपितु विमृतिसम्बन्ध है। इस सच्चा से हमारे में किसी अपूर्व नाम-रूप का उदय नहीं होता, केवल स्वरूपका होती है, अतएव इस सच्चास के अनुग्रह को हम सम्मृति न कहकर 'विमृति' ही करेंगे। कुछ मिट्टी का हिस्सा शरीररूप में परिणत हो गया है। हमारा शरीर पार्थिव है। पृथिवी की सच्चा ही ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध से अपूर्व नाम-रूपोदय की जगती बनती हुई हमारी (शरीर की) सम्मृति का कारण बनी है। उदय एक निम्न बिन्दु है। इस एकमात्रात्मिक उदयबिन्दु के साथ पार्थिव सच्चा का बस ग्रन्थिबन्धन हो जाता है, तभी अपूर्वभाव का उदय होता है। इसी अभिप्राय से इस अपूर्ववस्था को 'सम्मृति' कहा है। 'समित्येकीभावे' इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार 'सम्' एकीभाव का सूचक है, 'मृति' सत्ताभाव का चेतक है। ऐसी मृति (सच्चा), जो ग्रन्थिबन्धन द्वारा बलसमर्थ के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाए, वही 'सम्मृति' है। मृति का एकीभाव से प्रयुक्त हो जाना ही बल का विनाश है। बल मष्ट नहीं होता, ग्रन्थि बन्धन से बस की उत्पत्ति भ्रम ही जाती है, एवं ग्रन्थिविभोक्तवस्था ही बल का विनाश भ्रम

सिद्धि जाता है। जो ब्रह्मसभात प्रत्यिवर्धन से युक्त सत्तात्त्व से अपूर्ण नाम-रूप धारण करता हुआ प्रकट हुआ था, यही प्रत्यिवर्धन के टूट जाने से आज उसी सत्ता के गर्भ में स्थिति हो रहा है। सत्तात्त्व को अपने केंद्र में रख लेना दूसरे शब्दों में सत्ता को अपने चर में रख लेना ब्रह्म की सम्भूति है, एक ब्रह्म का सत्ता के गर्भ में जन्म लेना ब्रह्म का विनाश माना जाता है। सत्ता नीचे है, ब्रह्म ऊपर है, ब्रह्म का 'उत्-अयन' (सत्ता के ऊपर गमन) है, यही उदयावस्था है, यही सम्भूति है। उत् अयन हो गया, ब्रह्म सत्ता के चर में लीन हो गया, यही विनाशावस्था है। इसी रहस्य को समझने के लिए उत्पत्तिवशा सम्भूति के लिए जहाँ अपिचो ने 'सृष्टि' शब्द प्रयुक्त किया है, वहाँ विनाश के लिए 'प्रलय' शब्द प्रयुक्त किया है। कर्त्तों का लयमात्र ही इन का विनाश है, उदयमात्र ही इनकी उत्पत्ति है। सम्भूति में ब्रह्मप्रधान है, विनाश में रसप्रधान है। दूसरे शब्दों में सम्भूति में सत्ता ब्रह्म की अनुगमिनी बन रही है। विनाश में ब्रह्म सत्ता का अनुगमनी बन रहा है। ब्रह्म सम्भूति है, ब्रह्मविमोक्ष विनाश है। एक ही तत्त्व की अवस्था विशेष सम्भूति है, अवस्थाविशेष विनाश है, परमार्थतः न सम्भूति है न विनाश है—'न जायते म्रियते वा कदाचित्'।

सम्भूति एक विनाश का संक्षिप्त स्वरूप बतलाया गया, अब उक्त प्रश्न का विवेचन किया जाता है। यह प्रकरण सम्भूति-विनाशात्मक चन्द्रमा का निरूपण करता है। सम्पूर्ण विश्व चन्द्रमा से ही उत्पन्न होता है, एक चन्द्रमा ही विश्वविनाश का कारण है। इस पर पूर्वार्ध का हुआ था कि विश्वर्षों के अन्त में पृथिवी से उत्पन्न होने वाला चन्द्रमा सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति एक विनाश का कारण कैसे माना जा सकता है। इस प्रश्न के समाधान के लिए यही दर के लिए हमें यथोक्त की शरणा में जानना होगा। पूर्व के सिद्धान्ताभिप्रेत में यज्ञावकन का स्वरूप बतलाते हुए यज्ञोदाय का स्वरूप बतलाया गया है—(देखिए ई. वि. २ ख. २. २१-२२)। अग्नि में सोम की व्यावृत्ति होने से अग्निसोम के सम्मेलन से जो एक अपूर्वमात्र उत्पन्न होता है, उसी का नाम यज्ञ है। इसी यज्ञ से विश्व में रहने वाली सत्ता

सत्यत्व होती है। फिर हम सत्कारिण से पुनः वस्तुत्वों की सम्मूर्ति का कारण बतसा रहे हैं।  
 दोनों विरुद्ध भाषों का समन्वय कीजिए। मनप्राणवाक्स्पर्शसंज्ञा सत्त्वा है, यह विद्वानरूप  
 निन्द एव आनन्द से अभिर्नामृत है। रसमूर्ति पञ्चकल, किन्तु प्रकृत सच्चिदानन्द प्रसन्न ही  
 अभ्यस्य है। अक्षर एवं आत्मक्षर नाम से प्रसिद्ध इस अभ्यस्य की दो अन्तरंग प्रकृति हैं।  
 यह उस पुरुष की समावभूता है, अतएव उस से अभिर्नामृत है। रसप्रधान, अतएव रसमूर्ति  
 अन्तरंगप्रकृतिविशिष्ट पुरुष ही 'पोद्गामीप्रापति' है। यद्यपि सम्मूर्ति का कारण सच्चिदा-  
 नन्द प्रसन्न ही है, तथापि सत्तामात्र की ही प्रधान भावना गयी है। आनन्द और विज्ञान (चित्)  
 भी सम्मूर्ति के कारण हैं, किन्तु गौरवार्थ से। आनन्द विज्ञान उस अभ्यस्य प्रसन्न की मुक्तिसाक्षी  
 भाग है। मन-प्राण-वाक्स्पर्श सत्तामात्र सृष्टिसाक्षी है। मुक्ति में यह गीत है, यह प्रधान  
 है। सृष्टि में यह प्रधान है, यह गीत है। इसी अभिप्राय से मन-प्राण-वाक् की समष्टिरूप  
 सत्कारिण के समन्वय-अवस्थापन को ही सम्मूर्ति एवं विनाश का कारण बतसाया गया है। मन  
 से कामना का उदय होता है, प्राणव्यापार उस का तप है, वाक्स्पर्शप्राप अग्र है। काम-तप-  
 धर्म ही सृष्टि के साधारण अनुबन्ध है—(ई० भा० २२०३१०५०)। यह सत्तापन प्रापति अक्षर-  
 मय है, अक्षर वेदमूर्ति है, वेद का यजुर्मग्न प्रसन्नान्ति है। ऐसी दशा में सत्तासरूप वेद-  
 मूर्ति पोद्गामी प्रापति को अक्षर ही 'अग्नि' (वेदमूर्ति) कहा जासकता है। पुरुष साक्षात्  
 'अग्नि' है—“पुरुषो वा अग्निः” (ऋत० १११।१।१११)। “अस वा अग्निः” (की० हा० ५)-  
 ‘आत्मा वा अग्निः’ (ऋत० ७।१।११२)।

इस पुरुषोक्ति में वस्तुप्रधाना पञ्चका मिश्रित प्रकृति की व्याप्ति होती है। यह व्याप्यमाना  
 प्रकृति ही 'सोम' है। 'सुतो भवति' 'यूय० ५५' 'अग्निपुतो भवति' इत्यादि निर्वचनों के  
 अनुसार अग्नि में व्याप्त होने वाला पदार्थ ही 'सोम' है। यह सोम अग्नि में व्याप्त होकर अग्नि  
 को प्रदीप्त करता हुआ, स्वयमपि परिमप्रसार करता हुआ प्रदीप्त हो जाता है, अतएव सोम को  
 'चन्द्रेमा' शब्द से व्यबहृत कर दिया जाता है। आप अन्तरिक्ष में अग्निप्रकाश को निन्द देखते  
 हैं उसी का नाम चन्द्रेमा पड़ी है। अपितु चन्द्रेमा सोमत्व है, चन्द्रेमा शब्द सोमत्व का।

यपक है, सोमत्व आहुतिद्वय का श्रावक है। इस सामान्य परिभाषा के अनुसार आहुत होने वाले जितने भी पदार्थ हैं, सब सोम हैं। एक भिन पदार्थों में इन सोमरूप पदार्थों की आहुति होती है, वे सब पदार्थ 'अन्नाद्' बनते हुए अग्नि हैं। पुरुषप्रजापति में रस की प्रधानता है, प्राण-आप-आग्नि पाँचों प्रकृतियों में रस की प्रधानता है। यह रस है, यह रस है। यह मोक्षा (अन्नाद्) बनता हुआ पूर्वकथनानुसार साक्षात् अग्नि है, यह योग्य (अन्न) बनता हुआ साक्षात् सोम है। इस की वसने आहुति होती है, रसवसात्मक अग्नीषोममूर्ति पुरुषप्रकृति का समन्वय होता है, इसी यह से विश्व सम्भूत हुआ है। सात भिन्न सोमरूप प्रकृति की पुरुष में आहुति होने से ही उत्पन्न हुआ है। अग्नि में पुरुष की प्रधानता रहती है, दूसरे शब्दों में रस की प्रधानता रहती है, अतएव पुरुष (मनुष्य) को आधेय कत साया जाता है। सोम में प्रकृति की, दूसरे शब्दों में वसन्तत्व की प्रधानता रहती है, अतएव भी को सौम्या कहा जाता है। पुरुष-प्रकृति, रस-अन्न, अग्नि-सोम सब अविच्छिन्न हैं। प्रकृति-पुरुष का समन्वय, रस-अन्न का समन्वय, अग्नि-सोम का समन्वय सब असमन्वय ही सम्भूति विनाश का कारण है। इसी रहस्य को समझे रखने हुए हम कह सकते हैं कि अन्नाद् (सोम-प्रकृति) ही सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति एवं विनाश का अविच्छिन्न है।

अपेक्ष्य सभी सोम हैं, सभी अग्नि हैं। हम यदि अन्य पदार्थों के प्रत्ययों को लेकर उन्हें अपने शरीर अग्नि में आहुत करते हुए उन आहुत पदार्थों की अपेक्षा अन्नाद् (अग्नि) हैं तो अन्य पदार्थों के लिए हम अन्न (सोम) भी हैं। हमारा रस स्व से खा है, सूय का रस हम ले रहे हैं। हम सूय से उत्पन्न हुए हैं। उस के पत्रों को जहाँ हम जा रहे हैं, वह हमारे भक्षणों का आदान करता हुआ आदित्य बन रहा है। इसी प्रकार प्रजा में भी एक प्रजा दूसरी प्रजा के प्रत्ययों का सेठी देती रहती है। सर्वत्र आदान विसर्गोत्पन्न अन्नान्नादमत्र व्याप्त है। सभी अन्न हैं, सभी सोम हैं। सभी अग्नि हैं, सभी अन्नाद् हैं—“अन्नाद् पशविरमवदन्नं सोमः। अन्नादस्य वा इदं सर्वमस्य च” (उप० ११।१।५।१२)। इसी व्यापक अन्न-अन्नादभाव का निकटवर्ती अर्थ धन्यभूति कहती है—

अहमस्मि प्रथमज्ञा भूतस्य पूर्वं देवैर्म्योऽध्वनस्य नाम ।

यो मा ददाति स इ देवमावदद्मन्नमन्नमदन्तमग्नि ॥

यह तो इह शास्त्रदृष्टि । जब प्रसन्नदृष्टि से सोम की सम्भूति विचार का विचार कीजिए । सम्भूति (सृष्टि) आत्मा-प्रकृति-विकृति इन तीन मार्गों में विभक्त है । आत्मसृष्टि-प्रकृतिसृष्टि-विकृतिसृष्टि मेद से स्रष्टृरूपा सृष्टि के तीन निर्वर्त हैं । इन तीनों ही सृष्टियों का अभिप्राय सोमत्व है । महदात्माविकरण में यह विचार से बतसाया जा चुका है कि सोमभूति महान् में ही पोखरी आत्मा गम धारण करता है-‘यय योनिर्महद्मन्न’ । आत्मविकासभूमि एकमात्र महत्सोम (पारमेष्ठ्य सोम) ही है । प्रकृति तब से विद्य का निमाण हुआ है, परन्तु अप्रत्यक्ष की आहुति से । अप्रत्यक्ष साक्षात् सोम है । इस प्रकार प्रकृति का प्रकृतितत्त्व रूप सृष्टिकर्तृत्व भी सोमसम्बन्ध पर ही निरर है । इसी सोमाहुति से सूर्य का विकास हुआ है, इसी सोम से परमेष्ठ्री का विकास हुआ है, यही सोम अम्यक्त पुण्यदीर्घ स्वयम्भू का जनक है । इसी सोमाहुति से भूपरिह निष्पन्न हुआ है । इसी सोम का प्रकृत केश चन्द्रमा है । इस प्रकार आगे जाकर चन्द्रमा नाम धारण करने वाला सोम ही सम्पूर्ण विद्य की सम्भूति का कारण बन जाता है । सोम की इसी सम्भूतिरूपका भूति का विकरण करती हुई भूति कहती है-

१- महत्तव सोमो महिषमकाराणां यद्गमोऽदृशीत देवान् ।

अद्भ्यान्ति पवमन्न भोजोऽन्नमत् धूर्येव्योतिरिन्दुः ॥ [अ. ६। १७। ११] ।

२- अद्भान्समुद्र प्रथमे विधर्मज्ञानयत् प्रजा भुवनस्य राजा ।

इषा पवित्र अपि सानो अग्न्ये सृष्टसोमो बाह्ये सुवान इन्दु ॥ [अ. १। १७। १०] ।

३- पवित्रेभिः पवमानो नृषत्वा राजा देवानामुत मर्त्यानाम् ।

दिना मुशन्पिपनी रयीणापूत भरत् सुमूर्तं चार्विन्दु ॥ [अ. १। १७। १४] ।

४- एष विश्वविद प्रवते अनीषी सोमो विश्वस्य भुवनेस्य रंजा ।

द्रष्टो ईरयन् विदयोऽप्यिन्दुर्वि पारमस्य समयाति याति ॥ (श्रु २।६७।३६) ।

५- या ते प्रामानि दिवि या पृथिव्या या पर्वतेष्वोषधीष्वप्यु ।

वभिर्नो विरवैः सुगना अरेन्वाजन्तसोम प्रति हव्या सुमाय (श्रु २।६१।४) ।

६- स्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वोषपो अमनयेस्व गाः ।

त्वमा तत्त्वोर्ध्वन्तरिक्षं त्व ज्योतिषा नि तपो बर्ष ॥ (श्रु २।६०।२३) ।

१- (महानात्मा का स्वरूप सम्पादन करने के कारण) - पविष- (महान् नाम से प्रसिद्ध) सोम में यह महत् कर्म (बड़ा भारी कर्म) किया है, जो कि पानी के गम बने हुए देव ताओं का (सौर देवताओं का) बरख कर दिया है । (आरोम्य परमेष्ठी मयख में प्रतिष्ठित अपूर्व की विरचावरावरण सोम की आहुति से है) ज्योतिर्मय सौर देवताओं का निवास इन्द्र है, इसी अग्निप्राय से "अपां यदगमोऽहसीत देवान्" यह कहा है । (द्विष माग को निवृत्त करने के कारण) पशुमान [नाम से प्रसिद्ध इसी पारमेष्ठ्य ब्रह्मण्य सति सोम] में इन्द्र (सौर अपूर्वप्राय) में ओम [ब्रह्मप्रद वीर्य] स्थापित किया है - [तमी तो "या य का य वसतुतिरिन्द्रकर्म्येव तत्" यह कहा जाता है] । इसी इन्द्र (सोम) ने सूर्य में ज्योति (प्रकाश) उत्पन्न की है । "स्व ज्योतिषा नि तपो बर्ष" इस श्रुतिवाक्य के अनुसार दास्य पारमेष्ठ्य सोम की दाहक सौर सावित्राग्नि में निरन्तर आहुति होती रहती है । इसी सोमाहुति से सौर मयख में प्रकाश हो रहा है । "आ कृष्येन रजसा वसपान" इस मनु श्रुति के अनुसार सूर्य, किंवा सौर अग्नि भी स-सरूप से बोर हुआ [काका] है, एव "प्रका कृष्यश्च सोऽवतु-चन्द्रमा वै प्रका-कृष्यः" इस यन्त्र-ब्राह्मण श्रुति के अनुसार चन्द्रमा (सोम) भी बोर कृष्य है । अ अग्नि में प्रकाश है, न सोम में प्रकाश है । प्रकाश उत्पन्न होता है दोनों के सम्मन्वय से । इस सम्मन्वय में योनि स्थानीय अग्नि स्वरूप पर प्रतिष्ठित रहता है । इस में रेतः

स्थानीय सोम की आहुति होती है। इसीलिए सोम को ही ओषि का प्रवर्तक माना जाता है। यही निष्पत्तिहोत्र है, यही जरायुर्पसम है—“धूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्”  
(शत २००।२००।२००।१००) ॥१॥

२- पानी की वर्षा करने के कारण समुद्र नाम से प्रसिद्ध यह सोम राजा इस विशाल अन्त-  
रिक्ष में (त्रैलोक्य में अपनी आहुति से) प्रजा उत्पन्न करता हुआ सब का अतिश्रम कर  
रहा है। तात्पर्य यही है कि सार्वभौम्य उपनिषद् की पञ्चारिणविद्या के अनुसार  
श्रद्धालु सोम ही क्रमशः श्रद्धा-सोम-हृष्टि (पानी)-अन्न-रेत रूप में परिवर्तित होता  
हुआ क्रमशः शु-पर्जन्य-पृथिवी-पुरुष-पोषित इन पाँचों अक्षियों में आहुत होता  
हुआ “इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति” इस सिद्धान्त के अनुसार  
प्रबोधपति का कारण बनता है। अग्निमुष्णस्य कर्षणीयस्य च प्रदीप्तस्य सोम विशेषरूप से  
प्रबुद्ध होता है ॥२॥

३- सूर्य की पवित्र शक्तियों से पवित्रतम बना हुआ, वेदता मनुष्यादि प्रजाओं का अधिपति,  
सम्युक्त सम्पत्तियों का अभिप्राता यह सोम महीमति समृद्धित होता हुआ कल्याणप्रद  
सम्पदाग को वारण करता है ॥३॥

४- सर्वज्ञ, मनीषी, त्रैलोक्य का राजा यह सोम सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। यही कामों में अपनी  
शक्ति प्रदान करता है। यही सब का वेद्यन करता हुआ, कर्म सञ्चालन करता हुआ ज्ञानी  
बसता है ॥४॥ (येय दोनों का अर्थ स्पष्ट है) ।



ई निरूपण से यह महीमति सिद्ध होना चाहिए कि वास्तव में सम्युक्त विषय की  
समृद्धि एवं विनाश का कारण एकमात्र सोम ही है। सोम की इस व्याप्ति के  
कारण में रहिए ए सुप्रसिद्ध सोम (अग्निहोत्र) पर दृष्टि डालिए । उपनिषद्  
भूति को सामान्यरूप से समृद्धि और विनाश का अर्थ बतलाना है, साथ  
ही में प्रधानतया का भी निरूपण करना है, इधर प्रधानतया का सम्बन्ध  
मल्ल एव चन्द्रपिण्ड के साथ ही है, अतएव किसी विशेषमात्र का उल्लेख न कर सा



माय्य रूप से "सम्पत्तिः च विनाश च" इत्यादि ब्रह्म दिया गया है । सोम सारे विश्व की सम्पत्ति एवं विनाश का कारण कैसे है ? इसका समाधान होगा । जब यही सोम हमारे आध्यात्मिक प्रपञ्च की सम्पत्ति एवं विनाश का कारण कैसे करता है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए आपको उस व्यापक सोम ही के प्रापञ्चभूत सृष्टि के अन्तिम पर्यन्त, सृष्टि के उपपन्नभूत सृष्टि-चन्द्रपिण्ड को ही समझ रखना पड़ेगा । इस चन्द्रपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाली सम्पत्ति सम्पत्ति एवं पुनःसम्पत्ति वेद से दो मार्गों में विभक्त है । हमारी प्राण-मिक सम्पत्ति का कारण आधिदैविक चन्द्रमा है, एवं उच्चोत्तर होने वाली अन्तर्गत रूपों सम्पत्ति का कारण आध्यात्मिक चन्द्रमा है । प्रकृत अधिकरण प्रमाणरूप से इसी आध्यात्मिक चन्द्रमा का निरूपण करता है । आधिदैविक चन्द्रमा हमारी प्राणमिक सम्पत्ति का कारण कैसे करता है ? पहिले इसी प्रश्न का विचार कीजिए ।

‘अग्नीषोमात्मक जगत्’ (आध्यात्मिक) इस सृष्टि के अनुसार सम्पूर्ण जगत् (रोदसी वैश्वोक्त्य) अग्नीषोमात्मक है । अग्निषोक्ती जगत् प्राणियों के सम्बन्ध से ‘जगत्’ नाम से प्रसिद्ध है । विश्व और जगत् शब्द परस्पर में पर्याय नहीं हैं । सबसे-ऊपर रोदसी इन तीनों क्षेत्रों की समाधि विश्व है, एवं एकमात्र रोदसी अग्नीषोक्ती जगत् है । यह जगत् सबकुछ अग्नीषोमात्मक है । अग्नीषोमात्मकपदार्थ अग्नि और सोम दोनों ही अनेक मार्गों में विभक्त हैं । परन्तु इसका ध्यान रखिए कि जगत् अग्नि का सामान्य अर्थ है, एवं स्नेहन सेन का सामान्य अर्थ है । एक की प्रतिष्ठा इच्छा है, एक की प्रतिष्ठा परिधि है । अग्निस्नेह केन्द्र में अन्तर्गत से प्रतिष्ठित होता हुआ अन्तर्गत से निरन्तर परिधि की ओर जाया करता है एवं सोमस्नेह परिधि से निरन्तर केन्द्र की ओर जाया करता है । अग्नि अपने स्नेहस्नेह से उच्चोत्तर विश्वमिति होता जाता है । इसी विश्वमिति से इस की अग्नि-यम-आदिरूप एवं तीव्र प्रमाण व्यक्त हो जाती हैं । अतः इसके विपरीत सोमस्नेह अपने स्नेहस्नेह से उच्चोत्तर सकुचित होता जाता है । इसी संकोच से वह भी आप-वायु-सोम एवं तीव्र व्यक्त हो जाती हैं । अग्निअग्नी अग्नि है । अग्नि पिण्ड से निकलकर निरन्तर ऊपर की ओर

आया करता है, विद्यकलन की पराकाष्ठा पर पहुँचने से इसकी विकास क्रिया बढ़ हो जाती है। विकास की अन्तिम अवस्था पर पहुँचते ही अग्नि की गति पलट जाती है। विरुद्धगतिमात्रात्मक अग्नि ॥ स्युरूप में परिणत होकर केन्द्र की ओर आने लगता है। केन्द्र की ओर आते आते जब स्युःप्रपी (आप-वायु-सोम) ठीक केन्द्रबिन्दु पर आ जाती है तो स्नेहसङ्का क्रिया अवबृद्ध हो जाती है, तत्काश तीनों में संचर्य हो जाता है। इस संचर्य से अग्नि का जन्म हो जाता है। दूसरे शब्दों में केन्द्र में आकर स्युः ही अग्नि रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार एक ही प्रजापतितत्त्व गति-आगति भेद से अग्नि (अग्निः), सोम (स्युः) यह दो रूप धारण कर लेता है। जो अग्नि है वही सोम है। जो सोम है, वही अग्नि है। अग्नि अग्नि है, सोम पानी है। अग्नि पराकाष्ठा पर पहुँचकर पानी बन जाता है, पानी उद्गमन की धरमावस्था पहुँचकर अग्नि बन जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् में तेज-स्नेहसङ्का अग्नि-सोम का साक्षात्कार है। इनमें तेजोरूप अस्तित्व के अग्नि, यम, आदित्य, सार्वभौम, देव, ऋतु, सत्य, वैश्वानर, आहुत, महत्, उद्भूत, धिष्यन् आदि अनेकान्तर अनेक भेद हैं। सोम के भी अनेकान्तर अनेक भेद हैं। उन सब अनेकान्तर सोमों का १० जातियों में अन्तर्भाव माना जा सकता है। अग्नि-सोम के इसी वैजात्य से जगत् में वैजात्य उपलब्ध होता है। सोम की वे १० जाति निम्नलिखित नामों से प्रसिद्ध हैं।

- १-धरमा—( १-धुवः, २-धर्मः, ३-पदः, ४-धर्मः )
- २-धसुर—( १-हवः, २-नमुषिः, ३-वसु, ४-अम्भः )
- ३-धसु—( १-राजा, २-वामः, ३-ग्रहः, ४-इति )
- ४-आपः—( धृग्व-अगरिस्तः )।
- ५-सरः—( अग्निमवः )।
- ६-धोपपीः—( अग्निगर्भितः )।
- ७-धसु—( अग्निः )
- ८-वसिष्ठः—( अग्निगर्भितः )।
- ९-दिहू—( सवर्णापः )।
- १०-आमा—( महान् )।

अग्नि में सोम की आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है । इस आहुतिकर्म का ही नाम पञ्च है । अतएव हम कह सकते हैं कि पुरुष की सम्पत्ति का कारण पञ्च ही है । 'पाञ्चो न पञ्च' के अनुसार यह पुरुषस्वरूप समग्रक पञ्च पञ्चात्मक है । पुरुषस्व से सम्बन्ध रखने वाले अग्नि के भी पांच ही पर्व हैं, एवं सोम के भी पांच ही पर्व हैं । दोनों की समष्टि दशहर विराट् पञ्च है । उस महाविराट् से इस लुप्तविराट् का जन्म होता है—“अद्वेन नारी तस्मां स विराट्पञ्चमत् प्रभुः” । अग्नि पुरुष है सोम स्त्री है । दोनों पतिपत्नियों के मियुन से उस महाविराट् की सम्पत्ति हुई है, एवं उसी से लुप्तविराट् सम्भूत हुआ है । पुरुषरूप अग्नि के पाँचों पर्व कर्मण्य धु, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष, योषित्व इन नामों से प्रसिद्ध हैं । एवं सोम-तत्त्व के पाँचों पर्व कर्मण्य श्रद्धा, सोम वषा, घषा, रेत इन नामों से प्रसिद्ध हैं । दिव्यलोक का अग्नि पश्चिमा अग्नि है, आन्तरिक्य अग्नि वृष्य अग्नि है, पार्थिव अग्नि तीक्ष्ण अग्नि है पुरुषाग्नि बीजा अग्नि है योषित्वि पाँचवां अग्नि है । पार्थिव अग्नि घनाग्नि है, आन्तरिक्य अग्नि तरन्वाग्नि है यही वायु है । 'वायु र्ब हृत्पा इगे' इस इष्टिचिन्तासूत्र के अनुसार पर्जन्य नाम से प्रसिद्ध आन्तरिक्य तरन्वावायु ही इष्टि का अविष्टाया है । दिव्य अग्नि विरसावस्था-पन्न है, यही आदिष्वाग्नि है । अक्षिरात्रयी ही अग्नि-वायु-आदित्य है । यही पृथिवी-पर्जन्य-धु हैं । पुरुषाग्नि में इन तीनों अग्नियों का समुच्चय है । अक्षिमय के सयोग से नव्य तापत्रया अग्नि उत्पन्न होना है, यही ईशानर नाम से प्रसिद्ध है । पुरुष साक्षात् ईशानर अग्नि की प्रतिष्ठा है । पञ्च चारों अग्नि (धु-पर्जन्य-पृथिवी-पुरुषरूप आदित्य-यम-अक्षिमय-ईशानर) स अग्नि हैं । पाँचवां योषित्व अग्नि श्रुतस्वरूप है । श्रुत का लक्षण इसी श्रुतपति से स्वरक्त होता है । इसी श्रुताग्नि से ही का आत्मा बनता है । ही श्रुताग्निमयी है । सभी समयों में इससे श्रुताग्नि का आभिमान नहीं होता, अपि तु श्रुतकाल में ही श्रुताग्नि का निष्कास होता है । श्रुतपती ही के श्रुताग्नि में जब योगाहुति होती है तभी प्रयोगपति होती है ।

१-सु—	दिव्यविरसाभिः—	→आदित्यः	}—अक्रिराभयी	}—सत्पाभि
२-पर्जन्य—	मान्तरिक्षयतरसाभि—	→वायु		
३-पृथिवी—	पार्थिवपनाभिः—	→अग्निः		
४-पुरुषः—	अग्निप्रयसयोगमन्मा—	→वैश्वानर	}	]—अमृताभि
५-योपितृ—	अमृतकाले व्याप्तो अमृतमि—	अमृताभिः		



इसी प्रकार अमृतत्व सोम की विरभावस्था है, सोम तरसावस्था है, वर्षा (पानी) घना वस्था है। तीनों की समष्टि 'अमृत' है। इन तीनों के समन्वय से ब्रह्म का विकास होता है, अन्न ही आगे जाकर रेतोरूप में परिणत होता है। उक्त पाँचों अग्निषों में क्रमशः इन पाँचों सेतों की आहुति होती है। पाँचवीं आहुति में पुरुष उत्पन्न होता है। प्राणदेवता पद्म के सवासक हैं, आहुति देने वाले हैं। दिव्याग्नि में अन्न सोम की आहुति होती है। चान्द्ररस का नाम ही अन्न है। यह रस आपोमय है, चन्द्रमा स्वयं पानीपिण्ड है, अन्न का पिण्ड है। प्रत्येक पानी में यह चान्द्ररस प्रतिष्ठित रहता है, इसी रसमाग के लिए 'यो यः शिष्यतमो रस' यह कहा जाता है। अर्थात् इसी आधार पर—'आपो वै श्रद्धां सनमन्ते' "श्रद्धा वा मेध्या-वा आपः" इत्यादि श्रुतिवचन प्रसिद्ध हैं। यही चान्द्रमन्त्ररस दिव्याग्नि में आहुत होकर सोमरूप में परिणत हो जाता है। श्रद्धा पश्चिमी अवस्था है, सोम दूसरी अवस्था है। इस सोम की पञ्चम्याग्नि में आहुति होती है। इस आहुति से वृष्टिरूप 'स्वल्प पानी' उत्पन्न होता है। यह स्वल्पपानी उस अन्न नाम के सूक्ष्मगन्धी की तीसरी अवस्था है। इस वन्य की तीसरे पार्थिव्याग्नि में आहुति होती है। इस आहुति से 'अन्न' उत्पन्न होता है। यह चौथी अवस्था है। आप्याभिराणदेवताओं द्वारा (इन्द्रियों द्वारा) इस अन्न की पुरुषाग्नि (वैश्वानराग्नि) में आहुति होती है। शरीराग्नि में आहुत अन्नसोम रस-अन्न के क्रमिक विशकलन से क्रमशः रस-अमृतक-मांस-मेद-मस्तिष्क-मज्जा रूप में परिणत होता हुआ सर्वगत में रतोरूप में परिणत हो जाता है। यह रेत अमृतार्थि उस अन्नसोम की पाँचवीं अवस्था है। अमृतत्व में एतरी के अन्नाग्नि में (अमृतत्व में) रस रेत सोम

की आहुति होती है। इसी से पुरुषोत्तमि होती है। इस प्रकार वह अष्टाक्षर अर्थात् सोम-अपा-अन्न-रेसोरूप में परिणत होता हुआ पाँचवीं आहुति में पुरुषरूप में परिणत हो जाता है, जिससे निम्न स्थिति उपनिबृंहण से स्पष्ट है—

“इति तु पञ्चम्यामाहुतानां पुरुषवत्सो भवन्ति”

( ऋ० उ० ५।११ )।

उक्त पञ्चाहस्य से यह सिद्ध हो जाता है कि वह अष्टाक्षर आग्नेसोम ही परम्परा पुरुष की प्रथमसंभूति का कारण बनता है। पुरुष वस्तुमान का उपबन्ध है। ऐंसी त्रैलोक्य में जिनमें भी पदार्थ हैं, सब की संभूति का कारण अन्न ही है। त्रैलोक्यम्प्रापक सब साक्षि देवसप्त ( साक्षिसुपण ) की वक्षस्मात्मक अन्नमा से ही संभूत है। इतर सारे ब्रह्म चेतन पदार्थ भी इसी से उत्पन्न हुए हैं। सृष्ट करण प्रजापति है, अन्नमा दत्तवन्नाति है, अन्न मा जिस एक पर पृथिवी की परिक्रमा करता है वह एक दक्षद्वय नाम से प्रसिद्ध है। यह दक्ष आग्नेसोम से भ्वात रहता है। दक्षद्वयावस्थित इस आग्ने सोम के सृष्टसम्बन्ध से १२ निमग्न हो जाते हैं। १२ मास ही १२ निमग्न हैं। आग्नेसोमवस्थित १० रुद्रिरूप स्मरण का एक एक प्रवेश एक एक मास है। एक सप्तरश्मि से ऐसे १२ मास हैं। इन १२ दाक्षायिणियों के साथ सौर-करणप्रजापति का योग होता है। जिसके साथ योग होने से ईश, अदिति से आदित्य, कद्रू से सूर्य, विनता से गरुड, आदि प्रजाए उत्पन्न होती हैं। उससे की सारी प्रजाए करण प्रजापति द्वारा इन्हीं १२ दाक्षायिणियों से उत्पन्न हुई हैं। यम-अरिष्टमेभि-गिरि-कृशान्ता-सर्प-अम्बुमा-करण आदि यैद से वह सोम-पञ्चाक्ष ६० मार्गों में निमग्न हो जाता है। दक्षप्रजापति की इन ६० कर्मियों से ही सृष्टि का संचालन होता है। इन्हीं सब कारणों से हम सोममग्न अन्नमा को अक्षर ही ‘संभूति’ का कारण मानने के लिए तत्पार हैं।

प्रत्येक वस्तु अपने अपने नियत समय पर उत्पन्न होती है। यह नियत समय ही बोधमाया

ये 'मोसम' नाम से प्रसिद्ध हैं। मोसम ऋतु है। ऋतुकाल में ही वस्तु की उत्पत्ति होती है। ऋतुसमयि संवत्सर है। इस संवत्सर का स्वरूप ऋतुसोम की आकृति से ही समझ होता है। चान्द्रेते ही ऋतुकूप संवत्सर का अभिधत्ता है। संवत्सर के १२ विभाग चन्द्रमा के सम्बन्ध से ही 'मास' नाम से प्रसिद्ध हैं। चन्द्रमा मनुष्य सम्बन्ध से बदसता रहता है। इस परिणाम-भाष से ही चन्द्रमा 'मास' (मसि परिणामे) नाम से प्रसिद्ध है। मास का (चन्द्रमा) जो भोग काय है, वही (मास-भय-मास) के अनुसार 'मास' (महिमा) नाम से प्रसिद्ध है। इस दृष्टि से भी चन्द्रमा को ही सम्भूति का कारण मानना पड़ता है। इसी प्रकार विनाश का अभिधत्ता भी वही चन्द्रमा है। जैसी स्थिति अक्षरोहक्रम में है, वैसी ही स्थिति आरोहक्रम में है। अक्षरोह सम्भूति है, आरोह विनाश है। "तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहति सपरिप्लवक्तः प्रवर्तनिरूपणाभ्याम्" "अपारमकृत्वाणु मृपस्त्वात्" "मासगनेक्ष" (शा. सू. १. २. १६) इत्यादि सूत्रों से आरोह-अक्षरोह क्रम का ही निकपण किया गया है। जिस क्रम से प्रत्यक्ष स्वरूपका सम्भूति हुई थी, उसी क्रम से प्रत्यक्षमोक्षरूप विनाश होता है। दोनों का अभिधत्ता चन्द्रमा ही है। चन्द्रमा के द्वारा ऋतुकूप से होने वाली इसी सम्भूति एवं विनाश का स्वरूप बताते हुए महर्षि कौपीतिक कहते हैं—

'स होवाच—ये धे केषास्मान्तोक्ताव मयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति । तेषां प्राप्तिं पूषपक्ष आभ्यापते, तानपरपक्षे न प्रमनयति । + + + + । न यद मन्वाह तपठिष्ठजेते, अथ य एवं न मन्वाह, तमिह वृष्टिमुत्वा वपति । न इह कीगे वा, पतङ्गो वा, शकुनिषा, शार्दूलो वा, सिहो वा, मत्स्यो वा, परन्था वा, पुष्पो वा, अम्पो वा—एतेषु स्थानेषु मन्वाप्रातते यथा कर्म, यथा विषयम् । तमागते पृच्छति—कोऽसि ? इति । तं प्रतिवृत्तात्—विचक्षणात्त यो रेत आभूत, पश्यद्वात् ममूतात् पिम्यवत्स्त्वामा पुंसि कर्त्तव्येयवम् । पुमा कषा मानरि निविष स जाय उपमापमानो, द्वादशवयोदय उपमासो, द्वादशवयोदयेन पिषाऽऽसतद्विदे, प्रतिवदिदेऽहं, तन्म अतको अपत्यव आमर

एवम् । तेन सत्तेन तेन तपसा-श्रुतुरस्मि, आर्षोऽस्मि, कोऽस्मि स्वमस्मीहि,  
तमवि सृजने । + + + + । त वक्ष्या वृष्टति-कोऽसीति । तं प्रतिपूयाद्-श्रुतु  
रस्मि, आर्षोऽस्मि । आकाशाद्योनेः समूहो, मार्षार्थं रेतः संवत्सरस्य तेजो-  
भूतस्य भूतस्य भूतस्याऽऽत्मा स्वप्नत्मासि । यस्त्यपसि-सोऽमसि-इति” ।

( कौ० उ० १ अ० ६ ख० ) ।

चन्द्रमा ही विचक्षण है । यही पूर्वग्रहित क्रमानुसार श्रुतु द्वारा रेत कमकर सब की  
सम्पत्ति का कारण बनता हुआ सबरूप में परिणत होता है । इसी विज्ञान के आधार पर  
निम्न छिन्नि धौत्र बचन हमारे सामने आता है—

१-“ अहो र्धं सामो रात्रा विचक्षणचन्द्रमा ” (कौ० उ० ७।७।१।०) ।

२-“ वन्द्या र्धं जायते पुनः ” (तै० ब्रा० १।१।५।४) ।

३-“ एष र्धं (चन्द्रमा) रेतः ” (शत० ६।१।१८) ।

४-“ वन्द्या एव सर्वम् ” (गो० ब्रा० ५० ५।१।५) ।

जो चन्द्रमा सम्पत्ति का कारण है, पूर्वग्रहानुसार वही विभाग का भी अभिप्राय है ।  
सोम विद्यमान है । जब तक यह अग्नि में आहुत होता रहता है, तभी तक सम्पत्तिरूप शिवपाद  
है, तभी तक यज्ञ है । यद्य वायु के अन्तर्गत ही सोमसमान टूट जाती है, यज्ञ बंद होजाता है ।  
वसन्तिपदं टूट जाती है, रस से बस ( अग्निस्वप्नस्य की अनेका से ) वृषभ होकर अक्षररूप  
में परिणत हो जाता है । इसी का नाम विभाग है । जिस रूप से <sup>१</sup>/<sub>६</sub> में  
अग्निमन्तर है । यही कारण है कि सम्पत्ति <sup>१</sup>/<sub>६</sub>  
में जाता है, बाद रस पारसना हो अथवा  
आमगति के ठीक दो भाग विभक्त होना  
आमगति के ठीक दो भाग विभक्त होना  
आमगति के ठीक दो भाग विभक्त होना  
आमगति के ठीक दो भाग विभक्त होना

दक्षिणापन यह सब चान्द्रमास हैं। शरीरउत्थाति, अडा, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, संपत्तर यह सब सौरमास हैं। चन्द्रमा में जाने के लिए प्रेतात्मा को १३ मास (चान्द्रमास) लगते हैं। यह आत्मा विरक्त तत्तृतीय पर रहा है, अतएव इसका चान्द्र आत्मा (महानात्मा) पार्थिव आकषण से यद रहता है। शरीरत्यागानन्तर इधर से इसे पृथिवी खपती है, उधर से चन्द्रमा खिंचता है। द्रुमाय से यदि (पार्थिवसत्ति में अधिक आसक्ति रहने से) पार्थिव आकषण प्रबल होगा तो इसे ऊपर (चन्द्रसोम में) जाने में महा कष्ट होगा है। यही कष्टवत्ता 'सश्रुमुखविह' नाम से प्रसिद्ध है। इस समय पार्थिव आकषण को निर्वह बनाने के लिए चान्द्रवत्त बढ़ाना अन्यायपूर्ण है, इसका एक मात्र उपाय है—'वियहन्तानमन्नं शुद्धं श्राद्ध'। प्रेतपिता के श्रद्धामुख से युक्त पुत्र द्वारा प्रोक्त सोमस्य तदनुमतिः। इसे चान्द्रस से युक्त कर सरल बना देने हैं। वियहन्त से सबल वर्तना हुआ प्रतापना विना कष्ट के स्वर्ग में जाने में समय होना है। असु श्राद्धनिष्ठ अश्राद्ध है, यही यही कष्ट है कि जो चन्द्रमा कायात्क है, वही सहायक है।

प्रकरण के आरम्भ में यह बतलाया गया है कि हमारी प्रथम सम्भूति का कारण चन्द्रमा है, पर पुन सम्भूति का कारण चन्द्रमावशुभूत प्रकाश मन है। इन दोनों पक्षों में से प्रथम पक्ष का समर्थान हो गया अब अन्तर्गत पुन सम्भूति के अविष्टाता आध्यात्मिक चन्द्रमा का स्वभाव उल्लिखित किया जाता है। अध्यात्मसत्ता में दो प्रकार के चान्द्र सोम का भोग होता है। चान्द्रसोम ही पूज्यस्थित कामातुसार 'देव' बनता है। उस रत की आहुति से हम उत्पन्न होते हैं, यह वहिष्ठा भोग है। हम साय प्रातः प्रतिदिन जो अन्न खाते हैं, उस में पार्थिव-मातरिहृष-दिह्य तीनों शक्ति के रस प्रतिष्ठित हैं। पार्थिव पनरस से अन्न का पन भग (रसा) बनता है, आतरिहृष तरसरा से अन्न में रहने वाले घृतमास (विजमार्दि-मेहन) का उत्पन्न होता है। यही स्वरस से घृत (मातृ) का गीन से एक प्रकार का सुख्य बनता है। अन्य विस्तार के आरम्भ में अन्न में विद्यमान उत्पन्न होता है। यह

१. इन सब विषयों का विस्तार मिलेन 'आध्यात्मिक' में देखा जाये।



मधुमाग सूर्य का रस है। चौथा रस आम्बसोम है। इसका दिव्यरस में ही अन्तर्भाव है। मधु और रेत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अन्न में जो एक स्वादविशेष (आपका) होता है, वह यही सोमरस है। विज्ञानभाषा में यही दिव्यरस अमृत नाम से प्रसिद्ध है। कहीं कहीं इसे चौथे लोक का रस भी माना जाता है। पृथिवी-अन्तरिक्ष-धी-दिक्-यह चार देवता अभिष्ठाता हैं। अन्न में अग्नि से दधि (घन) रस आता है। वायु से घृत (तरल) रस आता है। आदित्य से मधु (विरल) रस आता है। एव अम्बमा से अमृतरस आता है। मुक्त अन्न में जो पार्थिव दधिमाग (घनभाग) है, वह रस अष्टक मांस मेद, अद्विज, मज्जा, शुक्र इम सात भागों में विभक्त है। शुक्र पक्वत पार्थिवरस है। पार्थिव भाग के हट जाने से केवल आन्तरिक्ष वायु, एव दिव्य सौर आन्तररस रह जाते हैं। इन रसों की समष्टि ही 'ओम' है। ओम वायुप्रधान वायव्य प्रातु है। आगे जाकर आन्तरिक्ष रस भी हट जाता है। इसी मधुमय विद्युद सोमरस का नाम 'मन' है। इस प्रकार लोकसों के कारण से एक ही अष्टकवरस शुक्र-ओम-मन इन तीन रूपों में परिवर्तित हो जाता है। पार्थिव सप्तधातुरूप शुक्र बाहुवत्त्व है, आन्तरिक्ष वायुमय ओम बाहुवत्त्व है, दिव्य आदित्यमय आन्तररस मनस्वत्त्व है। मन-वास-वाक् की समष्टि ही 'इम' (आत्मा) है।

- १-पार्थिवमनरस — पृथिवी — अग्नि — इधि ] सप्तधातवः शुक्रम वाक्  
 २-आन्तरिक्षमनरस (अन्तरिक्ष-वायुः — धृगम् ] ओमः — प्राणः  
 ३-दिव्यदिव्यसमः — धीः — आदित्याः मधु  
 ४-दिव्यामृतरसः — दिक् — अम्बमाः — अमृतम् } मनः — मनः

आत्मा

शुक्र भी आम्ब है, मन भी आम्ब है। शुक्रावृष्टि से इम उत्पन्न होते हैं। इस शुक्र में समस्तौष आकर्षण सिद्धान्त के अनुसार आम्बररस आया करता है, साथ ही में अन्तर्भाव भी

चान्द्रस आया करता है। जो चान्द्रस सतन्त्ररूप से शुक्र में आता है वह—‘सहांसि’ नाम से प्रसिद्ध है। मन्त्र सम्बन्ध से शुक्रप्रतिष्ठ चान्द्र सशोभा २८ भागों में विभक्त होजाते हैं। यही आध्यात्मिक सतामप्रवर्धक पित्र हैं। इन का मन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। एवं असद्वारा जो चान्द्रस हमारे में आता है, यही पूर्वोक्त मिश्रकसन प्रक्रिया के अनुसार ‘मन’ बनता है—‘अथमये हि सौम्य मनः’। ‘पोदशकनो वै चन्द्रमाः’ ( पर्विश भा० ४।६।) के अनुसार चन्द्रमा पोदशकन है। एक एक चाग्र सक्सर में एक एक मन कला का विकसल होता है। इस क्रम से मन की सर्वात्मकता में आयु के १६ वष लग जाते हैं। मन सिता १६ वें वष में सपन्न होती है। यही चान्द्रसोम का दूसरा भोग है। हमारा मन साक्षात् आध्यात्मिक चन्द्रमा है, यह अन्न द्वारा सपन्न हुआ है, अन्नद्वारा ही अध्यात्मसंस्था में स्वर्ण-रूप से प्रतिष्ठित रहता है। मन का उपादान चन्द्रमा है, हमारा मन चन्द्रमा में प्रतिष्ठित है, इसी अभिप्राय से धृति कहती है—

१—“तद्यत्तन्मनश्चन्द्रमाः सः” (जे० उ० १।७८८६)।

२—“मनश्चन्द्रमाः” (जे० उ० १।२।६)।

३—“चन्द्रमा मे मनसि श्रितः” (ते० भा० ३।१०।८६)।

४—“यत्तन्मन एव स चन्द्रमाः” (यत० १०।१।१।७)।

चन्द्रमा से (अन्नद्वारा) उत्पन्न मन में स्नेहत्वप्रधान वही अक्षरसं प्रतिष्ठित है। इसी वशात्कन स्नेह के कारण हमारा मन विषयों में आसक्त होना हुआ उनके साथ बद्ध होजाता है, वसा कि पूर्व के निदानाभाधिकरण में विस्तार से कतवाया जाचुका है। वही विषयसंस्कार पुन्व ‘वासना’ है। यही वासनापुन्व हमें आगे जन्म लेने के लिए बाध्य करता है। जब तक संस्काररूप परिध्याशुक्र मन पर प्रतिष्ठित रहता है, तब तक प्राणी अक्षर ही पुन-संस्कृति के चक्र में फसा रहता है। कावनामय परिध्यावच्छिन्न मन ही आगे के जन्मों के लिए शुक्र (उपादानकारण) बनता है, अतएव पूर्व के महात्माधिकरण में काय-परिध्या को शुक्र कतवाया गया है। प्रणिमिमोक विनाश है, प्रत्यक्षचक्र संस्कृति है। आत्मा के प्रणिर्दशन

कत्र कारण (वासनामय) मन ही है, एवं बंधनमुक्ति का कारण भी (वासनाशून्य) मन ही है । पुनः सम्भूति एवं विनाश दोनों का कारण यही मन है । जैसा कि अभिवृक्त कहते हैं—

न ददो न च जीवात्मा नन्वियासि परंतप ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयो ॥

शुद्ध हमारा वास्तविक रेत (उपादान) नहीं है, अपितु सम्भूति का प्रथम रेत ही कारण-मय हमारा मन ही है । यही पुनः सम्भूति का कारण है । इसी अभिप्राय से वरनिप-कृति कहती है—

“मनो मे, रेतो मे, प्रजा मे, पुनः सम्भूतिर्मे तन्मे त्वयि (चन्द्रमसि)” ।

(जै० उ० १२७।११) ।

हमारा चन्द्रमा आध्यात्मिकसत्त्वा की सम्भूति — विनाश का कारण है, ठीक वैसे ही विद्यारी ईश्वर का मन आधिभौतिक सत्त्वा की सम्भूति-विनाश का कारण है । पूर्व में चन्द्रमा शब्द को सोनवरक मगते हुए हमने सोमरूप का चन्द्रमा को सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति का कारण बताया था, आन हम प्रत्यक्ष यह इसी चन्द्रमा को सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति का कारण कह सकते हैं । हिरण्यगर्भ विश्व के अनुसार विश्वव्याप्त सूर्य ही विश्व का प्रथम-प्रतिष्ठ-परमेश्वर है । सूर्य से ऊपर के जगत्-पञ्चेष्टी दोनों अमृतलोक सूर्य के अमृतमाग से प्रतिष्ठित हैं, एवं सूर्य से नीचे के जगत्-पञ्चेष्टी दोनों अमृतलोक सूर्य के अमृतमाग से प्रतिष्ठित हैं, एवं सूर्य से नीचे के जगत्-पञ्चेष्टी दोनों अमृतलोक सूर्य के अमृतमाग से प्रतिष्ठित हैं । इस प्रकार सूर्य ही व्यक्तविश्व का मूलकम्प (सत्त्व) बन रहा है । इस सूर्य को जीवित रखने वाला है, यही प्रत्यक्ष यह चन्द्रमा । सूर्य सार्वभौमों से पार्थिव रसों का गिरल्लर आदान करता रहता है । इसी आदान से सूर्यप्रजापति का निरस्त माग पूरा होता रहता है । इस कमी को पूरा करना चान्द्रनाडी पर निर्भर है । अतएव से सूर्य का चान्द्रनाडी ही पार्थिव रस सूर्य में आश्रित होते रहते हैं । जब तक चन्द्रमा है, तब तक चान्द्रनाडी है जब तक चान्द्रनाडी है तभी तक सौरयज्ञस्थिति है, जब तक यह है तभी तक सूर्य जीवित है, जब तक सूर्य

जीवित है, तभी तक अमृतमृत्युमय निच की सम्भूति है । इस प्रकार परम्परया इस सम्भूति का येय एकमात्र चन्द्रमा को ही है ।

अप्यात्मप्रगट को देखिए ! हम उत्पन्न हुए हैं, चन्द्रमा से । हमारी पुन सम्भूति होती है चन्द्रमा (मन) से । एव अपनी आधु के मोगकाश में हम जो कुछ सम्भूति (बैमन) प्राप्त करते हैं, वह भी इसी चन्द्रमा (मन) से । यदि मन नहीं हो तो हमारे विज्ञान(बुद्धि), महान्, अरूप कादि कुछ नहीं कर सकते । मन पर ही विज्ञान प्रतिष्ठित है । मन धीघ पात्र है । इसी पर विज्ञानसूर्य प्रतिबिम्बित होता है । विज्ञानात्माधिकरण में बतसाई गई प्रक्रिया के अनुसार विज्ञानसूर्य के दर्शपूर्णपास से ही महान् में त्रैगुण्यभाव का उदय होता है । त्रैगुण्य महान् ही विद्यामा की योनि है । यदि मन नहीं तो विज्ञान नहीं, विज्ञान नहीं तो त्रिगुणभावापन महान् नहीं, महान् नहीं तो विद्यामास नहीं, विद्यामास नहीं तो कुछ नहीं । यह तो हुई मन से उचर (आम्यन्तर) की स्मिति, अब चलिए इधर की ओर । 'स च देवो धुनक्ति' (केनोपनिषद्) के अनुसार सारी इन्द्रिये मन से युक्त होकर ही तत्पद्विषयमोग में समप होती हैं । विषयज्ञान में प्रज्ञामात्रा-प्राणमात्रा-भूतमात्रा यह त्रिपुटी रहती है । मन में सोम-चित्-मास यह तीन कक्षाएँ हैं । इन में चिदश से प्रज्ञामात्रा पर, सोमांश से भूतमात्रा पर, एव मास्यांश से प्राणमात्रा पर मन का अनुप्रव होता है । 'न हि प्रज्ञापेनाकाचन धी सिच्येत्, नाम्नासासिपम्, अन्यथ मे मनोऽमुत्' (कौ० व० ३ अ० ८ ख०) के अनुसार बिना मन के इन्द्रिय विषयमोग में एकान्तत असमर्थ हैं । बिना विषयमन के शरीर नहीं, शरीर नहीं तो कुछ नहीं ।

इस चान्द्रमन को 'प्रज्ञान' नाम से व्यवहृत किया जाता है । हमारी अप्यात्मसत्या में तीन प्रकारका मनोराग्य है । पञ्चकश अध्यय बासा मन सर्वात्मन है । यह जड़-चेतन सब में समानरूप से विद्यमान है । इसी चिन्मन की अपेक्षा से भारतीय आर्यसाहित्य का सर्वम्या पक चैतन्यवाद प्रतिष्ठित है । इस अध्यय मन को 'श्रोवसीयसमन' 'श्रोवस्यसमन' आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है । दूसरा है चान्द्रमन । 'नियतविषयत्वमिन्द्रियत्वम्' इन्द्रिय

का यह लक्षण है। सभी इन्द्रिय अपने-अपने रूप-रस-गंधादि निरूपितियों को ही मोहने में समर्थ हैं। यही इन्द्रियों का इन्द्रियत्व है। मोह ज्ञानसाधक है। अतएव ही सब इन्द्रियों के मूल में एक ऐसा ज्ञानकण्ड मगना पड़ता है कि जिसकी ज्ञान शक्तियों को लेकर इन्द्रिय स्वस्वविषयमोह में समर्थ बनती हैं। उसी ज्ञानकण्ड का नाम महान मन है। यह सब इन्द्रियों का प्रभु है। बिना इस का सहाय लिए कोई भी इन्द्रिय अपना काम नहीं कर सकती। यदि यह सब इन्द्रियों में अनुत्पन्न रहता है, अतएव हम इसे 'सर्वेन्द्रियमन' नाम से व्यवहार कर सकते हैं। इस का विषय निरूप नहीं है, यह सब में है, अतएव निरूपितविषय लक्षण ही इस मन्त्रदा से प्रकट रहता हुआ यही 'अनिन्द्रियमन' नाम से भी प्रसिद्ध है। इसका सोन भाग विशय से युक्त रहता है अतएव इसे 'महानमन' कहना भी ग्राह्य होता है। एक, तीसरा मन और है। उसका काम है-आन्धे भूरे का अनुभव करना। अनुकूल वेदना, मति, कुल वेदना इस का निरूपित विषय है, अतएव यह तीसरा मन इन्द्रियकण्ड में प्रसिद्ध होता हुआ 'इन्द्रियमन' नाम से प्रसिद्ध है। इसी के लिए 'मना पष्ठानीन्द्रियाणि' (अपर्व) यह कहा जाता है। अतः इन सब विषयों का विशय निरूपण प्रधान निरूपणान्तिका भागे की केनोपनिषत् में होमें लाना है। अतः इस विषय को कवि विस्तृत न कर केवल यही कहना चाहते हैं कि प्राणोन्म-प्रणा-सोम की समष्टिरूप यह सर्वेन्द्रिय, अतएव अनिन्द्रिय, प्रधानप्रण नाम से प्रसिद्ध अमनत्रय मन ही अक्षय-महत्-विज्ञान-शरीर-इन्द्रिय-शरीरद्वयता-मूल-शरीरसौक आदि सब की सम्भूति का कारण है। प्रधानप्रण की इसी सर्वथा का निरूपण करते हुए महर्षि ऐतरेय कहते हैं—

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे, कतरं स आत्मा । इति । येन वा पश्यति, येन वा शृणोति, येन वा गन्धानामिवाति, येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु वा स्वादु च विमानाति, यज्ञैतत्-हृदय, मनश्च (इन्द्रियमनश्च), एतत् स ज्ञानसाहजान विज्ञानं महान, येषा इष्टि र्भूति, मति, र्मनीषा, श्रुतिः, सकल्पः, क्रयः, रसः, कापो, वय इति । सर्वाण्येवैतानि महानस्य नायकेयानि महन्ति ।

एष ब्रह्म, एष इन्द्र, एष प्रमापति, रेते सर्वे देवा, इमानि च पञ्चमहामृतानि  
शुक्ली-वायु-राकाश-आपो-इत्योतीपीत्यतानि, इमानि च सुमित्राखीर भी  
जानीतराणि, चेतराणि चायदजानि च, जाहजानि च श्वेदजानि च, चद्रमि  
जानि च, अम्बा, गावः, पुरुषा, इस्तिनो, यवकिंवेष्ट माणि मङ्गमच पतभि च,  
यश्च स्यादरं, तव प्रज्ञानेन, प्रज्ञाने मनिष्ठितम् । प्रज्ञानेशो लोकः । प्रज्ञा  
प्रदिष्टा । स एतेन प्राज्ञेनात्मनाऽऽस्मात्सोकादुत्क्रम्य अमुष्मिन्स्वर्गे लोके  
सर्वान् क्षयानाप्त्वाऽमृतं समभवत्, समभवत् ॥

( ऐतरेय ब्राह्मणम् २ । ६ । १ ) ।

संमूर्ति-एव विनाश का क्या स्वरूप है ! अधिदैवत, एव अप्यत्र में ब्रह्मा और नव  
ही संमूर्ति-विनाश के अविद्याता कैसे हैं ! इत्यादि बहिरंग प्रश्नों का समाधान होचुका । अब  
मूलग्रन्थ की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

उपनिषद् में प्रकृत अधिकारण के तीन मन्त्रों का 'अथ तमः प्रविशन्ति' 'अन्यदेवाहुः  
सम्भवात्' 'संमूर्ति च विनाश च' यह क्रम उपसम्पन्न होता है, परन्तु विज्ञानदृष्टि से पूर्व के  
विज्ञानात्म्यधिकारण की तरह यहाँ भी 'अन्यदेवाहुः सम्भवात्' 'अथ तमः प्रविशन्ति'  
'संमूर्ति च विनाश च' यही क्रम समझना चाहिए । 'अन्यदेवाहुः' यह प्रथम मन्त्र ब्रह्मा-  
नात्मा का स्वरूप बतलाना है, 'अथ तमः प्रविशन्ति' यह मन्त्र प्रतिपादित आत्मस्वरूप से  
विरुद्ध जाले बाँसों की अभोग्यता बतलाता है, एव 'संमूर्ति च विनाश च' इत्यादि मन्त्र प्रति-  
पादित आत्मस्वरूप का स्पष्टीकरण करता है । इस क्रम को प्रथम ग्यन्ते हुए, संमूर्ति-विना-  
शामक ब्रह्मानात्म्य का निरूपण करते हुए निम्नलिखित प्रथम मन्त्र हमारे सामने आता है—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदेवाहुःसम्भवात् ।

इति श्रुत्युप धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१॥

( ई उ० ( १ म० ) ।

यह सब सत्य है। सभी इन्द्रिय जगत् जगत् रूप-रस-गंधादि निष्कलितियों को ही मोहने में समर्थ हैं। यही इन्द्रियों का इन्द्रियत्व है। भोग ज्ञानसाधक है। जगत् ही सब इन्द्रियों के मूल में एक ऐसा ज्ञानमय मानना पड़ता है कि जिसकी ज्ञान शक्तियों को छकर इन्द्रिय ज्ञानविषयभोग में समर्थ बनती हैं। उसी ज्ञानमय का नाम प्रधान मन है। यह सब इन्द्रियों का प्रभु है। बिना इस का सहारा लिए कोई भी इन्द्रिय जगत् का काम नहीं कर सकती। बूझिए यह सब इन्द्रियों में अनुस्यूत रहता है, अतएव हम इसे 'सर्वेन्द्रियमन' नाम से व्यवहार कर सकते हैं। इस का विषय निष्कलित नहीं है, यह सब में है, अतएव निष्कलित सब इन्द्रिय मयज्ञ से पृथक् रहता हुआ यही 'अनिन्द्रियमन' नाम से भी प्रसिद्ध है। इसका सोम, मग्न विराट से युक्त रहता है। अतएव इसे 'महानमन' कहना भी व्याप्यमान होता है। एक तीसरा मन और है। उसका काम है-अपने धुरे का अनुमन करना। अनुकूल वेदना, प्रति कूल वेदना इस का निष्कलित विषय है, अतएव यह तीसरा मन इन्द्रियक्षेत्र में प्रसिद्ध होता हुआ 'इन्द्रियमन' नाम से प्रसिद्ध है। इसी के लिए 'मना पञ्चानीन्द्रियाणि' (अपर्ण) कहा जाता है। अतः हम सब विषयों का विशद निरूपण प्रधान निरूपणान्वित जगत् की क्रेनोपनिषत् में होने वाला है। अतः इस विषय को अधिक विस्तृत न कर केवल यही कहना चाहते हैं कि प्रायेन्द्र-प्रज्ञा-सोम की समष्टिरूप यह सर्वेन्द्रिय अतएव अनिन्द्रिय, प्रधानमन नाम से प्रसिद्ध अक्षमय मन ही अक्षमय-महत्-विज्ञान-शरीर-इन्द्रिय-शरीररक्षता-भूत-शरीरसाक आदि सब की सम्प्रति का कारण है। प्रधानमन की इसी सर्वता का निरूपण करते हुए मन्त्रि ऐतरेय कहते हैं—

कोऽयमात्मेति जयमुपास्महे, कवरं स आत्मा । इति । येन वा पश्यति यन वा शृणोति, येन वा गन्धानामिवाति येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वापु वा स्वप्नु च विमानाति, वनेतत्-इत्यर्थ, मनश्च (इन्द्रियमनश्च), एतत् स ज्ञानयागानं विज्ञान, महान, मेधा, दृष्टि भुक्ति, मति, र्मनीया, ज्ञाति, सकल्पः क्रतु, रसः कामो, वश इति । सर्वाद्येवैतानि महानस्य नामधेयानि भवन्ति ।

एष ब्रह्म, एष इन्द्र, एष महापति, रेतो सर्वे देवा, इमानि च पञ्चमहाभूतानि  
 मृषिरी-वायु-राकाश-आपो-भ्योर्तीपीत्यतानि, इमानि च तृडमिन्द्राणी च  
 जानीतराणि, चेताराणि चारुदमानि च, आहमानि च ध्वेदमानि च, सृष्टि-  
 जालि च, अन्धा, गावः, पुरुषा, इस्तिनो, यवर्किवेद् भाषि मङ्गमच पतमि च,  
 यव न्यावरं, तव प्रज्ञानेन, प्रज्ञाने मतिष्ठितम् । प्रज्ञानेनो सोकः । प्रज्ञा  
 मतिष्ठितम् । स एतेन प्राज्ञेनात्मनाऽऽत्मावतोकादुत्कृष्टं भुमुप्तिन्स्वर्गं लोके  
 सर्वाद् क्षमाणाप्त्वाऽप्यत समभवत्, समभवत्” ॥

( ऐतरेय ब्राह्मण २ । ६ । १ ) ।

संयुति-एष विनाश का क्या स्वरूप है ? अधिदैवत, एष अध्यात्म में चन्द्रमा और सव  
 ही संयुति-विनाश के अधिष्ठाता कैसे हैं ? इत्यादि श्रितिर प्रश्नों का समाधान होचुका । अब  
 सूत्रमन्त्र की ओर पाठक्रम का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

उपनिषद् में प्रकृत अधिकारण के तीन मन्त्रों का ‘अन्य तमः प्रविशन्ति’ ‘अन्यदेवाहुः  
 सम्मवात्’ ‘संयुति च विनाश च’ यह क्रम उपलब्ध होता है, परन्तु विद्वानदृष्टि से पूर्व के  
 विद्वानात्माधिकारण की तरह यहाँ भी ‘अन्यदेवाहुः सम्मवात्’ अन्य तमः प्रविशन्ति’  
 ‘संयुति च विनाश च’ यही क्रम समझना चाहिए । ‘अन्यदेवाहुः’ यह प्रथम मन्त्र महा-  
 नारायण का स्वरूप बतलाना है, ‘अन्य तमः प्रविशन्ति’ यह मन्त्र प्रतिपादित आत्मस्वरूप से  
 विद्वद् जानें यहाँ की अजोम्बित बतलाता है, एष ‘संयुति च विनाश च’ इत्यादि मन्त्र प्रति-  
 पादित आत्मस्वरूप पर स्पष्टीकरण करता है । इस क्रम को प्रधान मन्त्रसे हुए, संयुति-विना-  
 शालक प्रज्ञानात्मा का निरूपण करते हुए निम्नलिखित प्रथम मन्त्र हमारे सामने आता है—

अन्यदेवाहु सम्मवादन्यदेवाहुससम्मवात् ।

इति श्रुम धाराणां ये नस्तद्विचचत्तिरे ॥१॥

( ई० उ० १२ य० ) ।



“विद्वान् योग उत (प्रधानात्मन्) को सम्मम स भी पृथक् करते हैं, असमम से भी पृथक् करते हैं। मिन वैज्ञानिकों ने हमारे लिए आत्मस्वरूप बतसाया है, उन पीर विद्वानों के द्वारा हम यही सुनते आए हैं—(कि वह आत्मतत्त्व सम्पूति और असम्पूति दोनों से पृथक् है)” यह है मन्त्र का अन्वय । सम्पूति अस्तित्व है, असम्पूति नास्तित्व है। सत्तात्त्व से अनुगृहीत पदार्थ सम्पूति है, सत्तात्त्व से विपुक्त पदार्थ असम्पूति है। सत्तात्त्व और विनाश दोनों भाव प्रकाश हुए हैं। यह तत्त्वविरुद्धा सम्पूति विनाशरूपा असम्पूति आत्मा के धर्म नहीं हैं। प्रधानात्म में जो आत्म अंश (विश) है, न वह उन्मत्त होना, न उस का कमी विनाश होना। वहाँ की ही स्वरूप आत्मा के अनुग्रह से सम्पूति होती है, रसपरिच्छादवस्था में वहाँ की ही असम्पूति होती है। सम्पूति—असम्पूति दोनों का धर्म है। यह इन दोनों का आत्मन्मन बनाता हुआ दोनों से पृथक् है। सम्पूति और असम्पूति जिसके आधार पर होती है, उसे आत्म (प्रधानात्म) समझना चाहिए।

अथ च रस—वस्तुसमग्ररूप वह आत्मा न केवल सम्पूति का अविच्छाद्य है, न केवल असम्पूति का अविच्छाद्य है। अपितु दोनों उसी के विधर्त हैं। वह असम्पूतिरूप है। इसलिए तो उसे सम्पूति नहीं कहा जासकता। सम्पूतिरूप है, अतः उसे असम्पूति भी नहीं कहा जा सकता। सम्पूति एवं असम्पूति का परस्पर में मिश्रण है, अतः उसे उभयात्मक भी नहीं कहा जासकता। ऐसी स्थिति में यदि उसके सम्मन्ध में कुछ कहा जासकता है तो यही कि वह सम्पूति—असम्पूति दोनों से पृथक् है।

अथ च आत्मन् का इसमाग सम्पूति का अविच्छाद्य है, अतमाग असम्पूति का अविच्छाद्य है। वह न शुद्ध स्वरूप है न शुद्ध वस्वरूप ही है। उस का स्वरूप दोनों से निवृत्त है। अतः दोनों की समाधि आत्मन् है। ‘सतो वाचुपसति निरवच्छिन्न’ ‘अन्तरं मूर्तोरमूर्तं मूर्तानाममूर्तानाम्’ अमूर्तं चैव मूर्त्युच्च सदस्योऽहममृन्’ ‘नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्’ इत्यादि श्रुति-स्मार्त वचनों के अनुसार लोकद्वय समग्र एवं असम्मम दोनों से अन्वय होता हुआ वह दोनों की समग्र ही है। ऐसी अवस्था में—

अन्ध तम प्रविशन्ति येऽसम्मृतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्मूर्त्या रता ॥२॥

( ई० उ० १२ म ) ।

जो व्यक्ति केवल असेमृति की उपासना करते हैं, वह घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं, एवं इनसे भी अधिक वे मनुष्य अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं, जो केवल सम्प्रति में ही रत हैं । अर्थात् जो चार्वाकानि केवल क्षणिक वस को ही प्रधान मानते हुए संसार को शून्य शून्य समझते हैं, व तो शून्यरूप अन्धकार में हैं ही, परन्तु आदित्य बनने का गर्भ करने वाले जो महानुभाव क्षणिक वस का निरादर कर केवल सांसारिक अस्तित्वरूप विषयों में ही आसक्त रहते हैं । जो यह नहीं समझते कि जिन की हमने सम्प्रति समझ रखी है, कालांतर में उन सब का नाश होने वाला है, ऐसे आसक्त पुरुष और भी अधिक आबरण में हैं ।

अभिष समिक्षीभावे' के अनुसार सम् का अर्थ है दो वस्तुओं का एकीभाव । प्रकृत में वे दो तत्त्व सुगन्धि रस-यस ही हैं । रस से सत्ता, बिना सत्त्वत्व अभिप्रेत है, वस से असत्त्वत्व अभिप्रेत है । इस असत्त्व वस में जो सत्त्व रस का सम्बन्ध है, वही वस की सम्प्रति है, जैसा कि पूर्व में विस्तार के साथ बताया जा चुका है । सत्त्वरस स्वस्वरूप से सर्वथा एक है । असत्त्वत्व-‘मृत्नी स सत्पुष्पाप्नोति य इह जनेष परयति’ के अनुसार नामा है । जब तक यह वस सत्त्वरूप एकरस से प्रयुक्त रहता है, तब तक एकीभाव से शून्य रहता हुआ यह नामामागम है । यही रस से अनुमहीत होकर एकीभाव को प्राप्त होता हुआ सम्प्रति-रूप में परिणत हो जाता है । यस-‘रसवसयोः-सदसतो-एकीभावः’ ही सम्प्रति है । सम्प्रति सत्तागम है, शुद्ध वस असम्प्रति है । वस आबरण स्वरूप होने से तम है । ऐसी अवस्था में जो असम्प्रतिरूप केवल इस वस माग की ही उपासना करते हैं, व सधनुष आबरणरूप अन्धतम में प्रविष्ट रहते हैं । वस असत्त्व (नास्ति) भाव है, नास्ति शून्यभाव है, शून्यभाव अन्धकार है । ‘अमवेव स मयति असत्त्व मयति वेद वद’ के अनुसार केवल असत्त्व के

उपासक स्वयं ब्रह्म बन जाते हैं। परन्तु वे और भी अधिक गहरे अन्तर में हैं, जो कि केवल रसरूप सम्पत्ति की ही उपासना करते हैं। रस वससङ्गण है। बिना वस के निम्न है (सूक्त—

आसीद्विदं तपोधृतममहावसतस्तथाय ।

अमृतवर्षमनिर्दोरयं प्रमुसविष सर्वतः ॥

के अनुसार वसना अमहाव-असस्तथा-अमृतवर्ष-अनिर्दोरय-प्रमुस तम है। जब तक वस का आश्रय नहीं लिया जाता, तब वह लक्षरूप से रस अनुपाय्यतम है। यह तम अमृतम से भी गहरा है। वस ससार का स्वरूप है अतः इस की उपासना करने वाला, अपरव्यक्ता सांसारिक संपत्ति तो प्राप्त करलेता है। परन्तु निम्न रसरूप सम्पत्ति का अनुपायी न होकर का रहता, न बचकर का। यही इस का सुधान्वयकार है। ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए? सुनिर्—

सम्पत्तिं च विनाशं च यस्तदेवोभयं सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भृत्यामृतमश्नुते ॥३॥

( ई० न० १४ म० ) ।

जो भीरु विद्वान् सम्पत्ति और विनाश दोनों को एक निम्न पर प्रतिष्ठित देखता है, वह विनाश से मृत्यु का तात्पर्य कर सम्पत्ति से अमृतत्व प्राप्त करने में समर्थ होजाता है। मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में निम्न बहस्य नहीं हैं। मृत्यु ही अमृतप्राप्ति की साधन है। अतः दोनों के समुचितरूप की ही उपासना करनी चाहिए। निम्नमार्ग से मृत्युकेवल ससार की उपासना करते हुए अमृत पर दृष्टि रखिए। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही सत्य है यही प्राप्ति उपनिषद् है।

उपनिषद् का प्रधान सार भाग्य है। अतः एक प्रत्येक प्रकार से अन्तिम अल्प अल्प तत्त्वसमस्त भाग्य ही बन जाता है। आत्मस्वरूपपरिष्कार के लिए आत्मसृष्टि का स्वरूप

ज्ञानना भी आवश्यक होजाता है। अतएव अगत्या उपनिषद् को इस का भी स्वरूप कतज्ञाना पत्र  
 ता है। यही कारण है कि उपनिषद् आत्मा—एव आत्मसृष्टि दोनों के किसी विशेषमात्र का  
 निरूपण न कर सामान्य शब्दों का उपयोग करती है। उपनिषद् ऐसे अक्षर बोधती है, जिन  
 से आत्मा—एव आत्मसृष्टि दोनों का स्वरूप गतार्थ होजाता है। अतएव प्रकृत के तीनों मन्त्रों से  
 जहां सबसात्मक आत्मा का परिज्ञान होता है, एवमेव सम्भूति—विनाशमयी स्वरूपा आत्मसृ  
 ष्टि का भी परिज्ञान होजाता है। न केवल अधिदेवतचरित्र का ही, किन्तु अप्यात्मद्विपति का  
 भी उही अक्षरों से स्पष्टीकरण होजाता है। ईश्वरीय जगत् की अपेक्षा से प्रकृत प्रकरण  
 से प्रज्ञासमाप्तरूप अक्षय्य सम्भूति—विनाश के कारणभूत 'वन्द्यमा' का स्वरूपज्ञान  
 होता है। एवं अप्यात्मजगत् की अपेक्षा से मनुष्य की पुनःसम्भूति के अभिष्टाता प्रज्ञा-  
 नात्मा का स्वरूप परिचय होजाता है। साथ ही में दोनों विश्वों के आत्मम्बनभूत  
 सदसदात्म सम्भूति—विनाशरूप अमृतमृत्युमय आत्मा का बोध होजाता है। इसी सारे  
 प्रज्ञानबैभव का प्रतिपादन करता हुआ प्रज्ञानात्माधिकरण समाप्त होता है।

इति प्रज्ञानात्माधिकरणम् ।

४



प्राकृततत्त्वविकरणे-  
प्रज्ञानात्माधिकरण  
समाप्तम्

४

— १०७ —

पूराद

→ → →

पूरादिदम्

साक्षी-देवसत्यः → → →

प्राणवैभव मोक्षा देवसत्य

अधिदेवतम्

→ → →

अध्यात्मम्

देवसत्याक्षर —

ज्ञान-क्रिया-अर्थमयः-वैकृतात्मा साक्षी

प्राणात्मा

५

साक्षीदेवसत्य ← → → → अमृतात्मनाद् ← → → → मोक्षादेवसत्य

[( प्राकृतात्माधिकरणे प्राणात्माधिकरणा पञ्चमम् )

यज्ञमात्रिकवेदावच्छिन्न -ज्ञान-क्रिया-अर्थमयात्मा

मृतात्मा

१- हिरण्यमेन पात्रेण सत्यस्यापिहित सुत्तम् ।

तत्त्वम्पूषधपावृणा सत्यधर्माय दृष्टये ॥

२- पूषनेर्कपे यम सूर्य्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् ।

समूह तेजो, यत्ते रूपं कल्याणातम तत्ते पश्यामि ॥

योऽसावसौ पुरुष सोहमस्मि ॥

३- वायुरानिलममृतम्

।

॥

(ईशोपनिषद् ११-१६-१७ मन्त्र)





## देवसत्यात्मस्वरूपानिदर्शन

- १- अग्निर्यैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।  
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिः ॥
- २- वायुश्चैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।  
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिः ॥
- ३- सूर्यो यथा सर्वसोकस्य वक्षुर्न सिप्यते चाक्षुर्बाह्वोर्यैः ।  
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न सिप्यते सोकदुःखेन बाह्वः ॥
- ४- एको षष्ठी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।  
तमात्मत्वं वेऽनुपरयन्ति वीरास्तेषां सुखं शारवतं नेतरेषाम् ॥  
( कठोपनिषत् २ अ० ५ व० १-१०-११-१२ म० ) ।
- ५- अहृष्टमात्रः पुरुषो मध्यं आत्मनि तिष्ठति ।  
इयानो भूतमभ्यस्य न ततो विभ्रुयुप्सते । एतद्वै तत् । (कठ० २-४-१२) ।
- ६- अहृष्टमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।  
तं स्वाश्वस्तीरात् महतेन शुञ्जादिषेपीकां वैर्येण ॥ (कठ० २।६।१७) ।
- ७- हा सुपर्णा सधुमा ससाया समानं हृत् परिप्लव्वाते ।  
तयोरन्याः पिप्पसं स्वाद्भवनम्नभन्योऽमिधाकरोति ॥ (मुण्डक० १।१।१) ।
- ८- समाने हृत्ते पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुष्मन्मातः ।  
शुभ्रं यदा पश्यत्यभ्यमीशमस्य महिमानमिति वीतरोकः ॥ (मुण्डक० १।१।२) ।



- ६- यदा परयः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।  
तदा निद्वान् पुण्यपापे विभूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ मुण्डक ३।१।३)
- १०- प्राणो ह्येष यः सर्वमृतैर्विभाति विमानन् बिद्वान् भवते नातिपात्री ।  
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियाशनेप ब्रह्मनिदां हरिष्ठः ॥ (मु० ३।१।७) ।
- ११- पुञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता प्रियः ।  
अप्रेक्ष्योतिर्निचाप्य दृषिष्या अभ्यामरत् ॥ (खे० २।१) ।
- १२- सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादः ।  
स भूमिं विश्वतो दृक्त्वाऽऽसतिष्ठदद्याद्भुवम् ॥ (खे० ३।१७) ।



॥ श्रीः ॥

यो देवो ब्रह्मो यो अयम् यो विरखे युक्ताभाविवेश ।

य ओपवीतु यो कनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नम ॥ १ ॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा ।

तदेव शुक्र तद् ब्रह्म तदापस्तस्य प्रजापति ॥ २ ॥

श्रुत्वा ब्रह्मरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अग्नि विरखे निषेदु ।

पस्ते न वेद किमुवा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत ॥ ३ ॥

गुह्यान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।

स विचरूपस्त्रिगुणस्त्रिबर्त्ता मायाविपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥ ४ ॥

अक्षुप्तमात्रो रक्षितृरूपः सकल्पाकार समन्वितो यः ।

बुद्धेर्गुह्येनात्मगुणेनैव आराममात्रो ह्यपरोऽपि इहः ॥ ५ ॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वमृणान्तराग्न्या ।

कर्माभ्यसः सर्वभूताविशस साक्षी चेत्त केनसो निगुण्यथ ॥ ६ ॥

आत्मान रश्मि विद्धि शरीरं रश्मिभ्यः तु ।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मन प्रमहमेव च ॥ ७ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विपर्ययेषु श्रेयसान् ।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेऽप्याहमनीषिणः ॥ ८ ॥

— ० —



इससम्य से सन्न्ध रक्षने बाधे स्वयम्भू, परमेष्ठी मूर्त्य, चन्द्रमा, इन चार आधिदैविक सत्त्वात्मार्थों का, एव इहवी के अशमूत अभ्यक्त, महान् विज्ञान, प्रज्ञान इन चार आध्यात्मिक सत्त्वात्मार्थों का पूर्व के—

१-अभ्यक्तात्माधिकरण, २-महदात्माधिकरण, ३-विज्ञानात्माधिकरण, ४-महानात्माधिकरण इन चार आधिकार्यों में निरूपण किया जा चुका है । हमारी स्थिति के अनुसार स्वयम्भू-परमेष्ठी-मूर्त्य-चन्द्रमा-पृथिवी यह क्रम

है। यह पाँचों पिण्ड क्रमशः प्राणमहा, आपोमहा, वायुमहा, अग्निमहा, अस्माद्महा इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन पाँचों में आत्मा-पद-पुनःपद यह तीन तीन पर्व हैं। अतएव पाँचों पिण्ड सङ्ख्य-सगरीरी बनते हुए 'सत्य' हैं। इसी आधार पर इन पाँचों ज्यों को हमने 'सत्पात्मा' 'ब्रह्मसत्पात्मा' 'ब्रह्मसत्पात्तर' आदि नामों से व्यवहृत किया है। अब तक चार ब्रह्मसत्त्वों का निरूपण हुआ है। पृथिवी नाम का पाँचवाँ ब्रह्मसत्त्व शेष रहा है। उक्त यह था कि चान्द्रब्रह्मसत्त्व के अनन्तर ही उपनिषद् पाँचवें पार्ष्व ब्रह्मसत्त्व का निरूपण करती। परन्तु ऐसा न कर पार्ष्व ब्रह्मसत्त्व से पहिले, एक चान्द्रब्रह्मसत्त्व के अनन्तर दुसरे पार्ष्व देव सत्त्वात्मा का ही निरूपण किया है।

ब्रह्मसत्त्वरूप पृथिवी के भूत-प्राण मेद से दो विर्त हैं। इन दोनों में भूतप्रधाना पृथिवी (भूपिण्ड) ब्रह्मसत्त्व है। ब्रह्मसत्त्वात्मक इस भूपिण्ड पर प्राणप्रधाना पृथिवी (महिम्ब-पिण्ड) प्रतिष्ठित है। इसी प्राणमयी पृथिवी के साथ देवसत्त्वात्मा का सम्बन्ध है। देवसत्त्वप्रति-ष्ठामयी प्राणपृथिवी देवरूपा है। यह ब्रह्मसत्त्वरूप चान्द्रमा, एक ब्रह्मसत्त्वरूप भूपिण्ड दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है। इसी प्राकृतिक स्थिति को लक्ष्य में रखकर उपनिषद् ने चान्द्रब्रह्मसत्त्व निरूपण के अनन्तर ही प्राणपृथिवी पर प्रतिष्ठित देवसत्त्वात्मा का निरूपण किया है। इस के अनन्तर बाकी बचे हुए भूपिण्डात्मक पाँचवें ब्रह्मसत्त्वात्मा का निरूपण होगा।

श्रीोपनिषद् ज्ञान के लिए जैसे शोचनी प्रजापति का स्वरूप जानना आवश्यक है, एवमेव बिना ब्रह्मसत्त्व-देवसत्त्व के स्वरूपज्ञान के भी उपनिषद का समन्वय करना कठिन है। आगे जाने बाकी कठोपनिषद् में इस कठिनता का निवार के साथ निराकरण किया गया है। अतः प्रकृत में प्रकाशसङ्गति के लिए दो बार यहाँ में इन दोनों का परिचयपत्र कर दिया जाता है। ब्रह्मसत्त्व—देवसत्त्व के परिज्ञान के लिए निम्न स्थिति ज्ञातकर्म पर ध्यान चाहिए—

द्वौ सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिपस्वन्नाते ।

तयोरन्य पिप्पल स्वादक्षि, अनभ्रन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

(मुण्डको० ३।१।१) ।

“एक वृक्ष की ए शाखा के अग्रभाग पर दो सुनहरी रंग के पक्षी बैठे हैं । दोनों सयुक्त (जोड़ते) हैं । दोनों में अनिष्ट मिश्रता है । इन दोनों में से एक पक्षी फल को चूस रहा है, दूसरा पक्षी बिना खाए उस खाने बाने की चौकसी कर रहा है ।” यह है मन्त्र का कथिताय ।

यह वृक्ष नहीं आग का सुपरिचित महाभाष्यवृक्ष अमृत-अन्न-शुक्रमूर्ति महेश्वररूप ‘अश्वत्थवृक्ष’ है । इस अश्वत्थवृक्ष में सहस्रवल्ग्या (एक हजार टहनियाँ) हैं । प्रत्येक टहनियों में अश्वत्थ-परमेष्ठी-सूर्य-जन्तुमा-पृथिवी यह पाँच पर्व (प्रणमि) हैं , यही सहस्रवल्ग्या महाभाष्य है । पक्षी वृक्षपर नहीं बैठता, वृक्ष की टहनियों पर बैठता है । टहनियों के भी ओर किसी स्थान में न बैठकर टहनियों के आगे के ओर पर बैठता है । पक्षी परिदृष्टि पक्षों समक्ष । अश्वत्थवृक्ष की एक टहनियों में अमृत-मूलभाग है, सूर्य मध्यभाग है, पृथिवी सबसे अन्त का भाग है । इसी पर दोनों पक्षी बैठे हुए हैं । इन दोनों में एक पक्षी फल खाता हुआ ‘मोक्ता’ बन रहा है । इसी को कठोपनिषद् ने ‘अश्वत्थ’ नाम से स्पष्ट किया है । दूसरा फल न खाया हुआ ‘साक्षी’ बन रहा है । मोक्ता एवं साक्षी दोनों पक्षियों का स्वरूप देवताओं से सगुण होता है, अतएव यह दोनों ‘देवसत्त्व’ नाम से प्रसिद्ध हैं ।

जीवात्मा-ओर परमात्मा का शुभ माना जाता है । परमात्मा ईश्वर है, जीवात्मा जीव है । ओर ओर ईश्वर केवल देवसत्त्व का नाम है । अमृत-आदि उपरपर हैं, अश्वत्थ महेश्वर है, परात्पर परमेश्वर है । अमृत-परमेष्ठी-सूर्य-जन्तुमा-पृथिवी यह ईश्वर के उपकरण हैं,

• इस अनुगम धर्म के-ए अर्थ होते हैं । हम श्रोते कि हिरण्यगर्भनिधाप्रतिपादक मुण्डकोपनिषत् के सिद्धांत से निरूपण हुआ है ।

अन्तरा-महान्-विद्या-प्रज्ञान-शरीर यह जीव के रूपकरण हैं। कर्म योगों वासा, योग्यतर में जन्म लेने वाला जीवात्मा केवल मोक्ष देवसत्त्व है। महान्-विद्या अन्तरादि का कर्मयोग से, कोई सम्बन्ध नहीं है। इस आत्मरूपकरण से ही आत्मनियमक सम्बन्ध निवृत्त होते हैं। 'मह जीवात्मा कर्म योगों के लिए लोकांश्वर में, किंवा योग्यतर में जाता गया तो फिर आत्मा किसके लिए किया जाता है? जब आत्मा अमन्मा है तो उस की सत्पत्ति कैसे बतलाई जाती है? ऐसे ऐसे प्रश्नों का उस समय कोई मुख्य नहीं रहता, जब कि सर्वथा विमल आत्मसत्त्वों का स्वरूपज्ञान हो जाता है। आत्मा महानात्मा के लिए ही नियम जाता है। कर्मयोगका उक्त देवसत्त्व ही है। योग्यी प्रकृत सत्त्वा अमन्मा ही है। अन्त आत्मा आने वाली उपनिषदों में इन सब नियमों का स्पष्टीकरण होता रहेगा। प्रकृत में केवल ईश्वर और जीव का स्वरूप ही विविधात्म है।

पञ्चमों में सबसे अन्त का प्रश्न 'अन्तरा' है। अन्तरा का ही अन्तरा कहा जाता है। 'अन्तरा सर्वा देवता' 'अन्तरापुरोणा सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्' के अनुसार अन्तरा अन्ति ही है देवताओं की मूलप्रतिष्ठा है। अन्तरा सब देवताओं के लिए अन्ति में ही आइसि दी जाती है। अन्ति ही देवताओं का मुख है। 'अन्तरा इ वै प्रजापतेरात्मनो पर्यवासीदन्तर्मपुत्र' इस श्रुति के अनुसार यह प्रजापति अन्ति अमृत-पुत्र से दो भागों में विभक्त है। अमृतानि प्राणाग्नि नाम से, अन्तराग्नि भूताग्नि नाम से प्रसिद्ध है। अन्तराग्निानुसार अमृतानि को 'चित्तेनिषे वासि' एवं अन्तराग्नि को 'चित्ताग्नि' कहा जाता है। भूतरूप अन्तराग्नि से भूमिपद का निर्माण हुआ है। आप-केत-भूत-सिक्ता-शर्करा-अमृत-अर्ध-हिरण्य इन आठ वस्तुओं में परिरुत होकर वह अन्तराग्नि भूमिपद रूप में परिणत हुआ है अन्तराग्नि से 'चित्ताग्नि' कहा गया होगा होता है। इसका अमृतानि, किंवा प्राणाग्नि भूतेन्द्र में उपरारण है प्रतिष्ठित रहता हुआ अन्तरा- (रश्मि)-रूप से भूमिपद से बाहर निकल कर अपना एक स्वरूप प्रकट करता है। अन्तराग्नि यह अमृतानि व्याप्त रहता है, अन्तराग्नि का अमृतानि-मयत्व 'परिप्राप्ति' नाम से प्रसिद्ध है। अन्तराग्निानुसार चित्ताग्निमय भूमिपद 'कुट्याग्नि' कहा

जाता है, एवं त्रितेजिधेयाग्निमय भूमण्डल 'पुष्करपर्ण' नाम से प्रसिद्ध है। इस पुष्करपर्णरूप महिम्नामण्डल में व्याप्त रहने वाले अग्नि की क्रमशः धन-तरस-विरस-यह तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। एक ही अग्नि की यह तीनों अवस्थाएँ क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य मान से प्रसिद्ध हैं। भूपृष्ठ के मण्डल की सीमा तक व्याप्त रहने वाले धायाग्नि के तीन विभाग करवा लिए। इन तीनों में भी अवस्थांतरात्म्य मानना पड़ेगा। घनाग्नि की घनावस्था के तारात्म्य से आठ अवयव माने जाते हैं, अग्नि के यही आठ अवयव आठ वस्तु हैं। मध्य के तरसस्तर की (तरसता के तारात्म्य से) ११ अवस्थाएँ हैं, यही ११ रुद्र हैं। अन्त के विरसस्तर की (विरसता के तारात्म्य से) १२ अवस्थाएँ हैं, यही १२ आदित्य हैं। इन तीन अवस्थाओं में दो सान्ध्य प्राणों का उदय होता है। इस प्रकार अग्निमेष्ट आठ वस्तु वायुमेष्ट ११ रुद्र, इन्द्रमेष्ट १२ आदित्य, २ साध्यप्राण, संभूय ३३ देवता हो जाते हैं। एक ही अग्नि पड़िले अग्नि-वायु-आदित्यरूप से तीन रूप धारण करता है, वही अन्तर्गत अवस्थाओं से आगे जाकर ३३ रूप धारण कर लेता है—'अग्निः सर्वा देवताः'।

अदितां अग्निरे देवास्त्रयस्त्रिंशद्विन्दम।

आदिता वसवो रुना अरिबनौ च परंतप ॥ (वा० य०)।

पृथिवी में वायु-गौ यौ यह तीन मनोत्तम हैं। माध्य के प्रथम क्षय में शुक्रनिरुक्ति में वाक्-आप अग्नि नाम के तीन शुक्र बतलाए गए हैं—(वेदिए ई० वि० १ ख० प्र० ३३७)। स्वल्पन्मुब वाक्स्तर यौ है, पारमेष्ठप आपस्तर गौ है, एवं सौर अग्निस्तर वाक् है। यौ-(वाक् शुक्र)-आग मृषियह के केन्द्र से आरम्भ कर महापृथिवी के ४८ वें स्तोम तक व्याप्त है। गौ आग ३३ वें स्तोम तक व्याप्त है, एवं वाक्भाग (अग्निशुक्र) पृथिवी के २१ आहर्गण तक व्याप्त है। 'तस्य वा पृथ्व्यामेर्नैगेपोपनिपत्' (यज० १०।५।१।१) के अनुसार वाक्स्तर अग्नि है। इस अग्निस्तर की ही अग्नि-वायु-आदित्य यह तीन अवस्थाएँ हैं। पृथिवीपृष्ठ से आरम्भ कर ३३ वें आहर्गण तक (जो कि आहर्गणों की समष्टि त्रिहस्तस्त्वोम नाम से प्रसिद्ध है) घनावस्थात्मक अग्नि प्रतिष्ठित है। यहाँ से पञ्चदशआहर्गण पर्यन्त तरसावस्थापन्न अग्नि (वायु)

प्रतिष्ठित है। एव यहाँ से २१ पर्यन्त मिरल अग्नि (इन्द्र) प्रतिष्ठित है। त्रिष्टुप्स्तोम इस मर्मित पृथिवी का पृथिवीस्तोम है, इस का अतिष्ठाय (अभिष्टाय) अग्नि है। पञ्चदशस्तोम मर्मित पृथिवी का अन्तरिक्षस्तोम है, इस का अतिष्ठाय वायु है। एकविंशस्तोम मर्मित पृथिवी का द्युस्तोम है, इस का अतिष्ठाय इन्द्र है। इस प्रकार केवल मर्मित पृथिवी में ही स्तोमत्रेय से त्रैलोक्यमन्त्र का उदय हो जाता है। यही पाणिनिसंस्कृति 'स्तौम्यत्रिस्तोमी' नाम से प्रसिद्ध है। पार्ष्णि त्रैलोक्य में व्याप्त हन्ती तीनों अग्नियों के सर्वव्यापक से वैश्वानर-हिरण्यगर्भ सर्वव्यापक ईश्वरीय देवसत्त्व का जन्म होता है।

पार्ष्णि मिहृदग्नि को आधार बना कर अन्तरिक्ष वायु, दिव्य इन्द्र की आहुति होने से, तीनों के समन्वय से वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होता है। वैश्वानर अग्नि में यद्यपि त्रैलोक्य का अग्नि है, परन्तु प्रधानता पार्ष्णि अग्नि की है। अन्तरिक्ष वायु में पार्ष्णि अग्नि दिव्य इन्द्र की आहुति होने से हिरण्यगर्भ का जन्म होता है। इसमें भी तीनों हैं, परन्तु प्रधानता अन्तरिक्ष वायु की ही है। एवं दिव्य अग्नि में पार्ष्णि अग्नि, अन्तरिक्ष वायु की आहुति होने से सर्वज्ञ का जन्म होता है। इसमें भी तीनों अग्नि हैं, परन्तु प्रधानता दिव्य अग्नि की ही है। अग्नि अर्पणशक्ति का अभिष्टाय है, अतः तत्प्रधान वैश्वानर अग्नि अर्पणशक्ति ही है। वायु क्रियाशक्ति का अभिष्टाय है, अतः तत्प्रधान हिरण्यगर्भ क्रियाशक्ति ही है। एव इन्द्र ज्ञानशक्ति का अभिष्टाय है अतः तत्प्रधान सर्वज्ञ ज्ञानशक्ति ही है। वैश्वानर अग्नि का प्रमथ वायु-इन्द्रगर्भित पार्ष्णि अग्नि है। अतिष्ठाय त्रिष्टुप्स्तोम है, आशय (अभितरण) साय त्रैलोक्य है। इसी व्यापार पर-वैश्वानरो यतते-सर्वेषां (अक्र० १।७।१६), 'आ यो यां माता-पृथिवीम्' (पा. नि. ३।७।२६) इत्यादि कहा जाता है। हिरण्यगर्भ-वायु का प्रमथ पार्ष्णिवाग्नि-इन्द्रगर्भित अन्तरिक्ष वायु है। अतिष्ठाय पञ्चदशस्तोम है, आशय साय त्रैलोक्य है। एवं सर्वज्ञ इन्द्र का प्रमथ अग्निवायुगर्भित दिव्य इन्द्र है, अतिष्ठाय एकविंशस्तोम है, आशय त्रैलोक्य है। यही त्रिदेवसमष्टि लक्षण-त्रिधा-अप्यशक्ति से सारे भीतिर मिथ का आत्मा बन रही है। जूनों के अभिष्टाय होने से ही इस देवसत्त्व को 'सधमृतामरात्मा' कहा जाता है। कर्त्तव्य-

निपत् में त्रिन अग्नि-वायु-इन्द्र का त्रैलोक्य में विजय बतलाया गया है, वह यही सर्वभूतान्तरात्मा है । इस देवसत्त्व की प्रतिष्ठा ब्रह्मसत्त्व है, ब्रह्मसत्त्व की प्रतिष्ठा आत्मसत्त्व है ।

आत्मा के अमृत-ब्रह्म-देव-भूत यह चार विवर्त हैं । षोडशीयुरूप स्वयं अमृतात्मा है । सत्यम्-परमेष्ठी आदि पाँचों पर्वब्रह्मविवर्त है । अग्नि-वायु-इन्द्र की समष्टि देवविवर्त है, भूतप्रपञ्च प्रसिद्ध है । यही चारों सत्याएँ अण्मात्म में हैं । इन चारों व्याख्यात्मक सत्याओं में से अमृतात्मा असत्कारवीर्य है । ब्रह्म-देव-भूत तीनों का सत्कार किया जाता है । लौकिक शुद्धिसंस्कार भूतसंस्कार हैं, १९ स्मार्तसंस्कार ब्राह्मसंस्कार हैं, १२ श्रौतसंस्कार देवसंस्कार हैं । इन सत्कारों से ब्रह्म-देव-भूत यह तीनों विवर्त शुद्ध संस्कृत बनकर ब्रह्मभूमि-मय बनजाते हैं । जैसा कि अभिप्रेत कहते हैं—

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुचरैरपि संस्कृतः ।

निब्रमण्युखैर्पुण्ड्रो ब्राह्मणो ब्रह्म सौकिनम् ।

ब्राह्मं पद्मभाज्जोति यस्यास्य न्यवत् पुनः ॥

अण्मात्मसंस्था की उक्त चारों संस्थाओं में अमृतसत्त्वा के तो वे ही नाम रहते हैं, इतर सत्त्वाओं के नाम बदल जाते हैं । ईश्वरीय देवसत्त्व का सर्वत्र भाग यहाँ ब्राह्म नाम से, हिरण्यगर्भ भाग वैश्वानर नाम से, वैश्वानर भाग वैश्वानर नाम से ही प्रसिद्ध है । यही भूतात्मा है । इस की प्रतिष्ठा यही सर्वभूतान्तरात्मा है । वह मोक्षा सुपथ है, वह साक्षी सुपथ है । वह कर्मकर्मन्मा है, वह कर्मसाक्षी है । दोनों सत्त्वा हैं, दोनों सयुक्त हैं । दोनों स्तौम्यविद्योकीरूप ब्रह्मब्रह्म की शाखा के अग्रभाग में प्रतिष्ठित हैं । दोनों की मूलप्रतिष्ठा भूमिपद है ।

सर्वत्रभाग सहस्ररीर्य है, हिरण्यगर्भभाग सहस्राक्ष है, वैश्वानरभाग सहस्रपाद है । मूल-मध्य-अन्त मेद से वह विपर्णा है । विपणा देवसत्त्व पादरूप वैश्वानर भाग से भूमिपद पर प्रतिष्ठित होखा है । अण्मात्मसंस्था में जीवरूप से यही दश बीजस्य का अतिक्रमण कर (प्रादेशमात्र बनकर) प्रतिष्ठित होखा है । इसी देवसत्त्व का समष्टिरूप से निरूपण करती हुई मन्त्रप्रति कहती है—



सहस्रशीर्षो पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिं सर्वतस्पृत्वाऽविष्टुष्याद्भुगुप्तम् ॥ ( यजु सं० ११।१ ) ।

## ईश्वरजगत्

- १-परम्पर — एकस  
२-अमय — पञ्चकस  
३-आक्षर — पञ्चकस  
४-आत्मक्षर — पञ्चकस

पौंडरीप्रजापतिः  
(अमृतसत्त्वात्म)

- आपः — १-सयम्भू — माह्वतात्म  
आपः — २-परमेष्ठी — ११  
आरु — ३-सूय — ११  
अभय — ४-अभय — ११

अमृतसत्त्वात्म

ईश्वरप्रजापति

- अमृताभादः  
मरिचाष्टयिनी { १-सर्वज्ञ — इन्द्र  
२-क्षिरव्यगम — वायु  
३-विद्यानर — अग्नि

देवसत्त्वात्म साक्षी

- मर्त्याभादः — ५-भूमिः

अमृतसत्त्वात्म

# जीवजगत्

- १-परात्पर-—एककः
- २-अप्यय-—पञ्चकस
- ३-अक्षर-—पञ्चकसः
- ४-आत्मक्षर-—पञ्चकस

शोडशीमजापति  
(अपुतसत्त्वात्मा)

- आयुः—१-अप्यक्त्या-—प्राकृत्या
- आयुः—२-सहानाया-—"
- आयुः—३-विद्यानाया-—"
- आयुः—४-प्रधानाया-—"

अक्षतस्यात्मा

जापप्रजापात

- मयमाभादः { १-प्राक्—इन्द्र
- २-वैश्वस—अयु
- ३-वैश्वानर—मति

वैश्वसस्यात्मा मोक्षा

मर्त्यानां — १-शरीर

]—प्रसप्तस्य

११

- १-प्रमथ — आन्तरिक-—दिप्यामिर्गर्मतपार्थिवमिहृतिः
- १-२-प्रविष्ट-—मिहृत्तो
- ३-आयु — स्तीयमिहोक्ति...

वैश्वानराणि पार्थिव  
(अर्थवक्तिमवर्षका)

१-प्रमथ - पार्थिव-दिव्यशक्तिर्मित-आन्तरिक्षो वायु

२-२-प्रतिष्ठा - एकवर्गस्तोमः

३-आशयः - सौम्यत्रिस्तोमः

हिरण्यगर्भोवायु आन्तरिक्ष  
( क्रियाशक्तिपर्यवर्तकः )

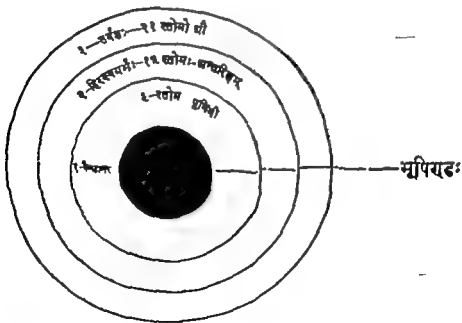
१-प्रमथ - पार्थिव-आन्तरिक्ष-आशक्तिर्मितोदिव्येन्द्र

२-२-प्रतिष्ठा - एकवर्गस्तोमः

३-आशयः - सौम्यत्रिस्तोमः

सर्वज्ञ-इन्द्र-दिव्य  
( ज्ञानशक्तिपर्यवर्तकः )

## एष सर्वमूतान्तरात्मा



अग्नि-वायु-इन्द्र तीनों ही प्राणायामक । हैं अतएव प्राणाधिपयी से सपन इस देवसत्त्व को इन 'प्राणायामा' कहने के लिए तय्यार हैं । इन्द्रियबग, प्रज्ञानमन, एव बुद्धि के सहारे स्थूल-शरीररूप रथ में प्रतिष्ठित यह रथी कर्मात्मा इस भोक की यात्रा करता है, एवं आतिना-हिकशरीररूप (स्थूलशरीररूप) रथ में प्रतिष्ठित होकर परलोक की यात्रा करता है । इस रथी कर्ममोक्ता कर्मात्मा के उस छोर में मन (प्रज्ञान)-बुद्धि (विज्ञान)-महत्-प्रत्यक्ष-पोडगी हैं, इस छोर में शरीर है । विज्ञानात्मा सौर है । महद्गर्भित विदात्मा के विदभाग का साक्षात् सम्बन्ध चित्चिन्मयबुद्धि इसी सौरविज्ञान के साथ होता है । विज्ञान विदात्मा से साक्षात् सम्बन्ध रखता है, अतएव 'तद्विज्ञानेन परिपरयन्ति घीराः' यह कहा जाता है । अग्न्यात्म-सत्या में विज्ञानपुरुष ही प्रधान तत्त्व है । इसी विज्ञानव्योति से प्रज्ञान प्रकाशित है, इसी से देवसत्त्वरूप का तत्त्व प्रकाशित है । कर्मात्मा-मन-बुद्धि तीनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है । विना मन-बुद्धि के कर्मात्मा कर्ममोग करने में सर्वथा असमर्थ है । अत एव मन बुद्धि को (भोगसाधन होने से) मोक्षात्मा में अन्तर्भूत नाम लिया जाता है । इसी अग्निप्राय से इस कर्मात्मीरूप देव-सत्त्वात्मक मोक्षात्मा का - 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्त मोक्षेत्याहुर्मनीषिणः' (कठोपनिषद्) यह उद्घरण किया जाता है । प्रज्ञानयुक्त चातुस्रपुरुषावस्थि (सौरविज्ञानात्मावस्थि) मोक्षा देव सत्त्व 'ब्रह्म' है, यही जीवात्मा है । चान्द्रयुक्त सीपुरुषावस्थि साक्षी देवसत्त्व 'धोम्' है, यही परमात्मा है । सौर एवं विज्ञानावस्थि देवत्रयसमष्टिरूप साक्षी और मोक्षा देवसत्त्व के लिए ही उपनिषद् में 'ससधर्म' शब्द का प्रयोग किया है ।

अब बरा मन्त्रों की सगृहीत का विचार कीजिए । 'हिरण्यमयेन पात्रेण ससस्यापिहित मुन्वम्' इत्यादि मन्त्र चातुस्रपुरुष (विज्ञानात्मा) की उपासना का, दूसरे शब्दों में उसके प्रत्यक्ष करने का उपाय बतलाता है । ऐसी व्यवस्था में उचित यह था कि विज्ञानात्मप्रतिपादक ८-१०-११ मन्त्रों के अन्त में ही (विज्ञानात्माविकरण में ही) 'हिरण्यमयेन पात्रेण' इत्यादि पढ़ा जाता । परन्तु ऐसा न कर अग्नि सम्भूतिविनाशात्मक प्रज्ञानात्माविकरण के अन्त में (१४-१५ मन्त्र से आगे) इसे पढ़ा है । ऐसा व्यतिरेक क्यों किया गया ? उत्तर स्पष्ट है । उपनिषदुप

देख प्रधानरूप से जीवत्माके स्वरूपज्ञान करवाने के लिए प्रवृत्त हुआ है । जीवसंस्था में—  
 'स वा एष विद्वानात्मा प्रज्ञानात्मना सपरिपक्वः' के अनुसार विज्ञान प्रज्ञान में ओतप्रोत  
 है प्रज्ञान विज्ञान में सपरिपक्व है । बिना विज्ञान के प्रज्ञान फुल्ल नहीं कर सकता, साथ ही में  
 बिना प्रज्ञान के विज्ञान भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता । न केवल जीवसंस्था में ही,  
 अपितु ईश्वरसंस्था में भी यही दृष्टि है । चन्द्रमा (सोम) के बिना सूर्य कभी प्रतिष्ठित नहीं  
 रह सकता । सौम्यपुरुष मातृगार है, ज्योतिर्विषय है । इसका यह ज्योतिमान चान्द्रसोमप्रकृति पर  
 निर्भर है । 'तु ज्योतिषा वितथो वसवः' के अनुसार सोम में ही सूर्य को ज्योतिर्मय बना  
 रखा है, जैसा कि पूर्व के प्रज्ञानाभाधिकरण में विस्तार से बताया जा चुका है । इसी  
 प्रकार चन्द्रमा सौम्यपुरुष से ही चन्द्रिकाय बन रहा है । यही दृष्टि अग्न्यात्म में है । मन पर  
 ही सौम्यविज्ञानपुरुष प्रतिबिम्बित होता है । यदि मन न हो तो उसी वृक्ष विज्ञानात्म्य उत्पन्न  
 होगा । ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि चातुर्यपुरुष का चातुर्यमा प्रज्ञान सम्बन्ध पर  
 ही आश्रित है । निष्पेक्ष चातुर्यपुरुष की उपासना असम्भव है । क्योंकि वह कभी निष्पेक्ष-  
 रूप (एककी) रहता ही नहीं । इसी सारी परिदृष्टि को ध्यान में रखकर अग्निने विज्ञानात्म्य  
 धनराज के अन्त में विज्ञानपुरुष की प्राप्ति का उपायमूल 'हिरण्यमेन०' इत्यादि मन्त्र को  
 न पढ़कर प्रज्ञानाभाधिकरण के अन्त में पढ़ा है । इससे अग्नि को यही सिखाना है कि जिस  
 चातुर्यपुरुष की तुम उपासना करने वाले हो वह उपासना बिना प्रज्ञानमन के सहयोग के  
 असम्भव है । मनोयोग ही चातुर्यपुरुष की उपासना का आधार है ।

विज्ञानात्म्य की उपासना का प्रकार बनवाने वाले 'हिरण्यमेन' इत्यादि मन्त्र को उसी  
 अधिकरण के अन्त में न पढ़कर प्रज्ञानाभाधिकरण के अन्त में क्यों पढ़ा ? इस प्रश्न का  
 सम्बन्ध तो होगा, पर तु इसी सम्बन्ध में जब प्रश्न चीर उठावित्त होता है । प्रकरण ११  
 मन्त्र के अनुसार 'हिरण्यमेन०' इत्यादि मन्त्र का करने वाक्याभाधिकरण नाम से प्रतिष्ठ  
 कर्मान्तमकराल में सम्पन्न माना है । जेगा क्यों ? पूर्व कथनानुसार तो पूर्व के प्रज्ञानात्म्य  
 विज्ञान में उक्त मन्त्र का सम्पन्न होना चाहिए था । इस प्रश्न का उत्तर उपासक कर्मान्तमा

13

ही है। विज्ञानात्मा उपास्य है, प्रज्ञानात्मा उपासना का साधन है, कर्मात्मा उपासक है। उपासक कर्मात्मा ही मनोयोग (प्रज्ञानयोग) द्वारा उस विज्ञान पुरुष की उपासना करता है। ऐसी अवस्था में उपासक कर्मात्मा के साथ उस उपास्य विज्ञानात्मा का सम्बन्ध वतसाना आवश्यक है। इसी सम्बन्ध परिज्ञान के लिए उपासनाप्रकारप्रतिपादक 'हिरण्यमेन०' इत्यादि मन्त्र का कर्मात्माधिकरण के अन्त में समावेश करना उचित होता है।

अब जबतक कर्मात्मा शरीर में प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक अन्य आत्मसंस्थाएँ प्रतिष्ठित रहती हैं। जीवसंस्था में प्रधानता कर्मात्मा की ही है। कर्मात्मा (मोक्षात्मा)—प्रतिपादक कठोपनिषत् में यह विस्तार से बतसाया जाने वाला है कि अस्तुत जीवात्मा देवसत्वरूप कर्मात्मा का ही नाम नहीं है, अपितु कर्मात्मापरपर्यायक इस मोक्षात्मा का मोक्षा पना 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं योक्तेसाधुपनीषिणः' के अनुसार बुद्धिरूप बाह्यपुरुष, एवं मनोमय प्रधानपुरुष के सम्बन्ध पर ही निर्भर हैं। इसीलिए तो उपनिषत् में मन एवं बुद्धि को कर्मात्मा के साथ निम्न सम्बन्ध माना है। यद्यपि बाह्यपुरुष का जितना घनिष्ठ सम्बन्ध प्रधानात्मा के साथ है, उतना देवसत्वरूप प्राणात्मा के साथ नहीं है, तथापि बिना इसके सम्बन्ध के मोक्षात्मा का मोक्षत्व ही नहीं बन सकता। विज्ञान—प्रज्ञान एक रेखि में हैं, मोक्षात्मा दूसरी रेखि में है। प्रज्ञान—विज्ञान दोनों का सम्बन्ध इसके साथ होता है। इस देवसत्त्व की 'अहता' (आत्मता) प्रधानसपरिवृक्त सीरविज्ञान के आधार पर ही प्रतिष्ठित है, वैसा कि—'सूर्य आत्मा-अगतस्तस्म्युपसन्न' इत्यादि से स्पष्ट है। देवसत्त्वप्रतिपादक प्राणात्माधिकरण के मध्य में 'हिरण्यमेन०' इत्यादि का पड़ा जाना ही यह सूचित करता है कि बाह्यपुरुष का सम्बन्ध प्रधान कर्मात्मा दोनों से है। 'मैं क्या हूँ' ? इस प्रश्न का उत्तर है 'देवसत्त्व'। इस देवसत्त्व का 'मैं पना' उसी बाह्यपुरुष पर निर्भर है। पूर्व में ही बतसाया गया है कि देवसत्त्व की अपेक्षा से विज्ञान का प्रज्ञान के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी स्थिति को लक्ष्य में रखकर प्रज्ञाननिरूपण के अन्त में ही पहिले उस विज्ञान का स्वरूप दो मन्त्रों से बतसाकर सीधे 'बाह्यनिरूपण' मन्त्रभाग से देवसत्त्व का स्वरूप बतसाया गया है। इस प्रकार इस प्रकार के तीन

मन्त्रों में से आरम्भ के दो मन्त्र चातुष्टय की उपासना का प्रकार बताते हैं, तीसरा मन्त्रमन्त्र प्राणात्मा का स्वरूप बताता है। इसी चातुष्टयपुरुष की उपासना का प्रकार बताता हुआ निम्न लिखित मन्त्र हमारे सामने आता है।

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टमे ॥१॥

(ई० उ० १२ म०)।

“हिरण्यमपात्र से सत्यका मुख ढका हुआ है। हे पूषादेवता! समर्पण की दृष्टि के लिए (साक्षात्कार के लिए) आप उस आवरण को हटाएँ” यह है मन्त्र का अर्थ। त्रैलोक्यमणित चातुष्टयपुरुष सौर पुरुष है। यह इन्द्रस्य मन पर प्रतिष्ठित होकर दक्षिणवर्त से प्रादेश मन्त्र बाहर निकलता है, जैसा कि विद्वान्नात्मापिकरस्य में विस्तार से बताया जा चुका है। इस विद्वान्पुरुष का आप अंगूकदृष्टि से साक्षात्कार कर सकते हैं। परन्तु इतना जरूर है कि चातुष्टयपुरुष, दक्षिणाक्षिपुरुष आदि मानों से प्रसिद्ध यह सम्पूर्ण सूर्य के हिरण्यमय प्रकाश में नहीं दीखता। घूँप में आप इसे नहीं देख सकते। यह देखा जा सकता है—पार्विक-हृन्मयास ही सत्य में। पशुमगमनाना पृथिवी ही ‘पूषा’ कहलाती है। शूद्रदृष्टि का मन्त्रार्थ, तमोमय पार्विक वाक्मय माया ही ‘पूषा’ है। ‘छाया’ इस माया का वास्तविक स्वरूप है। इस क्षायामय पूषामाया के आगमन से हिरण्यमपात्ररूप आवरण हट जाता है, उसी समय चातुष्टयपुरुष के दर्शन हो जाते हैं। प्राचीन व्याख्याताओं के मतानुसार चातुष्टयपुरुष अक्षरणात्मक नहीं है जिसका वि साक्षात्कार न हो सके। आप क्षाया में अपनी इहिली शक्ति से अंगूकदृष्टि से एक प्रादेश पर दृष्टि—अन्तरोप का अभ्यास करते आएं। मत्तियोगरूप इस अभ्यासयोग से एक दिन सर्पपाकार इस पुरुष के आपके आवरण ही दर्शन हो जायेंगे। जिस दिन आप इसके दर्शन कर लेंगे, निश्चाय कीमिए उस दिन वेदतत्त्व आपके लिए अपने आप प्रकट हो जायेंगे। कारण चातुष्टयपुरुष सौर है, एव सूर्यदेवता ‘सिंहा मयीविद्या यज्ञा’ के अनुसार वेदतत्त्व है।

अपि च प्रकरणान्तर से मन्त्राय का समन्वय कीजिए । सांसारिक संपत्ति हिरण्यमयपात्र है, ससार सुनहरा है । सुवय (संपत्ति) ने आत्मतत्त्व को आवृत कर रक्खा है । इस हिरण्यमय पात्ररूप विसमोह से मुग्ध मनुष्य आसक्तहृदय में प्रसिद्धित सत्त्व आत्मतत्त्व के दर्शन करने में असमर्थ हो रहा है । इस पार्थिव मौक्तिक संपत्ति का अधिष्ठाता धृषिणी का अभिमानी देवता 'पूषा' है । उसी की आराधना से मौक्तिक आवरण हट सकता है । जो पूषादेवता आवरण का अधिष्ठाता होता है, वही आवरण हट करने में समर्थ है । हमें प्रणतभाव से उसी पार्थिव अभिमानी देवता से प्रार्थना करनी चाहिए कि हे पूषन् ! आपने शक्ति से सत्त्वाम-तत्त्व पर जो मौक्तिक संपत्तिरूप आवरण लगा रक्खा है, उसे हटाइए, हमारे आत्मा को मौक्तिक वचन से मुक्त कीजिए, जिससे कि हम आत्मस्वरूप पहिचान सकें । पूषा देवता आवरण को हटाकर सत्त्ववर्म का साक्षात्कार करवाती है, यह उक्त मन्त्र से सिद्ध हुआ । यह पूषा देवता किस प्रकार से आवरण हटाती है ? इस प्रश्न का समाधान करती हुई आपने आकर श्रुति कहाँ है—

पूषनेकैर्धम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्, समूह तेज ।

यत्ते रूप कल्पाद्यतमं तत्ते पश्यामि-योसावसौ पुरुष सोऽहमस्मि ॥२॥

( ई० उ० १६ म० ) ।

सूर्य के मूलप्रवक्तक प्राण को 'धृषि' कहा जाता है । सायम्पुत्र असत्प्रमाण का ही नाम धृषि है । पूर्व के अध्यक्षात्मिकाभिकरण में हमने सायम्पुत्र वेद को 'ब्रह्मनिष्पत्ति' कहा है, एवं उस वेद के यजुभाग को 'ब्रह्म' कहा है । उस यजु का यजु मग ही प्राण है, यही धृषि है । इसी से आगे की सारी सूर्य होती हैं । इस धृषिप्राण की सप्तर्षि, द्व्यर्षि, एकर्षि, त्र्यर्षि आदि अनेक जाति हैं । विश्व में उपसम्भ होने वाले एकत्त्व, द्वित्व-मित्व-आदि जितने भाव हैं, उन सब के मूलाधार यही एकर्षि—द्व्यर्षि आदि धृषिप्राण हैं । सात रश्मि, सात उपरस, सात पातु, सात उपपातु, सात बिप, सात उपबिप, सात सोक, सात पातास, सात द्वीप, सात समुद्र, सात मरुद, सात रंग, सात छन्द, सप्ताक्षर, शरीर सात पातु, सप्तनाडी, सप्तार्चि, सप्तसमिध, सप्तहोम आदि आदि जितने भी सत्त्व हैं, उन सब का प्रवक्तक एकमात्र 'सप्तर्षिप्राण' है ।



मृत-सत्य, धर्मी-सोम, सत्य-अनृत, धाना-पृथिवी, योपा-हृषा, रवि-वायु, मरु-सुमरु, स्थिति-गति, आदान-विसर्ग, ब्रह्म-कर्म, ज्ञान-क्रिया, मृत-अमृत, निरुक्त-अनिरुक्त, अमृत-मृत्यु, सत-असत, अहो-रात्र, शुक्र-कृच्छ, पुरुष-महति, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, आत्मा-शरीर, आग-पानी, अन्न-मक्ष, ओष-धि-वनस्पति, सूर्य-चन्द्र, ओषधय, चतुर्वय, पाण्डय आदि आदि नितने भी द्वैत भाव हैं, सब की मूलप्रतिष्ठा 'द्वैत' भाव ही है।

भैसोम्य, भेतादि वीर्यप्रयी, प्रजाप्रयी, वेदप्रयी मिसर आदि नितने भी त्रित्व-भाव हैं, उन सबका मूल त्रैविद्या है। एवं एकत्वमात्रापण पदार्थों की मूलप्रतिष्ठा 'एक' भाव है। इन भावों के अद्यात्म-अधिदैवत-अभिनतम-अधिभूत भेद से निम्न निम्न कर्म हैं, जैसा कि भाष्यप्रयमण्ड की विवचनिकति में बताया जा चुका है—(देखिए ई नि म १ सं १५२-१६२)।

उत्ती प्रकरण में साकज्ज नाम से प्रसिद्ध सप्तर्षिवाक्य का निरूपण किया गया है। इस सप्तर्षिवाक्य के समष्टि एवं व्यष्टिरूप से सप्तर्षि-द्वयर्षि-एकर्षि यह तीन भेद हो जाते हैं, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होता है—

१- १-ग्रेनम	} भोमे <—> द्वयर्षि	} सप्तर्षिः (यतः १०१५२।१५६।१०)
२- २-मरुवाय		
३- १-विवासि	} चतुर्षी <—> द्वयर्षिः	
४- २-अम-दि		
५- १-वसिष्ठ	} नासिके <—> द्वयर्षि	
६- २-अरुण		
७- १-अग्नि	} वाक <—> एकर्षिः	

उक्त सप्तपिप्राणों में से सातवाँ अग्नि प्राण वाक्मय है । यह वाक् (अग्नि) — मय प्राण ही मुख में प्रतिष्ठित होकर अन्न खाता है, अतएव—‘अन्नमग्नि’ इस व्युत्पत्ति से इस वाक्मय प्राण को—‘अग्नि’ कहा जाता है । अग्नि ही देवताओं की परोक्षमाया में ‘अग्नि’ नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि श्रुति कहती है—

‘वागेषाग्नि । वाचा (अग्निना) शक्यमघते । अग्निर्ह वै नामैतदपदग्निः । सर्वस्याप्ता मवति, सर्वमस्यान्नं मवति, य एवं वेद’ (शत० १४।५।४) ।

यह वाक्मय अग्निरा अग्नि है । पूर्व में जिन अग्निप्राणों का दिग्दर्शन कराया गया है, वे अनन्त प्रकार के हैं । उन सब की मूलप्रतिष्ठा वाक्मय अग्निरा नाम का एकपिप्राण ही है जैसा कि श्वेत्किरसः सूत्रः (आ० १०।६०।५) इत्यादि मन्त्रवचन से स्पष्ट है । पथमि मृगु—अग्निरा—अग्नि वेद से अग्निरा प्राण अग्नि से पृथक् तत्त्व माना गया है । परन्तु पर मार्हतः तीनों एक ही हैं । अग्निरा अग्नि ही विश्वकसन की पराकृष्टा पर पहुँच कर भाग्य सोम-रूप में परिणत हो जाता है । एव अग्निरा ही चित्तिमात्र को प्राप्त होकर धामश्चन्द्र बनता हुआ ‘अग्नि’ कहलाने लगता है । यही अग्निरा अग्निप्राण मूषिण्ड का स्वरूपसमर्पक है । इसी एकपि—वाक्मय—पार्थिव अग्निप्राण के द्रुत भाव से आग्नेय चन्द्रमा उत्पन्न होता है, जैसा कि पूष के प्रधानात्माधिकरण में अग्नेत्यसि—प्रकरण में बताया जा चुका है । अग्निरा धामश्चन्द्र अवस्था में आकर अग्नि है, यही वाग्नि रूप है । यही अग्निमय प्राण वाक्मय से (वाग्निन्द्रिय रूप से) मुख में प्रतिष्ठित होता है—‘अग्निर्वाग्मूत्रा मुखं प्राविशत्’ । अग्नि नाम से प्रसिद्ध यह अग्निरा ही मन्त्रग्न ‘एकपिप्राण’ है । ‘महापतिर्वा एका’ (तै० ब्रा० १।४।१६।१) के अनुसार यह एकवर्ती है । इसी अग्निराग्नि से (अग्निराग्नि के गर्भमात्र की चित्ति से) मूषिण्ड का स्वरूप निगम हुआ है । इसी एकपिरूप पार्थिव वाग्नि, किंवा अग्निराग्नि, किंवा अग्नि का नाम ‘पूषा’ है । धामश्चन्द्रभाव के कारण यह अग्निमूर्ति पूषाप्राण पारदर्शिता का प्रतिबन्धक होना हुआ तमोमय है, कण्ठ है, छायास्वरूप है । इसी पूषा प्राण के सम्बन्ध से पृथिवी को पूषा कहा जाता है, जैसा कि निम्न वचन से स्पष्ट है—

१—स गौत्र नर्ममस्रजत पूषाम, इय नै पूषा, इय ईदं सर्वं पुष्पति—पदिदं  
किम्' (शत० १४।४।२।२२) ।

यहविद्या के सम्बन्ध में आचार्य ग्रन्थों में एक प्रश्न किया गया गया है कि, "आर्य  
(वृत्त) वरत पदार्थ है। इस की धर्म में आहुति दी जाती है। इस तरह आर्यद्रव्य  
की आहुति से धनमायावत्पुरुष पुरुष कैसे उत्पन्न हो जाता है?" इस प्रश्न का सन्-  
धान करते हुए आगे आकर आचार्यमुनि ने उत्तर दिया है कि—"वृत्त अथवा वरत पदार्थ  
है, परन्तु इसमें हिरण्यकक्ष (सुवर्णकक्ष) वासकर इस की आहुति दी जाती है,  
अतएव अस्मिन्मात्रपुरुष पुरुष उत्पन्न होता है"। इस प्रश्नोत्तर का रहस्य यही है कि वृत्त शुद्ध  
है यह पार्ष्विभूमि है साथ ही में तरल है। परन्तु इस पार्ष्वि तरल शुद्ध में हिरण्यकक्ष-  
रूप धनमाया सम्पादक सौर हिरण्यकक्ष तेज प्रविष्ट रहता है। इससे अस्मिन्मात्र का निर्माण  
होता है। जिस प्रकाश के शुद्ध में सौरमात्र कम होता है उस की हकिरे निम्न रहती है।  
सौर सत्त्व के बितने पर्व हैं पुरुष में उतनी ही हकिरे हैं। एक एक पर्व से एक एक  
अस्मिन् का निर्माण होता है। 'सप्त य इ नै शतानि विंशतिश्च सप्तसप्तत्याहानि च रात्रि  
मध्य (७२०), इत्येवावन्त एक पुरुषस्मीनि च मज्जान्म' (गो. ब्रा० ५० ५।५।)।  
यद्यपि पार्ष्विभूमि विज्ञान (स्वयं भारतीय विज्ञान स्रष्टु भी) दोनों की हकी नहीं मानते परन्तु  
वैदिकसंस्कारविज्ञान के अनुसार दांत हकी का प्राथमिक रूप है। कहना यह है कि अस्मिन्  
निर्माण सौर तेज से होता है। उत्पन्न शिष्ट में एक न्य तक दांत पैदा नहीं होते। कारण  
इस का यही है कि एक न्य तक इसमें पार्ष्विभूमि प्राण की ही प्रधानता रहती है। अतएव  
सौरमात्र प्रबल नहीं होने जाता, फलतः दांत उत्पन्न नहीं होते। न्य भर दांत उत्पन्न न होने  
का एकमात्र कारण पार्ष्वि भूमिप्राण की ही प्रधानता है। इसी आधार पर—'तस्य दन्तान्  
परोषाप तस्मादाहुरदन्तक पूषा' (कौ० ५।१५) यह कहा जाता है।

भूमि में पूषा शब्द की अनेकधा व्याप्ति देखी जाती है। सूर्य को भी पूषा कहा जाता  
है। बापू भी पूषा नाम से प्रसिद्ध है। एमिरी को भी पूषा माना गया है। देखती नदय

भी पूषा नाम से व्यपहृत होता है। पूष्यो हस्ताभ्यामाददे नार्यसि (पठ ५।२२) का पूषा शब्द रेवती मङ्गल-का वाचक है। “सोमः पूषा च वेतुर्विन्धासां सुवित्तीनाम्” (साम २।५।१०) का पूषा शब्द पृथिवी का वाचक है। “पूष्यः पोषेय मघ्न दीर्घापुत्वाय शतशारदाय शत शरद्वन्ध आयुषे ब्रह्मे” (तत्ति भा १।२।१।२) का पूषा शब्द सूर्य का वाचक है। “अयं वै पूषा योऽयं (वायुः) ब्रह्मे, एष ईदं सर्वं पुष्पति—यदिदं किञ्च” (शत १४।२।१।२) का पूषा शब्द वायु का वाचक है। प्रकृतमन्त्र के ‘पूषन्’ शब्द से रेवती मङ्गल को छोड़कर शेष तीनों (पृथिवी—वायु—सूर्य) पूषाओं का ग्रहण है। पृथिवी अग्निमयी है, अन्तरिक्ष वायु-मय है, सूर्योपलब्धित अक्षोफ आदित्यमय है। १२ आदित्यों में से एक पूषा नाम का आदित्य है। प्रकृत में सूर्य शब्द से इसी आदित्य विशेष का ग्रहण है। पार्थिव पूषा पूर्ण कपनावुसार ‘एकर्षि’ है। रेवती वैकोन्य के अन्तरिक्ष में रहने वाला आक्षिरस वायुरूप पूषा ‘यम’ है। अक्षोक्त्य आदित्यरूप पूषा ‘सूर्य’ है। एकर्षि (पार्थिव पूषा), यम (अन्तरिक्ष पूषा), सूर्य (दिव्य पूषा) तीनों ही प्राजापत्य हैं, प्राजापति की सन्तान हैं। मृषिण्ड चित्पाग्निमय है। इसमें चित्तेनिधय अग्निना नाम का पूषाग्नि प्रतिष्ठित है। केन्द्रस्थ यही पूषा पार्थिव प्राजापति है। इसी वचन प्राजापति की एकर्षि—यम—सूर्य (आदित्य) यह तीन व्यस्त्याएँ हो जाती हैं। पूर्वप्रदर्शित देवसत्य स्वरूप में महिमा पृथिवी में रहने वाले त्रिण अग्नि—वायु—आदित्य इन तीन देवताओं का दिग्दर्शन कराया गया है, वे यही तीनों हैं। त्रिष्टुप्स्तोम तक अग्निप्रधान एकर्षि प्राजापत्य पञ्चदशस्तोम तक वायुप्रधान यम प्राजापत्य, एवं एकर्विशस्तोम पर्यन्त आदित्य प्रधान सूर्य प्राजापत्य प्रतिष्ठित है। एक ही मूलप्राजापति की यह तीन वस्तुव्यस्त्याएँ हैं। अग्नि—वायु—आदित्य तीनों एक ही पार्थिव अग्नि के विभक्त हैं, अतएव तीनों के लिए (समष्टि दृष्टि से) अग्नि में पहिले ‘पूषन्’ यह कहा है। एवं आगे आकर इसके व्यष्टिरूप प्राजापत्य भावों का दिग्दर्शन करते हुए—“एकर्वे ! यम ! सूर्य ! प्राजापत्ये” यह कहा है।

सूर्य में अयोधि, गौ, वायु, यह तीन मनोता हैं। अयोधि इन्द्र है, त्रिण्यमय है, यही देवमाता है। गौ माता पशु है, यही पूषा है—“पशवो वै पूषा”। वायुमाता वायु है, यही

मरुत है। सूर्य में पानी है, ज्योति है, पशु है, तीनों की समष्टि सूर्य है। ब्रह्माण्ड, अनुब्रह्म, छन्द आदि पशु हैं। सूर्य देवमय है, इस लिए वह इन्द्र है। आपोमय है, इस लिए वह रुद्र है। पशुमय है, इस लिए 'पूषा' है। इन तीनों में पूषाभाग देवता (ज्योति-हिरण्यमया-मन्त्र) का निरोधी है। पृथिवी से सूर्य तक वह एक ही पूषाभास व्याप्त हो रहा है। पृथिवीमुख सूर्य एकर्षि है, अन्तरिक्षमुख पूषा यम है। स्वयं दिव्यसोकाय पूषा सूर्य है। जहाँ एकर्षिब्रह्म (पार्ष्णि-तमोमय आकाश पूषाभास) रहता है, जहाँ इन्द्र ज्योतिर्भाग नहीं रहता। वह इसी एकर्षि पार्ष्णि पूषाभास को लक्ष्य में रखकर भूति करती है—हे पूषा ! आप पृथिव्यपरच्छेदेन एकर्षि हैं, अन्तरिक्षपरच्छेदेन यम हैं। दिव्यसोकायच्छेदेन सूर्य हैं। आपपरिभास से ब्रह्मोक्त में व्याप्त होकर, अपने मन्त्रापति (मूल-वचन-रूप को मानापत्य (तुल-मर्क) रूपों में परिखत कर एकर्षि-यम-आदित्य भव से तीन स्वर्णों में परिखत हो रहे हैं। आप स्वयं (केन्द्रावच्छेदेन) मन्त्रापति हैं, एवं एकर्षि-यमादि आप के तीनों रूप आप के ही विशर्षभुत होते हुए मानापत्य हैं। ऐसे आप अपनी (कण्ठ) रश्मियों को फैलाएँ। साव ही में ब्रह्मोक्त में ब्रह्म हिरण्यमय सौर वेद का (सत्यधर्म के दर्शन के लिए) संवरण कीजिए, सवेदि ! आप का जो कल्याणमय रूप है मैं उसे ही देखता हूँ—(देखना चाहता हूँ)। जो वह सौर हिरण्यमय पुरुष है, वही मैं हूँ।

तत्पर्य यह है कि त्रैलोक्य व्यापक पूषा में सत्यधर्म के अनुकूल-प्रतिकूल दो भाग हैं। पूषा में रहने वाला हिरण्यमय (देवरूप ज्योतिर्मय-भाग सत्यधर्म के दर्शन का निरोधी है, कर यह ही सत्ता में आकुप कण्ठ के दर्शन नहीं हो सकने। एवं तमोमय त्रिदशविधुस मूलभाग अनुकूल है क्योंकि इसी की सत्ता में आकुपकण्ठ के दर्शन होते हैं। पूषा का यह पार्ष्णि तमोमयरूप ही सत्यधर्मरूप में उपयोगी बनता हुआ हमारे लिए कल्याणतमरूप है। सत्यधर्मदर्शन में यही रूप अपेक्षित है। तमोमय मूलभाग पूषा का प्रातिविक रूप है। हिरण्यमय भाग व्यापक है। यह हिरण्यमय सौर भाग तो भेद आत्मा है यह तो सत्य ब्रह्म है, उपासक है, उसे देख कर भेद क्या काम होगा। यह तो सत्य मैं हूँ। मैं देखना चाहता हूँ—उस उपा-

स्य कृतत्व को, पूजावच्छिन्न कल्याणमकर को । इसी विधान को सत्य में रखकर धृति कहती है—

यत्ते कल्याणतम रूप तत्ते परयामि ।  
योऽसावसौ पुरुष (हिरण्यमयः) सोऽहमस्मि”  
(न त पश्यामि—स तु—अहमेवेति भावः) ।

पूर्व के सन्दर्भ का निष्कर्ष यही हुआ कि पार्ष्णि अगिर भाग पूजा है । त्रिहृत्—पञ्चदश—एकविंश भेद से इसके एकविंश—यम—सूर्य—यह तीन प्राणापन्न रूप हैं । पूजा पृथिवी है । इसके साथ अह (दिन) का भी सम्बन्ध है, रात्रि का भी सम्बन्ध है । अह सौर भाग है, यह वायु—पुरुष का आवरण होने से अकल्याणरूप है । रात्रि का घोरतम भी आगन्तुक होता हुआ, अतएव वायुपुरुष का आवरण बनता हुआ अकल्याणरूप ही है । प्रातिष्ठिक क्षायामाग ही इसका कल्याणतम रूप है । वायुपुरुष को न आप दिन में (धूप में) देख सकते, न रात्रि के अन्धकार में देख सकते । वह दीक्षता है—क्षायामे । सप्तर्षिदर्शन के लिए हमें पूर्वा के क्षायारूप इसी कल्याणतम रूप पर हृदि अमानी चाहिए, क्षायामय भूतप्रधान पूजादेवता की ही उपासना करनी चाहिए ।

मन्त्रार्थ के आरम्भ में हमने—‘पूजयेकर्षे यम सूर्यः’ इसारि मन्त्र को “पूजाप्राण का कौनसा रूप सप्तर्षि का साक्षात् कथने में समर्थ है” इस प्रश्न का समाधान करने वाला बतहाया था । वास्तव में मन्त्र उक्त प्रश्न का ही प्रधान रूप से समाधान करता है । परन्तु केवल इसी अर्थ पर मन्त्र की व्याप्ति समाप्त नहीं हो जाती । अगिस्त उक्तार्थ के साथ साथ ही यह मन्त्र वैश्वानर—सैत्रस—प्राणरूप जीव देवसत्त्व का भी निरूपण करता है । पूजा को जिस भूपिण्ड समझिए । इस पर प्रतिष्ठित त्रिहृत्स्थानीय अग्नि एकर्षि है, पञ्चदशस्थानीय वायु यम है, एकविंशस्थानीय आदित्य भूय है । एकविंशप्रधान वैश्वानर का, यम वायुप्रधान हिरण्य गर्भ का, सप्त इन्द्रप्रधान सर्वज्ञ का स्वरूप संपादक है । पार्ष्णि पूजा अनापत्तिरूप प्रसन्न है, जिसका वि निरूपण आगे के प्रकरण में होमें वाला है । तीनों की समष्टि देवसत्त्व है, यही

प्राकृतप्रमाण है। अथानिबन्धनय शरीर है। इस जीविक धूमाग्न का यह देवसस्वरूप अमृतमि  
ही कल्याणतम रूप है। सत्यवर्मरूप मिहान की उपासना के द्वारा मैं इसे ही देखना चाहता  
हूँ। पूरा का कल्याणतम अमृतरूप 'मै' (भोक्ता-भक्षक) हूँ यह अमृत भाग उस ईश्वरीय  
अमृतपुरुष से अमिश्र है, मैं उसी का प्रत्यय हूँ।

{ १-पञ्चदेवि-प्राजापत्य-अमृतमि-विहृत्स्थानीय-अग्नि-वैशानर (वैशा) }  
२-सम-प्राजापत्य-अमृतमि-पञ्चदशस्थानीय-वायु-हिरण्यवर्मा (तैत्रस)  
३-सूर्य-प्राजापत्य-अमृतमि-एकविंशस्थानीय-इन्द्र-सर्वज्ञ (प्राज्ञ) } देवसत्त्वात्मा



वैशानर अग्नि-वैशम वायु-माह इन्द्र तीनों की समष्टि देवसस्वरूप जीवत्मा है। इसप्रकार  
पचमि 'ब्रह्म' भाग में अग्नि-वायु-इन्द्र तीनों प्रविष्ट हैं, तथापि हमारे में प्रजापत्य वायु की  
ही है। वायु ही हमारा वास्तविक आत्मा है। विदामास को ही जीवत्मा कहा जाता है।  
विहृत् का प्रतिबिम्ब ही विदामास है। इस विहृत् का प्रतिबिम्ब-'यम बोनिर्महद्वज्रस्य तस्मिन्  
गर्भद्वयाम्यहम्' के अनुसार महाम् पर ही प्रतिष्ठित है। ययुक्त्व ही महद्वज्र है। इस ययु की आप-  
वायु-सोम यह तीन अवरण हैं। महद्वज्र की इन तीन अवस्थाओं के कारण ही वह महत्  
प्रतिबिम्ब पानी-इवा-सोम इन तीन ही स्थानों में प्रतिष्ठित होता है। अतएव जीवसर्ग आप्य  
मीन, वायव्य मीन, सौम्य मीन मेरु से तीन ही भागों में विभक्त है। पानी में रहने वाले  
मत्स्यदि जीव आप्य हैं। इन की भोजना का मूलाधार पानी ही है। यदि इनके हृदय में रस  
दिवा जाता है तो इन आप्य जीवों की चेतना उत्पन्न होती है। दूसरा विभाग वायव्य  
जीवों का है। पृथिवी पृष्ठ पर उत्पन्न होने वाले जीव 'वायव्य' हैं। कुमि-कीट-पक्षि  
पशु-पशु-हृत्वादि सब वायव्य जीव हैं। बिना वायु के इन की जीवनसत्त्वा नहीं रह सकती। हम

१-पञ्चदेविशब्द पर पूर्व है। २- वा ही पाठ्य अमृतमि है। इसी व्याख्यात्मकता की वजह से रत्नकर उक्त  
विषय में इन्द्र के लिए पूर्व शब्द का उपयोग कर दिया है।

वायव्य जीवों को यदि अधिक समय तक पानी में रक्खा जाय तो हमारी जीवनसत्ता उत्क्रान्त होजाय । तीसरा विभाग सौम्य जीवों का है । राक्षस-विशाख-यक्ष-गर्भ-ऐन्द्र-पैश्व-प्राणापन्न-प्राण मेदभिन्न अष्टविध सत्त्वविशासनीय सौम्य हैं । चातुस्रो ही इनकी चेतना का आधार है । उक्त जीवविभागों में से उपनिषदुपदेश हम वायव्य जीवों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है । हमारी व्यात्मसत्ता में वायु ही प्रधान है । वैश्वानर व्यापन सम्बन्धी है, प्राणमाग प्राण सम्बन्धी है, मध्यस्थ वायुरूप तैजसभाग व्यापन सम्बन्धी है । जब तक मध्यस्थ व्यापन वायु स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक जीवनसाधक प्राणरूप वैश्वानर-प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं ।

न प्रायेण नापानेन मर्यो जीवति क्वचन ।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतादुपाश्रितौ ॥१॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपान मक्षगास्पति ।

मर्ये वामनमासीन सर्वे देवा उपासते ॥२॥ [ कठ १.५—६ । ]

उक्त श्रुति के अनुसार मध्यस्थ व्यापनवायुमय तैजस ही जीवनसत्ता का कारण है । बीच में बैठे हुआ यह तैजस वायु इस ओर से पार्थिव रस होता है, उस ओर से दिव्यरस होता है । पार्थिवभाग अयमपान होने से मर्य है, दिव्यभाग ज्ञानप्रधान होने से अमृत है । मध्यस्थ वायु इधर अनुगत बनता हुआ मर्त्यमावापक है उधर अनुगत रहता हुआ अमृतमावापक है । पार्थिवरस 'इरा' नाम से प्रसिद्ध है । महर्षि ऐतरेय में इस पार्थिव इरा रस के सम्बन्ध से ही प्रधानपुरुष को 'इरामय' कहवाते हुए परोक्षगान से इसे हिरण्यमय कहा है । विज्ञानपुरुष भी हिरण्यमय है, प्रधानपुरुष भी हिरण्यमय है । दोनों ही हिरण्यमय हैं, केवल स्वरूप में अन्तर है । विज्ञानपुरुष हिरण्य (अग्नि) मय होने से हिरण्यमय है, एव प्रधानपुरुष इरामय [पार्थिवभरसमय] होने से हिरण्यमय है । ( देखिए ऐ० आरण्यक २ । ७ । ) । इस निदर्शन से प्रष्ट में हमें यही कहना है कि पार्थिव मय भौतिक रस 'इरा' कहलाता है । सारा अयमपन्न पार्थिव इरामय वैश्वानर से सम्बन्ध रहता है । मृतप्रधान होता हुआ यह अयम का कारण बनता हुआ मृत्यु



मय है। जिस पुरुष का वायुमय आत्मा पार्थिव मय इस की ओर [ पार्थिव संपत्ति की ओर ] झुक जाता है, उसका यह वायुरूप आत्मा इसप्रमाण कमता हुआ मृत्पुरुष बन जाता है। जब तक पार्थिव इष्टि में आसक्ति है, तब तक अमृतत्व का अभाव है। 'नामृतजनस्य तु मा-  
शास्ति चिन्तन'। यदि वायुमय आत्मा पार्थिव इश्वरस की आसक्ति छोड़कर ज्ञानमूर्ति प्राप्त का आश्रय लेता हुआ 'अनिर' (इश्वर रहित) बन जाता है तो अमृतप्राप्ति की प्रभावता से यह भी अमृतरूप बन जाता है—'ज्ञाना-मुक्तिः'। "देवसस्य ह्यौ जीवात्मा है। उसमें प्रचलन नश्यत्त्व वैजस वायु है। यदि आप आत्मकन्त्राण चाहते हैं तो अपने इस वायुमय आत्म को 'अनिर' बनाएँ, पार्थिव संपत्ति से आसक्ति करना छोड़िए। अनासक्ति-योगरूप बुद्धियोग द्वारा जब आपका वायुमय अनिर बन जायगा तो मिथ्यास कीनिए, सर्वमान से वृत्तहोता हुआ यह उसी समय—'अमृत' बन जायगा। इसी रहस्य का निरूपण करते हुए आगे जाकर शक्ति कहते हैं—

“वायुरानिलममृतम्

।

॥”

(६० उ० १७ म०)।

( यदा वायुः ( मध्यस्थस्तमसात्मा ) अनिशो—(अनिर—पार्थिवरसासक्तिविरहितो) मवति—अथ स आत्मा अमृतमावयुक्तो मवति )—

पार्थिव वातु इस है, इस से भौतिक शरीर बनता है, यही वाक्-रूप मृतधिति है। अन्तरिक्ष वातु वायु है, यही ओज बनता है यही मायधिति है। दिव्य वातु इन्द्र है, इस से मन बनता है, यही देवधिति है। इस प्रकार त्रैलोक्य के तीनों विक्तों से अम्पत्य के उक्त तीनों विक्तों का निर्माण होता है। दिव्यलोक यनोमय है, अन्तरिक्षलोक मायमय है पृथिवीलोक वाक्मय है—( वेत्तिप म्नापयसिंहितम् )। शरीर मय है, मन अमृत है। प्राणवायु दोनों के मय में है। यदि यह इश्वर है तो मृत्प्राणापन्न है, अनिर है तो अमृत है।

- १—शरीरम्—वाक्—गार्गिषवात् —अग्नि (मृत्यु) —इयमप (वायुर्मृत्युमप)  
 २—ओष —प्राण —अन्तरिदय वसम्—वायु —————  
 ३—मन —मन —दिव्यज्ञानम् —इन्द्र (अमृतम्) —हिरण्य (वायुरनिष्ठममृतम्)



इस प्रकार हमारा यह प्राणात्माधिकरण देवस्य से अन्तर्नाभूत वायुपुरुष की उपासना का उपाय बतलाता हुआ, देवस्य का निकारण करता हुआ, सशान्त में उसे वायुनधान बतलाना हुआ, साथ ही में आत्मा के अमृतमात्र के सिव पार्थिव विषयों में अनासक्ति रखने का आदेश देता हुआ समाप्त होता है।

इति—प्राणात्माधिकरणम्



मातृतात्माधिकरणे  
प्राणात्माधिकरणं

समाप्तम्

५



पूणपतः →→→→  
 ६-मू →→→→  
 अभिदपतम् →→→→

भूतवैभव

पूणमिदम्  
 ६-शरीरम्  
 मध्यात्मम्

ब्रह्मसत्याक्षर —

बीज-दैवत-भूतमयः प्राकृतात्मा भूः  
 शरीरम्

६

मू ← ——— ←←← मर्त्यान्नादः →→→ ——— → शरीरम्

(प्राकृतात्माधिकरणे शरीरात्माधिकरणम्)

यज्ञमात्रिकवेदावच्छिन्न - बीज-देव-भूतमयात्मा  
 चित्स्थितात्मा

१—

अथेदं मस्मान्तं शरीरम् ।

ओं क्रतो स्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर, कृतं स्मर ॥

(विश्वोपनिषद् १७ मन्त्र) ।







## शरीरात्मस्वरूपनिदर्शनः—

१—एवात्मक पञ्चसु वर्तमान वडाअय पद्गुणयोगयुक्तम् ।

त सप्तधातु त्रिमल द्विपोर्नि अतुविधाहारमयं शरीरम् ॥

( गमोऽनियत् ) ।

२—स-वायु-व्योति-राप-पृथिवी विद्यस्य चारिणी ॥

( कैवल्योपनिषत् ) ।

३—मस्मनिष्ठस्य दहन्ते दोषा मस्मान्निसगमात् ।

मस्मत्स्नानविशुद्धात्मा मस्मनिष्ठ इति स्मृत ॥

( बृहद्वाक्योपनिषत् )

४—अथ वैतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः, वो, रस असीत्, तन्व्य समुदौहन् । तदस्य  
गिरोऽभवत् । यन्मिष्य समुदौहन्, तस्माच्चिर । तस्मिन्नेतस्मिन् प्राणा अभवन्त,  
तस्माद्वैतच्चिर । अथ यत् सवस्मिन्नभवन्त, तस्माद् शरीरम् ॥

( शत ६ भा० ६ कं । १ प्र । १ भा । ४ क ) ।

५—“आत्मा च तनूः” ( शत० ६।७।२।६ ) ।

६—“आत्मनो धेवाप्यङ्गानि प्ररोहन्ति” ( शत० ८।७।२।५ ) ।

७—“पाङ्क्त इतर आत्मा (शरीरं) सोम-रव-मांस-मसि-मात्रा” ( तां भा १।२।४ ) ।

८—“पङ्क्तोऽयमात्मा (शरीरं) पृथिवी” ( कौ० भा० २०।३ ) ।

९—“तस्मादितर आत्मा (शरीरं) मेपति च हनयति च” । ( तां भा ३।१।७ ) ।

१०—“भूमेऽणोऽङ्गानां यदात्मा (शरीरम्)” ( शत ६।६।१।१० ) ।

११-“तस्मादयं सर्वं ब्रह्मा (शरीर) तच्छा (अस्मिन्मा) ।

तत्रैतदेव जीविष्यतश्च मरिष्यतश्च विज्ञानम् ।

तपस एव जीविष्यन्, शीतो मरिष्यन्” (शत ८।७।२।११) ।

१२-“तद् सर्वं ब्राह्मा (शरीर) वाचमप्येति, वाक्मयं भवति” (कौ श्र २।७) ।

१३-“ब्रह्मो ब्राह्मा (शरीरम्)” (शत ६।६।२।१६) ।

१४-“सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुष [शरीर] पञ्चत्वारिंशत्मा,

अथ पञ्चपञ्चानि” (शत० ६।१।१।६।) ।

१५-“ब्राह्मा [शरीर] एक-उक्ता” (शत० ६।५।३।८) ।



## ॥ श्री ॥

महामृतानि सत्त्वानि सङ्गतानि क्रमेण च ।

सत्त्वपातुमयो देहो दग्धा योगाग्निना शनै ॥१॥

यथाकाशस्तथा देह आकाशदपि निम्नतः ।

सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं हरय स्थूलात् स्थूलो ब्रह्माब्जतः ॥२॥

भूतमिह पश्यति निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम् ।

सततं मयि स्थितं मनसा मय्यामभूतेन ॥३॥



उपनिषद् का बहुमय विषय प्रायः समाप्त है । आत्मरुद्धि की अपेक्षा से अग्न्यात्मसत्त्वा में जो तात्त्विक अर्थ थे, उनका क्रमिक निरूपण कर उपनिषदार्थ गतार्थ है । जो सत्तारी उक्त आत्मविकर्षों को न पहिचान कर केवल शरीर की आराधना में ही निमग्न रहते हुए भोग-ऐश्वर्यों में लक्ष्मीन रहते हैं, जिन यथानात मूढ़ मनुष्यों के जीवन का एकमात्र

उद्देश्य शरीर परिपालन ही है, जिन्होंने—“खाना-पीना मौझ चढ़ाना” (eat drink and be merry) इसी सिद्धान्त को अपने जीवन का परम पुरुषार्थ मान रक्खा है, उन का यह नियत शरीर एक दिन मत्सत्त्वात् (राख की डेरी) होने वाला है । यदि उन्होंने इसी शरीर में प्रतिष्ठित उक्त आत्मसत्त्वाओं को न पहिचाना तो अन्त में शरीर तो एक दिन मिट्टी में निगूढ़ी जायगा, साथ ही में यह यथानात इस जन्म-मृत्युपरम्पराबद्धता दुःखाखण्ड से भी बन्नी भुटकरा न पासकेंगे । अमृताराम निकल गया, रह गया मत्सत्त्व शरीर ।

निश्चास करो जो शरीर एक दिन मत्स बनने वाला है, इसी मर्यान्त शरीर में अमृताराम से अनुप्राप्त कम्मात्मा प्रतिष्ठित है । उसके स्वरूप को पहिचानो । कर्मात्मा द्वारा महानात्मा [अन्तर्मा] पर, प्रमाणद्वारा विज्ञानारामा [बुद्धि] पर, निश्चानद्वारा महानात्मा पर, महान् द्वारा



अभ्यक्त भाग से प्रसिद्ध शान्तात्मा पर पहुँचते हुए, पराकृष्ट रूप उस पुरुष तत्व को प्राप्त कर अपना जन्म, एव जीवन सफल करे। इस दुसम मानव शरीर को पाकर भी यदि हमने अपना जन्म एव जीवन, निर्बंध ही बना दिया तो हमने अपना सबसे बड़ा अनिष्ट कर लिया। यही शरीर आत्मसुख से हमारे उद्धार का साधन है, यही शरीर हमारे सर्वनाश का कारण है। इसी भाव का बड़े सुन्दर शब्दों में दिव्यदर्शन कराती है श्रुति कहती है —

१-इह वेदवेदीदृष सन्नमस्ति, न वेदिहावेदीन्महती निनष्टिः ।

भूतेषु भूतेषु निषिन्न वीण प्रेक्षास्माकलोकदमृता भवन्ति ॥ (केनोपनिषद् २।११) ।

२-अस्य निश्चसमानस्य शरीरस्यैव देहिन ।

देहाद्विमुष्मन्मानस्य किमत्र परिधिष्यते ॥ (कठोप० १।४।) ।

३-इह वेदराक्षसं बोधुं प्राक् शरीरस्य निश्चस ।

ततः सर्वेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ (कठ० ६।७) ।

बिना प्रकाश आनिष्ट उस निश्चम्पाक ईश्वर का शरीर है एवमेव हमारे जीवत्मा का यह मौक्तिक शरीर हमारा विश्व है। ईश्वरत्वं शरीरापेक्षया = ४ अंगुल का है, ईश्वर जीवत्मा भी अपने विश्व की अपेक्षा से = ४ अंगुल का ही है। दोनों का आकार समान है, तभी तो “पुरुषो वै मजापतेर्नैदिष्ठम्” (मनुष्य ईश्वर के बहुत समीप है, ईश्वर से मिलता जुलता है—( शत. २।५।११ ) यह श्रुति भरितार्थ होती है। ईश्वर और पुरुष ही क्या, प्रत्येक प्राणी का शरीर अपने अंगुल के परिमाण से = ४ अंगुल का ही होता है। एक ३ मीट्रों का बच्चा भी = ४ अंगुल का ही है, एक बुढ़ा भी = ४ अंगुल का ही है। कारण इस का यही है कि आत्मसुख का मूल स्तम्भ आठवाँ गायत्री छन्द माना गया है, जैसा कि पूर्व में विस्तार से बताया जा चुका है—( देखिए ई उ त्रि सं प्रज्ञानाभ्याधिकरण पृ. सं. ३१० से ३११ पर्यन्त ) । “मष्टाक्षरा वै गायत्री” इस सिद्धान्त के अनुसार गायत्री को आठ अक्षर का छन्द माना गया है। प्रायत्वं का ही नाम अक्षर है। एवं “मादेश्वरिः मायः” (ऐ वा १।२।७) के

अनुसार प्रायतः प्रदेश परिमित स्थान में अपनी व्याप्ति रखता है। अगुष्ठ और तर्जनी को फैला दीजिए। इन दोनों के मध्य का जिसना प्रदेश होगा, वही प्रदेश कहलावेगा। यह अगुली-परिमाण की अपेक्षा से १०॥ अगुष्ठमित होग, जैसा कि—“अत्यतिष्ठुदृशास्तुसम्” इत्यादि से स्पष्ट है। निष्कर्ष यह हुआ कि प्रत्येक प्राण की व्याप्ति १०॥ अगुष्ठपरिमाण प्रदेश में रहती है। गायत्री में ऐसे आठ प्राण किंवा आठ अक्षर हैं। पञ्चत पूरे गायत्री मन्त्र की व्याप्ति = ४ अगुष्ठमयी बन जाती है। अक्षर-अक्षर से कण्ठ तक एक प्रदेश है। कण्ठ से हृदय तक दूसरा प्रदेश है। हृदय से नाभि तक तीसरा प्रदेश है। नाभि से अक्षमन्त्रि (गुदस्थान) पर्यन्त चौथा प्रदेश है। अक्षमन्त्रि से गोखों की कगली तक दो प्रदेश हैं। यहाँ से पाद पर्यन्त दो प्रदेश हैं। सम्पूर्ण आठ प्रदेश हो जाते हैं। इस प्रकार आठ प्रदेशों से शरीर चोरासी अगुष्ठ का हो जाता है। इन आठों प्रदेशों में क्रमशः सत्य, तप, जनत, महा, स्व, भुवः, पृथिवी, भूः इन आठ पर्वों का सम्मेलन है। ईश्वर शरीर सप्तवितस्तिष्काय नाम से प्रसिद्ध है। जैसा कि—“सवेष्टिवायदघ्नसप्तवितस्तिष्कायः” (मागध) इत्यादि पुण्य-सिद्धान्त से स्पष्ट है। अगुष्ठ से कनिष्ठिका अगुली पर्यन्त जो वित्त प्रदेश है, उसे ही वितस्ति (विस्तार) कहा जाता है। यह प्रदेश १२ अगुष्ठ मित है। ईश्वर शरीर में भू-भुवः-स्व-मह-जनत-तप-सत्यम्—यह सप्तसोक्तमित्र सात वितस्ति हैं। सम्पूर्ण विश्वात्मक ईश्वर शरीर भी चोरासी अगुष्ठ का ही हो जाता है—( १२+७=१९ )। जैसी स्थिति इस आध्यात्मिक पुरुष की है, ठीक वही स्थिति उस आधिदैविक पुरुष की है। केवल मध्यस्थ आधिभौतिक प्रपञ्च में दोनों में भेद उपस्थित कर रक्खा है। देखिए।

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसाधेशाधिदैविकः ।

यत्तन्मोमयविश्लेष्टः पुरुषोऽपिभौतिकः ॥

[श्रीमद्भागवत दि० १८० १० अ० ८ रसो०]

ईश्वर के उक्त सात पर्वों में आठ पर्व हो जाते हैं। सातवें, किंवा पन्द्रहसे भूपर्व के भू-पृथिवी दो विभाग हैं, जैसा कि पूर के प्राणायामाधिकरण में विस्तार से बताया जा चुका है।

यह आठों ही पर्व—‘अद्वैतं च ये भगवतेरहमनो मयमासीदर्द्धमयुतम्’ इस सिद्धान्तके अनुसार  
 अमृत—मत्स्य मेद से दो दो भागों में विभक्त है । इन अमृत भागों की समष्टि आत्मसत्त्वा है, एवं  
 मय भागों की समष्टि विश्वसत्त्वा है । विश्व कल्पधान है, आत्मा अमयकर्मिणी कल्पप्रधान है ।  
 धर मृतमय है, मृत ही मृति है, मृति ही मय है, यही मत्स्यगत विश्व है । ठीक यही हम  
 आप्तात्म में हैं । अमिदं कत की अमृतमयी आत्मसत्त्वा से अमयमयसत्त्वाओं का उदय होता है,  
 एवं विश्वसत्त्वा से शरीर का स्वरूप निष्पन्न होता है । विश्व का क्या स्वरूप है ? एवं  
 विरहाश्रमृत शरीर का क्या स्वरूप है ? इन सब प्रश्नों का विशद निरूपण ईशोपात्म के  
 प्रथमखण्ड में किया जा चुका है—(दक्षिण ई उ प्र ख. विश्वनिर्दक्ति १४७ से १८०  
 पञ्च पञ्च) । अतः यहाँ विद्वेषण की कोई आवश्यकता नहीं है । प्रकृत में केवल यही समझ  
 सेना पकत होगी कि हमारे शरीर का निर्माण कबि मृषिण्ड से हुआ है, परन्तु मृषिण्ड  
 पञ्चात्मक, किंवा सप्त कोषात्मक है । अतः तदुत्पन्न शरीर में भी विश्व के सभी भौतिक प्रत्ययों  
 का समावेश सिद्ध होना चाहिये । व्यापाद—मस्तक शरीर भौतिक है । इसमें उक्त आठों पर्वों  
 का भोग होना है, जैसा कि आगे के परिच्छेद से स्पष्ट होना चाहिये ।

उक्त शरीरसत्त्वा का निरूपण करता हुआ ही निम्न लिखित मन्त्र हमारे सामने आता है—

अथेदं मत्स्यान्तं शरीरम् ।

अथो कृतो स्मर, कृतं स्मर, कृतो स्मर, कृतं स्मर ॥

(ई० उ० १० मन्त्र) ।

‘अथेदं मत्स्यान्तं शरीरम्’ इस वाक्य से उपनिषद् की यही बातसना है कि मय का  
 वायुरूप आत्मा अनिष्ट (अमिदं) बनता हुआ अमृतभाव को प्राप्त होना चाहिये, परन्तु शरीर  
 भौतिकमूल बनकर यही रह जाता है । इस प्रकार यह ईशोपनिषद् उपपत्त्यवस्थानीय पौडरी  
 पुरुष से आरम्भ कर उपसंहार करके शरीरपर्यन्त सम्पूर्ण आत्मनिर्माणों का सङ्ग्रह से निरूपण  
 करती हुई आती—“सर्वोपनिषद्” “पुरुषोपनिषद्” इत्यादि नामों को अतिशय कर रही है ।

उपनिषदादेश समस्त हुआ । ईश्वर—एवं जीव दोनों का स्वरूप हमारे सामने रखकर अर्धन्त में उपनिषत् हमें आदेश करती है कि ‘यदि तुम ज्ञानकममय पूर्वोक्त आत्मस्वरूप का स्वरूप स्वरूप धामना चाहते हो तो कृत का स्मरण करो एवं कृत का स्मरण करो ! अन्ध-सायवृत्ति कृत है । ‘अहमिदं करिष्यामि’ (मैं यह करूँगा) इस मानसवृत्ति का नाम भी कृत है । इस कृत की सफलता ‘दत्त’ है । कार्यसिद्धि दक्षमाण है, तदर्थ होने वाला सफलता (इरादा) कृतमाण है । पहिले कृत होता है, अनन्तर कृतस्वरूप दक्षमाण का उदय होता है । प्रत्येक कर्म में कृत—दक्ष (कृत—कृत) दोनों भाग निमिष्ट हैं । मनोसुक्त प्राणव्यापार कृत है, वायुव्यापार कृत है, दोनों का आत्ममन मन है । मन से कामना का उदय होता है, तदनु कृष प्राणव्यापार हो पकता है, तदनन्तर वायुव्यापार होता है, कर्म सिद्ध होजाता है । प्राण व्यापार कामनामय है, अतएव कृत को मानस व्यापार भी मान लिया जाता है, वैसा कि—  
कृति कहती है—

“स यदेव मनसा कामयते—इदं मे स्यात्, इदं कुर्वीय—इति, स एव कृतः ।”

(शत० १।१।१।१) ।

“कृतं अथ कृतुर्मनोमयः प्रविष्टः” (शत० १।१।१।७) ।

इरादा कृत है, इरादे से जो काम किया जाता है वह कृत है । जो मनुष्य अपने कृत और कृत पर पूरा धृष्टि रखता है, वही आत्मबोध में समर्थ होता है । शैविक विषय—सम्बन्धी कृत और कृत आत्मिक के कारण हैं, आत्मानुग्रहक कृत एवं कृत अनात्मिक के कारण हैं । ‘क्या इरादा था, क्या किया’ इस प्रकार प्रत्येक काम में दोनों पर धृष्टि रखो । इस से सदसद्विवेक होगी, अन्धे बुरे की पहिचान होगी । फलतः सदकार्य में प्रवृत्ति होगी, असत् कर्मों से निवृत्ति होगी । आत्मबोध के लिए प्रत्येक दश में—‘हमारा क्या इरादा था, हमने क्या करवासा’

● कि तु मे स्वादिर्दं कृता कि तु मे स्वादुर्मेयः ।

इति शैवित्य मेवमी सवर्तं कर्म्यं आचरेत् ॥

इस विचारधारा को कल्प में रखो ! इस विचारधारा से वास्तविक में तुम्हें क्याही परिस्थिति का ज्ञान होजायगा । आत्मज्ञान के लिए कतु और कृत के स्मरण से अतिरिक्त और कोई श्रेष्ठ उपाय नहीं है ।

अपि च तुम्हें आत्मोपनिषत् सुनी, आत्मा का शब्दद्वारा (शब्दद्वारा) तुम्हें परिज्ञान हुआ । परन्तु यह शब्दिक ज्ञान तब तक सर्वथा निरर्थक है, जब तक कि हम तदनुकूल कतु-और कृत का आश्रय न लें । “आत्मा निरा है, हम और वह अगम्य हैं, हम साक्षात् ब्रह्म हैं” इस प्रकार केवल सुख से शब्द कह देना से ही आत्मबोध नहीं हुआ करता । आत्मबोध के लिए ब्रह्म आत्मस्वरूप अगम्य आवश्यक है, तब (अवगणानन्तर) मन-निविष्टासन भी आवश्यक है । “आत्माते वायं द्रष्टव्याः—(कृत द्रष्टव्याः) ! श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्याः” । सुनो, मन करो, अवगणना में ब्रह्म करो तभी आत्मसाक्षात्कार होता है । मन्तव्याः—कृतमन्त्र है, निदिध्यासितव्याः—कृतमन्त्र है । अवगणानुकूल सकल्प रखो, सकल्पानुकूल आत्मोपयोगी निष्क्रमण करो, यही आत्मबोध के मुख्यद्वार हैं—“कृतो स्मर-कृत स्मर” । “अम्यासे भूया-समर्थ मम्यन्ते” के अनुसार पुनर्कृति श्रुति के लिए है । साथ ही मैं यही उपनिषत् सत्यात है, इस सत्यापि सूचना के लिए भी प्रेरित है । “कतु का स्मरण करो, कृत को स्मरण में रखो” यही वक्त्यावृत्ति का अव्यक्तमार्ग है ।

**इति शरीरात्माधिकरणम् ।**



६

**उभयो सत्यात्मनोरभिना-ऐकात्म्यम्**

स्वयम्भू-परमेश्वरी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी यह पाँच ईश्वरीय ब्रह्मसत्य हैं, अभ्यक्त-महान्-विज्ञान महान्-शरीर यह पाँच जीव ब्रह्मसत्य हैं । सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-वैश्वानर

यस्य चतुर्ण ह । इति चतुर्णां च ज्ञानं भाषा (अक्षरपरिपादन करने भाषा), अतएव 'आतनेदा'

नाम से प्रसिद्ध अग्नि ही है । इसी वयुनमिद निमग्नमिति अग्नि का स्वरूप बताता है इरे अग्नि कहते हैं—

हे जाने ! आप सपत्ति, आत्मसम्पत्ति—एवं विश्वसम्पत्ति के लिए हमें कौनसे मार्ग से ले चलिए । क्योंकि ससार की वयुनरूप जितनी भी सम्पत्ति है, आप ही उस सबके अन्त्यतम ज्ञाता हैं । हमारे आत्म को कुटिष्ठ बनामें बाधा [असम्पत्ति में से जानें बाधा] को पाप्मा है, उसे हमसे धृक् कीजिए । हे जाने ! हम आपके लिए बार बार नमः शब्द का उच्चारण करते हैं— [आपके अन्त वनते हैं] ” । स्वाहा—स्वहा—स्वहा—श्रीपद्—श्रीपद्—नमः आदि मंत्र से अन्त के कई भक्त हैं । इनमें मुख्यरूप अन्त 'नमः' है । 'हम आपको नमस्कार करते हैं' इसका तात्पर्य यही है कि हम आपके भोग्य (अन्त) बनते हैं । अग्नि अन्ताद है । अन्त इसकी प्रसन्नता का कारण है । अन्त ही सत्य 'नमः' शब्द कहते हुए ही अग्नि के नमः रूप अन्त बन रहे हैं । इस प्रकार अन्तसत्त्व-देवसत्त्व-आत्मभूत वयुनापिप्लवा, सम्मार्गमवर्धक इसी अग्निदेव को भूक्त-भूयः नमस्कार करते हुए यह उपनिषद् समाप्त होती है ।

ओं पूर्यामद पूर्यामिद पूर्याति पूर्यामुदच्यते ।

पूर्यास्य पूर्यामादाय पूर्यामेवावशिष्यते ॥

ओं शान्ति ' शान्ति ॥ शान्तिः ॥॥

इति वाजसनेयोपनिषत् विज्ञानमाध्यं सम्पूर्णाम् ।

# → एका वाक्य ब्राह्मणि उपनिषत् ←

— ४६ —

## उपनिषत्-निष्कर्ष

सर्वविवेक के अभाव से मनुष्य अपना स्वरूप भूलता हुआ पावग्रीवम फसायापूर्वक मोहों में ही प्रवृत्त रहता है ।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेनसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते” (गीता० २।४४)

इस स्वार्थी उपनिषत् के अनुसार जो व्यक्ति भोगैश्वर्य का वास्तविक रहस्य न समझते हुए परमना पूर्वक इनमें अहोरात्र प्रवृत्त रहते हैं, दूसरे शब्दों में जिनके जीवन का धर्म सदैव एक मात्र सांसारिक भोग-वैभव ही है उन अविवेकी मनुष्यों का भोगप्रसक्त मन बधल रहता है । मन के साथ बुद्धि का अनिष्ट सम्बन्ध है । दूसरे शब्दों में सोमसमय मन पर प्रतिबिम्बरूप से बुद्धि प्रतिष्ठित है । जिस प्रकार वायु के आघात से समुद्र से पार खोजने वाली नौका डगमगा जाती है—(वायुनाविविधाम्मसि—गीता), अथवा जिस तरह पानी के हिल जाने से तटप्रतिष्ठ स्तूपप्रतिबिम्ब हिल पड़ता है, ठीक इसी तरह कर्मासक्तिस्थानीय वायु के आघात से बधल पना हुआ समुद्र, किंवा अप्रस्थानीय मन तटप्रतिष्ठ नौकरस्थानीय बुद्धि को बधल बना देता है । बुद्धि के साथ 'महान्' नाम से प्रसिद्ध 'चित्' की सामानिक स्थिरता गायी जाती है । चित् का सारमात्र उत्क्रान्त होजाता है, रजोमिश्रित तमोमात्र बुद्धि और मन पर आक्रमण कर सता है । ऐसी मस्तिष्क बुद्धि कभी आत्मशान्तिरहसा समाधि में प्रतिष्ठित नहीं रह सपत्नी । यद्यपि ऐसा सताती कहने भर को अपने ध्याप को सुग्री समझता रहे, परन्तु यदि इस से शपथ पुर स्तर पूजा काय तो इसे बड़ी उत्तर देना पड़ेगा, जो कि उत्तर कामशायी महाराज ययाति के मुख से निकले थे । पुरु हाथ प्राप्त पुत्रावस्था से भी जब ययाति की गृहिण न हुई तो विप्र होकर अन्त में उन्हें कहना पड़ा—

न ज्ञातुं कामं कामानामुपभोगेन शक्यति ।

इतिषा कृष्णवर्त्मन मूय गवाभिरदने ॥



इस प्रकार अन्विक के द्वारा तु साक्षात् में निम्न प्राप्तिओं के समुदाय के लिए ही ईगोपनिषद् प्रवृत्त हुई है। उपनिषद् का कल्याण केवल यही है कि “तुम ईशदृष्टि से मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त रहते हुए निष्कामबुद्धि से यापजीवन कर्म करते रहो”। निष्कामग्रह से कर्म करते करते काळान्तर में तुम्हारा मन बनासक्त बन जायगा, प्रका स्थिर होजायगी, मन की स्थिरता से बुद्धि स्थिर होजायगी। बुद्धि की स्थिरता से विष्णुप्रसाद होय—‘प्रसादे सप्त दुःस्वार्ता हानिरस्योपवापते’। प्रकृत उपनिषद् में निम्न छिछिन्न ६ अक्षरों पर ही ध्यान रखनी चाहिए—

- १—तेन त्यक्तेन मुञ्जीथा ।
- २—मा गृध कस्यस्विद्धनम् ।
- ३—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् ।
- ४—योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम् ।
- ५—क्रतो स्मर, कृत स्मर ।
- ६—अग्ने नय सुपथा राये ।

—०—

- १—ईश से छोड़ हुए भाग का (ही) भोग करो !
- २—किसी की सम्पत्ति पर निषत मन बिगाओ !
- ३—काम करते हुए ही भीतिन रहने की इच्छा करो !
- ४—जो आदिम में आत्मा है, वही तुम हो !
- ५—अपने इरादे को आत्म में रखलो, जो करगुने हो उसे मध्य में रखलो !
- ६—साथ ही मैं अपने वस्तु (अभिज्ञत) का ठीक मार्ग में उपपाग करो !

— श्री(७७)६ —

१- तुम्हें अपने जीवन में जो कुछ भोग मिलने वाला है, वह उस अन्तर्धामी की प्रेरणा से (तुम्हारे ही मन्त्रित कर्मों के अनुसार) पहिले से ही नियत है । 'जात्यापुर्भोगा' इस सिद्धांत के अनुसार तुम्हारी जाति (वर्ण) आयु और भोग तीनों पहिले से ही नियत हैं । तुम्हें जो कुछ मिलने वाला है वह तुम्हारा भागधेय (हिस्सा) है, उसे दूसरा नहीं बना सकता, साथ ही मैं तुम दूसरे का ले भी नहीं सकते । मिलने वाला मिल ही जायगा, न मिलने वाला नहीं ही मिलेगा । विश्वास करो । मोहन तुम्हारे जीवन के लिए है, जीवन मोहन के लिए नहीं है । मोहन को जीवन का दास समझे, जीवन को मोहन का गुलाम मन बनाओ । स्वस्वों के दास मन बनो, स्वस्वों को अपना दास बनाओ ! स्वार्थ के लिए विनियमित मन रहो, जीवित रहने के लिए ग्राह्यो । मोहन की दासता में तुम स्वयं संसार के मोहन बन जाओगे, एवं मोहन को अपना दास बना देने से तुम संसार तुम्हारा भोग्य बन जायगा । यदि ऐसा नहीं करोगे तो—



२- तुम्हारी जिन्सा तुम ही बनाओगे तुम्हारी बाण्डा तुम्हारे आत्मा को गिराएगी । तुम्हें वन की दासता में अत्यन्त दुख करना पड़ेगा क्योंकि कठिन दीर्घ की भयानकी पड़गी, अत्यन्त दुख के लिए सत्य गाना पड़ेगा, एवं की दासता में तुम्हें परमुखापेक्षी बनना पड़ेगा दूसरों की निन्दित महनी पड़ेगी । सोरो ' ( मन का आधार करो ) विधा रो ( बुद्धि से बचो ) ' साथ सुबद्ध ब्रह्मण्य वर आधरना । तुम क्यों दूसरों की सरति में जिन्सा रहने दो । क्या तुम मनुष्य नहीं हो ? क्या तुम्हारे पास बुद्धि नहीं है ? क्या तुम उस साराधन के भग्न नहीं हो ? हाँ चोर चोर हो । तुमने धन प्रशस्त ( नासकर्म-मन्त्री ) से अपना विनिमय भुला रखा है । उठो ' जगन्नाथ ! वेत्तुहन्ता ' प्रमाण वर से चलो दाने वरना ' अन्त २॥ तुम्हारे गन्ध है । तुम्हें विग वर दर है तुम्हारे पास क्या बची है । जानते हो अन्त २॥ वर तुम्हारे ऊपर अनुपद होगी ' वर

तुम्हें आत्मक ( Will Power ) मिलेगा ! कब तुम्हारी गर्भा कृपेगी ! कब तुम मेरो के पञ्चे से कूटोगे ! नहीं तो सुनो !

— ४३६३ —

१- जो मनुष्य फल को अपने अधिकार से बाहर की वस्तु समझता हुआ अनन्यभाब से केवल कर्म में प्रवृत्त रहता है, जिस की निष्पत्ति उस के चरणों में छोड़ करती है । फल को तुम उत्पन्न नहीं करते, फल उत्पन्न होता है तुम्हारे कर्म से । तुम कर्मदश में ही जब फल की चर्चणा करने लगते हो तो परिणाम इस का यह होता है कि तुम्हारा मन दोनों तरफ बट जाता है, अनन्यता जाती रहती है । कर्मसिद्धि में जितना बल अपेक्षित है, वह बट जाता है, कर्म व्यर्थ रह जाता है । फलतः पूर्ण कर्म से सम्बन्ध रखने वाले पूणफल का उदय नहीं होता । इस प्रकार कर्मप्रवृत्तिकाल में फल की चारा रखते हुए तुम अपने ही फलनाश के कारण बन जाते हो । यही नहीं, फलाशङ्कन से तुम्हारा मन विभक्त हो जाता है, शृङ्खल बद्ध जाती है । यदि तुम शृङ्खला हटाना चाहते हो निर्वृत बनना चाहते हो तो कर्मप्रवृत्तिकाल में सर्वथा अनधिकृत फलाशङ्का का परित्याग करते हुए शास्त्रसिद्ध आनुक्यवर्त्ममूढक कर्मों में निष्कामबुद्धि से प्रवृत्त रहो । मोक्ष-सिद्धि के लिए जीमित रहने की इच्छा मत करो, कर्म करने के लिए जीमित रहने की इच्छा करो । परिणाम इस का यह होगा कि कर्म की अनन्यता से फलानिश्चि में भी संन्देह न रहेगा, एवं फलाशङ्का से सम्बन्ध रखने वाला संस्कार छेप भी न होगा । करो ! तुम जिन तुच्छ फलों की आसक्ति में पड़े हुए हो । त्रैलोक्य की सृष्टि के अविद्याता आदिम पुरुष के बराबर होकर इन तुच्छ सत्त्वियों के पीछे दौड़ते हुए तुम अपने बराबों की कीर्ति मिट्टी में मिला रहे हो । सोचो तुम क्यों हो, कहाँ से आए हो, क्या करना चाहिए या क्या कर रहे हो । यदि तुम यह नहीं जानते कि तुम क्या हो तो सुनो, हम बताते हैं ।

— ४३६३ —

४- सूर्य तुम्हारे सामने है । प्रेक्षोन्मय इस के प्रकाश से प्रकाशित है । “सूर्य आत्मा जगत स्तस्युपपन्न” ( यजु सं० ) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार हम उसी के अंग हैं । अरु अग्नी से अमित्र है । फलतः जो वह है, यही हम हैं । “हम कौन हैं” इस का यही सच्चा इतिहास है । जिस धोकेवाजों ने तुम्हारे इतिहास का स्वरूप विकृत कर तुम्हारे आत्मैक्य का अपहरण कर रक्खा है, एष जिस कल्पित इतिहास को मोहवश सत्य समझते हुए तुम अपनी अन्मसिद्ध क्षतव्रता से वञ्चित हो रहे हो, कण्डकित, कल्पित, कुप्रसिद्ध, कुतर्कमय उस मिथ्या इतिहासप्रन्थ के पत्रों को पचा जाओ । अपने अतीत गौरव के सच्चे इतिहास का अवधारण करो । वह मिलेगा तुम्हें अपने श्रवियों की वाणी में, उपनिषदों में । वह इतिहास अजर अमर है, अतएव अमिट है । अपने इस सत्य आत्म-इतिहास के बल पर तुम अन्मसिद्ध उस आत्मानन्दमूला क्षतव्रता को प्राप्त करने में समर्थ बनोगे । परन्तु इतना ध्यान रखना कि इतिहास देखने में कहीं प्रमाद न हो जाय । कर्म करो, परन्तु सावधानी से । आँख मीच कर यथेच्छाकारी मत बनना । अग्नि तु निम्न लिखित सिद्धान्त को सदा अपने सामने रखते हुए ॥ कर्ममार्ग में प्रवृत्त रहना—

किं नु मे स्मादिह कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वता ।

इति सचिन्स मेवाग्नी कर्म कुर्वति वा न वा ॥

कर्मब्रह्म वक्ता दुस्तर है । “किं क्रमे किमकर्मैवि क्वयपोऽप्यत्र मोहिता” (ग्रेन्थ) के अनुसार कवि (यजु-सोम) कशत्रु, सोममय मन का संघम करने के कारण कवि नाम से प्रसिद्ध बड़े बड़े मनुष्य भी कभी कभी धोका खा जाते हैं । ये भी कभी कभी वणायम धर्ममूलाक आधिकारिक कर्म की उपेक्षा कर अकर्म को कर्म मान बैठते हैं, कार्य को अकर्म मान बैठते हैं । तुम्हें चाहिए कि—

—४३६३—

५- तुम्हें कर्म में प्रवृत्त होने के लिए जो इष्टा (कष्ट) किया है, उसकी स्मृति परीक्षा करो । साथ ही मैं जो काम कर चुके हो उस पर दृष्टि रखो । सोचो कि अस्तव हमने

जो कुछ किया है, उससे हमारा क्या उपकार हुआ है एवं उससे समाज का क्या हित हुआ है ! वर्तमान को मध्य बनाने के लिए अतीत को सदैव में रखो । कहीं ऐसा न हो कि केवल वर्तमान के झूझझावत के झपेटे में आकर बाँस भीष कर अशास्त्रीय कर्मों को शास्त्रीय मानते हुए, साथ ही में कर्ममार्ग का द्विषिदमशेष करते हुए अपना सर्वनाश करा बैठे । 'सुरस्य पारा निशिना दुरक्षया दुर्ग पपस्तत् कथयो वदन्ति' ।

— ४३६ —

६- तुम्हारा कृत (इरादा) भी क्या उदात्त है, अतीत भी तुम्हारा क्या मध्य था । परन्तु सावधान ! कहीं वर्तमान को न भूल जाना । वर्तमान में तुम्हारे पास जितनी शक्ति है उसे ध्यान में रखते हुए ही आगे बढ़ना । हमने चौंके इरादे, अतीत का गौरव ही कर्म प्रवृत्ति के मुख्य द्वार नहीं हैं । इसके लिए तुम्हें वर्तमान वस्तु का आश्रय लेना पड़ेगा । तुम्हारी अभ्याससत्या में कर्म के प्रवृत्तक देवता सोमगर्भिन अग्नि हैं । अग्नि अङ्गिरा है, सोम सृष्टि है । यही दोनों तुम्हारे तप [कर्म] के सम्पादक हैं । "सृष्ट्याम ऋरसां तपसा सप्यश्चम्" इस ग्रीक सिद्धान्त का समादा करते हुए सृष्टि-अङ्गिरा मय अपने शरीर आग्नेय वस्तु को साधने रखते हुए सद्नुसार कर्म करो । यही अग्नि दस्ता तुम्हें सुख का अनुग्रही बनाने वाला है । जो व्यक्ति शक्तिहीनता का उच्छेदन करता हुआ असम्भव कर्मों में प्रवृत्त होता है वह कभी सफल नहीं होसकता । इस प्रकार कृत (इरादा) कृत (अतीत) अग्नि (वर्तमान शक्ति) तीनों का सदैव में रखते हुए, फलाण कोषते हुए कर्म में प्रवृत्त रहो, ऐहलौकिक पारलौकिक दोनों विमूर्तिप वरक तुम्हारे साधने सभी हैं ।

ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

— ४३७ —



ईशोपनिषत्-हिन्दीविज्ञानभाष्य

द्वितीयखण्ड

२

समाप्त



